पंडित चैनसुखदास न्यायतीर्थ स्मृति ग्रन्थ

Love Animals, DON'T Eat Them

बिशम्भर दास महावीर प्रसाद जैन, सर्राफ
1325 चाँदनी चौक, दिल्ली-110006

सब जीव सुखी रहें-सबका मंगल हो।

(जैन साहित्य एवं संस्कृति का ज्ञानकोश)

श्री महावीर ग्रन्थमाला का २० वां पुष्प

पंडित चैनसुखदास न्यायतीर्थ

स्मृति ग्रन्थ

प्रकाशक

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी

महावीर भवन, एस. एम. एस. हाईवे, जयपुर

प्रकाशन तिथि : २५ जनवरी सन् १९७६

मूल्य चालीस रुपये

प्राप्ति स्थान :

साहित्य शोध विभाग

दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी

महावीर भवन, एम. एम. एस. हाईवे, जयपुर

☐

मुद्रक

मनोज प्रिन्टर्स

गोदीको का रास्ता, किशनपोल बाजार,

जयपुर–३०२००३

प्रकाशकीय

□

पडित चैनसुखदास स्मृति ग्रंथ को पाठको के हाथो मे देते हुए हमे अत्यधिक प्रसन्नता है। पडितजी सा० राजस्थान के ही नही किन्तु समग्र देश के समादृत विद्वान थे। वे साहित्य एव समाजसेवी थे। उन्होने देश एव समाज को एक नयी दिशा प्रदान की थी, यही नही युवा पीढी को उनसे सतत जागरूक रहने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी। अनेको के वे सबल थे और अनेको को उनसे मार्ग-दर्शन प्राप्त होता रहता था। कृशकाय होने पर भी वे अत्यधिक मानोबल वाले व्यक्ति थे। उनका साधु के समान जीवन था तथा गृहस्थी मे रहते हुये भी वे सन्त कहे जाने योग्य थे। उनकी विभिन्न सेवाओ के प्रति स्मृति ग्रंथ के प्रथम खण्ड मे विभिन्न विद्वानो, समाजसेवियो एव राजनेताओ ने जो भावभीनी श्रद्धाञ्जलिया समर्पित की है उनसे उनके महान् व्यक्तित्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

पडितजी सा० का एव श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र के मंत्री एवं अन्य सभी कार्यकर्त्ताओ का सम्बन्ध अत्यधिक मधुर एव सौहार्दपूर्ण रहा। पडितजी द्वारा समय समय पर दिये गये अमूल्य सुझावो एव सत्परामर्श का खूब उपयोग किया जाता रहा। श्री महावीर क्षेत्र के तत्कालीन मत्री श्री रामचन्द्रजी खिन्दूका, सेठ बधीचन्दजी गंगवाल एव श्री केशरलालजी बख्शी का उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। क्षेत्र द्वारा सचालित साहित्य शोध विभाग, छात्रवृत्ति फण्ड एव असहाय सहायता फण्ड के स्थापना मे पडितजी की सतत् प्रेरणा ने अत्यधिक योगदान दिया। यही कारण है कि उनके निधन पर आयोजित श्री महावीर क्षेत्र की प्रबन्धकारिणी कमेटी की शोक सभा मे पंडित जी की स्मृति मे एक स्मृति ग्रंथ प्रकाशन का तत्काल निर्णय लिया गया और उसी निर्णया-नुसार यह स्मृति ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है।

स्मृति ग्रंथ को चार भागो में विभक्त किया गया है। इसके प्रथम खण्ड मे पडितजी के जीवन पर विस्तृत प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है उनके जीवन का अध्ययन करने से पता चलता है कि उन्होंने जिन सामाजिक

आन्दोलनो का नेतृत्व किया था वे आज सामाजिक इतिहास के बहुमूल्य पृष्ठ बन चुके है। स्मृति ग्र थ के शेष तीन खण्डो मे जैनधर्म, दर्शन, इतिहास एव पुरातत्व से सम्बन्धित लेखो को स्थान दिया गया है।

यह स्मृति ग्र थ महावीर ग्र थमाला का २०वां पुष्प है। इसके पूर्व १९ ग्र थो का प्रकाशन हो चुका है जिनकी विस्तृत सूची इसी स्मृति ग्र थ के पिछले भाग पर प्रकाशित है। इन पुस्तको मे राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो की ग्र थ सूची के पाच भाग जिनमे ४० हजार से भी अधिक हस्तलिखित ग्र थों का विवरण दिया गया है, उल्लेखनीय है। विश्वविद्यालयो मे प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी एव हिन्दी साहित्य मे एव विशेषतः जैन साहित्य के विभिन्न पक्षो पर शोध कार्य करने वाले विद्यार्थियो के लिये ये ग्रन्थ सूचिया वरदान सिद्ध हुई है। अनुसन्धान के क्षेत्र मे वर्तमान मे जो गतिशीलता दिखलायी दे रही है उसमे क्षेत्र द्वारा प्रकाशित साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ग्र थ सूचियो के अतिरिक्त हिन्दी पद संग्रह, राजस्थान के जैन सत, जैन शोध और समीक्षा, महाकवि दौलतराम कासलीवाल व्यक्तित्व एव कृतित्व, जिणदत्त-चरित एव प्रद्युम्नचरित जैसी कृतियां उल्लेखनीय है जिनके प्रकाशन से न केवल साहित्यिक क्षेत्र गौरवान्वित हुआ है अपितु साहित्य जगत् के अज्ञात एव अब तक उपेक्षित साहित्य सेवियो को भी प्रकाश मे लाने का महत्वपूर्ण कार्य हुआ है। इसी तरह प्रस्तुत स्मृति ग्र थ से पडितजी के जीवन एव साधना का मूल्याकन तो हो ही सकेगा किन्तु वह भविष्य मे विद्वानो तथा समाज सेवियो के लिये दीपस्तम्भ का भी कार्य करेगा ऐसा हमारा पूर्ण विश्वास है।

ग्रंथ के प्रबन्ध सम्पादक एव सम्पादक मडल के तीनो विद्वानो का मैं क्षेत्र कमेटी की ओर से अत्यधिक आभारी हूँ जिन्होने स्मृति ग्र थ के सम्पादन मे हमे पूर्ण सहयोग प्रदान किया। मै उन सभी विद्वान् लेखको का भी आभारी हूँ जिन्होंने अपने महत्वपूर्ण लेखो को इस स्मृति ग्रन्थ मे प्रकाशनार्थ भेज कर इसके प्रकाशन मे सहयोग दिया।

अन्त मे मै पडितजी साहब के महान् व्यक्तित्व के प्रति हार्दिक श्रद्धाजलि समर्पित करता हूँ तथा आशा करता हू कि हम उनके बतलाये हुये मार्ग पर निरन्तर बढते हुये उनके स्वप्नो को साकार कर सकेंगे।

मोहनलाल काला
अध्यक्ष

प्रबन्ध सम्पादक की ओर से

★

पंडित चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ का समूचा जीवन अध्ययन, मनन, अध्यापन एवं साहित्यसृजन मे ही व्यतीत हुआ। 22 जनवरी 1899 को जन्म लेने के बाद पंडितजी का बचपन एव केशोर्य अत्यन्त कठिन परिस्थितियो मे व्यतीत हुआ था लेकिन स्थित-प्रज्ञ के समान पडितजी ने इन सब ही विघ्नबाधाओं को सहन किया और अपने जीवन को सफलता और सिद्धिकी ऊंचाइयों तक ले गये। वे ऐसे यशस्वी विद्वान् थे जिन्हें सासारिक वेश मे रहते हुये भी ऋषि और तपस्वी का मान प्राप्त था। वे जन्म जात शिक्षक थे जो अध्यापन के लिये जीये न कि अध्यापन द्वारा। हिन्दी और प्राकृत के साथ सस्कृत साहित्य पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। वे जितने उत्कृष्ट वक्ता और व्याख्याता थे उतने सिद्धहस्त लेखक व कुशल सम्पादक भी थे। "जैन दर्शनसार", "भावना विवेक" और "पावन प्रवाह जैसी सस्कृत की मौलिक एव स्वतन्त्र रचनाओं मे उनके प्रगाढ पाडित्य के स्पष्ट दर्शन होते है। इसके साथ ही राष्ट्र और समाज मे व्याप्त बुराइयो, कुरीतियों और रुढियो के वे तीव्र आलोचक थे। उनने कितनी ही सामाजिक सस्थाओ को अपनी प्रेरणा और आशीर्वाद से सफल बनाया।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा संचालित साहित्यिक व धार्मिक गतिविधियो के विकास मे स्वर्गीय पडितजी का विशेष योग दान रहा है। मेधावी किन्तु आर्थिक दृष्टि से परेशान विद्यार्थियो को छात्रवृत्ति देने, विधवाओं को सहायता करने एव वृद्ध व असमर्थ व्यक्तियो को अनुदान देने आदि की योजनाओ को क्षेत्र द्वारा प्रारम्भ करने में पंडित साहब का बड़ा हाथ रहा है साहित्य प्रकाशन के कार्य मे क्षेत्र को पडितजी ने जीवन पर्यन्त बहुमूल्य निर्देशन दिया। पडितजी के प्रति मेरे पिताजी श्री स्वर्गीय

रामचन्द्रजी खिन्दूका जिनके मंत्रित्व काल में क्षेत्र से ये योजनाएं प्रारम्भ हुई, पंडित साहब में बडी श्रद्धा रखते थे। क्षेत्र के कार्यों मे पंडित साहब का सद्परामर्श व प्रेरणा उन्हें सदैव मिलती रही यदि मैं यह कहूं कि पंडितजी के प्रति श्रद्धा मुझे मेरे पिताजी से विरासत मे मिली तो भी अत्युक्तिनही होगी और मैं इस सम्बध में अपने को भाग्यशाली मानता हू कि मुझे पंडित साहब का भरपूर दुलार और विश्वास मिला। २५ जनवरी की रात्रि को मृत्यु के समय मैं इस महामानव के चरणो में उपस्थित था।

पंडितजी के निधन के पश्चात् २६ जनवरी की शोकसभा में दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महवीरजी ने क्षेत्रहितैषी इस मूर्धन्य विद्वान् के प्रति अति कृतज्ञतापूर्वक श्रद्धाजंलि समर्पित की ओर उनकी स्मृति मे स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित करने का निर्णय लिया—प्रस्तुत ग्रन्थ उसी निर्णय का परिणाम है। कुछ विशेष कारणो से ग्रन्थ के प्रकाशन में पर्याप्त विलम्ब हुआ है जिनके लिये हम क्षमा प्रार्थी है।

इस ग्रन्थ को चार खडो मे विभाजित किया गया है। प्रथम खड मे स्वर्गीय पंडितजी के जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर सामग्री है डाक्टर कस्तूरचन्दजी कासलीवाल ने बड़े परिश्रम से पंडितजी के जीवन पर विस्तृत लेख लिखा है जिसमें उनके जीवन के विभिन्न पक्षो पर प्रकाश डाला गया है और उनकी कृतियो का मूल्याकन किया गया है। राष्ट्र के विभिन्न विद्वानो एव विशिष्ट व्यक्तियो ने पंडितजी को जो श्रद्धा सुमन प्रस्तुत किये है वे इस ही खंड मे संग्रहीत है।

स्मृति ग्रंथ के शेष तीन खडो मे धर्म एव दर्शन, साहित्य एवं संस्कृति, पुरातत्व एव इतिहास सम्बन्धी लेख है—ये सब ही विषय पंडितजी को अत्यन्त प्रिय थे और वे उनको लेख, व्याख्यान आदि मे प्रायः समाविष्ट करते रहते थे।

स्मृति ग्रन्थ के संपादन में डा० कमलचन्द सोगाणी उदयपुर, डा० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल एव पंडित मिलापचन्दजी शास्त्री ने अनवरत परिश्रम किया है जिसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। इनके कुशल और अनुभवी संपादन में ही यह संकलन पूरा हो सका है।

मै उन सब ही विद्वानों और लेखकों का भी अत्यन्त कृतज्ञ हूं जिनने अपनी श्रद्धाञ्जलिया व सारगर्भित लेख भेजकर इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

मैं उन लेखको से भी क्षमाप्रार्थी हूं जिनके लेखो को हम किन्हीं कारणो से इस स्मृति ग्रन्थ मे स्थान देने में असमर्थ रहे हैं। दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी की प्रबन्धकारिणी कमेटी का आभार भी हम नही भूल सकते जिसने इस ग्रन्थ की महत्ता का मूल्याकन कर इसके प्रकाशन का सारा भार स्वयं वहन किया है।

ज्ञानचन्द्र खिन्दका

★

जयपुर को अपने स्थापना काल से ही जैन संस्कृति का प्रमुख नगर रहने का सौभाग्य प्राप्त है। जैन समाज की संख्या एवं प्रमुत्व की दृष्टि से इसे जैनपुरी कहा जाता है। यहा के शासन मे जैनों का गत २०० वर्षों से वर्चस्व रहा और वे शासन के सभी उच्च पदों पर जैन कार्य करते रहे है। साहित्यिक क्षेत्र मे यहा सैकडो जैन विद्वान् हुए जिन्होंने साहित्य के माध्यम से देश मे एक नयी साहित्यिक क्रांति को जन्म दिया। इस दृष्टि से महाकवि दौलतराम, महापंडित टोडरमल, प० जयचन्द्र छाबडा, बख्तराम साह, सदासुख कासलीवाल के नाम उल्लेखनीय है जो आज भी अखिल भारतीय स्तर के विद्वान् माने जाते है। यहा के विशाल और कलापूर्ण जैन मन्दिर जयपुर जैन समाज के प्राचीन वैभव का स्मरण कराते है। मन्दिरो की सख्या की दृष्टि के यहा का स्थान सर्वोपरि है। सामाजिक क्षेत्र मे भी जयपुर जैन समाज ने अपने विद्वानो, दीवानो एवं सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के माध्यम से सारे देश को प्रशस्त नेतृत्व दिया। इसीलिए आज भी जयपुर जैन समाज का नाम बडे गौरव से लिया जाता है।

प० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ भी महापडित टोडरमल, दौलतराम, जयचन्द छाबडा की कोटि के विद्वान थे जिनका समस्त जीवन समाज एवं साहित्य सेवा मे समर्पित रहा, जिन्होंने देश एव समाज के हितो को सर्वोपरि माना तथा अहर्निश इसी धुन मे जीते रहे। यही कारण है कि पंडितजी का नाम लेते ही जयपुर के नागरिक आज भी श्रद्धावनत हो जाते है तथा उनके गुणो की प्रशसा करते नही थकते। पडितजी सा० अत्यधिक प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे तथा ओजस्वी वक्ता, कुशल लेखक, आशुकवि, वरिष्ठ पत्रकार एवं सम्पादक सभी कुछ थे। वे दार्शनिक विद्वान् थे, संस्कृत एवं प्राकृत के प्रकाड ज्ञाता थे तथा सरस्वती के वरद पुत्र थे। किसी विद्वान् मे इतने अधिक गुण एक साथ मिलना सहज सभव नही है किन्तु पंडित जी सा० ऐसे सर्व गुण सम्पन्न थे जिसकी किसी से तुलना करना उनके गुणो की उपेक्षा करना है। तीस वर्षों से भी अधिक समय तक उनका जयपुर जैन समाज पर पूर्णत:

प्रभाव रहा और समाज की प्रत्येक गतिविधि उनके आशीर्वाद के साथ सम्पन्न हुई। इन वर्षों मे जयपुर जैन समाज को जानने के लिए प. चैनसुखदासजी के पास जाना अनिवार्य माना जाता रहा।

स्मृति ग्रन्थ के तीनों सम्पादकों को भी उनके शिष्य होने का सौभाग्य प्राप्त है। प्रतिवर्ष जब उनकी जन्म तिथि आती तो सामूहिक रूप से उनका शिष्य परिवार उनके चरणो मे श्रद्धा पुष्प समर्पित करने पहुंचते। उसी समय उनके अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन की बात चलती। पंडित जी सा० को यह बात मालूम पडने पर हमें बुलाकर उस पर निषेधाज्ञा प्रसारित कर देते। उस समय उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करने के अतिरिक्त हमारे पास कोई चारा नही बचता था। लेकिन फिर भी उनकी जन्म तिथि के दिन उनका शिष्य परिवार एव जयपुर नगर के सैंकडो नागरिक उनके यशस्वी एव दीर्घ जीवन की कामना करते। यह क्रम १५-२० वर्षों तक बराबर चलता रहा। २२ जनवरी १९६९ को उनकी ७० वी जन्म तिथि उनकी रुग्णावस्था मे ही मनायी गयी तथा उनके शीघ्र ही आरोग्य लाभ की प्रार्थना की गयी। वे साधारण रूप से बीमार थे तथा किसी को भी यह आशका नही थी कि यह उनका अन्तिम जन्म दिन होगा। दिनाक २६ जनवरी १९६९ लगते ही वे सदा के लिए इस देह से मुक्ति पा गये। इसलिए उनका अभिनन्दन ग्रन्थ निकालने की कहानी अधूरी रह गयी तथा स्मृति ग्रन्थ ने अभिनन्दन ग्रन्थ का स्थान ले लिया।

प्रस्तुत स्मृति ग्रन्थ श्री महावीर क्षेत्र की ओर से प्रकाशित हो रहा है। इस क्षेत्र के विकास मे पडित जी सा० को कितनी रुचि थी यह इस ग्रन्थ के प्रकाशकीय तथा प्रबन्ध सम्पादकीय वक्तव्य से जाना जा सकता है। किसी विद्वान् की स्मृति मे देश के सर्वाधिक लोक प्रिय अतिशय क्षेत्र की ओर से स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित होना स्वयं उस विद्वान् की महत्ता को प्रकट करता है। यद्यपि स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन का प्रमुख दायित्व उनके शिष्यो एव प्रशसको का माना जाता है। और वे यह चाहते भी है किन्तु इसके प्रकाशन मे श्रीमहावीर अतिशय क्षेत्र की प्रबन्ध कारिणी समिति ने तत्काल निर्णय लेकर जिस दायित्व का वहन किया है वह सर्वथा प्रशंसनीय है।

स्मृति ग्रन्थ को चार खण्डो में विभाजित किया गया है। प्रथम खण्ड उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से सम्बन्धित है। उसमें देश के सम्मान्य विद्वानो समाज सेवियों तथा नेताओ ने पंडित जी के अनिन्द्य एव पावन जीवन पर जो कुसुमाञ्जलि समर्पित की है वह उनके महान् व्यक्तित्व का परिचायक है। इन श्रद्धांजलियो एवं संस्मरणों में पंडित जी का अपने शिष्यों के प्रति सहज स्नेह उनके हितों के प्रति अहर्निश जागरूकता, दुखी और अभाव ग्रस्त

लोगो को देखकर उनकी सहायता के लिए चिन्तित होना, असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए उनका सहज सुलभ होना ग्रादि कितने ही गुणों का परिचय प्राप्त हो सकता है। स्मृति ग्रन्थ के सम्पादक डा० कस्तूर चन्द कासलीवाल ने उनके सम्पूर्ण जीवन एव साहित्य पर विस्तृत प्रकाश डाला है वह उनकी जीवन गाथा को जानने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यद्यपि उनके सम्बन्ध मे इससे भी अधिक लिखा जा सकता था लेकिन स्थानाभाव के कारण वह सम्भव नही हो सका।

स्मृति ग्रंथ के शेष तीन खण्डो मे धर्म, दर्शन, साहित्य, संस्कृति, इतिहास एव पुरातत्व विषयक लेखो को स्थान दिया गया है। इन लेखो की सख्या ४६ है जो देश के विभिन्न मूर्धन्य विद्वानो द्वारा लिखे हुए है। इन लेखो के ग्राधार पर जैन धर्म एव दर्शन का सभी दृष्टियो से सामान्य ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और उसके महत्व को समझा जा सकता है एक ही ग्रन्थ में हमने ग्रधिक से अधिक उपयोगी लेखो को स्थान देने का प्रयास किया गया है। समाज मे महिला लेखको की सख्या भी बढ रही है और इस स्मृति ग्रन्थ मे ऐसी ही कुछ विदुषी महिलाग्रो के निबन्धो का प्रकाशन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। ग्रन्त मे हम विद्वान् लेखको के आभारी है जिन्होने ग्रपने महत्वपूर्ण लेख भेज कर स्मृति ग्रंथ के प्रकाशन मे सहयोग दिया। क्योकि यदि उनका सहयोग प्राप्त नही होता तो स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन की दिशा मे एक कदम भी ग्रागे बढना संभव नही था।

हम क्षेत्र की प्रबन्धकारिणी कमेटी के सभी सदस्यो, ग्रध्यक्ष श्री मोहनलालजी काला, प्रबन्ध सम्पादक श्री ज्ञानचन्द्रजी खिन्दूका के भी ग्राभारी है जिन्होंने स्मृति ग्रन्थ को प्रकाशित करवाकर एक ग्रविस्मरणीय कार्य का सम्पादन किया ग्रौर जिसके लिए वर्तमान पीढी ही नही ग्रपितु भावी पीढी भी सदा आभारी रहेगी।

मिलापचन्द शास्त्री
कमलचन्द सौगानी
कस्तूरचन्द कासलीवाल

विषयानुक्रम

खण्ड-१

श्रद्धाञ्जलियाँ, जीवन, व्यक्तित्व, कृतित्व एवं संस्मरण

खण्ड- २

धर्म एवं दर्शन

खण्ड- ३

साहित्य एवं संस्कृति

खण्ड– ४

इतिहास एवं पुरातत्व

प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ

जन्म २२ जनवरी सन् १८९९ स्वर्गवास २६ जनवरी सन् १९६९

११. **जिरणदत्त चरित (महाकवि राजसिंह विरचित)**
सम्पादन डा० माताप्रसाद गुप्त, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
[१३ वी शताब्दी का हिन्दी का एक प्राचीनतम काव्य जो प्रथम बार प्रकाशित हुआ है। मूल भाग के साथ हिन्दी अर्थ एवं महत्वपूर्ण भूमिका दी हुई है।] [मूल्य १०) रु०]

१२ **प्रद्युम्न चरित (कवि सधारु विरचित)**
सम्पादक प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
प्राक्कथन डा० माताप्रसाद गुप्त
[१४ वी शताब्दी का हिन्दी का एक महत्वपूर्ण काव्य।] [मूल्य ८) रु०]

१३. **हिन्दी पद संग्रह**—सम्पादक डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
[इसमे हिन्दी के ४० प्राचीन जैन कवियो द्वारा रचित ४०१ हिन्दी पदो का प्रथम बार संग्रह प्रकाशित हुआ है। सभी पद अध्यात्म एवं भक्ति रस से ओत प्रोत है तथा प्रत्येक के लिए पठनीय है।]
[मूल्य ६) रु०]

१४. **सर्वार्थसिद्धिसार**—सम्पादक प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ
[आचार्य पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि का सार एवं साथ मे उपयोगी प्रस्तावना सहित।] [मूल्य ८) रु०]

१५. **चम्पा शतक**—सम्पादक डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
[हिन्दी कवयित्री चम्पादेवी द्वारा विरचित भक्तिपूर्ण पदो का अपूर्व संग्रह।] [मूल्य ४) रु०]

१६. **तामिल भाषा का जैन साहित्य**
सम्पादक प० भवरलाल पोल्याका जैनदर्शनाचार्य— [मूल्य १) रु०]

१७. **तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर**—लेखक प० पदमचन्द शास्त्री
[विभिन्न ग्रन्थो के आधार पर भगवान महावीर के जीवन पर लिखी गयी एक मौलिक कृति।] पृष्ठ स० ११५ [मूल्य ८) रु०]

१८. **वचनदूतम्**—लेखक प० मूलचन्द शास्त्री
[संस्कृत भाषा का नवीनतम खण्ड काव्य राजुल द्वारा नेमिनाथ को वैराग्य होने पर प्रेषित सन्देश।] मूल्य ७) रु०]

१९. **Jainism—a Key to True Happiness**
ब्र० शीतलप्रसादजी द्वारा विरचित (अप्राप्य)

20 पं० [handwritten, illegible]

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

मन्त्री कार्यालय
दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी
सवाई मानसिंह हाईवे
जयपुर–३ (राज०)

मैनेजर कार्यालय :
दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी
श्रीमहावीरजी
(राजस्थान)

मनोज प्रिन्टर्स, गोदीकों का रास्ता, किशनपोल, जयपुर।

मंगल मंत्र

णमो अरहताणं

णमो सिद्धाण

णमो आइरियाण

णमो उवज्झायाण

णमो लोए सव्वसाहूण

गुरुदेव !

जीवन निर्माता, सत्यनिष्ठ
गुरुदेव ! श्रेष्ठ साहित्यकार ।
निर्भीक प्रवक्ता, गुणग्राही,
कवि, सफल समीक्षक, पत्रकार
जन-मानस प्रिय, कर्मठ नेता
सुस्तम्भ संस्कृति, अति उदार ।
हितमितभाषी, गृह वैरागी
सादर चरणों में नमस्कार ।।

अनूपचन्द न्यायतीर्थ

श्रद्धाञ्जलियां

पं० चैनसुखदास जी के निधन से समाज की काफी क्षति हुई है। पंडित जो बहुत बडे विद्वान् थे, समाज की एक निधि थे। वे मिलनसार और असमर्थों के सहायक थे। उनके अभाव मे सभी को बहुत दुख हुआ है। मेरा उनसे काफी पुराना परिचय था, उनमे घटो बाते हुई हैं। सचमुच ऐसे व्यक्ति बहुत कम देखने मे आते है। उनके गुणों को ग्रहण करना ही उनके शिष्यो की सच्ची श्रद्धाञ्जलि है। दिवगत आत्मा को शान्ति लाभ हो।

आचार्य विमल सागर

(प्रेषिका-चित्रा बाई जैन)

श्री चैनसुखदास घर में बैरागी

भद्रपरिणामी श्री प० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ अपने समय के जैनदर्शन के उद्भट विद्वान थे। उनमे शास्त्र बोध की अद्भुत प्रतिभा थी। अधीत विषय को हृदयगम कर उसे अपनी विशिष्ट शैली मे व्यक्त करना उन्हे खूब आता था। जैन सिद्धान्तो के प्रति उनकी श्रद्धा अविचल थी। उनका स्वतन्त्र चिन्तन तथा अध्ययन प्रौढ कोटि का था। जिस विषय का उन्हे परिज्ञान था, उसमे सशय अथवा भ्रान्ति दोष नही रखते थे। निरन्तर आगम स्वाध्याय उनको प्रिय था। परिग्रहों के प्रति उदासीन भाव रखने से वे समाज में समादृत थे तथा जयपुर के निवासी "नव पीढी गुरु" कहे जाने का उन्हें गौरव प्राप्त था। आगम रहस्यो को जान कर उन्हे तीर्थंकर देव के अनुयायियो में कुशलतापूर्वक प्रचारित करना, उनके जीवन का उद्देश्य था—उनके श्वासोश्वास का सचलन था। उन्हें कभी स्वार्थ अथवा लोभवश अनीति किन्तु असत्य से मैत्री नही रही, वह असामान्य विद्वान्, विशिष्ट वक्ता, अद्भुत तर्ककुशल पडित थे। विद्वान् व त्यागी उनसे मार्ग-दर्शन लेते थे। वे कपडे से ढके मुनि के समान थे।

उपाध्याय विद्यानन्द मुनि

स्वर्गीय प० श्री चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ एक प्राचीन और उद्भट विद्वान् थे। उनकी लेखन व प्रवचन शैली प्रभावक थी। समाज में उन जैसे कर्मठो की अत्यन्त आवश्यकता है।

क्षु. शीतल सागर

पंडित चैनसुखदास न केवल एक विद्वान्, विचारक एवं लेखक ही थे अपितु एक सफल पत्रकार भी। उन्होंने अपने कृतित्व एवं व्यक्तित्व की छाप प्रत्येक क्षेत्र में डाली है। मुझे आशा है कि उनके जीवन से समाज प्रेरणा लेगा।

व० वे० गिरी

भूतपूर्व राष्ट्रपति

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि स्वर्गीय प० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ के उपदेशों एवं आदर्शों को "प० चैनसुखदास स्मृति ग्रन्थ" के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। स्वर्गीय पण्डित जी एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे जिन्होने साहित्य, ज्ञान प्रसार और समाज सेवा में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया। यद्यपि उनका विशेष विस्तृत कार्य क्षेत्र जैन साहित्य की खोज प्रकाशन रहा तथापि वे एक शिक्षक पत्रकार और कवि भी थे। मै उन्हे श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए प्रकाशन की सफलता चाहता हू।

हरिदेव जोशी

मुख्य मन्त्री, राजस्थान

यह जान कर प्रसन्नता हुई कि स्व० पं० चैनसुखदासजी की स्मृति मे एव उनके प्रति श्रद्धाजलि समर्पित करने के उद्देश्य से एक स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन करने का सकल्प किया गया है। वास्तव में स्व० प० जो की साहित्य क्षत्र मे अपार एव महत्वपूर्ण सेवाये रही है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थ मे सकलन की गई सामग्री द्वारा उनके बताए गए आदर्शों को सरल भापा मे दर्शाया जायेगा ताकि समाज के हर वर्ग के नागरिक को उसमे प्रेरणा मिल सके। मै उनके प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए आपके इस प्रयास की पूर्ण सफलता की कामना करता हू।

प्रकाशचन्द्र सेठी

मुख्य मन्त्री, मध्य प्रदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी की प्रबन्धकारिणी कमेटी ने पडित चैनसुखदास स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन करने का कार्यक्रम बनाया है।

पंडित चैनसुखदास न्यायतीर्थ संस्कृत साहित्य, धर्म और दर्शन के उच्चकोटि के विद्वान् थे। प्रचार से दूर रह कर निरन्तर ठोस रचनात्मक कार्य करने वाला व्यक्तित्व हमारे बीच मे से नियति ने उठा लिया इसका पूरे राजस्थान के विद्वत् समाज को शोक है।

श्री चैनसुखदासजी का जीवन एवं कृतित्व समाज के सभी वर्गों के लिए प्रेरणा का स्रोत है।

मै अतिशय क्षेत्र महावीर जी की प्रबन्धकारिणी कमेटी के निर्णय का स्वागत करता हू और उनके "स्मृति ग्रन्थ" प्रकाशन की सफलता चाहता हूं, तथा स्व० श्री चैनमुखदास न्यायतीर्थ के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हू।

मोहनलाल सुखाड़िया
(राज्यपाल मैसूर)

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि पं० चैनसुखदास की स्मृति में एक ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है।

मैं आशा करता हूं कि इस ग्रन्थ मे पं० चैनसुखदास जी के जीवन एवम् आदर्शों के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किये जावेंगे। पंडितजी ने धर्म, दर्शन, संस्कृति एव समाज इतिहास आदि पर पुस्तकें लिख कर राजस्थान को अनमोल साहित्य प्रदान किया है।

हमारी सबसे बड़ी श्रद्धाञ्जली यही होगी कि हम उनके बताये मार्ग का अनुसरण करें।

मै ग्रन्थ के प्रकाशन की सफलता की कामना करता हू।

शिवचरण माथुर
खाद्य एव रसद मन्त्री

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप स्वर्गीय पं० चैनसुखदास जी की स्मृति मे एक ग्रन्थ प्रकाशित करने का आयोजन कर रहे हैं। आपका यह विचार बहुत उपयुक्त है और मै उसकी सफलता के लिये अपनी हार्दिक शुभ कामनाये प्रेषित करता हू।

अपने विद्वानो का आदर करना हम सब का कर्तव्य है। इसी प्रकार हम उनकी स्मृति को स्थायी रख सकते है और उनकी जीवनियो तथा उनके कार्यों से प्रेरणा ले सकते है।

मुझे आशा है कि आपका यह स्मृति-ग्रन्थ ऊंचे स्तर का होगा और इसके द्वारा इसके पढ़ने वालो को अच्छा लाभ पहुचेगा।

भक्त दर्शन
(भूतपूर्व शिक्षा राज्य मन्त्री)
भारत सरकार, नई दिल्ली

पं० चैनसुखदास स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन आप कर रहे हैं जानकर प्रसन्नता हुई। मैंने तो पण्डित जी के सम्बन्ध में अधिक सुना है, कोई मेरा निजी सम्पर्क अधिक नहीं हुआ, एक दो बार मिले अवश्य ही हैं। उनकी धर्म और समाज के प्रति बड़ी लगन थी और धर्म के मूल तत्व को अपनाने की उनकी बड़ी आकांक्षा थी। वे भारतीय दर्शन के ज्ञाता होने के साथ साथ पश्चिमी दर्शन से भी अनभिज्ञ नहीं थे और जो आज के समाज के बच्चे हैं उनमे धार्मिकता और नैतिकता बढ़ाने की ओर उनकी बराबर दृष्टि रहती थी। समस्त समाज की उनमे श्रद्धा थी और विद्वज्जन उनको बहुत आदर से देखते थे।

साहु शान्तिप्रसाद जैन

मेरा जन्म जोबनेर में हुआ और भाई चैनसुखदास जी का जन्म भादवा में जो जोबनेर से दसेक मील है। बाद में वे अत्यन्त प्रसिद्ध पंडित चैनसुखदास जी हो गये। उन्होने प्रारम्भिक संस्कृत शिक्षा जोबनेर निवासी पंडित सूरजमल जी से ग्रहण की थी। ऐसी स्थिति मे चैनसुखदास जी और मैं सर्वथा भाई-भाई हो गये थे।

मैं पंडित चैनसुखदास जी की ख्याति बराबर सुनता रहा। पर मेरा उनसे साक्षात्कार बडी देर से हुआ। यह भी कोई संयोग ही था कि पंडित जी का बडा भारी प्रशसक मैं उनसे रहा दूर ही। जब मैं पहले पहले उनसे मिला तो उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप मुझ पर पडी। उनकी शारीरिक स्थिति को देखकर उनके प्रति मेरी सहानुभूति हुई, पर उनकी बौद्धिक प्रखरता और कार्यक्षमता ने मुझे आश्चर्य मे डाल दिया।

पंडित चैनसुखदास जी स्वभावत: परोपकारी थे। उनकी अहिंसक वृत्ति ने उन्हें परोपकार परायण बना दिया था। जो कोई पंडित जी के पास चला जाता उसकी सहायता वे अवश्य करते थे। एकाध अवसर पर मैंने भी उनसे सहायता की प्रार्थना की किसी सार्वजनिक मामले में और उन्होंने मुझे सहर्ष सहायता प्रदान की।

पंडित चैनसुखदास जी के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व को याद मुझे हमेशा बनी रहेगी और मुझे सदैव गर्व रहेगा कि पंडित जी का स्नेह मुझ जरा से व्यक्ति के प्रति था।

हीरालाल शास्त्री

संस्थापक

वनस्थली विद्यापीठ

श्रीमान् पण्डित चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ जैन समाज के मूर्धन्य विद्वान् थे। विद्वान् ही नहीं समाज सेवा और पथ प्रदर्शक भी थे। आपकी सहृदयता ने न जाने कितने असहाय छात्रों को मार्गदर्शन कर सुयोग्य बनाया है। आप विचारक और सुलेखक थे। जो रूढिया आपको पसंद नहीं पड़ती थी उनका आप निर्भय होकर विरोध करते थे।

आपकी वक्तृत्व कला विरोधी को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थी। किसी कार्य का निश्चय आप बहुत विचारपूर्वक करते थे और निश्चय के बाद उसमें इतने दृढ़ हो जाते थे कि उच्च से उच्च शक्ति भी आपको उससे विचलित नही कर सकती थी। मैं स्वर्गीय पण्डित जी के प्रति विनम्र श्रद्धाजलि प्रकट करता हूं।

पन्नालाल साहित्याचार्य

वे प्रेरणा श्रोत थे

पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ निर्भीक एवं ओजस्वी लेखक, सम्पादक एव प्रवक्ता थे। उनकी विद्वत्ता एवं निर्भीकता की अमिट छाप उनकी शिष्य मण्डली एव समाज पर स्थायी रूप से अंकित हो चुकी है। वे विद्वानो के लिये प्रेरणा श्रोत थे। वे कभी कही भी भावुकता से किसी दलबन्दी मे नही बह सके। वे अपने चिन्तन में सदैव स्वतन्त्र रहे। मनीषी गण यदि उनका पथ अपनाले तो सम्पूर्ण विवाद समाप्त हो सकता है।

प्रकाश हितैषी शास्त्री

विनीत श्रद्धांजलि

इस युग के उच्चकोटि के जैन विद्वानों में श्री पण्डित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ का प्रमुख स्थान है। मै उनके उच्च एवं सरल विचारो से प्रभावित हुआ हूं। उनके विचार धार्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित होते हुए भी सुलझे हुए होते थे। वे सामाजिक एकता के दृढ समर्थक थे। वे प्राचीन होने के नाते प्राचीनता का समर्थन नही कर उसकी अच्छाइयो के कारण समर्थन करते थे। उन्होंने साहित्यान्वेषण एवं मौलिक लेखन को प्राथमिकता दी। मुझे वे शब्द याद है जो डा० ए. एन. उपाध्ये ने उनके लिये गत वर्ष कहे थे। उन्होने बताया था कि "हम राजस्थान की तरफ से निश्चिन्त है जहा अकेले प० चैनसुखदास जी शिक्षण से लेकर साहित्यानुसधान एव लेखन, प्रकाशन आदि का पूर्ण काम सम्भाले हुए है"।

स्व० बाबू छोटेलाल जी के अभिनन्दन स्वरूप ग्रन्थ के सम्पादन के लिये पण्डितजी ने अथक श्रम स्वयं ही नही किया अपितु हम सब को बराबर प्रेरणा

देते रहे। उन्होंने इस वृद्धावस्था में भी इस स्मृति ग्रन्थ को अपने तत्वावधान में प्रकाशित कराया। इस सम्बन्ध में ही मेरा उनसे विशेष सम्पर्क हुआ था। मेरी इच्छा थी कि वे स्मृति ग्रन्थ के समर्पण समारोह के समय कलकत्ता अवश्य आवे किन्तु खेद है कि उन्होंने आना स्वीकार नही किया। उन्होंने कहा कि "ग्रन्थ प्रकाशन महत्वपूर्ण कार्य था जो हो गया अब इस समारोह में तो समर्पण आभार आदि की औपचारिक क्रियायें होंगी उन्हें मैं खास महत्व नही देता।"

मै स्व० पण्डितजी के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धाजलि प्रकट करता हुआ कामना करता हू कि उनके द्वारा सचालित और सस्थापित संस्थायें, साहित्य, संस्कृति, समाज एव देश की अधिकाधिक सेवाएं करे।

जुगमंदिरदास जैन
कलकत्ता

पण्डित जी सस्कृत एवं दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् तथा एक स्वतन्त्र विचारक थे और राष्ट्रपति जी ने इनकी सेवाओं से प्रभावित होकर राष्ट्रीय पुरस्कार से अलंकृत किया था।

सरदार हुकुमसिंह
(भूतपूर्व राज्यपाल, राजस्थान)

यह कहने की आवश्यकता नही है कि प० साहब जैन समाज के विद्वानों की परम्परा में असाधारण प्रतिभा के धनी थे, विद्वत्समाज में उनका स्थान मूर्धन्य था। बेशक उन्होने जीवन भर जैन समाज, धर्म एव साहित्य की उल्लेखनीय सेवाए की है जो निश्चय ही चिरस्मरणीय रहेंगी।

मूलचन्द पाटणी, बम्बई

पण्डित जी के व्यक्तित्व में विरोधी प्रतीत होने वाले गुणों का अद्भुत समन्वय था। वे दृढता के साथ-साथ अत्यन्त कोमल और सहृदय थे परम्परा और आधुनिकता के मिलन-बिन्दु पर वे खडे थे। वे दूसरों की पीडा से स्वयं दुखी हो उठते थे। कितने ही निराश छात्रो के जीवन मे आशा का सचार कर पण्डित जी ने उन्हे प्रगति के मार्ग पर आगे बढाया धार्मिक मतमतान्तरो से वे ऊपर उठे हुए थे।

पण्डितजी उच्च विचार और सादा जीवन के मूर्त्तरूप थे। उनमे राष्ट्रीयता के साथ-साथ विश्व मानवता के मूल भाव समाविष्ट थे। उनका निरभिमान पाडित्य और सहज उपलब्ध व्यस्त जीवन सब मे प्रेरणा और स्फूर्ति की भावना भरता था। वे आदर्श गुरू-परम्परा की महत्वपूर्ण कडी थे। उनके निधन से सांस्कृतिक परम्परा की एक कडी ही टूट गई है।

हमारा कर्त्तव्य है कि हम उनके द्वारा बताये गये आदर्शों पर चलकर सास्कृतिक नव-निर्माण मे एक जुट होकर अपना योगदान दें। पण्डित जी की आत्मा के प्रति यही हमारी सच्ची श्रद्धाजलि होगी।

डा० नरेन्द्र भानावत

उनकी मृत्यु से न केवल जैन वाङ्मय का एक प्रकांड पण्डित उठ गया, अपितु पूरे हिन्दी, सस्कृत साहित्य का एक कोना रिक्त हो गया। हिन्दी के लिये यह क्षति अपूरणीय है।

वासुदेव सिह
काशी विद्यापीठ वाराणसी

पण्डित जी के निधन के समाचारों से बड़ा ही आघात पहुचा है। उनके जैसा जैन समाज का सच्चा हित चिन्तक व महान सेवक जिसकी सेवाओ की जैन समाज को नितान्त आवश्यकता थी चला जाना अपूरणीय क्षति है। मेरे लिए तो यह आघात असहनीय है। व्यक्तिगत दृष्टि से मै उन्हे अपना ज्येष्ठ बन्धु मानता था। उनका जो मुझ पर अपार स्नेह था वह अकथनीय है। इस मृत्यु को मै बहुत बड़ी हानि ही मानता हूं। फिर मेरे सामाजिक कामो मे उनका सदा सहारा एव समर्थन रहता था। निराशा के दिनो मे वे मुझे धैर्य देते रहते थे।

जैन एकता के वे सच्चे समर्थक थे। उन्होंने अपनी एकता की निष्ठा को प्रतिकूल परिस्थतिया मे भी मन्द नही पड़ने दिया, सदा ज्वलन्त रखा और स्पष्ट विचार प्रकट करने मे उन्होने कभी भी सकोच नही किया। वे भारत जैन महामण्डल के बहुत बड़े समर्थक थे। उनसे हमे सदा समर्थन मिलता रहा। सचमुच मडल को तथा जैन एकता को उनके जाने से महान क्षति हुई है। जयपुर मे सभी सम्प्रदायो मे वे मान्य व्यक्ति थे। धर्मनिष्ठ होते हुए भी उनके विचार प्रगतिशील थे। उन्होने अनेको विद्वानों एवं कार्यकर्त्ताओं का निर्माण किया था। उनमे समाज हित के लिए अद्‌भुत तड़फ थी। उनके विचारो में विशालता थी और राष्ट्र तथा मानवता प्रेमी थे। जैन समाज को ऐसे महापुरुष की स्मृति मे कोई ठोस काम करना चाहिए जिससे उनकी क्षति की पूर्ति हो सके।

रिषभदास रांका
(सम्पादक-अणुव्रत एवं जैन जगत्)

पण्डित साहब के निधन के समाचार से हृदय को बड़ा आघात पहुंचा। उनके निधन से समाज और देश की अपार क्षति हुई।

अक्षयकुमार जैन
सम्पादक– नवभारत टाइम्स

मेरे लिए पंडित जी आत्मीय थे। बीस--पच्चीस वर्ष पूर्व पहली बार उनसे भेट हुई थी तब से जब-जब जयपुर जाना हुआ उनसे बराबर मिलता रहा। नाना समस्याओं पर उनसे विचार सुनकर प्रसन्नता होती। अपने मत के प्रति उनका आग्रह नही रहता था। उदार चिन्तन उनकी ऐसी विशेषता थी जो हमेशा के लिए मेरे मन पर छाप छोड़ गई है। धर्म के मूल सिद्धान्तो के वे पुजारी थे और दृढता पूर्वक वे उनका पालन करते थे। वे सिद्धान्त सभी धर्मों में समान हैं।

शास्त्रो मे उनकी अपार गति थी। 'अर्हत् प्रवचन' जैसा उत्तम संकलन उनके अगाध पांडित्य और सूक्ष्म ज्ञान का प्रतीक है। उनका व्यक्तिगत जीवन एक संत का जीवन था। पण्डित जी तो साधु, सर्वजन श्रद्धेय थे ही उनको तो अपने सुकृतो के फलस्वरूप भगवद्धाम प्राप्त होगा ही उनके लिए हमे शोक और प्रार्थना करने की आवश्यकता नही। ज्ञानी सन्त तो जीवन मुक्त होते ही हैं।

प्रो० रामसिंह तोमर
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्व भारती

पंडित जी अत्यन्त सरल स्वभावी, मिलनसार, व्यवहार कुशल, स्पष्ट वक्ता थे। जैन समाज को आपके वियोग से महान क्षति हुई है, जिसकी पूर्ति हो ही नहीं सकती।

परसादीलाल पाटनी
दिल्ली

आप सुधारक एवं मीमांसक विद्वान् थे। लेखक, पत्रकार, कर्मठ कार्य-कर्त्ता, संस्था संचालक आदि विभिन्न रूपो में आपके दर्शन होते थे। सिद्धातवादी थे, सिद्धांत के समक्ष वे किसी की नही चलने देते थे, ढोंग, आडम्बर एवं पाखंडों की खूब पोल खोलते थे। आप समाज मान्य ही नहीं थे अपितु राज्य मान्य भी थे। स्वभाव के मृदुल, भद्र, सरल एवं उदार थे। अनेक संस्थाओं के संस्थापक, संचालक, पोषक एवं मूक सेवक थे।

आपका हृदय, उदार विशाल एवं गम्भीर था। विद्वानों के प्रति सतत सम्मान की भावना रखते थे।

ज्ञानचन्द्र जैन 'स्वतन्त्र'

वीरवाणी के लब्ध प्रतिष्ठ, सुयोग्य सम्पादक जैन समाज से चल बसे। यह क्षति साहित्य संसार के लिए पूर्ण होनी कठिन है। पण्डित जी प्राचीन

विचारधारा और नवीन इन दोनों के समन्वय से लेख प्रकाशित करते थे। जिससे समस्त जैन जनता को लाभ पहुंचता था।

चन्दा बाई
(जैन बाला विश्राम, आरा)

पंडित जी साहब ने धर्म व समाज की जो सेवाए की हैं उसको कभी भुलाया नही जा सकता है।

राजकुमार सिंह,
इन्दौर

वह एक व्यक्ति नही थे, अपितु संस्था-संघ थे, तपस्वी और योगी थे। उनके वैदुष्य का वर्चस्व राजस्थान की प्राचीन पांडित्य परम्परा का प्रतीक था। उनकी क्षति अपूरणीय है। उस प्राच्य एवं पाश्चात्यज्ञान के समन्वित संस्करण और साहित्याकाश के ज्वाजल्यमान नक्षत्र ने इस तकनीकी युग में शोध के सहारे संस्कृत को सभी राष्ट्रीय समस्याओं के सन्दर्भ में समाधान के रूप में प्रस्तुत करने के जिस ज्ञान दीपक को प्रज्वलित किया था उसकी यत्न पूर्वक रक्षा ही उनके प्रति श्रद्धाजलि होगी।

मोतीलाल जोशी
महामन्त्री– राजस्थान संस्कृत साहित्य सम्मेलन।

पंडित जी की भव्य आकृति, सौम्य स्वभाव व आत्मज्ञान स्मरणीय है।

प्रेमचन्द जैन
जैना वाच कम्पनी, दिल्ली

पण्डित जी अखिल जैन समाज के एक महान स्तम्भ थे, संस्कृति के सबल संरक्षक और साहित्याकाश के प्रकाशपुंज नक्षत्र थे।

डा० ज्योतिप्रसाद जैन
लखनऊ

पण्डित जी बहुश्रुत और यशस्वी विद्वान् थे। उनके सम्पर्क में एक बार भी जो व्यक्ति पहुंचा, वह सदैव के लिए उनका बन गया। यह निश्चय है कि राजस्थान में पण्डित श्री चैनसुखदास जी ने टोडरमल जी के अधूरे और अपूर्ण कार्यों को पूर्ण करने का प्रयास किया है। जिन रूढियों के उन्मूलन करने का संकल्प टोडरमल जी ने लिया था उस सकल्प की पूर्ति पण्डित जी ने की है। उनके रिक्त स्थान की पूर्ति अब हो सकेगी या नही, यह शकास्पद है।

कर्त्तव्यपरायण महानात्माएं किसी समाज या देश के सौभाग्य से ही जन्म ग्रहण करती है। पण्डित श्री चैनसुखदास जी की जन्म भूमि और कर्म भूमि होने का सौभाग्य राजस्थान की वीर वसुन्धरा को प्राप्त हुआ, यह राजस्थान के जैन समाज के लिए गौरव का विषय है। साहित्य निर्माण, प्रवचन

एवं प्राध्यापक या प्रधानाचार्य के रूप में पण्डित जी ने अ० भा० जैन समाज की अभूतपूर्व सेवा की है।

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री
आरा

पंडित जी के निधन से संस्कृत जगत् की जो क्षति हुई है, वह अपूरणीय है।

वाचस्पति उपाध्याय,
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

जैन समाज के दुर्भाग्य से विद्वानों की श्रृंखला कम होती जा रही है। श्री पं० चैनसुखदास जी के स्थान की पूर्ति शीघ्र नहीं हो सकती। उन जैसा उदार नेता, गरीब छात्रों का आश्रयदाता, समाज हित चिन्तक विद्वान् मिलना कठिन है।

बाबूलाल जैन जमादार
मन्त्री– दि० जैन शास्त्री परिषद्–बड़ौत
(मेरठ)

पंडित चैनसुखदास जी जैन समाज की अनन्य विभूति थे। उन्होंने जैन समाज और जैन साहित्य को समृद्ध किया।

यशपाल जैन,
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

पूज्य पंडित जी प्राचीन पद्धति के विद्वानों में अग्रगण्य थे। वे अपने क्रान्तिकारी विचारों एवं सुधारवादी प्रवृत्तियों के कारण नई पीढ़ी के भी श्रद्धा-भोजन थे। अपने यश के पीछे वे कभी नहीं पड़े, किन्तु राजस्थान ने उन्हें सरस्वती पुत्र समझकर सदैव अपने सिर माथे पर रखा है।

डा० राजाराम जैन, आरा

आदरणीय पंडित जी ने जैन समाज की जो सेवा की है वह कभी नहीं भुलाई जा सकती। वे स्वयं में एक संस्था थे। वे एक ओजस्वी वक्ता थे और उनकी वाणी में आकर्षण था। उनका प्रवचन हृदयग्राही, मर्मस्पर्शी और समाज के कल्याण के लिए ही होता था। पंडित जी की करनी व कथनी में कोई अन्तर नहीं था। वे उच्चकोटि के शिक्षक थे और जिसके फलस्वरूप उनको राष्ट्रपति पुरस्कार मिला। वे वर्तमान पीढ़ी के लिए प्रेरणा श्रोत रहे हैं।

रामप्रसाद लढ्ढा
भूतपूर्व सिंचाई मन्त्री, राजस्थान

पंडित जी के त्यागमय जीवन, उदार विचार एवं साहित्य तथा समाज सेवा के प्रति मेरी हार्दिक सहानुभूति एवं श्रद्धांजलि स्वीकार करें।

डा० सूर्यदेव पाण्डेय
मुजफ्फरपुर।

पंडित जी वास्तव में एक महा मानव थे। उन्होंने जैन समाज व साहित्य में एक नया युग स्थापित किया था। भारतवर्ष में जैनियों में सबसे अधिक जागृति जयपुर में पाई जाती है, इसका श्रेय पंडित जी को है।

शोध के क्षेत्र में विद्वानों को हमेशा प्रेरणा देते थे। विद्यार्थियों को पुत्र तुल्य समझते थे। वास्तव में मुझे व्यक्तिगत बड़ा आघात पहुंचा है।

डा० कैलाशचन्द्र जैन
उज्जैन

जयपुर उनकी कीर्ति को अक्षुण्ण बनावे। शोध का कार्य चालू रहे। महावीर जयन्ती सर्वदा की तरह सजीव रहे। श्रमणमार्ग सनत् जन जीवन का मार्ग दर्शन करे, ये बातें पंडितजी को प्रिय थी। इन कार्यों को बढ़ाना ही उनके प्रति श्रद्धांजलि है।

रामचन्द्र जैन
डाइरेक्टर–इन्स्टीट्यूट ग्राफ इण्डोलोजिकल–लोजिकल रिसर्च, श्रीगंगानगर (राजस्थान)

वे मेरे सहपाठी थे। हम दोनों साथ ही न्यायतीर्थ हुए थे। समवयस्क थे. वे मुझ से सिर्फ ढाई माह छोटे थे। मित्रता तो थी ही, पर सुधारक होने के कारण कुछ विशेष अनुराग भी था। उनके जाने से जैन समाज का एक विचारक विद्वान् चला गया जिसकी पूर्ति कठिन है।

सत्यभक्त दरबारीलाल
सत्याश्रम, वर्धा

पंडित जी के विचारों में प्रौढता के साथ-साथ युवकोचित साहस, उत्साह, काम करने की लगन, अन्ध–विश्वासों व रूढिगत मान्यताओं के प्रति विद्रोह की भावना आदि का इतना अच्छा समन्वय हुआ था कि उनसे चर्चा करते समय यह कभी भान ही नही होता था कि किसी "बुढ़ऊ" से बात कर रहे हैं।

उनकी सहृदयता व आत्मीयता कभी भुलाई जा नहीं सकती। उनके जरिये समाज का असीम उपकार हुआ है।

फतहचन्द सेठी
अजमेर

वे जैन समाज के एक विरले विभूति थे। उनकी सेवाएं सदा अविस्मरणीय रहेंगी।

अगरचन्द नाहटा
बीकानेर

राजस्थान के राज्यपाल सरदार हुकुमसिंह, मुख्य न्यायाधीश श्री जवानसिंह राणावत एवं पंडित साहब भाषण देते हुए
←

पंडित साहब के गुरु
पंडित सूरजमलजी शर्मा,
जोबनेर→

महावीर जयन्ती समारोह के अवसर पर लिया गया एक चित्र। मंच पर बैठे हुए काका कालेलकर के साथ पंडित साहब
←

पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ–व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल

राजस्थान प्रदेश का देश के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। यहां की साहित्यिक एवं सास्कृतिक विरासत ने देश के विकास मे उल्लेखनीय योगदान किया है। वीरता यहा की मिट्टी के कण-कण में समाहित रही है। देश एवं मातृभूमि पर विपत्ति आने पर जीवन उत्सर्ग की कहानी की सैकडो बार पुनरावृत्ति हुई है। किन्तु बलिदान एव उत्सर्ग के साथ-साथ यहां की मिट्टी में पैदा होने वाले वीरो, बुद्धिजीवियो, सन्तों एव शासको ने निर्माण की कहानी को भी पचासो बार दोहराया है। यहां के कण-कण में साहित्यिक एव सांस्कृतिक विकास को गतिशीलता देने मे स्फूर्ति एवं उत्साह देखा गया हैं। राजस्थान के प्राचीन एवं कलापूर्ण मन्दिर, एवं प्रदेश के कौने-कोने मे स्थापित ग्रन्थागार इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। वास्तव मे यहा के ग्रन्थागार एवं मन्दिर हमारे साहित्यिक एव सास्कृतिक उत्कर्ष के महान् प्रतीक हैं। जिस प्रकार महाराणा प्रताप पर समूचे राजस्थान को गर्व है उसी पर राजस्थान-वासियो को जैसलमेर, नागौर, जयपुर, अजमेर के जैन ग्रन्थालयो एव राजकीय पुरातत्व संग्रहालयों पर भी कम गर्व नहीं है। राजस्थान के महापंडित आशाधर, महाकवि माघ, भट्टारक शिरोमणि पद्मनन्दि एवं भट्टारकसकलकीर्तिजैसे दिग्गजसाहित्य-सेवियों एवं सन्तो की जन्म एवं कर्म-भूमि होनेका गौरव प्राप्त है। न जाने कितने युगों की साधना के पश्चात् महापंडित टोडरमल ने राजस्थान मे जन्म लेकर साहित्यिक एवं सामाजिक क्रांति का बिगुल बजाया था तथा महाकवि दौलतराम ने विशाल काय गद्य-पद्यात्मक ग्रन्थों की रचना करके साहित्यिक यज्ञ को प्रज्वलित किया था।

राजस्थान के ऐसे ही गौरवशाली विद्वानों में प० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ का नाम भी उल्लेखनीय है। वे राजस्थान के अत्यधिक प्रतिभाशाली एवं प्रकाण्ड विद्वान् थे और उनका समूचा जीवन मा भारती की सेवा मे व्यतीत हुआ था। वे अपने समय के सर्वाधिक लोकप्रिय एवं श्रद्धास्पद विद्वान् माने जाते थे। 'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' वाली लोकोक्ति उनके जीवन में अक्षरश. सही उतरी थी। वे साहित्य गगन के सूर्य थे और जयपुर जैन समाज के मुकुट थे। वे क्या गये मानों सामाजिक जीवन की मर्यादा एवं गरिमा ही समाप्त हो गयी। उनका समग्र जीवन ही सेवा की मूर्ति था और जीवन के अन्तिम क्षण तक वे इसी व्रत को पालते रहे। जयपुर नगर के जैन समाज का गत ३० वर्षों का इतिहास ही मानों उनके जीवन का इतिहास है। उनका व्यक्तित्व समाज की प्रत्येक गतिविधि पर छाये रहा और बाहर से भिन्न होते हुये भी उनका एवं समाज का जीवन मानों एकाकार रूप में रहा। यही कारण है कि समूचा समाज वर्षों तक उनके इशारों पर चलता रहा और उन जैसे तपस्वी विद्वान् को पाकर वह निहाल हो गया।

पण्डित जी के जीवन की कहानी अत्यधिक रोमाचक एवं आकर्षक है। जिसे पढ़ने एवं जानने की

सभी में उत्सुकता बनी रहती है। उनका जन्म माघ कृष्णा अमावस्या विक्रम सवत् १६५६ को जयपुर जिलान्तर्गत भादवा ग्राम मे हुआ। उस समय दिन के २ बजे थे। आकाश मे सूर्यग्रहण चल रहा था। चारो ओर भक्ति एवं भजन हो रहे थे तथा हरिजन भाई मुक्त हस्त से दान की मांग कर रहे थे। ऐसे समय पण्डितजी की माता धापूबाई ने पुत्ररत्न को जन्म देकर अपने गृहस्थी के कर्त्तव्य से मुक्ति मागी। बालक की जब जन्म कुण्डली बनाई गई तो उसमे प्रताप, प्रभाव एव विद्याबुद्धि तीनो का असाधारण योग निकला। माता-पिता यह जानकर फूले नही समाये। बालक चैनसुखदास एक वर्ष के हुये, दो वर्ष के हुये और तीन वर्ष को पार करके जब चौथे वर्ष मे प्रवेश किया तो विपत्ति ने आ दबाया और बाये पैर मे लकवा मार गया। लकवा होने की भी विचित्र घटना रही। बालक चैनसुखदास अपनी बड़ी बहिन की गोद मे थे। बहिन दरवाजे पर खडी-खड़ी ककड़ी खा रही थी। उसी समय वहा लकड़ी को टेकते-टेकते एक वृद्धा आ गयी और बालिका से ककड़ी मागने लगी। तथा अपनी भूख का रोना रोने लगी। बालिका को वृद्धा का मागना अच्छा नही लगा। उसने वृद्धा को लात मारी जिसको वह सह न सकी और वही गिर पड़ी। थोड़ी देर मे वह वृद्धा तो वहा से चली गयी किन्तु अकस्मात् ही पण्डितजी को गोद मे लिये हुए वही बालिका (गोद मे अपने भाई को लिये हुये) वहा गिर पड़ी और फिर अपने आप वह उठ भी नही सकी। माता दौड़ी हुई आयी और दोनों भाई बहिन को वहा से उठाकर अलग-अलग शैय्या पर सुला दिया। पण्डितजी के पिताजी जवाहरलाल जी तत्काल स्थानीय वैद्य जी को ले आये। उनको देखने से पता चला कि दोनों को ही लकवा मार गया है। चारो ओर निराशा छा गयी। एक ४ वर्ष का पुत्र एवं एक ६-७ वर्ष की नन्ही बालिका। माता-पिता के सामने भविष्य मुंह फाड कर खड़ा हो गया और उनके सुनहले स्वप्न ताश के पत्तों के महल के समान टूटते दिखायी देने लगे। पर्याप्त इलाज कराया गया लेकिन सब व्यर्थ रहा।

बहिन की रोग मुक्ति

कुछ दिनों पश्चात् पडित जी ने गांव भादवा मे नटो की पूरी पार्टी आयी और गांव के बाजार मे अपने कौतूहल पूर्ण खेल दिखलाने लगी। पूरा गाव नटो का खेल देखने के लिये उमड़ पड़ा। पण्डितजी के भी सभी घर वाले खेल देखने के लिये गये। रह गये घर मे दोनो भाई-बहिन जो पैर से लाचार थे। बहिन ने अपने माता-पिता से बहुत अनुनय विनय किया लेकिन सब व्यर्थ रहा। सबके चले जाने के पश्चात् उनकी बहिन लाली मे क्या देवी चमत्कार आया कि वह स्वयमेव ही उठ खडी हुई और भाग कर नटो का जहां खेल हो रहा था वही पहु च गयी। बहिन का लकवा दूर हो गया और वह स्वस्थ हो गयी। लोगो के आश्चर्य का ठिकाना नही रहा। लेकिन बालक चैनसुखदास वही बैठे रहे। धीरे-धीरे बालिका पूर्ण स्वस्थ हो गयी। बड़ी होने पर उसका विवाह जोबनेर के एक प्रतिष्ठित परिवार के श्री नेमिचन्द पाटनी से हो गया जिसके सुपुत्र श्री सुगनचन्द पाटनी जोबनेर म्युनिसिपैलिटी के वर्षों तक चेयरमैन रहे तथा आजकल वहा के प्रतिष्ठित सामाजिक कार्यकर्त्ता माने जाते है।

बड़े भाइयों का दुखद निधन

भादवा गाव मे ही एक पाठशाला थी। उसके अध्यापक थे श्री मगनमलजी शर्मा। उस समय अधिकाश गांवो में एक अध्यापकीय शालाए चलती थी। पाठशाला वही के जैन मन्दिर मे लगती थी और उसमे उच्च वर्ग के ही बालक पढ़ने आते थे। शाला प्रातः और सायं दो बार लगती थी। पण्डितजी के बड़े भाई मांगीलाल और चचेरे भाई

केशरीमल भी उसी पाठशाला में पढते थे। वे दोनों ही वहां के मेधावी छात्र माने जाते थे। उस समय विद्यार्थियों को लघु कौमुदी एव रत्नकरण्डश्रावकाचार पढाया जाता था। लेकिन गाव मे पाठशाला की आलोचना करने वाले भी कुछ व्यक्ति थे। ऐसे लोगों के कारण वह पाठशाला कुछ समय बाद बन्द हो गयी और गाव के विद्यार्थी उधर-इधर घूमने लगे। काम तो कुछ रहा नहीं इसलिये एक दिन १०-१२ विद्यार्थी गाव से ८ मील की दूरी पर स्थित गुदली नामक तलैया मे नहाने के लिये चले गये। उन विद्यार्थियो में पंडितजी के दोनों भाई भी थे। वे दोनों ही तैरना जानते थे। इसलिये दोनो ने तलैया की एक दूसरी छोर से तैरते हुये बीच मे मिलने का निश्चय किया और तलैया मे कूद पडे। तलैया के बीच मे कुवा था। दोनो बच्चे ही तो थे। बीच मे आते-आते ही दम तोड बैठे और बीच के कुवे मे डूब गये। उनके साथियो ने उन्हें निकालने का बहुत प्रयत्न किया लेकिन वे उसमे सफल नही हो सके। उस घटना से चारो ओर हाहाकार मच गया तथा गांव के एव आस-पास के सैकडो व्यक्ति वहा एकत्रित हो गये। उस दिन गाव भर में किसी के खाना नहीं बना। वहा का जागीरदार भी रात भर वही रहा और पुलिस थानेदार के आने पर जब बच्चो को तलैया मे से निकाला गया तो उन दोनों सुन्दर एवं भोले-भाले बच्चो को देखकर सारे व्यक्ति जोर-शोर से रोने लगे। पण्डितजी के पिताजी एवं परिवार के लोगों के दुःख का तो कहना ही क्या ? उस दर्दनाक दृश्य का वर्णन करना भी कठिन है। जब थानेदार ने शेष बालकों को गिरफ्तार करने पर जोर दिया तो पण्डितजी के पिताजी ने विनम्र शब्दो में मना किया और कहा कि उनका और हमारा ऐसा ही भाग्य था।

प्लेग का प्रकोप

संवत् १९६१ में भादवा गांव में प्रथम बार प्लेग का प्रकोप बडे भयंकर रूप में हुआ। पहिले यह महामारी चूहो पर आयी। वे नाच-नाच कर मरने लगे इसके पश्चात् मनुष्यों पर पर महामारी ने अपना असर जमाना प्रारम्भ किया। पहिले जोरदार बुखार आता। फिर उसके गले मे, कान के नीचे अथवा जाघ के बगल में गांठ होती। इस गांठ के प्रकोप से लोग तीन-चार दिन में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते। बडी भयानक बीमारी थी, डाक्टर और वैद्य गांव मे थे ही नहीं। छोटे से गांव मे १५-२० व्यक्ति प्रतिदिन मरने लगे। चारों ओर भय और आतक छा गया। पण्डितजी के घर में भी महामारी ने प्रवेश किया और सर्वप्रथम पडित के बाबाजी की लडकी गगली को उसने अपना शिकार बनाया। गगली बहुत तेज थी इसलिये वह घोडी के नाम से प्रसिद्ध थी। इसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पिताजी चन्द्रलालजी मर गए और तीन दिन बाद ही पंडितजी की दादी और चन्द्रलालजी की पत्नी मर गयी। फिर पंडितजी के छोटे बाबा महामारी के शिकार हो गये। घर मे कोई परिचर्या करने वाला भी नहीं रहा। परिवार के एक के बाद एक सदस्य मरने लगे। छोटे बाबा के लडके गगालाल को भी प्लेग ने घर दबाया। उससे भयभीत होकर इनके बाबाजी गेरुलालजी गाव छोड़कर कही चले गये। अब पंडितजी के पिताजी का नम्बर आया। घर सूनसान हो गया। उनका उपचार करने वाला कोई नहीं बचा। इसलिये उन्हें मकान मे ही एक खाट पर लिटा दिया। सारा गांव खाली हो गया और लोगो के सामने मृत्यु मुंहबाये खड़ी रही। लेकिन उनकी आयु शेष थी इसलिये वे स्वतः ही बिना किसी उपचार के ही अच्छे हो गये।

पिताजी की मृत्यु

पंडितजी जब १०-१२ वर्ष के थे तभी उनके

पिताजी की मृत्यु हो गयी। बीमारी कोई खास नहीं थी। केवल मुंह में छाले थे। लेकिन गांव के वैद्य ने उन्हें रसकपूर दे दिया जिससे वे अत्यधिक परेशान हो गये। रसकपूर शरीर मे फूट-फूटकर निकलने लगा। घर की आर्थिक स्थिति विशेष अच्छी नहीं थी और उनकी खर्चीली तबियत थी यद्यपि वे गांव के कामदार थे। किन्तु खर्चीले होने से कुछ बचता नही था पडितजी ने स्वयं ने लिखा है कि वे गरीबों की बहुत सहायता किया करते थे। दान देने की शक्ति नही होने पर भी वे राजा हरिश्चन्द्र बने हुये थे। एक बार पडितजी के सामने ही एक गरीब आदमी ने कहा कि उसके पास पहिनने को कुछ नही है तो उनके पिताजी ने अपनी अगरखी खोल कर उसे दे दी। इसी तरह एक बार तो उन्होंने अपनी पगड़ी भी उतार कर दे दी थी। इस कारण गांव में उनका पूरा सम्मान था। उन्हे दादूपंथी साधुओं के जमात को जिमाने का बहुत शोक था। कभी-कभी तो २०–२५ दादूपथी साधू पडितजी के घर पर भोजन के लिए आमत्रित किये जाते थे। भोजन के पहले वे गाना गाते और फिर भोजन करते। दोनों ही कार्यों मे जवाहरलालजी की बहुत रुचि थी। वे अपने घर से किसी को निराश नही लौटाते थे।

पंडितजी ने अपने सस्मरण मे लिखा है कि उस समय गावों में किसानो की बहुत स्थिति खराब थी। सब जौ खाते थे और गेहूं की रोटी तो तब बनती थी जब कभी कोई मेहमान घर आ जाता। बच्चो को जब गेहूं की की रोटी मिलती तो बड़े खुश होते। कभी तो एक गेहूं कि रोटी के टुकडे करके बच्चों को मिठाई के समान दिया जाता था। चावल के तो दर्शन ही होली दीवाली होते थे। और जब चावल का भोजन बनता तो उस दिन त्यौहार माना जाता था। पंडितजी के बाबाजी चन्दूलालजी की की स्थिति और भी कमजोर थी। महीने में कई बार तो घर में चूल्हा भी नहीं जलता था। लेकिन उनकी पत्नी बड़ी समझदार थी और जब कभी घर मे अन्न नहीं होता तो वह धुवां करके अपने यहां भोजन बनने का प्रदर्शन कर लेती थी। कोई रोजगार था नहीं। नमक बेच कर कैसे गुजर हो सकता था। वैसे किसी के पास भी अच्छा धन्धा नहीं था। यदि २) रुपये महीने की भी किसी को नौकरी मिल जाती तो उसे अच्छा माना जाता था।

पिताजी की मृत्यु के पश्चात् घर की हालत और भी खराब हो गयी। घर में केवल तीन प्राणी थे। स्वयं पंडितजी, उनका छोटा भाई सरदारमल एवं वृद्धा मा। मा कातने का काम करने लगी। दिन भर कातती और रात्रि को भी वही काम करती। फिर भी तीनो का पेट भरना कठिन हो गया था। इसलिये पडितजी ने कपास लोढने का कार्य प्रारम्भ किया। एक चर्खा मगाया गया। चैनसुखदासजी प्रतिदिन ५ सेर कपास लोढ़ लेते थे और इससे उनको एक आना रोज का मिलने लगा। पढ़ने मे वे चतुर थे। कक्षा मे सब विद्यार्थियों से आगे रहते थे इसलिये इनके अन्य साथी भी जब घर पर आते तो वे पडितजी की सहायता करते। अब २) रु. महीना पंडितजी और २) रु. महीना उसकी मा कमाने लगी और ४) रु. महीने मे तीन प्राणियो का जैसे-तैसे खर्च चलने लगा। पंडितजी के मामा मीठडी (जोधपुर) ठिकाने के कामदार थे। वे घर से सम्पन्न भी थे। जब उन्होंने इन तीनों को अपने यहा ले जाना चाहा तो उनकी मां ने मना कर दिया। और अपने द्वारा उपार्जित आय से ही अपना काम चलाना चाहा।

पंडितजी प्रारम्भ से ही पढ़ने मे चतुर थे। इसलिये गाव के सारे बच्चों को वे पढ़ाया करते थे। एक बार जब वे अपनी मां के साथ अपने ननिहाल जाने को तैयार हुए तो सारे गांव के लोग इकट्ठे होकर उनकी माता के पास आये और उन्हें बड़ी

छोड कर जाने का आग्रह करने लगे। क्योंकि उनके बिना विद्यार्थियो का आवारा होने का डर था। पडितजी की मा को आखिर गाँव वालो की बात माननी पड़ी और अश्रु पूरित नेत्रो से अपने लाड़ले को छोड़कर जाना पड़ा।

जब वे १२ वर्ष के थे तो जोबनेर पढ़ने के लिये चले गये। वहाँ वे २ वर्ष तक पढ़ते रहे। वहां जैन पाठशाला थी। पडित सूरजमलजी वहा के अध्यापक थे। उसी समय जोबनेर मे एक विशाल जैन मेले का आयोजन किया गया। गाव के बाहर एक विशाल मडप बनाया गया। उसमे जैन समाज के बड़े-बडे विद्वान् भी सम्मिलित हुए थे उसी समय समाज के प्रसिद्ध विद्वान् प. गोपालदासजी बरैया एवं आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान् स्वामी दर्शनानन्दजी के मध्य शास्त्रार्थ हुआ। विषय था "ईश्वर कर्तृत्व"। शास्त्रार्थ कई घण्टो तक चला। इसमे जैनो की जीत हुई। पं. गोपालदास ने अपने पाडित्य से आर्य समाज को बुरी तरह हराया। इस शास्त्र मे विधुपुरा(इटावा) के कुंवर दिग्विजयसिंह भी सम्मिलत हुए थे। वे पहिले आर्य समाजी थे लेकिन बाद मे वही पर जैन हो गये। अन्य विद्वानो मे जयपुर के प्रसिद्ध देश एव समाज सेवी श्री अर्जुनलाल सेठी, इटावा के चन्द्रसैन जैन वैद्य एव प. पुट्टूलाल के नाम उल्लेखनीय है। इन विद्वानो ने भी शास्त्रार्थ मे भाग लिया था। आर्य समाज की हार का जोबनेर के ठाकुर कर्णसिंहजी के स्वास्थ्य पर गहरा असर पडा और वे कुछ ही दिनो पश्चात् मृत्यु को प्राप्त हो गये। पडित चैनसुखदास के जीवन मे इस प्रकार के बड़े समारोह को देखने का प्रथम अवसर था। पंडितजी प्रारम्भ मे अच्छे गायक भी थे। जब भजन गाते श्रोताओं को अपनी ओर सहज ही आकृष्ट कर लेते थे। मेले मे पण्डितजी ने एक भजन गाया था। इससे प्रसन्न होकर एक सेठ ने उन्हे १) रु. और पुस्तक पुरस्कार मे दी थी।

पडितजी ने अपने सस्मरण में लिखा है कि प० गोपालदासजी का प्रभाव आश्चर्यजनक था। उनके तर्क अकाट्य होते थे और सहज ही अपने विरोधी को जीत लेते थे। वे शरीर में बहुत दुबले-पतले थे उनको बहुमूत्र का रोग भी था इसलिये शास्त्रार्थ के बीच-बीच मे उन्हें उठकर जाना पड़ता था। जोबनेर मे उन्होंने पडितजी के बहनोई श्री नेमीचन्द पाटनी के यहा एक समय भोजन भी किया था इसलिये उस समय पंडितजी का उन्हें समीप से ही देखने का अवसर मिला था। किसी बड़े विद्वान से, पडितजी की यह प्रथम भेट थी।

दो वर्ष जोबनेर विद्याध्ययन करने के पश्चात् वे पुन. अपने गाव आ गये। उन दिनों सेठ केशरीमलजी सेठी गयाजी से भादवा आते रहते थे। गाव की पाठशाला भी उन्ही की प्रेरणा से चलती थी। जब कभी वे भादवा आते तो पाठशाला में भी निरीक्षण के लिये जाते। उनकी दृष्टि मे पंडितजी अच्छे एव कुशाग्र बुद्धि के छात्र लगे इसलिये उनकी इच्छा उन्हे गयाजी ले जाने की होने लगी।

एक बार उन्होने गयाजी से ही पडितजी के काकाजी नाथूलालजी को पत्र लिखा जिसमे उन्होंने पडितजी को गयाजी भेजने का आग्रह किया। पडितजी के हृदय मे अध्ययन की तीव्र लालसा थी। इसलिये उन्होने शीघ्र ही अपनी माताजी एवं बाबाजी का आर्शीवाद लेकर गयाजी के लिये प्रस्थान कर दिया। उस समय उनकी आयु १६ वर्ष की थी। गाव मे यातायात का साधन नही था। वहा से १३ मील आसलपुर का स्टेशन था। वहीं से रेल गाड़ी पकड़नी पड़ती थी। गाव से स्टेशन तक ऊंट पर जाना पडता था। पडित जी भादवा से आगे कुछ ही दूर पहुंचे होगे कि आकाश मे बादल छा गये और घोर वर्षा होने लगी। रेगिस्तान मे कहीं ठहरने का स्थान नही था। लेकिन आप जरा भी नही घबराये

और अपने लक्ष्य पर चलते ही रहे। यह मानों इन्द्रदेव द्वारा आपका पहिला स्वागत था और सरस्वती द्वारा प्रथम परीक्षा।

गयाजी में पंडितजी का मन नहीं लगा और वे वहां से और कहीं जाने की सोचने लगे। उसी समय महाविद्यालय मे पढने वाला एक विद्यार्थी सेठजी की दुकान पर आया। वह वहां से भाग कर आया था। वह विद्यार्थी कलकत्ता के किसी सेठ का लड़का था। स्वभाव से ही वह तेज था। इसलिये विद्यालय से लड भगड कर आया था। उसने आते ही केशरीमलजी सेठी के सामने विद्यालय की निन्दा करना प्रारम्भ कर दिया। सेठीजी विद्यालय की कार्यकारिणी के सदस्य थे तथा उसे आर्थिक सहायता भी देते रहते थे। कमेटी मे उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। किन्तु वह विद्यार्थी काफी समय तक जब विद्यालय की बुराइया करता ही रहा तब सेठीजी ने उसे भला बुरा कह कर उसे वही जाकर अध्ययन करने का आग्रह किया। पंडितजी वही बैठे थे और बड़े ध्यान पूर्वक उनकी बात सुन रहे थे। तत्काल उनके मन मे बनारस जाकर पढने की इच्छा हुई और उन्होने अपने विचार सेठीजी के सामने रख दिये। सर्व प्रथम तो सेठीजी ने उन्हे जाने की सलाह नही दी लेकिन कुछ समय पश्चात् पंडितजी के पुनः आग्रह करने पर वे सहमत हो गये। और स्याद्वाद महाविद्यालय में पढाने को राजी हो गये। पंडितजी की खुशी का पारावार नही रहा। उनके लिये तत्काल कुर्त्ता एवं कोट सिलाया गया और उस लडके के साथ एक पत्र लिखकर उन्हें भी वाराणसी पढ़ने के लिये भिजवा दिया। स्वय सेठीजी उन दोनों विद्यार्थियों को स्टेशन पर छोड़ने के लिये गये।

फिर विपत्ति

रेल से चलकर वे दोनों वाराणसी आ गये। पंडितजी तो प्रथम बार वाराणसी आये थे इसलिये उन्हें तो विद्यालय का कुछ पता ही नहीं था। वह विद्यार्थी उन्हें सर्व प्रथम श्वेताम्बर मन्दिर में ले गया जो स्याद्वाद महाविद्यालय के समीप ही था। उसने वहां जाकर कहा कि "विद्यालय तो प्रातः होने पर चलेंगे। अभी अपने कपडे खोल कर सो जावो।" पंडितजी ने ऐसा ही किया। गर्मियों का समय था इसलिये सोते ही गहरी नीद आ गयी और आख खुली तो मालूम पडा कि न तो वह विद्यार्थी ही है और न उनके कपडे एवं पैसे। पहिले तो उन्होने इधर उधर देखा और जब कहीं दिखायी नही दिया तो वे जोर-जोर से रोने लगे। और कोई उनके पास चारा भी क्या था। बनारस में उन्हें कोई नहीं जानता था और न वे विद्यालय को ही जानते थे। शरीर से अलग लाचार। कहीं जाने-आने मे अत्यधिक कष्ट होता था। आयु भी १६ वर्ष में अधिक नहीं। रोने की आवाज सुनकर मन्दिर का पुजारी उन्हें डांटने फटकारने लगा। और तत्काल मन्दिर से चले जाने के लिये कहने लगा। लेकिन भाग्य को यह स्वीकार नहीं था। अनायास ही स्याद्वाद महाविद्यालय के तत्कालीन अधिष्ठाता श्री नन्दकिशोरजी जैन वहां आ गये और उन्हे रोता हुआ देखकर पूछताछ करने लगे। वे पंडितजी को पूछने लगे कि वे क्यों रो रहे हैं और कहां से आये हैं। पंडितजी ने उन्हें अपने पर बीती पूरी घटना सुना दी तथा कहा कि उन्हें सेठ केशरीमलजी सेठी ने विद्यालय में पढ़ने के लिये भेजा है। लेकिन उन्होंने जो पत्र अधिष्ठाता महोदय को लिखा था वह भी कोट में रखा था जो वह लड़का लेकर चला गया। पंडितजी ने अपना पूरा वृत्तान्त रोते-रोते कहा। अधिष्ठाताजी को बालक पर दया आ गयी और वे उसे विद्यालय में अपने साथ ले गये। उन्होंने तार द्वारा पहिले केसरीमलजी से पंडितजी के बारे में पूछताछ की और जब उन्हें

सन्तोष हो गया तो पंडितजी को विद्यालय मे प्रवेश दे दिया। तत्काल दर्जी को बुलाया गया और उनके लिये कपडे सिलाये गये। पडितजी ने लिखा है कि "जब तक वे विद्यालय के अधिष्ठाता रहे उनके साथ उनका बर्ताव अत्यधिक "सौहार्दपूर्ण रहा।"

महाविद्यालय के स्नातक

पडितजी ने अपना अध्ययन पूरे मनोयोग से प्रारम्भ किया। जो कुछ वे पढते थे उसे पूरा याद कर लेते इसलिये वे शीघ्र ही विद्यालय के प्रिय छात्र बन गये। पहले वे स्वय पढते और फिर वे अपने साथियो को भी पढाया करते। पडितजी के साथी उनका काम सहज ही मे कर देते थे। वे वहां अनपेड छात्र थे। १) रु० मासिक उन्हे हाथ खर्च का मिलता था। वे उसी मे अपना काम चला लेते थे। पडित कैलाशचन्द जी शास्त्री प० चैनसुखदास जी के साथी थे। उन्होने एक स्थान पर लिखा है कि मेरे बाल्यकाल मे विद्यालय मे तीन छात्र प्रमुख थे। "पं० चैनसुखदासजी जयपुर, प. जीवन्धरजी इन्दौर और पं. रमानाथजी इन्दौर। मैं प० चैनसुखदासजी के ग्रूप मे था। और मेरे परम मित्र प० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ प० जीवंधरजी के ग्रूप मे थे। तीनो मे जब कभी बात छिड़ जाती थी तो आनन्द आ जाता था। फिर तो संस्कृत वाग्धारा की सरिता बहने लगती। प० चैनसुखदासजी अवस्था की दृष्टि से तीनों मे छोटे थे किन्तु बोलने मे विशेष पटु थे। विद्यालय जोभी विद्वान् पधारते उससे सस्कृत मे जमकर चर्चा छिड़ती और हम लोग उसका रसास्वादन करते। एक बार एक दण्डी साधु हाथ मे दण्ड लिये विद्यालय के तट से जा रहा था। ऊपर हम लोग खड़े थे। पं० चैनसुखदासजी ने उसे छेड़ दिया। वह भी विद्वान् था। फिर तो संस्कृत में वाग्युद्ध छिड़ गया और बहुत ही आनन्द आया।"

अध्ययन की समाप्ति

पडितजी पांच वर्ष तक स्याद्वाद महाविद्यालय के छात्र रहे और इस बीच मे उन्होने बंगाल सस्कृत एसोसियेशन की न्यायतीर्थ एवं काशी विद्यापीठ के आचार्य का "प्रथम खण्ड" पास किया। जैन शास्त्रों का आपने गम्भीर ज्ञान प्राप्त किया। आपकी तार्किक शक्ति बडी तेज थी इसलिये विद्यार्थी अवस्था मे आपको तर्कचन्द के नाम से पुकारा जाता था। वहा आपका एक अलग ही ग्रूप था और आपके ग्रूप मे अच्छे विद्यार्थी थे। विद्यार्थियों में आप सदा ही लोकप्रिय रहे। वहा पढते भी रहे और दूसरो को पढाते भी रहे। छात्रो की ओर से संस्कृत मे एक पत्र निकाला जाता था उसके भी आप सम्पादक रहते थे। विद्यार्थी अवस्था मे ही वे आप्तपरीक्षा एवं प्रमेयरत्नमाला को अच्छी तरह पढ़ाते। विद्यार्थियो को संस्कृत मे अनुवाद कराते और उनको संस्कृत में बोलना सिखाते।

स्याद्वाद विद्यालय आपके जीवन निर्माण का स्थल रहा। वहा रह कर संस्कृत एवं जैन दर्शन का उच्च अध्ययन किया। वास्तव में स्याद्वाद महाविद्यालय आप जैसे मेधावी छात्रो के कारण स्वयं गौरवान्वित हो गया। और आपके नाम के साथ सदा ही उसका नाम जुड़ गया। पाच वर्ष तक पडित जी का व्यक्तित्व विद्यालय के छात्रो पर ही नहीं अपितु वहां के अधिकारियों पर छाये रहा और वे अपनी विद्वत्ता, वाग्पटुता तथा सादगी से विद्यालय में सर्वाधिक लोकप्रिय रहे। पांच वर्ष के अल्प जीवन मे ही वे समाज के मूर्द्धन्य विद्वान् बन गये और अपनी अलौकिक सूझबूझ से सब पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया।

स्वदेश को

सन् १९१९ में वे स्वदेश लौट आये। उस समय उनकी आयु २१ वर्ष की थी। विद्याध्ययन पूर्ण कर जब वे गांव लौटे तो उनका भव्य स्वागत

किया गया। वृद्धों ने उन्हें आशीर्वाद दिया तो साथियों ने उन जैसा साथी पाकर अपने आपको गौरवशाली समझा। माता ने स्नेहमय आंसुओं से अपने पुत्र को छाती से लगाया तो छोटे भाई प्रसन्नता से फूला नहीं समाया और सारे गांव मे घूम-घूम कर अपने भाई के आगमन की सूचना दी। पं० चैनसुखदासजी भी अपने गांव मे अपने परिवार एवं इष्ट मित्रो के मध्य मे अपने आपको पाकर अत्यधिक प्रसन्नता व्यक्त की एवं स्नेह के लिये सबके प्रति आभार व्यक्त किया। पहिले वे केवल चैनसुखदास थे किन्तु बाद मे वे प० चैनसुखदास न्याय-तीर्थ कहलाने लगे। सबने मिलकर यह निश्चय किया कि आज शाम को मन्दिर में प० चैनसुखदासजी शास्त्र पढेगे। गाव के प्रत्येक घर में बुलावा भेजा गया। बालक, वृद्ध एव महिलायें सभी सायकाल की प्रतीक्षा करने लगी जब वे बनारस से पढ़कर आये हुए अपने ही गाव के पण्डितजी से शास्त्र सुनेगी। पूरा मन्दिर भर गया। युवा पंडितजी ने जब शास्त्र पढ़ा तो उनकी प्रवचन शक्ति को देखकर सब लोग मन्त्र मुग्ध हो गये और ऐसे 'पडित' को पाकर अपने आपको भाग्यशाली मानने लगे। गाव के सभी निवासी आपकी सादगी तथा नम्रता तथा विद्वत्ता की प्रशंसा करने लगे। मन्दिर का आंगन शाम को प्रतिदिन भरने लगा और लोगो मे अद्भुत उत्साह दिखाई देने लगा। कुछ दिन इस प्रकार व्यतीत हो गये। आपके विवाह के प्रस्ताव आने लगे। उस समय मे लडकियां कम थी और लडके अधिक थे। पडितजी पैर से लाचार होने पर भी उनके कुछ लोग अपनी लडकी देने को तैयार हो गये। लेकिन आपने विवाह करना स्वीकार नही किया और आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने का निश्चय किया।

एक बार आपको विवाह में सम्मिलित होने के लिये कुचामन (मारवाड़) जाना पड़ा। वहां भी आपका भव्य स्वागत हुआ। नगर में जैन समाज के द्वारा एक सभा बुलायी गयी और आपको प्रमुख अतिथि के रूप में आमंत्रित किया गया। आपके व्याख्यान का विषय था "जैन धर्म का महत्व"। इस सभा में कुचामन नगर के प्रसिद्ध पंडित मघदत्त जी शास्त्री भी सम्मिलित हुए। वे आपके भाषण से अत्यधिक प्रभावित हुए। इन्होंने पंडितजी के भाषण के पश्चात् कहा कि "उन्हें कितने ही विद्वानों के भाषण सुनने का अवसर मिला किन्तु आज एक युवा विद्वान् के मुख से जितना प्रभावशाली भाषण सुनने को मिला उतना इसके पूर्व कभी नहीं मिला।" कुचामन के निवासी भी पंडितजी का भाषण सुन कर झूम उठे और अपने ही प्रान्त के युवा विद्वान् को पाकर अत्यधिक प्रसन्नता व्यक्त की। तथा उन्होंने अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त की कि पडितजी यहीं कुचामन में रहें। उस समय कुचामन मे सेठ गम्भीरमलजी पांड्या की ओर से एक विद्यालय चलता था सेठजी भी एक योग्यविद्वान् की तलाश मे थे। फिर क्या था उनके घर बैठे गंगा आ गई थी इसलिये वे भी उनसे लाभ लेने को आतुर हो उठे। जब सेठजी ने आपने विद्यालय मे सेवा करने के लिये अत्यधिक आग्रह किया तो आपने उसे स्वीकार कर लिया और वे उस विद्यालय के प्रधानाध्यापक नियुक्त किये गए।

समाज सेवा करने का प्रथम अवसर

दिगम्बर जैन विद्यालय कुचामन के प्रधानाध्यापक के पद नियुक्ति होते ही आपकी कीर्ति चारों ओर फैलने लगी। पैर से लाचार होने पर भी स्वस्थ एवं सुन्दर वदन, ओजपूर्ण वाणी, संयमी जीवन एवं स्वाभिमानी स्वभाव इन सब गुणों ने आपके व्यक्तित्व को ऊंचा उठाने में पूर्ण सहयोग दिया। जिस विद्यालय में पहिले विद्यार्थियों का अभाव रहता था वहां अब आस-पास के ग्रामों के विद्यार्थी आने लगे और एक-दो वर्ष में ही वहां

विद्यार्थियो की अच्छी संख्या हो गयी। पं सत्यन्धर-कुमारजी सेठी, पं. चान्दमलजी काला, गुलाबचन्दजी गंगवाल रेनवाल आदि ने कुचामन मे ही विद्या प्राप्त की थी। कुचामन विद्यालय मे आपने १२ वर्ष तक सेवा की और उसे प्रान्त का आदर्श विद्यालय बना दिया।

शिक्षण कार्य के अतिरिक्त जो भी आपको समय मिलता उसे आप सामाजिक कार्यों में लगाने लगे। भादवा, जोबनेर एवं बनारस के विद्यालयों मे अध्ययन करते समय भी आपसे जितनी अधिक सेवा हो सकती थी करते रहे थे। पंडितजी प्रारम्भ से ही उदार विचारो के रहे। समाज के विकास में उनकी क्रांतिकारी विचारधारा रही। उन्होने सदा ही समाज को झकझोरना चाहा और उसे जाग्रत करके विकास की ओर लगाने का प्रयास किया। वे रूढ़ियों का सदा ही विरोध करते रहे। चौका-चूल्हा एवं छुआछूत के सदा ही विरुद्ध बोलते रहे और उस समय भी अपने साहस का परिचय दिया जब समाज मे कट्टर-पंथियो का बोलबाला था तथा सारा समाज उनकी मुट्ठी मे था।

जब आप कुचामन मे थे तो खण्डेलवाल महासभा का पूरा प्रभाव था। लेकिन पंडितजी सा० की दिगम्बर जैन खण्डेलवाल महासभा से अधिक नहीं पटी क्योकि उसके सभी कर्णधार पुरानी विचारधारा के थे और सुधार का उन्हें नाम भी नहीं सुहाता था। इसलिये पंडितजी ने राजावाटी गोडावाटी दिगम्बर जैन महासभा के नाम से एक सस्था की स्थापना की थी जिसका प्रमुख उद्देश्य समाज मे व्याप्त कुरीतियो को मिटाने एवं परस्पर के विवादो को निपटाना था। उन्होने इस महासभा के माध्यम से उस प्रदेश मे वृद्ध विवाह, दहेज एव कन्या विक्रय जैसी कुरीतियो मे काफी सुधार किया। पंडितजी सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिये पंच (जज) का कार्य करते थे। वादी एवं प्रतिवादी की दलीलें सुनते, पक्ष विपक्ष में तर्क दिये जाते और अन्त में पंडितजी द्वारा फैसला सुनाया जाता जो सबको मान्य होता। कहते हैं कुछ लोग अपने पक्ष में फैसला देने के लिये पंडितजी को लोभ लालच भी देने का प्रयास करते लेकिन वे अपने पद से विचलित नहीं होते और जो उचित प्रतीत होता वही फैसला सुनाते। पंडितजी के इस बढ़ते हुए प्रभाव से बड़े-बड़े मठाधीशों के सिंहासन हिल गये और वे भी पंडितजी की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने में डरने लगे।

एक बार बरसात के दिनों में भादवा से कुचामन जाते समय बाजन नदी की तेज धारा तथा गहरे पानी में मना करने पर भी ऊंट वाला आपको ले गया। उसने सोचा था कि नदी में अधिक पानी नहीं है और ऊंट को वह आसानी से निकाल ले जायेगा। लेकिन नदी का बहाव तेज था तथा पानी भी गहरा हो गया था। ऊंट जब नदी के मध्य मे पहुंचा तो उसकी गर्दन के अतिरिक्त वह पूरा डूब गया था। बडी मुश्किल हो गई। न आगे जाया जा सकता था और न पीछे मुड़ा जा सकता। ऊंट वाला भी घबरा गया और पंडितजी ने तो जान लिया कि उनके जीवन का अन्त सन्निकट है। वे णमोकार मंत्र का जाप करने लगे। धीरे-धीरे ऊंट ने जब बडी सावधानी से नदी पार की तभी दोनो के जान में जान आयी।

जयपुर आगमन

१२ वर्ष कुचामन विद्यालय मे कार्य करने के पश्चात् दिनांक ३० अक्टूबर सन् १९३१ की शुभ एव पावन वेला मे पंडितजी सा० ने दिगम्बर जैन महापाठशाला जयपुर के प्रधानाध्यापक पद का कार्यभार सम्हाला। यहां से उनके जीवन का नया मोड प्रारम्भ हुआ। अब तक उनकी गतिविधियां प्रमुख रूप से कुचामन एवं उसके आस-पास के

प्रदेश तक ही सीमित रही थी लेकिन जयपुर में आजाने के पश्चात् उनका क्षेत्र सारा देश हो गया और उनके जीवन विकास का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। उनकी आयु भी उस समय ३३ वर्ष की थी। उनका शरीर पूर्ण यौवनत्व को प्राप्त था। शरीर से यद्यपि अशक्त थे। डंडे के सहारे चलते थे। लेकिन उनका उन्नत भाल, चमकता हुआ आकर्षक चेहरा तथा ओजस्वी वाणी किसी भी व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित करने मे पर्याप्त थी।

पंडितजी सीधे-सादे वेश में रहते। मारवाड़ी ढग की पगडी बाधते। खद्दर की धोती और कुर्त्ता अथवा कमीज पहिनते। हाथ में डडा रखते और अपनी उपस्थिति का सबको ज्ञान करा देते।

पडितजी जयपुर आकर पाठशाला के प्रबन्ध को देखने लगे। पढ़ाई की स्थिति देखी। विद्यार्थियो की जब सख्या देखी तो मालूम पड़ा कि ऊंची कक्षाओ मे विद्यार्थी ही नहीं हैं। अधिकाश विद्यार्थी प्रवेशिका पास करके पाठशाला छोड़ देते थे। इसलिये उच्च कक्षाओ मे विद्यार्थी कैसे आते। वे एक दूसरे को देखकर वापिस चले जाते। महापाठशाला को स्थापित हुए ३० वर्ष से भी अधिक समय हो गया था लेकिन इतने वर्षों मे ४-५ शास्त्री से अधिक नही निकल सके। वास्तव में यह एक प्रकार से पडितजी को चुनौती थी जिसको उन्होने सहर्ष स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त महापाठशाला की आन्तरिक व्यवस्था भी एकदम बिगड़ चुकी थी। समाज का प्रबन्धको पर विश्वास नही रहा था इसलिये मत्री और प्रधानाध्यापकों मे बराबर परिवर्तन होता रहता। इस प्रकार पडितजी को जयपुर आने पर अनेक समस्याओ का सामना करना पड़ा।

सर्व प्रथम उन्होंने विद्यार्थियों पर ध्यान दिया। उस समय उपाध्याय कक्षा मे पढ़ने वालों में पं० भंवरलालजी न्यायतीर्थ, पंडित श्रीप्रकाश शास्त्री, पंडित मिलापचन्दजी शास्त्री, पडित भैरूलालजी शास्त्री एवं पडित आनन्दीलालजी न्यायतीर्थ के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। पडितजी ने ३० अक्टूबर को महा पाठशाला का चार्ज लिया और २ नवम्बर को उन्होंने पडित भंवरलालजी को अपने पास बुलाया। इस प्रथम भेंट का पं० भंवरलालजी ने अपने एक लेख में जो वर्णन उपस्थित किया है वह निम्न प्रकार है :—

मैं विद्यालय गया। मैंने देखा—एक पगडीबंध, छोटे से कद के, डंडा हाथ मे लिये मारवाड़ी व्यक्ति खडे हैं दीवार के पास। मुझे कहा गया कि ये नये पडितजी है। रजिस्टर मे तुम्हारी गैरहाजरी होने से बुलाया है। मैं नमस्कार करके उनके समीप खड़ा हो गया।

उन्होने पूछा तुम्हारा क्या नाम है? मैंने अपना नाम बतलाया। उनका दूसरा प्रश्न था तुमने विद्यालय मे पढ़ना क्यो छोड़ दिया? मैंने उत्तर दिया कि संस्कृत मुझे समझ मे नहीं आती। मैं अग्रेजी पढ़ना चाहता हूँ। तीसरी बार उन्होंने कहा कि यदि सस्कृत तुम्हारी समझ मे आने लगे और अग्रेजी भी तुम्हे पढ़ाया जाय तो पढ़ोगे? मेरे पास उसका उत्तर सिवाय हां करने के कुछ नहीं था। वह था सर्व प्रथम पूज्य पण्डितजी साहब के दर्शन। पहली बातचीत और पहली मुलाकात।"[1]

पं० भैरवलाल सेठी को भी पण्डितजी ने बुलवाया और उनको भी अपना अध्ययन प्रारम्भ करने का परामर्श दिया। इसी घटना को उन्होंने

---

१. पं० चैनसुखदास जयन्ती विशेषांक पृष्ठ संख्या ७७।

श्री अपने एक लेख "मेरे निर्माता" में निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है–"सन् १९३६ में मैंने प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण कर अपनी शिक्षा लगभग समाप्त कर दी थी और अपने चाचाजी के कार्य मे सहायक हो चुका था। गुरुजी इन्हीं दिनो जयपुर पधारे थे। उन्हे मालूम हुआ और उन्होंने बुलाया। तथा पढाई बन्द करने के कारणों को सुना। मेरी आर्थिक स्थिति का परिचय पाकर कहा कि तुम दिन मे अपना काम करो और रात के ८ बजे पश्चात् मेरे पास पढने आओ। मेरे परम सखा श्री भवरलालजी न्यायतीर्थ तथा मे दोनों रात को पढ़ने आने लगे। पण्डितजी शास्त्र प्रवचन करके आते और रात को २–३ घंटे हम दोनो को बगाल संस्कृत एशोसियेशन की प्रथम परीक्षा की तैयारी कराते। फरवरी मे प्रथमा परीक्षा दी और सफलता प्राप्त की। इसी बीच मेरे ट्यूशनों की व्यवस्था भी बैठा दी।"[1]

इस प्रकार पण्डितजी सा० ने जयपुर आते ही विद्यार्थियों से अपना सम्पर्क बढाया और उन्हें उसमे पर्याप्त सफलता मिली। एक के पश्चात् दूसरे विद्यार्थी आने लगे और इस तरह प्रवेशिका, उपाध्याय एव शास्त्री कक्षाओ मे जो पहिले प्राय खाली पडी रहती थी फिर विद्यार्थियों से भरने लगी। पण्डितजी दिन भर विद्यार्थियों को पढाते और रात्रि को बडे दीवानजी के मंदिर मे शास्त्र प्रवचन करते। इस तरह शनै-शनै उनकी विद्यार्थियो मे एव समाज में लोकप्रियता बढ़ने लगी।

जैन दर्शन का सम्पादन

तीन वर्ष में जयपुर जैन समाज मे लोकप्रियता प्राप्त करने तथा दिगम्बर जैन महापाठशाला की व्यवस्था में पर्याप्त सुधार करने के पश्चात् पण्डित जी बिजनौर से प्रकाशित होने वाले पाक्षिक पत्र जैन दर्शन के प्रमुख सम्पादक बनाये गये। यह पत्र श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रार्थ सघ का प्रमुख पत्र था तथा एक वर्ष पूर्व ही पण्डित अजित-कुमारजी शास्त्री एवं पण्डित कैलाशचन्दजी शास्त्री के सम्पादकत्व में निकल रहा था। दूसरे वर्ष के प्रथम अक से (१ अगस्त, १९३४) आपने इसके सम्पादन कार्य को अपने हाथ में लिया तथा पण्डितजी के पास ही जैन दर्शन मे प्रकाशनार्थ लेख एव कवितायें भेजे जाने के लिये विद्वानों से निवेदन किया गया। इसके पश्चात् जैन दर्शन पत्र का "स्याद्वाद विशेषांक" का आपने जिस योग्यता एवं पाडित्य से सम्पादन किया उसकी उन दिनों सारे समाज मे अत्यधिक प्रशसा हुई। आपके पांडित्य की चारो ओर प्रशसा होने लगी और कुछ ही समय मे 'जैन दर्शन' समाज का लोकप्रिय पत्र बन गया। इस पत्र के माध्यम से जयपुर के जैन युवकों को लेख, कविता एव कहानी लिखने का अच्छा अभ्यास हो गया। जिन नवयुवक विद्वानो की जैन दर्शन मे विशेष लेख एव कवितायें प्रकाशित हुई थी उनमे पं० भंवरलालजी न्यायतीर्थ, प० मिलाप चन्दजी शास्त्री प० कैलाशचन्द जी शास्त्री न्याय-तीर्थ, प० आनन्दीलालजी न्यायतीर्थ, पं० श्री प्रकाश जी शास्त्री, प० चान्दमलजी शशि के नाम विशेषत उल्लेखनीय हैं।

जुलाई १९३४ मे लेखक अपने छोटे भाई (वैद्य प्रभुदयाल भिषगाचार्य) के साथ पडितजी सा० के चरणों मे सैथल ग्राम से पढ़ने के लिये आये। लेखक का यह परम सौभाग्य रहा कि उनके पिताजी स्वर्गीय श्री गैंदीलालजी ने उन्हे ऐसे महापुरुष के चरणो मे समर्पित किया जिनके कारण हम दोनो भाइयों का जीवन निर्माण हो सका।

---

१. पं० चैनसुखदास जयन्ती विशेषांक पृष्ठ संख्या ८३।

इस प्रकार जयपुर जैन समाज मे पडितजी सा० की लोकप्रियता बढ़ने के साथ ही समाज मे विरोध की भावनाए भी समाप्त होने लगी थी। दिगम्बर जैन महा पाठशाला की व्यवस्था मे सुधार होने लगा था। पडितजी सा० स्वय प्रातः काल से लेकर रात्रि को १० बजे तक विद्यार्थियों को पढ़ाते रहते। यही नही कालेज में पढने वाले विद्यार्थियो के अतिरिक्त भी अन्य विद्यार्थियो को बुला कर पढाते और उन्हें प्रतिवर्ष किसी न किसी परीक्षा मे बैठा देते। तीन-चार वर्ष मे ही जयपुर मे उनके शिष्यो की अच्छी संख्या हो गयी।

जैनबन्धु का सम्पादन

दो वर्ष तक जैन दर्शन के प्रथम सम्पादक रहने के पश्चात् पण्डितजी ने एक नये पाक्षिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। पत्र का नाम था जैनबन्धु और प्रकाशन स्थान था कलकत्ता। इसके प्रकाशक तनसुखलाल पाड्या थे। जैन बन्धु के प्रथम वर्ष के प्रथम अंक के अपने सम्पादकीय मे जैनबन्धु के प्रकाशन के उद्देश्य का निम्न शब्दो मे उल्लेख किया था "जैन बन्धु किसी दल विशेष का पत्र नहीं होगा। वह सारे जैन समाज का पत्र है। इसका प्रधान उद्देश्य समाजगत (शास्त्रानुमोदित) रूढ़ियो को नष्ट कर समाज मे नव जीवन का सचार करना है। विपथगामी नवयुवको को सत्पथ पर लाकर उन्हे सुयोग्य समाज सेवी बनाना है। प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य के प्रचार के द्वारा जैन धर्म प्रभावना करना है। इसमे प्रधानतया जैन साहित्य, जैन दर्शन, कला, अर्थशास्त्र और स्वास्थ्य आदि विषयो पर लेख रहेगे। और किसी भी ऐसे सामयिक आन्दोलन के सम्बन्ध मे भी गवेषणा पूर्ण लेख रहेंगे जिनका सम्बन्ध खास कर जैन समाज से होगा। यदि आवश्यक समझा जायगा तो किसी भी विषय के खण्डन-मण्डन के लेखों को भी स्थान दिया जा सकेगा। "पडितजी सा० ने जैन बन्धु पत्र का जय-जय जैनबन्धु अभिराम" कविता रूप मे स्वागत किया। स्वागत का एक चरण निम्न प्रकार है—

> पावनता का बन आधार,
> निर्भय हो पर कभी न हार,
> परोपकृति ही रख व्यापार,
> समुत्थान का ही सद्धाम। जय जय जैनबन्धु अभिराम

लोहड़साजन आन्दोलन का श्रीगणेश

जैन बन्धु के प्रकाशन का प्रमुख उद्देश्य लोहड साजन आन्दोलन का श्रीगणेश करना था। तथा समाज के कुछ व्यक्ति आचार्य श्री सूर्यसागर जी महाराज के विरुद्ध भी अनर्गल बातें लिखा करते थे उन्हे भी समुचित उत्तर देना था। जयपुर को आन्दोलन का केन्द्र बनाया गया तथा समाज के सर्वाधिक लोकप्रिय नेता दानवीर रावराजा सर सेठ हुक्मचन्दजी इन्दौर, सेठ तोलारामजी एव सेठ गजराजजी गगवाल लाडनू आदि का पूर्ण सहयोग प्राप्त किया गया। जैन बन्धु के प्रथम वर्ष के द्वितीय अक मे सर्व प्रथम पडितजी सा० के प्रमुख शिष्य प० भंवरलालजी न्यायतीर्थ ने "पक्षपात का पिशाच" नामक लेख से आन्दोलन का श्रीगणेश किया और उसमे आचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराज के आलोचको तथा खण्डेलवाल समाज के एक वर्ग लोहसाजडन समाज की जाति बहिष्कृत जैसी कार्यवाहियों का खुलकर विरोध किया गया। इसी वर्ष ज्येष्ठ बदी १२ को जयपुर मे पं० मक्खनलालजी का आगमन हुआ। कहते है उनका उद्देश्य भी आचार्य श्री को अपने पक्ष में लेना था। लेकिन पंडित मक्खनलालजी को इसमे सफलता नही मिली। इसी तरह आचार्य श्री का जब लाडनू में चातुर्मास हो रहा था उस समय भी कुछ दूसरी पार्टी के विद्वानो ने आचार्य श्री से अनेक प्रश्न पूछे और उन्हें अपने पत्रों में बदनाम करने का भी प्रयास किया लेकिन उन्हें

किसी में भी सफलता नही मिली । पंडितजी का जैनबन्धु पत्र आगे बढ़ता गया और शीघ्र ही समाज मे वह लोकप्रिय पत्र माना जाने लगा। इन्हीं सामाजिक आन्दोलनो के सम्बन्ध में पंडित जी सा० ने एक-एक व्यक्ति को मैदान मे उतार और दूसरे अंक मे ही पं० भवरलालजी न्यायतीर्थ के लेख के अतिरिक्त श्री सरदारमलजी सेठी लाडनूं का "निन्दनीय चेष्टा", श्री नानूलाल पोल्याका का "श्री १०८ आचार्य श्री शातिसागर जी महाराज की लोहडसाजनो के आहार लेने की मनाई नहीं है" तथा श्री मालचन्दजी पाटनी लाडनू का "अनाधिकार चेष्टा" लेख प्रकाशित हुए। इन सब लेखो का उद्देश्य अजमेर से प्रकाशित होने वाले पत्र चन्द्रप्रकाश "जिसके सम्पादक प० सुजानमलजी सोनी थे तथा खण्डेलवाल जैन हितेच्छु जिसके सम्पादक प० इन्द्रलालजी शास्त्री थे, के लेखों का उचित जवाब देना था। इसके बाद तो जैन बन्धु मे इन समाचार पत्रों मे प्रकाशित होने वाले लेखो के विरुद्ध एक के पश्चात् दूसरे लेख आने लगे। पण्डितजी सारे समाज मे समाज सुधार के पक्ष मे अलख जगाना प्रारम्भ किया। युवको को सामाजिक आन्दोलनो मे सक्रिय भाग लेने के लिये प्रोत्साहित किया और इसका परिणाम यह हुआ कि जयपुर, कलकत्ता, इन्दौर, लाडनू, दांता, किशनगढ, रेनवाल आदि पचासो गात्रो एव नगरो मे युवको के दल के दल तैयार हो गये और वे पण्डितजी को अपना आदर्श नेता मानने लगे।

नयी कृति का निर्माण एवं प्रकाशन

'जैन बन्धु' मे पंडितजी अपने आपको दार्शनिक कवि के रूप मे तो प्रस्तुत कर ही रहे थे कि उन्होंने बन्धु के प्रथम वर्ष के दूसरे अंक से अपनी सस्कृत रचना "पावन प्रवाह" को क्रमशः प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। यह एक सुभाषित कृति है।

आचार्य सूर्यसागरजी का चातुर्मास

आचार्य सूर्यसागरजी महाराज एक वर्ष से भी अधिक समय तक मारवाड़ एवं शेखावाटी के ग्राम। एव नगरो में बिहार किया एवं वहां की जनता मे धर्म प्रभावना करने के पश्चात् बैशाख शुक्ला ६ स० १९९३ को पुन: जयपुर नगर में पदार्पण हुआ। रात्रि को नगर के बाहर स्थित नशिया मे ध्यानस्थ होना तथा दिन मे आहार के पश्चात् पाटोदी के मन्दिर में प्रवचन एव धर्म चर्चा करना आपका कार्यक्रम था। तत्कालीन कवि स्व० चान्दमलजी शशि की आचार्य श्री के सम्बन्ध में निम्न पंक्तिया उल्लेखनीय है—

> द्वाविंशति कर सहन परीषह
> द्वादशानुप्रेक्षा मे मग्न।
> परमविरागी शान्त सूर्य मुनि
> धर्म ध्यान मे हैं सलग्न।
> जीवमात्र को धर्म भाव हो
> रखकर यह हित भाव विशाल।
> ख्याति नाम से दूर सूर्य मुनि
> रहते नित परमारथ काल।

आचार्य श्री के साथ तत्वचर्चा मे भाग लेने वालो मे पण्डितजी के अतिरिक्त मा० नानूलालजी, स्वर्गीय पडित कस्तूरचन्दजी साह, स्व० पं० झूंथालालजी, दुलीचन्दजी साह, रामचन्द्रजी खिन्दूका, बख्शी केशरलालजी, एव जमनालालजी की पत्नी के नाम उल्लेखनीय हैं। तत्वचर्चा के पश्चात् आचार्य श्री रात्रि को नगर के बाहर जगंलो में चले जाते और रात भर कहीं ध्यानस्थ रहते। जयपुर मे उनका चातुर्मास सानन्द सम्पन्न हुआ और उनके चातुर्मास के कारण सैकड़ो युवको मे धार्मिक भावनाएं जाग्रत हुई।

पंडितजी साहब की अस्वस्थता

अप्रेल १९३८ में पंडितजी साहब का स्वास्थ्य खराब हो गया। अपनी अस्वस्थता के कारण उन्होंने

जैनबन्धु के सम्पादकत्व से अवकाश ग्रहण कर लिया और अपने स्थान पर पं० श्रीप्रकाश जी न्यायतीर्थ, पंडित कैलाश चन्दजी न्यायतीर्थ, एवं प० भवरलाल जी न्यायतीर्थ को सम्पादन का कार्य भार सौंप दिया और जैनबन्धु के तीसरे वर्ष के १२ अंक इन्हीं तीनों के सम्पादन मे प्रकाशित हुये। लेकिन तीन वर्ष तक निकलने के पश्चात् जैनबन्धु बन्द कर दिया गया। वास्तव में यह पत्र लोहडसाजन आन्दोलन को गति देने के लिये प्रारम्भ किया गया था और उसमे पूर्ण सफलता मिलने के पश्चात् पत्र को बन्द करने का स्वयं पंडित जी साहब ने ही निर्णय लिया।

वीरवाणी का प्रकाशन

सन् १९४७ को महावीर जयन्ती से एक नये पाक्षिक पत्र 'वीरवाणी' का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। पडित जी साहब के अतिरिक्त प० भवरलाल जी न्यायतीर्थ भी इसके सम्पादक बने। पत्रिका का वार्षिक मूल्य ३)रु. एव एक अक का चार आना रखा गया। पंडितजी साहब ने वीरवाणी का प्रकाशन निम्न संकल्प के साथ प्रारम्भ किया गया।

नालसा: प्राप्तुवन्त्यर्थं न क्लीवा: न च मानिन

न च लोकरवाद्‌भीता: न च शश्वत्प्रतीक्षिण: ।।

"वीरवाणी के प्रथम वर्ष के प्रथम अंक मे पडित जी ने पत्रिका प्रकाशन के उद्देश्य को निम्न शब्दो मे प्रस्तुत किया–

""वीर-वाणी" का यह पहला अक पाठको के हाथों मे पहुंच रहा है। पाठक नये बच्चे की तरह इसे प्यार करे और अपना मंगलमय आशीर्वाद दे। प्रकृति के बहुत से आघातों को पार कर बच्चा जैसे आगे बढता है; किसी पत्र की भी ठीक यही दशा है। उसे बहुत सी प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पडता है। यदि वह समर्थ हुआ तो उन सब को परास्त कर आगे बढता है; किन्तु किसी भी पत्र का सामर्थ्य उसके पाठकों के अनुकम्पा पूर्ण अनुग्रह पर ही अवलम्बित है। उनके सहानुभूति मय अनुग्रह से ही वह समुद्र के समान विपत्तियो को भी आनन फानन में तैर जाता है।

सामयिक पत्रों की उपयोगिता एवं आवश्यकता के बारे में दो मत नही हो सकते। आधुनिक जीवन मे इनका महत्व बढ़ता जा रहा है। किसा भी आन्दोलन को सफल बनाना हो तो किसी न किसी पत्र का सहारा पकडना ही पडता है। राष्ट्रीय, सामाजिक अथवा किसी भी प्रकार का कोई आयोजन पत्रो की सहायता के बिना कभी आगे नही बढ़ सकता। एक प्रकार से तो हम यह भी कह सकते है कि इस समय का राज्य शासन भी पत्रो के सहारे ही चल रहा है। विचार परिवर्तन अथवा विचार-निर्माण मे पत्रो का कितना हाथ है यह पत्र पाठको से छिपा नही है। आज के नागरिक के दैनिक जीवन मे सामयिक पत्र-पठन का महत्वपूर्ण स्थान होता जा रहा है। समय आ रहा है जब यह मनुष्य के अनिवार्य नित्य कर्मो मे स्थान पा जायेगा। हम नये लेखको एव कवियो को आमन्त्रित करते है कि वे 'वीरवाणी' मे अपनी रचनाए अवश्य भेजे उन्हे यथा सम्भव अनुत्साहित नही किया जायेगा।" वीरवाणी के सम्पादकीय लेखो मे पडित जी द्वारा समाज एव साहित्य के विकास के लिये अच्छा प्रकाश डाला जाने लगा। सामाजिक बुराइयो पर कस कर लिखा जाने लगा तथा उसमे कितने ही ऐतिहासिक एवं साहित्यिक लेख मालाए प्रारम्भ कीगयी। जयपुर के जैन दीवानोएवं विद्वानो पर विशेष लेख प्रकाशित होने लगे और इस प्रकार सामाजिक पत्र-पत्रिकाओ मे वीरवाणी ने शीघ्र ही अपना विशेष स्थान बना लिय।

श्री महावीर क्षेत्र से पडित जी का आरम्भ मे ही काफी सम्पर्क रहा। क्षेत्र के प्रथम मन्त्री स्व० श्री रामचन्द्रजी खिन्दूका का पडितजी से गहरा सम्बन्ध था और वे क्षेत्र के कार्यों मे उनसे परामर्श

लेते रहते थे। उन्ही के आग्रह के कारण वे सन् १९५० के प्रारम्भ में श्री महावीरजी गये।

श्री रामचन्द्र जी खिन्दूका का स्वर्गवास

१३ जुलाई सन् १९५० की सध्या को जैन समाज के लोकप्रिय समाजसेवी श्री रामचन्द्र जी खिन्दूका का आकस्मिक निधन हो गया। खिन्दूका जी जयपुर जैन समाज के वरिष्ठ समाज सेवी थे। वे श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी के १८–१९ वर्ष तक मंत्री रहे। उन्होने अपने मन्त्रित्व काल मे क्षेत्र की जो सुन्दर व्यवस्था की थी उसके लिये उन्हे सदैव स्मरण किया जाता रहेगा। पण्डित जी साहब के वे श्रद्धालु प्रशसक थे और उनसे सामाजिक कार्यों मे बराबर परामर्श किया करते थे। श्री महावीर क्षेत्र की ओर मे साहित्य शोध विभाग की स्थापना उनके परामर्श का एक प्रमुख परिणाम है। वीरवाणी मे अपने सम्पादकीय लेख में पण्डितजी ने श्री खिन्दूका जी के निधन को समाज की एक महान क्षति बतलाया। पण्डित जी के शब्दो मे "खिन्दूका जी केवल जैनो मे ही नही अजैनों मे भी काफी परिचित थे। साम्प्रदायिक कट्टरता उनमे नही थी। उनका समय समय पर दिया गया दान भी सभी सस्थाओ को पहुचता था। यदि वे राष्ट्रीय क्षेत्र मे कार्य करते होते वे आज एक प्रसिद्ध नेता अथवा किसी प्रान्त के शासको मे से होते। पर उन्होंने अपने कार्य क्षेत्र की सीमा समाज सेवा तक ही रखी।"

बधीचन्द जी गगवाल का स्वर्गवास

२६ दिसम्बर १९५८ को जयपुर जैन समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति तथा श्री महावीर क्षेत्र के मन्त्री श्री बधीचन्द जी गंगवाल का स्वर्गवास हो गया सेठ बधीचन्द जी मिलनसार एव भद्र परणामी सज्जन थे तथा पडित जा साहब के विशेष अनुरागी थे। उनके मृत्यु से पण्डित जी के पर्याप्त दुःख हुआ और वीरवाणी में उन्होंने गहरी सवेदना प्रकट की।

पंडित जी की उदयपुर यात्रा

७ अक्टूबर १९६० को पण्डित जी को अपने मित्रों के आग्रह से अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के छट्ठे अधिवेशन मे भाग लेने के लिये उदयपुर जाना पड़ा। पण्डित जी वहां ७ अक्टूबर से १० अक्टूबर तक ठहरे। उन्होने वहाँ धर्मतत्व के विषय मे एक निबन्ध पढ़ा तथा उस विभाग की अध्यक्षता भी की। उदयपुर मे पण्डित जी का भावभीना स्वागत हुआ। उन्होने जैन समाज द्वारा आयोजित सभा मे अपना भाषण दिया तथा एक आयुर्वेद विद्यालय के उद्घाटन मे सम्मिलित हुए। इसी बीच पण्डित जी केशरिया जी अतिशय क्षेत्र के दर्शनार्थ भी गए।

मालीलाल जी दीवान का निधन

भादवा सुदी १४ स० २४८८ के दिन समाज के वयोवृद्ध नेता एव दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर के सभापति श्री मालीलाल जी दीवान का स्वर्गवास हो गया। आप स्थानीय बडा मदिर तेरहपंथी मे प्रातः शास्त्र प्रवचन करते थे। दिनांक २० सितम्बर १९६२ को बडे दीवान जी के मन्दिर मे शोक सभा का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ ने की।

महाकवि बनारसीदास की ३७७ वीं जयन्ती समारोह

२२ जनवरी सन् १९६३ को आने वाला पंडित जी का ६४ वां जन्म दिवस साहित्यिक समारोह के रूप मे मनाया गया और इस अवसर पर हिन्दी जैन साहित्य के महाकवि बनारसीदास की ३७७वीं जयन्तीसमारोह मनाया गया। इसी अवसर पर वीरवाणी का "बनारसीदास विशेषांक प्रकाशित किया गया। समारोह डा० माताप्रसाद जी गुप्त अध्यक्ष हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। विभिन्न विद्वानों ने महाकवि बनारसीदास पर एवं पंडित जी के जीवन

पर प्रकाश डाला। समारोह का संयोजन डा० कस्तूर चन्द कासलीवाल ने किया।

ग्रन्थ की पाण्डुलिपि भेंट

महान् साहित्य सेवी श्री सत्यदेव विद्यालकार ने अपने २५-३० वर्षों के अनुभव के आधार पर लिखी गयी जैन धर्म सम्बन्धी एक पुस्तक की पाण्डुलिपि मार्च ६३ में पण्डित जी साहब को भेंट की और उसे प्रकाशित करवा कर जनता के हाथों में पहुंचाने का अनुरोध किया।

षोडशकारण एवं दशलक्षण पर्वों पर प्रवचनों की विशेष व्यवस्था

भाद्रपद के षोडशकारण एवं दशलक्षण पर्वों के दिनो मे पण्डित जी साहब के बड़े दीवान जी के मन्दिर मे विशेष प्रवचनो का आयोजन होता था जिसमें जयपुर के नागरिक भारी संख्या में भाग लेते थे। मन्दिर का सारा चौक खचाखच भर जाता था और ऊपर छतों पर भी श्रोतागण जा बैठते थे। पण्डितजी के भाषण बड़े ही प्रभावोत्पादक होते थे और श्रोतागण सुनते-सुनते झूम उठते थे। २० वर्ष से भी अधिक समय तक इन धार्मिक आयोजनो मे पण्डित जी साहब का व्यक्तित्व छाया रहा और इन पर्वो के दिनो मे ऐसा मालूम होने लगता जैसे मानो सारा जयपुर नगर एक धार्मिक नगर बन गया हो। इन दिनों मे नगर के बड़े-बड़े विद्वानो के भाषण आयोजित कराये जाते और वे सभी पण्डित जी साहब के महान् व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित होते थे।

शाकाहारी दल स्वागत समिति की अध्यक्षता

यूरोप से शाकाहारी व्यक्तियो का एक दल दिनाक २३ जनवरी १९६४ को जयपुर मे भ्रमण के लिये आया। इनमे आठ महिलाएं और आठ पुरुष थे। उनमें कुछ जन्म से शाकाहारी थे और कुछ बाद मे शाकाहारी बने थे। इनके स्वागतार्थ पंडित जी साहब की अध्यक्षता मे एक एडहाक कमेटी का निर्माण हुआ था। महाराजाज् मल्टीपरपज स्कूल मे एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया। जिससे सभी ने शाकाहार के महत्व पर प्रकाश डाला।

जयपुर में मुनि श्री विद्यानन्द जी का चतुर्मास

जून सन् १९६७ में जयपुर नगर में आचार्य देशभूषण जी महाराज एवं मुनि श्री विद्यानन्द जी का बिहार हुआ। मुनि बनने के पश्चात् मुनि श्री का यह प्रथम चतुर्मास था। आचार्य देशभूषण जी की ख्याति तो पहिले से ही व्याप्त थी इसलिये इनके आने से नगर मे धार्मिक चहल पहल प्रारम्भ हो गयी। जेष्ठ शुक्लों पंचमी के दिन मुलतान समाज की ओर से आदर्श नगर के मन्दिर मे जब श्रुत पचमी पर्व मनाया गया तो सभा मे पंडित जी साहब की मुनिश्री से प्रथम भेंट हुई। श्रमण संस्कृति के महान उपासकों ने एक दूसरे को देखा और एक ही प्लेटफार्म से श्रुतपचनी के महत्व पर भाषण दिये। इसके पश्चात् पडितजी साहब मुनिश्री के प्रति और मुनिश्री पंडित जी के प्रति आकर्षित होने गये। इसके बाद तो जयपुर मे जितने भी समारोह हुए उनमे पहिले पडित जी बोलते और फिर मुनि श्री प्रवचन करते। पूरे चतुर्मास मे यही प्रक्रिया चलती रही। इस वर्ष का भाद्रपद मास विशेष समारोह का वर्ष रहा। प्रात मुनि श्री का प्रवचन होता था जिसमे रविवार एवं विशेष पर्वों पर १५-२२ हजार जनता एकत्र होती थी तथा रात्रि को बड़े दीवानजी के मन्दिर मे पंडित जी का प्रवचन होता था और और वहा भी हजारों की सख्या मे श्रोतागण उपस्थित होकर उनका प्रवचन सुनते थे। ऐसा मालूम होने लगा था कि मानो नगर की समस्त समाज ने मुनि श्री एव पडित जी के प्रति अपनी समस्त श्रद्धा एव भक्ति समर्पित कर नी हो।

जयपुर के चतुर्मास ने मुनिश्री के जीवन को महत्वपूर्ण दिशा प्रदान की। यही नहीं पडित जी

साहब के सम्पर्क में कितनी ही अनुभूतियां हुईं। जब मुनिश्री ने चातुर्मास समाप्ति की घोषणा की तथा आगे बिहार निश्चित सा हो गया तो प्रातिश मे एक विशाल सभा का आयोजन किया गया जिसमे २५ हजार से भी अधिक नागरिक उपस्थित होगे। इतनी अधिक संख्या मे लोगो का किसी भी सत एव साधु का भाषण सुनने के लिये एकत्रित होने का यह प्रथम अवसर था। वास्तव मे मुनिश्री ने जयपुर के नागरिकों पर अपने महान् व्यक्तित्व की जो छाप छोडी वह आज भी उनके हृदयो मे समायी हुई है।

वीरवाणी का "राजस्थान क जैन साहित्य सेवी विशेषांक"

अप्रेल ६६ को वीरवाणी का' राजस्थान के जेत साहित्य सेवी विशेषाक ' प्रकाशित किया गया। यह विशेषाक अपनी दृष्टि से सभी विशेषाकों से अनूठा रहा। उसमें राजस्थान के प्राकृत, अपभ्रंश सस्कृत, हिन्दी एव राजस्थानी भाषा के साहित्यकारो का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया। प्राचीन एव अर्वाचीन दोनो ही साहित्यकारो का परिचयात्मक विशेषाक का प्रकाशन साहित्य जगत् को नयी देन स्वीकार की गयी। इस विशेषाक मे २०० से भी अधिक साहित्यकारो का परिचय प्राप्त हुआ। विशेषाक की सभी दृष्टियो से सराहना की गयी।

वीरवाणी का "पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ विशेषांक"

'वीरवाणी' पत्रिका का पडित जी के ६८ वे जन्म के उपलक्ष मे "प० चैनसुखदास जयन्ती विशेषाक" निकाला गया। विशेषांक के सम्पादक प० भवरलाल न्यायतीर्थ, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एव डा० ताराचन्द बख्शी थे। एक समारोह का गठन किया गया जिसके अध्यक्ष श्री केशरलाल बख्शी, थे। समारोह का संयोजन भवरलाल न्यायतीर्थ एव डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने किया। यह प्रथम अवसर था जब किसी जैन विद्वान के जीवन काल में ही किसी पत्रिका का विशेषांक निकाला गया था। विशेषाक मे ६० से भी अधिक विद्वानों समाज सेवियों एवं कार्यकर्त्ताओं ने पंडित जी की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक सेवाओं के भारी प्रकाश डाला और उनका हार्दिक अभिनन्दन दिनाक २२ जनवरी को एक भव्य समारोह में किया गया। पंडित जी साहब को इस विशेषांक की एक प्रति भेंट की गयी।

दीक्षांत भाषण

जुलाई १९६६ में श्री जैन मुमुक्षु मंडल के तत्वावधान मे जयपुर नगर मे धार्मिक शिविर का आयोजन किया गया। इसमे लगभग १०० विद्यार्थियो ने धार्मिक शिक्षण प्राप्त किया। अन्त मे पडित जी साहब ने दीक्षात भाषण देकर नवयुवकों को धार्मिक शिक्षा के प्रति अभिरुचि दिखलाने के लिये साधुवाद दिया। राजस्थान जैनसाहित्य परिषद् जयपुर द्वारा आयोजित दीक्षात समारोह की अध्यक्षता भी आपने ही की थी। यह समारोह सितबर सन् १९६६ मे मनाया गया था।

वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ द्वारा अभिनन्दन

दिनाक २६-११-६६ को लाल भवन जयपुर मे वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ जयपुर द्वारा पडित जी साहब का ओजस्वी वक्ता, निर्भीक पत्रकार, साहसी समाज सुधारक, दर्शन, साहित्य एव संस्कृति के मर्मज्ञ के रूप मे स्मरण किया गया।

महा पंडित टोडरमल द्विशताब्दि समारोह

श्री सेठ पूरणचन्द जी गोदीका द्वारा नव निर्मित टोडरमल स्मारक भवन का उद्घाटन, प्रतिष्ठा समारोह एवं टोडरमल द्विशताब्दि समारोह का आयोजन दिनाक ६ मार्च १९६७ से १६ मार्च

१९६७ तक किया गया। टोडरमल स्मारक भवन के निर्माण की प्रेरणा देने मे पण्डितजी प्रमुख थे। यह समारोह अपने ढग का एक अभूतपूर्व समारोह था जिसमे स्थानीय एवं बाहर के हजारो व्यक्तियो ने भाग लिया। समारोह के आयोजन मे पडित जी साहब के व्यक्तित्व की प्रमुख छाप रही। पूज्य श्री कानजी स्वामी अपने संघ के साथ समारोह मे पधारे और स्मारक भवन का उद्घाटन किया। इसी अवसर पर 'वीरवाणी' का टोडरमल जयन्ती स्मारिका विशेषाक निकाला गया। स्मारिका के सम्पादक मंडल मे पडित जी के अतिरिक्त प० फूल चन्द जी सिद्धात शास्त्री, सेठ खेमचन्द जेठावाल, पं० हरिलाल जैन, प० भवरलाल न्यायतीर्थ एव डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल थे। विशेषांक की सभी ओर से प्रशसा की गयी।

राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित

पंडित जी साहब की शिक्षा के क्षेत्र मे की गयी विशिष्ठ सेवाओ को देखते हुए भारत सरकार की ओर से उन्हें राष्ट्रीय शिक्षक पुरस्कार से सम्मानित किया गया। जयपुर समाज के किसी भी विद्वान का ऐसे राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित होने का यह प्रथम अवसर था। पडित जी के इस सम्मान से सारे नगर मे ही नही किन्तु देश मे प्रसन्नता व्यक्त की गयी। अनेक सस्थाओ द्वारा पडित जी का अभिनन्दन किया गया। जोबनेर के शान्तिवीर जैन गुरुकुल द्वारा दिनाक ६-१०-६७ को विशेष समारोह आयोजित करके उन्हे मानपत्र समर्पित किया। इस समारोह मे १० हजार से भी अधिक जनता उपस्थित थी।

दर्शन सगोष्ठी

दिसम्बर १९६७ मे राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा एक दर्शन गोष्ठी का आयोजन किया गया। इस गोष्ठी का उद्घाटन पडित साहब ने किया। सेमिनार मे बंगाल, बनारस, आध्र के कितने ही विद्वान् सम्मिलित हुए थे। स्वयं पडित जी ने इसमें स्याद्वाद पर अपना मौलिक निबन्ध पढा।

अन्तिम अभिनन्दन

पडित जी साहब का २२ जनवरी १९६९ को ७० वां जन्म दिवस मनाया गया। प्रातः उनके निवास स्थान पर शिष्य परिवार की ओर से उनका हार्दिक अभिनन्दन एव उनके दीर्घ जीवन की कामना की। रात्रि को एक सभा मे नागरिको की ओर से उनकी सेवाओ का स्मरण करते हुए उनके जीवन को देश के लिये महान् धरोहर बतलाया।

महायात्रा

लेकिन ४ दिन भी पूर्ण नही होने पाये कि दिनाक २६ जनवरी ६९ को १॥ बजे वे सदा के लिये महायात्रा पर चल पडे। उनके आकस्मिक निधन ने सारे नगर को ही नही किन्तु देश एव समस्त समाज को स्तब्ध कर दिया। जयपुर मे जिसने भी उनकी मृत्यु के समाचार सुने वही रो पडा और पडित जी के अन्तिम दर्शन करने उनके घर की ओर चल पडा।

पडित जी की शवयात्रा मे नगर के हजारो व्यक्ति सम्मिलित हुए। यही नही पडित जी साहब के दर्शनो के लिये हजारों स्त्रिया गलियों एव बाजारो व छतों पर एकत्रित हो गयी और 'पडित चैनसुखदास जी की जय हो,' 'गुरुदेव अमर रहे' के नारो के मध्य सभी ने अश्रुपूरित नेत्रो से पुष्पाहार एव पुष्पवर्षा के साथ श्रद्धांजलिया समर्पित की। मार्ग मे जिसने भी पंडित जी के मृत्यु के बारे मे सुना वही उनकी शव यात्रा के साथ हो गया।

पडित जी के निधन ने देश एवं समाज के मानस को कम्पित कर दिया। समाज के विद्वान, समाजसेवी संस्थाओ के अधिकारी शोक सागर में डूब गये। जयपुर नगर तो मानों अनाथ ही हो गया। उसके सिर पर से किसी का वरद हस्त उठ

गया। इस अवसर पर राजस्थान के राज्यपाल से लेकर सामान्य कार्यकर्ता ने अपनी श्रद्धांजलि समर्पित की। वास्तव मे पडित जी पहिले व्यक्ति थे जिनके निधन पर जयपुर नगर मे अनेक शोक सभाये आयोजित की गई हों। २६ जनवरी १६६६ को रात्रि को राजस्थान जैन सभा के तत्वावधान मे समस्त जैन समाज एवं जयपुर के नागरिको की ओर से पंडितजी साहब की महान सेवाओ का स्मरण करते हुए उन्हे सादर श्रद्धाजलि अर्पित की गई। राजस्थान विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग एव महाराजा संस्कृत कालेज, जयपुर की ओर से पडित जी की संस्कृत साहित्य के प्रति की गई सेवाओं का स्मरण करते हुए हार्दिक श्रद्धाजलि समर्पित की गई। दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी प्रबन्ध कारिणी कमेटी की ओर से उसी रात्रि को शोक सभा आयोजित की गई और पंडित जी द्वारा की गयी क्षेत्र की सेवाओ की स्मृति मे 'पं० चैनसुखदास स्मृति ग्रन्थ' निकालने का निश्चय किया गया। राजस्थान के नवोदित तीर्थक्षेत्र पद्मपुरा की प्रबन्ध कारणीकमेटी द्वारा अपनी आवश्यक बैठकमे पंडितजी की सेवाओ की भूरी भूरी प्रशसा की गई। पडित जी क्षेत्र कमेटी के प्रारम्भ से ही प्रमुख सक्रिय सदस्य रहे। राजस्थान जैन साहित्य परिषद् ने पडित जी साहब के निधन को साहित्यिक क्षेत्र में एक भारी आघात माना। पडित जी साहित्य परिषद् के पहिले अध्यक्ष एव फिर उसके सरक्षक रहे थे। इसी तरह दिगम्बर जैन शिक्षा परिषद् की प्रबन्ध कारिणी कमेटी ने पडित जी के निधन को समाज के लिये गहरा सकट माना।

दिगम्बर जैन सस्कृत कालेज की प्रबन्ध कारिणी कमेटी ने उनके ३७ से भी अधिक वर्षों की सेवाओं का स्मरण करते हुए कालेज को वर्त-मान रूप देने में उनके योगदान को याद किया और उनका कालेज भवन मे एक चित्र लगाने का निश्चय किया गया। इसी तरह जैन इतिहास निर्माण समिति जयपुर, वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ, जयपुर, आचार्य विनयचन्द ज्ञान भण्डार (शोध प्रतिष्ठान), दिगम्बर जैन औषधा-लय, जयपुर, श्री वीर सेवक मण्डल, महावीर दि० जैन बालिका विद्यालय, ज्ञान बाल निकेतन, जैन श्वेताम्बर तेरापथी माध्यमिक विद्यालय, ज्ञान विद्यालय, प्रबन्ध-कारिणी कमेटी दि० जैन मन्दिर ठोलियान, प्रबन्ध-कारणी कमेटी दि० जैन मन्दिर बडा दिवान जी, राजस्थान दि० जैन परिषद्, भारत जैन महामण्डल जयपुर शाखा, दि० जैन मुमुक्षु मडल आदि अनेक सस्थाओ ने पडित जी के निधन को देश एव समाज के लिये महान संकट स्वीकार किया।

दिनाक २-२-१६६६ को महावीर पार्क मे एक सार्वजनिक शोक सभा का आयोजन राजस्थान के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री हीरालाल शास्त्री की अध्य-क्षता मे किया गया। इसमे जयपुर के प्रमुख नागरिको ने तथा विभिन्न सम्थाओ के प्रतिनिधियों ने पडित जी के गुणो के प्रति प्रकाश डालते हुए अपनी अपनी हार्दिक श्रदान्जलि समर्पित की गयी।

गुण-पूजा

इस अवसर पर जयपुर के सर्वाधिक लोक प्रिय दैनिक पत्र "राजस्थान पत्रिका" के सम्पादक ने दिनाक २६ जनवरी के अक के सम्पादकीय मे पडित जी के व्यक्तित्व के समबन्ध मे निम्न उद्गार प्रकट किये।

"प० चैनसुखदास के निधन से राजस्थान की विद्वन्मंडली का एक बहुमूल्य रत्न जाता रहा है। स्वर्गीय चैनसुखदास उच्चकोटि के विद्वान् शास्त्र मर्मज्ञ, व्याख्याता, वक्ता, लेखक, समाज सुधारक तथा समाज सेवी थे। वह जैन धर्म के अनुयायी थे, परन्तु जैन धर्मावलम्बियों में आम तौर पर जो धार्मिक कट्टरता पाई जाती है, वह उनमें लेशमात्र

भी न थी। वे किसी धर्म की आलोचना नही करते थे, बल्कि सभी धर्मों के मूल तत्वो की एकता पर जोर देते थे। इस दृष्टि से उन्हे जैन धर्म के मूल सिद्धान्त स्याद्वाद का प्रतीक माना जा सकता था।

हम कामना करते है कि हमारी रत्नगर्भा मातृभूमि स्वर्गीय पडित जी की कोटि के विद्वान उत्पन्न करे जो आज के युग मे फैले हुए अन्धकार में भटकते हुए लोगो को प्रकाश की किरण बन कर रास्ता दिखायें।"

पडित सा० की जन्म-भूमि भादवा में जब निधन का समाचार पहुचा तो सारा गाव उनके निधन से शोकाकुल हो गया और एक दिन की पूर्ण हडताल रखी गयी। इसी दिन एक सभा करके पूज्य गुरुदेव को समस्त ग्रामीण समाज ने भावभीनी श्रद्धाजंलि अर्पित की।

कलकत्ता

कलकता नगर मे पडित जी के निधन के समाचारो ने समस्त जैन समाज को शोकाकुल कर दिया। दिनाक २७ जनवरी को बजबज जैन समाज द्वारा और दिनाक २ फरवरी को अहिंसा प्रचार समिती हाल मे २१ सस्थाओ की ओर से श्री नन्दलाल जी जैन की अध्यक्षता मे एक शोक सभा का आयोजन किया गया। सभा मे अनेक वक्ताओ ने पडित जी साहब के जीवन एव उनकी विभिन्न क्षेत्रो मे की गई सेवाओ पर प्रकाश डाला गया तथा एक शोक प्रस्ताव पारित करके उनके प्रति हार्दिक श्रद्धाजिलियाँ अर्पित की गयी। यह शोक सभा नगर की सस्थाओ की ओर से आयोजित की गई थी।

अ० वि० जैन मिशन कार्यालय मे एक शोक सभा का आयोजन हुआ जिसमे समाज के प्रख्यात मनीषी आर्ष ग्रन्थो के आधुनिक व्याख्याता श्रीमान् चैनसुखदास न्यायतीर्थ के निधन पर शोक प्रकट हुए डा० महेन्द्रसागर प्रचडिया, केन्द्रीय सह संचालक ने पडित जी के कृतित्व और व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला और इसे सारस्वत जगत में अनर्थकारी घटना कहा। उनकी कृति 'अर्हत प्रवचन' के कुछ श्लोको को दुहरा कर उन्हे श्रद्धाजंलि अर्पित की गयी।

देश एवं समाज के नेताओ, विद्वानों, समाज सेवियो एव नवयुवको ने भी पडित जी के निधन को साहित्य एवं संस्कृति के लिये गहरा आघात माना। उपाध्याय विद्यानन्द मुनि ने उन्हे कपडे से ढके मुनि के समान सज्ञा दी तथा आचार्य विमलसागर जी ने उन्हे समाज निधि मानकर उनकी आत्मा को शान्ति लाभ की कामना की। राजस्थान के तत्कालीन राज्यपाल सरदार हुकुमसिह ने पंडित जी को संस्कृत एव दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् के रूप मे स्वीकार किया। श्रावक शिरोमणि साहु शान्तिप्रसाद जैन ने उन्हे देश के वरिष्ठ एव सच्चे नेता के रूप मे स्मरण किया। नवभारत टाइम्स के सम्पादक अक्षयकुमार जैन ने उन्हे परहितकारी एव विद्रोही मान कर श्रद्धाजलि अर्पित की। डाइरेक्टर सस्कृत शिक्षा राजस्थान श्री स्व० के० माधवकृष्ण ने उनके जीवन को एक ज्ञान यज्ञ के रूप मे स्वीकार किया। प० मोतीलाल जोशी, महामन्त्री राजस्थान सस्कृत साहित्य सम्मेलन ने उनको सस्कृत साहित्याकाश के ज्वाजल्यमान नक्षत्र के रूप मे स्मरण किया। डा० ज्योतिप्रसाद जैन लखनऊ ने पडित जी के निधन को जैन जगत् पर अनभ्रवज्रपात बतलाया। डा० मण्डन मिश्र, सचिव एव निदेशक श्रीलालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय सस्कृत विद्यापीठ ने पडित जी के निधन को भारतीय सस्कृति की अपूरणीय क्षति माना। कलकत्ता के प्रसिद्ध समाज सेवी स्व० लाला जुगमन्दिर दास जैन पडित जी के निधन के समाचार सुनकर अत्यधिक मर्माहत हो गये। अ० भा० दि० जैन विद्वन् परिषद् के अध्यक्ष डा० दरबारी लाल कोठिया ने पडित जी को समाज का स्वाभिमानी, समाजसेवी, साहित्यसाधक, निष्पक्ष

समालोचक, कुशल पत्रकार, प्रभावशाली प्रवक्ता एवं सहृदय प्राध्यापक के रूप में मानते हुए अपनी श्रद्धांजलि समर्पित की। अणुव्रत एव जैन जगत् के सम्पादक श्री रिषभदास रांका ने पडित जी को राष्ट्र एवं मानवता प्रेमी बतलाया तथा उन्हे जैन एकता का सच्चा समर्थक कह कर अपनी सादर श्रद्धांजलि समर्पित की। राजस्थान विधान सभा के तत्कालीन अध्यक्ष श्री निरंजननाथ आचार्य ने पंडित जी के निधन को अपनी व्यक्तिगत क्षति माना। डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने पंडित जी को जैन सिद्धान्त का महान् विद्वान् बतलाकर अपनी श्रद्धांजलि समर्पित की। सस्कृत साहित्य मडल नयी दिल्ली ने पडित जी को समाज की अनन्य विभूति स्वीकार किया। अ० भा० दि० जैन शास्त्री परिषद् के मन्त्री श्री बाबूलाल जमादार ने श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए कहा कि उन जैसा उदार नेता, गरीब छात्रों का आश्रयदाता, समाज हित चिन्तक विद्वान् मिलना कठिन है। स्व० डा० नेमिचद शास्त्री आरा ने कहा कि साहित्य निर्माता, प्राध्यापक एव प्रधानाचार्य के रूप मे पडित जी ने अखिल भारतीय जैन समाज की अभूतपूर्व सेवा की है"। डा० रामजीसिंह दर्शन अध्यक्ष विभाग भागलपुर विश्वविद्यालय ने पंडित जी के प्रति श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए कहा कि पडित जी ने ठीक कर्मयोगी की तरह अपने आपको एक सस्था बना डाला था।

जैन दर्शन के सम्पादक डा० लालबहादुर शास्त्री ने पंडित जी के निधन को विद्वत् ससार की अपूरणीय क्षति माना। राजश्री पिक्चर्स प्राइवेट लिमिटेड बम्बई के श्री ताराचन्द बड़जात्या ने पडित जी के निधन को जैन जगत् के लिये महान् क्षति स्वीकार की। तत्कालीन गृहमन्त्री राजस्थान सरकार श्री दामोदरलाल व्यास ने पंडित जी को गिने चुने संस्कृत विद्वानो मे से एक मान कर अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित की।

इसी तरह देश के सैकड़ों विद्वानों एवं समाज सेवियों ने पडित जी के निधन पर पडित जी के गुणों को विभिन्न रूपों में स्मरण करते हुए उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि समर्पित की। देश के ऐसे ही सम्माननीय व्यक्तियों में श्रीमती चन्दाबाई आरा, पं० ब्रजसुन्दर शर्मा भूतपूर्व चिकित्सा एवं श्रम मन्त्री, राजस्थान, मूलचन्द जी पाटनी बम्बई, श्री राजकुमारसिंह जी कासलीवाल, इन्दौर, श्री प्रेमचन्द जैना वाच कम्पनी दिल्ली, श्री लाला उग्रसेन जैन कानपुर, डा० वासुदेवसिंह वाराणसी, डा० गोकलचन्द जैन वाराणसी, स्व० श्री अनंतराज वैद्य उज्जैन, प्रो० ईश्वरानन्द शर्मा डूंगरपुर, डा० महेन्द्र भानावत, उदयपुर, श्री कोमल कोठारी पीपाड़ शहर, श्री बशीधर शास्त्री कलकत्ता, प्रो० उदयचन्द जैन वाराणसी, पं० गोपीलाल अमर सागर, प० नाथूलाल जी शास्त्री, इन्दौर, सेठ सुनहरीलाल जैन आगरा, श्री महावीरप्रसाद गोधा मिर्जापुर, रमेशचन्द जैन देहली, वाचस्पति उपाध्याय वाराणसी, प्रो० खुणालचन्द गोरेवाला, डा० राजाराम जैन आरा, प राजकुमार शास्त्री निवाई, लाला भगतराम जैन देहली, श्री लालचन्द कासलीवाल कलकत्ता, श्री गजानन्द हेरोलिया श्री महावीरजी, नन्हेलाल शास्त्री राजाखेडा, प० पन्ना लाल साहित्याचार्य सागर, माई दयाल जैन देहली, भंवरलाल सेठी इन्दौर, श्री देवकुमारसिंह इन्दौर, फतहचन्द सेठी, अजमेर, मिलापचन्द रतनलाल कटारिया केकड़ी, लखमीचन्द चौधरी सोनागिर, डा० कैलाशचन्द जैन उज्जैन, प० परमेष्ठीदास जी जैन ललितपुर, चांदमल नलबाडी (आसाम), श्री रतनलाल छाबड़ा टोंक, श्री रामचन्द्र जैन श्री गंगा नगर, प० दीपचन्द पांड्या केकड़ी, प्रो० रामावतार शर्मा उदयपुर, सुरेशकुमार जैन गार्गीय पानीपत, प० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, डा. राजकुमार जैन

आगरा, डा. नाथूलाल पाठक लाडपुरा कोटा, पं० रूप नारायण शर्मा न्यू देहली, हीराचन्द बोहरा कलकत्ता, डा० केशरीमल ठोलिया साभरलेक प्रो० अमृतलाल शास्त्री वाराणसी, स्व० चिरंजीलाल बडजात्या वर्धा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

जयपुर मे पडित जी शिष्यों ने एवं सभी सामाजिक एवं राजनैतिक कार्यकर्ताओ ने पडित जी के निधन पर जिस रूप मे गहरा शोक एवं हार्दिक वेदना प्रकट की वह सदा स्मरणीय रहेगी। वीरवाणी का प० चैनसुखदास श्रद्धांजलि अक निकाला गया और उसमे प० भवरलाल न्यायतीर्थ, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पं० मिलापचन्द शास्त्री, प०अनूपचन्द न्यायतीर्थ, प्रकाशचन्द कासलीवाल जैम पैलेस, सुज्ञानीचन्द न्यायतीर्थ, वैद्य प्रभुदयाल भिषगाचार्य, डा० ताराचन्द बख्शी, प० भवरलाल पोल्याका, वैद्य फूलचन्द शास्त्री, प्रो० प्रेमचन्द रावका, श्रीमती सुशीलादेवी कासलीवाल आदि ने विभिन्न लेखो के माध्यम से अपने हृदय के उद्‌गार प्रकट किये और सबको ऐसा अनुभव हुआ जैसा उनका सर्वाधिक हितैषी व्यक्ति सदा के लिये चला गया है।

हजारों शिष्यों के गुरु

पंडित जी के १००-२०० शिष्य नहीं किन्तु उनकी सख्या हजारो मे है। इसके अतिरिक्त सभी उनके शिष्यत्व को स्वीकार करना चाहते थे। उन्होने विद्यार्थियो को न्यायतीर्थ की उपाधि दिलायी, शास्त्री एवं आचार्य उपाधि परीक्षाये पास करायी। बी. ए एव एम० ए० के विद्यार्थियो को पढाया और यही नही पी एच० डी० एव डी० लिट्० जैसे उच्च-स्तरीय उपाधियों को प्राप्त करने मे उन्होंने अपने विद्यार्थियो का मार्ग-दर्शन किया। ऐसे शिष्यो में डा० कैलाशचन्द जैन, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एव डा० कमलचन्द सोगाणी का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। आज इन विद्वानो द्वारा जैन साहित्य एवं संस्कृति की जो सेवा हो रही है उन सब में उन्ही की प्रेरणा काम कर रही है। उनके प्रमुख शिष्यों में पं० भंवरलाल जी न्यायतीर्थ, पं० मिलापचन्द जी शास्त्री, पं० अनूपचन्द जी न्यायतीर्थ, पं० गुलाबचन्दजी दर्शनाचार्य, पं० सत्यंधरकुमार सेठी, प० चिरजीलाल जी जैन दर्शनाचार्य, प० कीर्तिचन्द जी जैन दर्शनाचार्य के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

कृतित्व

पं चैनसुखदास जी का जितना महान् व्यक्तित्व था उतना ही उनका महान् कृतित्व भी था। कृतित्व शक्ति उन्हें जन्मजात प्राप्त थी। कहानी एवं निबन्ध तो वे लिखते ही रहते थे। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी एव राजस्थानी भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। वे दार्शनिक थे इसलिये दर्शन शास्त्र की कितनी ही गुत्थियो को वे अपनी कृतियो मे सुलझाया करते थे। देश के विभिन्न दैनिक, साप्ताहिक एव मासिक पत्र-पत्रिकाओ मे उनके लेख प्रकाशित होते रहते थे। यदि उनकी साहित्यिक शक्ति का का पता लगाना हो तो जैन दर्शन, जैन बन्धु एवं वीरवाणी की फाइले उठाकर देख लीजिये आपको उनमे उनकी बहुमुखी प्रतिभा के दर्शन हो सकेंगे। इन पत्रिकाओ की अधिकाश सामग्री वे ही लिखते इसलिये उनकी लेखनी अजस्र चलती रहती। नपे तुले शब्दो मे और वे भी सीधे सरल किन्तु आकर्षक शब्दो से ओतप्रोत उनकी हम कृतियो को पायेंगे। उनकी कृतियां गागर में सागर का कार्य करती है जो उनकी शब्दो के चयन शक्ति का परिचय देती है। पंडित जी द्वारा सम्पादित एव निबद्ध कृतियो के नाम निम्न प्रकार हैं:

१. जैन दर्शन सार　　२. प्रद्युम्न चरित
३. भावना विवेक　　४. अर्हत् प्रवचन
५. प्रवचन प्रकाश　　६. सर्वार्थसिद्धिसार

७. दार्शनिक के गीत   ८. निक्षेपचक्र
९. संयम प्रकाश   १०. पावनप्रवाह

उक्त कृतियो मे जैन दर्शनसार, भावनाविवेक, निक्षेपचक्र पावन प्रवाह एवं दार्शनिक के गीत उनकी मौलिक कृतिया हैं। अर्हत प्रवचन, प्रवचन प्रकाश, सयम प्रकाश एवं प्रद्युम्न चरित उनकी सम्पादित कृतिया हैं। इसी प्रकार सर्वार्थ सिद्धिसार उनकी संक्षिप्त की हुई कृति है। उक्त कृतियो के अतिरिक्त उनके सैकड़ो निबन्ध, कहानियां, देश एवं समाज के जन मानस को आदोलित करने वाले सैंकडो सम्पादकीय लेख एव टिप्पणिया उनके महान् एव विशाल कृतित्व शक्ति के परिचायक है। जैन समाज के सामयिक विषयो पर उनके उद्‌गार जन मानस को आदोलित करने वाले होते थे और वे पाठको के हृदय पर सीधी चोट करते थे। पत्र-कारिता उनका स्वाभाविक गुण बन गया था। उनके लेख कल्याण, हिन्दुस्तान दैनिक, साप्ताहिक, नव-भारत टाइम्स, राष्ट्रदूत एव राजस्थान पत्रिका आदि मे छपते रहते और इनके माध्यम से वे समाज एव राष्ट्र के बुद्धिजीवियो से सम्पर्क बनाये रखते थे। वास्तव मे एक ही व्यक्ति मे इतने अधिक गुण मिलना सहज सम्भव नही है।

पडित जी स्वभाव से चिन्तनशील थे। जैन दर्शन की अष्टसहस्री, प्रमेयकमलमार्तण्ड, राज-वार्तिक, गोम्मटसार, सर्वार्थसिद्धि, प्रमेयरत्नमाला एव समयसार जैसी कृतिया उनके स्वाध्याय का अग बन गयी थी इसलिये जो कुछ वे लिखते, बोलते उन सब मे इन महान् ग्रन्थो की छाया अवश्य दृष्टि-गोचर होती थी। भावना विवेक, पावन प्रवाह, दार्शनिक के गीत एव जैनदर्शनसार जैसी कृतियो मे उनका मौलिक चिन्तन मिलता है।

१. जैनदर्शनसार

जैन दर्शन के प्रमुख विषयो पर निबद्ध 'जैन दर्शनसार' पंडित जी की महत्वपूर्ण मौलिक कृति है। जैन दर्शन के सभी गूढ़ तत्वो को विद्वान् लेखक ने जिस प्रकार प्रस्तुत किया है वह उनके गम्भीर ज्ञान का परिचायक है। जैन दर्शन पर अष्टसहस्री, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, सर्वार्थसिद्धि जैसे कितने ही महान् ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं लेकिन वे तो अथाह समुद्र के समान है जिनमे तैरना प्रत्येक पाठक के लिये सहज नही है। इसी दृष्टि को ध्यान में रख कर पडित जी ने जैनदर्शनसार की रचना की। वास्तव में जैन दर्शन पर ऐसा सागोपाग ग्रन्थ गत सैकड़ो वर्षों मे भी नही लिखा जा सका। यही कारण है उसे प्रकाशित होते ही राजस्थान विश्वविद्यालय में एम.ए. (सस्कृत) के पठ्यक्रम मे स्वीकृत कर लिया गया।

'जैनदर्शनसार' मे चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय मे जीवतत्व के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला गया है। उसके उपयोगमयत्व, अमूर्त्तित्व, कर्त्तृत्व, स्वदेहपरिमाणत्व तथा उद्धर्वगतित्व स्वभाव के सम्बन्ध मे विवेचन किया गया है। इसी अध्याय मे अजीव तत्व तथा उसके प्रमुख स्वरूप पुद्‌गल द्रव्य के साथ ही मे धर्म, अधर्म, आकाश एव काल द्रव्य पर भी सुन्दर प्रकाश डाला गया है। इसी के आगे आस्रव, बध, सवर, निर्जरा एव मोक्ष तत्वो पर महत्वपूर्ण वर्णन मिलता है। इस प्रकार पंडित जी ने एक ही अध्याय मे जैन दर्शन के षड् द्रव्यो एवं सात तत्वो का विशद वर्णन करके अपनी स्वाभाविक प्रतिभा का परिचय दिया है।

ग्रन्थ के दूसरे अध्याय मे जैन धर्म के दार्शनिक स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है और प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ ही स्मृति प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान एवं आगम प्रमाण का स्वरूप एव उनके लक्षण का वर्णन मिलता है। प्रस्तुत वर्णन प्रमेयकमलमार्तण्ड एव अष्टसहस्री मे उपलब्ध वर्णन के आधार पर आधा-रित है लेकिन पडित जी ने दर्शन शास्त्र के इन

गूढ लक्षणों को बहुत ही सरल शब्दों में प्रस्तुत करके अपनी दार्शनिक एवं तर्कणाशक्ति का परिचय उपस्थित किया है। छोटे छोटे वाक्यो मे दार्शनिक शब्दो के लक्षण प्रस्तुत करना सरल नही है किन्तु पंडित जी ने उसे भी सरल बना दिया है।

तीसरे अध्याय मे नय के लक्षण के पश्चात् स्याद्वाद एव सप्तभंगी का विवेचन पंडित जी की महत्वपूर्ण देन है। प्रत्येक वस्तु मे सात भंग किस प्रकार उपलब्ध होते हैं इसे उदाहरण के द्वारा अच्छी तरह समझाया गया है। सप्तभंगी के दो भेद किये है एक प्रमाण सप्तभगी एवं दूसरी नय सप्तभंगी। अनेकान्त का लक्षण ही नहीं किया है किन्तु क्या अनेकान्तवाद छल मात्र है, क्योंकि एक ही वस्तु को नित्य एव अनित्य, एक एव अनेक, बतलाया गया है और इस प्रकार विविध शका समाधानो के साथ अनेकान्त एव स्याद्वाद के स्वरूप का विश्लेषण किया है।

इसी अध्याय मे अहिंसा तत्व का विस्तृत वर्णन है। किसी भी दार्शनिक ग्रन्थ मे अहिंसा का वर्णन नही मिलता है लेकिन पडित जी साहब ने उसका भी वर्णन प्रस्तुत करके आज के युग की मांग पूरी की है। अपने अहिंसा तत्व के कथन मे उन्होंने ज्ञानार्णव, एव समयसार के वर्णन को मुख्य आधार बनाया है और अहिंसा को भगवती के रूप मे प्रतिष्ठित किया है।

इसी अध्याय की एक और विशेषता है'–जाति' शब्द पर प्रकाश डालने का उपाय जैनधर्म जातिवाद के सिद्धान्त पर आधारित नहीं है। पडित जी ने इसमें लिखा है कि कर्म सिद्धान्त के अनुसार एकेन्द्रियादि भेद से पांच प्रकार की जातिया हैं। मनुष्य जाति एव पशु जाति भेद किया जा सकता है। ब्राह्मण एव क्षत्रिय जाति आदि भेद तो आचार भेद के कारण से कर दिया गया है जो सही नहीं है क्योकि वस्तु दृष्टि से न तो कोई ब्राह्मण है न क्षत्रिय और न वैश्य। अपने समर्थन में उन्होंने पूर्वोक्त आचार्यों के कथन को उद्धृत किया है। "जाति रेषा गुणैः सम्पद्यते गुणध्वसैश्च विपद्यते। जातिर्हि गुणै. गुणेन कर्मणा वा भवति न तु जन्मना" इस प्रकार बहुत ही स्पष्ट होकर उन्होने जातिवाद पर करारी चोट की है।

इसके चतुर्थ अध्याय मे निक्षेप का वर्णन मिलता है। अर्थ का शब्दो में और शब्दो का अर्थ में आरोप करना ही निक्षेप कहलाता है निक्षेप नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव की अपेक्षा से चार प्रकार का है।

जैनदर्शनसार का प्रकाशन फरवरी सन् १९५० मे प्रथम बार हुआ। श्री सी० एस० मल्लिनाथन ने इसकी अंग्रेजी मे महत्वपूर्ण प्रस्तावना लिखी जिसमे जैन दर्शन के सभी पक्षो पर विद्वत्ता पूर्ण प्रकाश डाला गया है।

२. प्रद्युम्न चरित

हिन्दी की आदिकालिक कृति 'प्रद्युम्न चरित' कविवर राजसिंह की कृति है जिसे उन्होंने सवत् १४११ मे पूर्ण की थी। हिन्दी विद्वानो ने इसे ब्रज भाषा की प्रथम कृति के रूप मे स्वीकार किया है। और इसके आधार पर ब्रज भाषा साहित्य की कितनी ही दिशाओं का परिचय प्राप्त होता है। इसमें श्रीकृष्ण जी के पुत्र प्रद्युम्न का जीवन चरित का वर्णन मिलता है। इसमे ७०१ छन्द हैं इसलिये कितने ही विद्वान् उसे सतसई रचना भी कहते है। इसकी पाण्डुलिपि जयपुर के दिगम्बर जैन मन्दिर पाटोदी के शास्त्र भण्डार मे सग्रहीत है।

प्रद्युम्न चरित का सम्पादन पंडित जी ने और डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने मिल कर किया तथा इसका प्राक्कथन डा० माताप्रसाद जी गुप्त ने लिखा। उस समय वे इलाहबाद विश्वविद्यालय में हिन्दी के रीडर थे। उन्होंने अपने

महत्वपूर्ण प्राक्कथन में हिन्दी के आदिकाव्य पर विस्तृत प्रकाश डाला तथा ऐसी अलभ्य एवं अज्ञात कृतियों के प्रकाशन की अत्यधिक प्रशंसा की। प्रद्युम्न चरित की दोनों सम्पादकों ने खोजपूर्ण प्रस्तावना लिखी जिसमे हिन्दी के आदिकाल के विकास पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। जैन विद्वान द्वारा रचित हिन्दी काव्य का ऐसा सुन्दर प्रकाशन श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी के साहित्य शोध विभाग की ओर से किया गया। उसके प्रकाशक थे क्षेत्र के तत्कालीन मन्त्री श्री केशरलाल जी बक्शी।

प्रद्युम्न चरित की उपलब्धि एवं प्रकाशन का परिचय जब हिन्दी के विद्वानो को मिला तो उसकी सर्वत्र प्रशसा की गयी। हिन्दी के महारथी विद्वान, महापडित राहुल साकृत्यायन, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० रामसिंह तोमर प्रभृति विद्वानों ने ऐसी महत्वपूर्ण कृति का हार्दिक स्वागत किया और उसे हिन्दी जगत् के लिए महान उपलब्धि बतलाया।

३. भावना विवेक

भावना विवेक पंडित जी साहब की मौलिक सस्कृत कृति है जिसमे सोलह कारण भावनाओ पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। पूरी कृति मे ३१० पद्य है। पडित जी ने इस कृति को कब पूर्ण की थी इसका तो उन्होने कही उल्लेख नही किया किन्तु यह कृति हिन्दी अनुवाद सहित ३३ वर्ष पूर्व सवत् १९९८ के भाद्रपद मास मे सद्‌बोध ग्रन्थ माला जयपुर की ओर से प्रकाशित हुई थी। हिन्दी अनुवादक है पं० भवरलाल न्यायतीर्थ (जो पडित जी के प्रमुख शिष्यों मे से है) सस्कृत भाषा मे इस प्रकार की कृति प्रथमबार उपलब्ध करा कर पडित जी ने स्वाध्याय प्रेमियो के लिये महान् कार्य किया। इस कृति मे उनकी विद्वत्ता सहज दृष्टव्य है। तथा वह उनकी काव्य निर्माण शक्ति की सहज परिचायक भी है।

'षोडशकारण भावना' से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। जैन समाज मे भाद्रपद मास में षोडशकारण की प्रतिदिन पूजा की जाती है तथा शास्त्र सभाओ में उसके महत्व पर प्रकाश डाला जाता है। लेकिन इतना होने पर भी षोडशकारण भावना पर अब तक कोई स्वतंत्र कृति उपलब्ध नही होती थी। पडित जी का इस कमी की ओर ध्यान गया और उन्होंने षोडशकारण भावनाओं पर एक स्वतत्र कृति की रचना कर डाली।

४. अर्हत् प्रवचन

यह पंडित जी की संकलित एव सम्पादित कृति है। इसमे प्राकृत भाषा के प्रमुख ग्रन्थ समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड, पंचास्तिकाय, द्रव्यसग्रह जैसे कुछ प्रमुख ग्रन्थों मे से भगवान महावीर द्वारा निरूपित सिद्धान्तो पर आधारित प्राकृत गाथाओ का सकलन किया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के अतिरिक्त गुणस्थान, श्रावक, आत्म प्रशसा, पर निंदा, शील, संगति, वैराग्य, श्रमण, तप आदि कुछ सामयिक विषयो पर निबद्ध महत्वपूर्ण गाथाओं का सकलन किया गया है। गाथाओ के नीचे हिन्दी अर्थ दिया गया है। पडित जी साहब ने इसके सकलन मे पर्याप्त परिश्रम करके पाठको को महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध कराई है। इस कृति की लोकप्रियता इससे स्पष्ट है कि अब तक देश के कितने ही विश्वविद्यालयों ने इसे पाठ्य पुस्तक के रूप मे स्वीकृत कर लिया है। इसका प्रथम सस्करण सितम्बर सन् १९६२ मे प्रकाशित हुआ था।

५. प्रवचन प्रकाश

'अर्हत् प्रवचन' के संकलन एव सम्पादन के पश्चात् पडित जी ने सस्कृत ग्रन्थो मे से एक और सकलन 'प्रवचन प्रकाश' के नाम से सम्पादित करके उसे २२ नवम्बर ६८ को प्रकाशित कराया। इसमे विविध चरित काव्यों, पुराण संज्ञक काव्यों, स्तोत्रों

एवं महाकाव्यों में से १७ विषयों पर आधारित संस्कृत पद्यों का संकलन किया गया है। ये विषय सर्वसाधारण के लिये भी अत्यधिक उपयोगी हैं। प्रवचन प्रकाश के प्रमुख विषय हैं—आत्मा, धर्म, कषाय विजय, पाप और उसका निरोध, आशा पिशाची, विषय भोगो की मृग मरीचिका, वैराग्य का कायाकल्प, इंद्रिय मनोविजय, मोहद्वन्द्व, साम्य-भाव, भक्ति, ध्यान आदि। वैसे स्वय पडित जी ने अपने प्राक्कथन मे लिखा है कि "यह संकलन भी मैंने अपने ही स्वाध्याय के लिये सम्पादित किया है।" प्रस्ताव पर अभिमत लिखते हुए स्व. श्री के. माधव-कृष्ण शर्मा निदेशक संस्कृत शिक्षा राजस्थान ने लिखा है कि "श्री चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश व हिन्दी साहित्य एव विशेषतः जैन साहित्य व दर्शन के उच्च कोटि के विद्वानो मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आपने अपनी इस नवीन कृति 'प्रवचन प्रकाश' द्वारा प्राच्य विद्या प्रेमियो को और भी अधिक ऋणी बना दिया है।"

अर्हंत् प्रवचन के समान ही प्रवचन प्रकाश का भी विद्वान् समाज एव स्वाध्याय प्रमियो द्वारा खूब स्वागत किया गया। इसके उपोद्घात मे भी सम्पादक ने विभिन्न विषयो पर बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाला है। यह पडितजी की अन्तिम कृति है।

६ सर्वार्थसिद्धिसार

तत्वार्थ सूत्र पर आचार्य पूज्यपाद की सस्कृत टीका सर्वार्थसिद्धि के नाम से प्रसिद्ध है। सर्वार्थ-सिद्धि का सिद्धान्त ग्रन्थो मे महत्वपूर्ण स्थान है। यह एक विशालकाय ग्रन्थ है। पडित जी साहब ने इसका सक्षिप्तीकरण किया और ग्रन्थ के पूरे विषयो को सार रूप मे प्रस्तुत करके अपनी महान् विद्वत्ता से सबको लाभान्वित किया। तीसरा एव चौथा अध्याय जिसमे स्वर्ग एव नरक का वर्णन मिलता है उसे इस सस्करण मे स्थान नही दिया। प्रस्तुत पुस्तक राजस्थान विश्वविद्यालय के एम०ए० (संस्कृत) के पाठ्यपुस्तक में कितने ही वर्षों तक स्वीकृत रही थी। इसका प्रकाशन मई सन् १९५१ में श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी के साहित्य शोध विभाग की ओर से हुआ था।

७. दार्शनिक के गीत

पडित जी लेखक ही नही थे किन्तु दार्शनिक कवि भी थे। कविता करना उन्हे अत्यधिक रुचिकर लगता था। पंडित जी ने अपना जीवन भी सम्भवतः एक कवि के रूप मे प्रारम्भ किया। ४० वर्ष तक की आयु मे उन्होने सैंकडों कवितायें एव गीत लिखे और उनमे अपने दार्शनिक स्वभाव की अमिट छाप छोडी। पडित जी की मृत्यु के पश्चात् उनकी कविताओं का एक सग्रह "दार्शनिक के गीत" नाम से प्रकाशित हुआ। इस संग्रह मे उनकी कविताओं का संकलन है। सभी कवितायें उच्चस्तरीय एव भावपूर्ण है। इस सग्रह के अतिरिक्त अभी और भी कवितायें है जो जैन दर्शन, जैनबन्धु, वीरवाणी आदि पत्रो मे प्रकाशित हो चुकी है। पडित जी की शेष तीन रचनाओ का परिचय स्मृति ग्रन्थ के दूसरे भाग मे दिया गया है।

पत्रकार की दृष्टि से

पडित जी जीवन भर पत्रकार बने रहे। अध्ययन समाप्त करने एव जयपुर आने के पश्चात् ही वे किसी न किसी पत्र का सम्पादन करते रहे। पहिले 'जैनदर्शन' निकाला, फिर 'जैनबन्धु' का सम्पादन किया और अन्त मे 'वीरवाणी' का सम्पादन प्रारम्भ किया। इन सभी पत्रो के माध्यम से उन्होने जैन जगत् को ही नही किन्तु समस्त देश को जो बौद्धिक प्रेरणा दी वह इतिहास मे अनूठी मानी जावेगी। पडित जी स्वतन्त्र विचारक थे तथा जो कुछ लिखते थे अपने विचारो के अनुसार ही लिखते थे। उन्होने सामाजिक आन्दोलन चलाये। सामा-जिक आन्दोलनो का उन्होने जिस सफलता के साथ

किसी को कैसे प्रोत्साहित किया जाता है

प्रो० भागचन्द जैन 'भागेन्दु'

श्रद्धेय प० चैनसुखदास जी के निधन से भारतीय साहित्य और संस्कृति के लिए एक अपूरणीय क्षति हुई है। वे उच्चकोटि के साधक और सरस्वती के आराधक थे। उदारता, सरलता त्याग, कारुण्य आदि सद्गुण उनके माध्यम से मानो मूर्तमान हो उठे थे, विद्वत्ता साकार हो उठी थी। उनका दृष्टिकोण बहुत सुलझा हुआ था। वे स्वस्थ, चिन्तक, कुशलवक्ता, साहित्यकार और कर्तव्यनिष्ठ अध्यापक के रूप मे देखे गये। उनकी सेवाएं सभी को सुलभ थी।

कल्पतरु

अनेक ग्रन्थ, पत्र-पत्रिकाएं और संस्थाएं प० जी के जीवन्त स्मारक तो हैं ही, उनकी प्रतिभा से प्रेरणा, प्रोत्साहन और लाभ प्राप्त करने वाले भी उससे कम नहीं हैं। जब कभी जिस किसी के सामने कोई समस्या उपस्थित हुई, प० जी उसके समाधान हेतु सदैव प्रस्तुत रहते थे। अनेक शोधार्थियों को तो वे 'कल्पतरु' थे। प्रोत्साहित करने की क्षमता उनमें अभूतपूर्व थी। उनके एक पत्र ने ही मुझे उनका पूर्ण प्रशंसक बना दिया।

अब यद्यपि उनका पार्थिव शरीर शेष नहीं है, किन्तु उनका अनन्त कृतित्व तो अब भी विद्यमान है, विद्यमान रहेगा। उनके देहावसान से मै बहुत दुःखी हू तथा उनके पावन गुणों का स्मरण कर अपनी विनम्र श्रद्धाजलि तथा शतशः प्रणाम उन्हें अर्पित करता हूँ।

(शेष पृष्ठ ३८ का)

संचालन किया वह उनके महान् व्यक्तित्व एवं साहस का द्योतक है। उन्होने अपने पत्र मे सामाजिक रूढियों के विरुद्ध खूब लिखा और उनकी हृदय मे भर्त्सना की। उनकी सम्पादकीय टिप्पणियो से समाज के कुछ व्यक्ति नाराज भी रहे किन्तु वे अपने मार्ग से नहीं हटे और समाज को बराबर सावधान करते रहे। उनके पत्र घाटे मे चलते रहे लेकिन उन्होने पैसे के लिये किसी के सामने हाथ नही पसारे। यह उनके जीवन की सबसे बडी विशेषता थी कि धन के लिये वे कभी भी किसी से दबे नहीं और न धनिकों की व्यर्थ की प्रशसा की। वास्तव में वे सच्चे रूप में पत्रकार बने रहे।

इस प्रकार प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ ने विशाल साहित्य की रचना एव सम्पादन करके तथा सैकडो लेख एव टिप्पणिया लिख कर समाज एवं देश को नयी दिशा प्रदान की। पडित जी के देश मे हजारो शिष्य एव प्रशसक थे। वे उनके पास प्रायः आते रहते थे और अपने जीवन विकास के सम्बन्ध मे उनसे परामर्श लिया करते थे। पडित जी के पास आये हुए ऐसे सैकडो पत्र है जिनको पढ़ने से ज्ञात होता है कि वे कितने विद्यार्थियों के जीवन निर्माता थे तथा कितने विद्यार्थी उनसे पत्र व्यवहार करते रहते थे।

पं० चैनसुखदास जी और कुचामन विद्यालय

श्री सत्यंधरकुमार सेठी, उज्जैन

श्रद्धेय पंडित जी जैन दर्शन के उद्‌भट विद्वान् तो थे ही लेकिन वे एक स्वतन्त्र विचारक और निर्भीक वक्ता भी थे। यह उनमे एक विशेषता थी। उन्होने जयपुर आने के बाद ३५ वर्ष तक निरन्तर शास्त्र सभा की। जिसमे जयपुर जैन समाज के चोटी के विद्वान्, वकील, उच्च पदाधिकारी, राज्य शासन के मन्त्रीगण तक सम्मिलित होते थे। वे अधिकतर अपने प्रवचनों मे सामाजिक एव धार्मिक रूढ़ियो के विरोध मे कहा करते थे। वे समाज और वर्तमान साधु जीवन में व्याप्त अनुशासन हीनता पर बड़े दुखी थे। समाज की वर्तमान दशा और साधु अवस्था से उनको बड़ी अन्त पीड़ा थी। वे समाज को क्रांतिकारी विचारो को अपनाने की प्रेरणा देते थे।

पंडितजी का जीवन एक सदाचार पूर्ण जीवन था। सादगी उनमे कूट–कूट कर भरी हुई थी। इतने बड़े विद्वान् और प्रतिभासम्पन्न आदर्श पुरुष होते हुए भी उनमे कभी प्रतिष्ठा का लोभ और अभिमान के कारण नही देखे गये। वे एक सन्त पुरुष की तरह रहा करते थे और अजस्र साहित्य सेवा और समाज सेवा मे रत रहा करते थे।

जीवन परिचय

श्रद्धेय पण्डितजी का जन्म स्थान भादवा ग्राम था। उसी ग्राम मे मुझे भी जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनके चरणो के सानिध्य मे ही नही किन्तु उनका शिष्य रहने का सौभाग्य भी मुझे मिला है। जिस घर मे श्रद्धेय पण्डितजी का जन्म हुआ था वह एक सम्पन्न घराना था। आपके पिता श्री जवाहरलाल जी उस प्रान्त के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। वहा की सरकार के कामदार थे और थे शास्त्र सभा के प्रमुख वक्ता। लेकिन श्रद्धेय पण्डितजी अधिक समय तक उनका प्यार नही पा सके। वे छोटी सी उम्र मे इनको छोडकर परलोक चले गये। इनकी पूज्य मातेश्वरी का नाम धापूबाई था। वह बडी धर्मनिष्ठ एव सरल स्वभावी महिला थी। दो वर्ष की उम्र मे पडितजी के एक पैर पर पक्षाघात हो गया और वह जीवन पर्यन्त रहा।

पाच वर्ष की आयु मे भादवा जैन पाठशाला मे पढ़ने के लिए आपको बैठाया गया और थोड़े से समय मे आपको धार्मिक ज्ञान अच्छा हो गया। इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर श्रीमान् केशरीमल जी गया जी वाले इनको अपने साथ ले गये और बनारस स्याद्‌वाद महाविद्यालय मे भर्ती करवा दिया। उस समय आपकी आयु १६ वर्ष की थी। इस थोडी सी उम्र मे आपने न्यायतीर्थ परीक्षा पास की और आचार्य की प्रथम खण्ड व द्वितीय खण्ड की परीक्षा भी दे डाली। आपकी बुद्धि तीव्र थी। तर्क शक्ति अद्‌भुत थी। सस्कृत में धारा प्रवाह रूप से आप बोला करते थे और सस्कृत-पत्रिका का सम्पादन भी किया करते थे।

आप अध्ययन समाप्त करने के बाद भादवा आ गये। वहां बराबर शास्त्र सभा किया करते थे।

थोड़े से समय मे आस-पास मे आपकी काफी ख्याति फैल गई।

कुचामन प्रवास

एक बार एक बरात मे आपको कुचामन जाना पड़ा। वहां आपके आगमन से जैन समाज मे हल चल मच गई। एक अल्प वयस्क जैन विद्वान् को पाकर सब आनन्द से उछलने लगे और उन्होने एक विशाल आम सभा का आयोजन कर डाला। उस सभा के अध्यक्ष वहां के माने हुए विद्वान् पण्डित मधुसूदन थे। आपका जैन धर्म पर इतना सुन्दर व्याख्यान हुआ कि वहा की जैनाजैन सब ही जनता प्रभावित हुई और वहा के प्रसिद्ध सेठ गम्भीरमलजी पाड्या ने अपने विद्यालय मे रहने के लिए आग्रह किया और कहा कि मेरे विद्यालय मे प्रधानाध्यापक के पद पर बैठकर सेवा करने का अवसर दें। श्रद्धेय पण्डितजी ने क्षीण मुस्कराहट के साथ अपनी स्वीकृति दी और करीब १३ वर्ष तक आदर्श ढग से विद्यालय की अपूर्व सेवा की। आपका व्यक्तित्व मारवाड़ प्रान्त के कोने–कोने मे बिखर गया और दूर-दूर से विद्यार्थी आकर आपसे शिक्षण लेने लगे। वहा के बोर्डिग ने एक विशाल रूप ले लिया। पण्डितजी प्रारम्भ से ही कट्टर धार्मिक रहे। आपके जीवन की छाप विद्यार्थियो की आत्मा पर चुम्बक की तरह लगती थी।

आप हमेशा क्रान्तिकारी पुरुष रहे। उस समय मारवाड़ प्रान्त मे मिथ्यात्व का बोलबाला था। उसके खिलाफ आपने आवाज उठाई और आपके प्रभाव से समस्त सस्कार जैन विधि से होने लगे। आपने जैनत्व की मारवाड़ प्रान्त मे अपर्व रूप से ध्वजा फहराई। आपके पास वही छात्र रह सकता था जो पहले कन्दमूल खाने का त्याग करता था।

श्रद्धेय पण्डितजी ने विद्यालय की सेवायें एक संरक्षक के रूप में की। कुचामन मे ठीक ४ बजे वे उठ जाते थे। स्वय घटी बजाकर विद्यार्थियों को उठाते थे। स्वयं प्रार्थना मे खड़े रह कर प्रार्थना करवाते थे और इसके बाद आप सबके बीच में बैठकर याद करने को कहा करते थे। शाम को शास्त्र सभा मे स्वय बैठकर छात्रों से शास्त्र सभा करवाते थे और उनसे पूछा करते थे कि क्या समझे। रात्रि को १० बजे तक लड़को को पढ़ने का आदेश देते थे और कभी-कभी स्वयं हाथ मे लाठी टेके-टेके बतौर जाच के पहुंच जाते थे। इसका यह परिणाम निकला कि वहा के छात्र अच्छे से अच्छे विद्वान् निकले जो समाज और धर्म सेवा मे आज भी अग्रसर है।

पण्डितजी अंग्रेजी के जानकार नही थे। लोगो को यह मालूम नही था कि ये अग्रेजी नही जानते। एक दिन एक मियाँ तार लेकर आ गया। आपके हाथ मे तार थमा दिया। आप पढ़ नही सके। मिया को पूछा कोई बीमार था क्या। उसने कहा हा। तो पंडितजी ने तुरन्त कह दिया कि वह मर गया। दैवयोग से वह बात ठीक निकली। लेकिन उसके जाने के बाद आपको गहरा पश्चाताप हुआ और तय किया कि मैं शीघ्र अग्रेजी पढ़ू। पण्डितजी हमेशा अपने सकल्प के धनी रहे है। और थोड़े दिनो मे अंग्रेजी के वे अच्छे विद्वान् बन गये।

इन सबके बीच कई बार आपके विवाह के प्रस्ताव आये। आपने मा के आग्रह को भी नहीं मानकर उन सब प्रस्तावो को ठुकराया। आपका बाल्यकाल से लेकर अन्तिम समय तक सारा जीवन एक साधक के रूप मे बीता। आप आदर्श बाल ब्रह्मचारी रहे। कभी भी विकार की रेखाएं युवा–वस्था मे भी आपके चेहरे पर देखने को नही मिली। वास्तव में उस युग में पडितजी एक महात्मा के रूप मे रहे और अपने जीवन को बढ़ाया।

स्वतन्त्र विचारक

पंडितजी स्वतन्त्र विचारक थे। महासभा के नावा अधिवेशन मे जिसके सभापति सेठ गम्भीर मल जी पाड्या के छोटे भाई सेठ प्रभुलालजी थे विजातीय विवाह का विरोध करने हेतु पंडितजी पर बहुत दबाव डाला गया लेकिन पंडितजी महासभा के प्लेट फार्म पर भी जाने को तैयार नहीं हुए।

इसी तरह फतेहपुर महासभा के अधिवेशन की एक विचित्र घटना है। उस अधिवेशन मे मैं भी गया था। समाज मे श्रद्धेय पूज्य ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी के खिलाफ आन्दोलन था। उन्होने एक मुसलमान को जैन बना दिया था। मैं उसको ठीक समझता था। करीब उस प्रतिष्ठा में १५–२० हजार जैन भाई एकत्रित थे। स्वर्गीय पंडित रघुनाथदासजी सरनौ शास्त्र सभा कर रहे थे। आदि पुराण मे त्रेपन क्रियाओ का वर्णन था। उन्होने कहा कि दीक्षान्वय क्रिया के आधार से कोई भी जैन हो सकता है। यह सुनते ही मैंने प्रश्न कर डाला कि जब हर एक जैन हो सकता है तो शीतलप्रसाद जी ने मुसलमान को जैन बनाकर क्या अन्याय किया। यह कहते ही सारा पंडित समाज तिलमिला उठा और मेरे ऊपर झपट पडा। कहने लगे यह छोकरा कौन है– यह नास्तिक है, धर्मद्रोही है। इसको पूछा जाये कहा पढता है, मुझे यह भान नही था कि मेरे पूछने से यह काड होगा। मैं घबडा गया। रघुनाथदास जी सरनौ ने मुझे पास बुलाया और कहा कि बेटा कहा पढता है, कौन गुरू है ? मैंने कहा कुचामन विद्यालय मे पढता हू और श्रद्धेय पण्डित चैनसुख दासजी का शिष्य हू। यह कहते ही सारा पंडित समाज क्रुद्ध हो गया। और कहने लगे ये चैनसुख दास नाश करके रहेगा। नास्तिकों की सेना तैयार कर रहा है। शास्त्र सभा बन्द करो और पंडित चैनसुखदास को बुलावो। मेरी आफत आ गई। मैंने कहा कि मैं तो मरा सो मरा लेकिन उन पर आक्रमण क्यों ? सेठ गम्भीरमलजी वहीं थे। उन्होंने कहा कि चैनसुखदास को हटाया जाये और इस लडके को भी विद्यालय से निकाला जाये। श्रद्धेय पंडितजी पचासो पंडितो के बीच आ गये। उन्होंने समझ लिया कि सत्यधर ने कही न कहीं गडबड की है। वह चुप नहीं रहता।

उनसे पूछा गया कि यह शिष्य आपका है। उन्होने कहा कि इसको अभी का अभी निकाला जाये। ये अमुक-अमुक प्रश्न करता है, नास्तिक है। श्रद्धेय पंडितजी ने मेरी पीठ ठोकते हुए कहा कि शाबाश सत्यधर। यही प्रश्न पूछा। मैंने कहा यही। पण्डितजी ने कहा कि आप लोगों मे कोई उदारता नही। यदि इस प्रश्न का उत्तर आपके पास नही था तो आप शास्त्र की गद्दी पर नहीं बैठते। मैं इस लडके पर गर्व करता हू। यह विद्यालय मे पढेगा। मैं त्याग पत्र दे सकता हूं। लेकिन यह नही जा सकता। पंडितजी की वह निर्भीकता देखने लायक थी। वास्तव मे वे एक लौह पुरुष थे जिन्होने हर बात का साहस पूर्वक सामना किया।

उन्होने कभी अपना काम छात्रों से नही करवाया। हम तरसा करते थे लेकिन वे यही कह देते थे कि अपना काम हाथ से करना चाहिए। सच मायने मे वहएक महात्मा थे। आज भी हमारे मानस पर वे स्मृति मे अंकित है और जब याद आती है तो श्रद्धा से उनके चरणो मे मस्तक झुक जाता है।

जयपुर में पंडित जी के प्रारम्भिक बीस वर्ष

पं० भंवरलाल न्यायतीर्थ
सम्पादक वीरवाणी जयपुर

गुरुदेव स्व० चैनसुखदासजी जैन समाज के एक क्रांतिकारी सुधारक, अनेको शिक्षा शास्त्रियो के जन्मदाता, अभाव ग्रस्तो के सकट-निवारक, छात्रो के मार्ग दृष्टा, विधवाओ और भूखो के अन्नदाता, सच्चे सलाहगीर, संस्थाओ के प्राण, साहित्य के उद्धारक, निर्भीक, ओजस्वी वक्ता, कलम के धनी, सरलता, सज्जनता, सादगी और त्याग की मूर्ति, प्रेरणास्पद व्यक्तित्व, दर्शन व सिद्धात के प्रकाड विद्वान, सफल पत्रकार, कुशल सम्पादक आदि अनेक गुण, विभूषित सच्चे मानव थे। उनकी सी सर्वतोमुखी प्रतिभा बिरलो मे ही मिलती है। जयपुर जैन समाज मे ऐसा व्यक्ति आचार्य कल्प प० टोडरमलजी के समय से अब तक नही हुआ।

प्रारम्भिक जीवन

राजस्थान के छोटे से ग्राम भादवा मे माघ कृष्णा अमावस्या स० १९५६ मे आपका जन्म हुआ। आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा भादवा व जोबनेर मे हुई। उच्च शिक्षा बनारस मे प्राप्त की। सर्व प्रथम कुचामन विद्यालय मे एक युग तक अध्यापन कार्य किया और वहा से ३० अक्टूबर, १९३१ को स्व० प० जवाहरलालजी शास्त्री की प्रेरणा से जयपुर दिगम्बर जैन महा पाठशाला मे (वर्तमान दिगम्बर जैन संस्कृत कालेज, जयपुर) प्रधानाध्यापक के पद पर कार्य भार सम्भाला। उनमे १-२ नवम्बर सन् १९३१ को लेखक की सर्व प्रथम भेट हुई और अन्तिम भेंट २५ जनवरी, १९६९ को। इस ३७ वर्ष के समय मे लेखक को गुरुदेव के चरणो मे बैठकर बहुत कुछ सीखने को मिला पर सच यह है कि हम लोग उतना लाभ नही ले पाये जो लेना चाहिये था। आज उनके चले जाने के बाद यह बात पचासो व्यक्ति महसूस करते है। जयपुर जैन समाज मे आज ऐसा कोई व्यक्ति नही रहा जिस पर सबको आस्था हो जिसे सब अपना दुःख-दर्द कह सके।

धार्मिक चेतना

पडितजी ने जयपुर आते ही सर्व प्रथम कालेज के बराबर बडे दीवनजी के मन्दिर मे शास्त्र प्रवचन प्रारम्भ किया और सैकडो श्रोतागण आपकी वाणी को सुनने प्रति दिन आने लगे। ज्ञान पिपासुओ को ज्ञान मिला, छात्रो को सुशिक्षा मिली, युवको को प्रेरणा मिली जिससे उनमे जीवन आया और सुषुप्त शक्ति जाग्रत हुई। शास्त्र स्वाध्याय की परिपाटी जो ढीली पड़ गई थी पुन तेजी से चलने लगी। इस प्रकार एक धार्मिक चेतना पडितजी ने समाज मे फैलाई।

संस्था उद्धारक

जैन पाठशाला की स्थिति खराब थी। अदम्य साहस और परिश्रम से एक पैसा जमा पूंजी न होते हुए भी पडितजी ने सस्था का सचालन किया। समय पर अध्यापको को वेतन दिया। सस्था से बीसो वर्ष मे जहा एक-दो शास्त्री निकलते थे। वहा सन् १९३१ से अब तक शताधिक स्नातक तैयार हो गये। सस्था को जहा ५०) रु० मासिक सरकारी सहायता मिलती थी वहाँ ढाई-तीन हजार रुपये मासिक सहायता मिलती है। यह प० का ही प्रयत्न है कि अग्रेजी के युग में भी सस्कृत सस्था की निरतर प्रगति होती रही। पंडितजी की यह सबसे बड़ी देन है और जब तक सस्था रहेगी पडितजी की स्मृति बनी रहेगी।

शिथिलाचार विरोधी

पंडितजी के जयपुर आने के पश्चात् ही जयपुर में मुनि संघ का पदार्पण हुआ। शुद्र जल त्याग, जनेऊ, पंचामृताभिषेक, स्त्री प्रक्षाल, त्रिवर्णाचार चर्चा सागर, हरित काय आदि की चर्चाएं उन दिनों ज़ोरों पर थी। पडितजी ने न केवल इन शास्त्र विरुद्ध परिपाटियों का विरोध किया अपितु शिथिलाचार के विरुद्ध एक जमात खडी कर दी जिसने डटकर लोहा लिया।

सुधारक

इन्ही वर्षों मे समाज के एक अग को तिरस्कृत और उसे समाज से बहिष्कृत करने के लिए खंडेलवाल समाज मे लोहड साजन आन्दोलन हुआ। पडितजी ने खोज की और सिद्ध किया कि लोहड साजन शुद्ध हैं-हमारे ही भाई हैं। इनको प्रक्षाल एवं रोटी बेटी व्यवहार में अलग नहीं किया जा सकता है। यह आन्दोलन अखिल भारतीय स्तर पर चला। इसके लिए पडितजी ने जैन बन्धु नामक एक पत्र भी निकाला जिसने अपने मिशन मे पूर्ण सफलता प्राप्त की। इस प्रकार समाज मे एक क्रांतिकारी परिवर्तन लाने में पडितजी का पूर्ण हाथ रहा और वे समाज सुधारक के रूप मे प्रसिद्ध हुए।

सरस्वती सेवक पंडित जी

जहां धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में पडितजी ने जबर्दस्त कार्य किया वहा साहित्यिक क्षेत्र में तो उससे भी अधिक ख्याति उनकी हुई। महावीर क्षेत्र की ओर से अनुसंधान विभाग के संचालन तथा क्षेत्र के तत्कालीन मंत्री श्री राम चन्द्रजी खिन्दूका द्वारा इसका आरम्भ पडितजी की प्रेरणा की देन है। ग्रन्थ सूचियो का कार्य बड़ा महत्वपूर्ण हुआ। देश के चोटी के जैनेतर विद्वानो ने इस कार्य की प्रशसा ही नही की बल्कि जैन साहित्य की महानता के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त की। पंडितजी ने कई स्नातको को डाक्टरेट की उपाधि लेने के लिए प्रेरित किया, उन्हें पढाया फलतः आज अनेकों डाक्टर समाज में दिखने लगे। पढने-पढाने के कार्य में कोई भी व्यक्ति किसी भी समय पडितजी के पास आता वे उसे ना करना जानते ही नहीं थे। चाहे वह प्रथम कक्षा का छात्र हो अथवा एम. ए. का। पंडितजी से पढ़ने के निमित्त कई श्वेताम्बर साधु जयपुर मे चतुर्मास करते थे। सभी विचारधारा के बच्चो को पडितजी बड़े प्रेम से पढाते थे। उनका दर्शन विषयक ज्ञान तो अगाध था ही- पर वे साहित्य मे निष्णात थे। उनकी प्रतिभा चतुर्मुखी थी। यही कारण था कि वे साहित्य जगत् मे विख्यात थे। सस्कृत शिक्षा विभाग के निदेशक अधिकारी होते हुए भी पण्डित जी का गुरु तुल्य आदर करते थे। राजस्थान विधान सभा के अध्यक्ष आचार्य निरंजननाथ जी तो उनको गुरुदेव कहकर पुकारते थे। राजस्थान के सभी राजनैतिक नेता पण्डितजी को आदर से देखते थे।

सिद्धांत के धनी

पण्डितजी सिद्धान्त के पक्के थे। उनकी सिद्धान्तवादिता को न किसी का व्यक्तित्व गिरा सकता था और न पैसा। आचार्य सूर्यसागरजी के कुचामन चर्तुमास के समय लोहड साजन प्रश्न को लेकर सेठ गम्भीरमलजी और उनकी पार्टी का तथा पण्डितजी का खुली आम सभा मे जिसके सभापति अर्जन थे वाद--विवाद हुआ। पण्डित मक्खनलालजी आदि बुलाये गये पर विरोधियों के गढ मे सिंह की तरह पण्डितजी की गर्जना से सब पस्त हिम्मत हुए-उनकी करारी हार हुई। उस समय पण्डितजी के मित्र सेठ गजराजजी ने विदा के समय एक रकम भेट देना चाहा तो पडितजी ने कहा कि हम सिद्धान्त के लिए लडते हैं। हम पैसो के दास नहीं है। सेठजी ने अपनी भूल स्वीकार की और पडित जी क्षमा मांगी। श्री तोलारामजी पण्डितजी के

प्रतिभा के धनी

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री वाराणसी

स्व० पं० चैनसुखदास जी प्रतिभा के धनी थे। विद्यार्थी जीवन से ही वह तर्कणाशील और व्याख्यानपटु थे। एक पैर से लाचार होने के कारण उनका पूरा समय विद्यालय मे ही बीतता था और उसका उपयोग वह पठन पाठन में करते थे। पठित ग्रन्थ उन्हें इतनी अच्छी तरह अभ्यस्त थे कि विद्यार्थी जीवन मे ही उन्हें दूसरो को पढ़ाते थे। मैने आप्त परीक्षा और प्रमेयरत्नमाला का अध्ययन उन्ही से किया था। उस समय वे न्यायतीर्थ की परीक्षा देते थे और मैंने इससे पूर्व न्याय का कोई ग्रन्थ नही पढा था। फिर भी उनकी शैली इतनी उत्तम थी कि मुझे उक्त दार्शनिक ग्रन्थो को समझने मे कोई कठिनाई नहीं हुई और मेरी न्याय विषयक व्युत्पत्ति सुदृढ हो गई।

उस समय उनकी अवस्था १६-२० वर्ष के लगभग थी। स्याद्वाद विद्यालय में बड़े-बड़े छात्र थे किन्तु वे किसी से डरते नही थे। सस्कृत भाषण मे पटु थे। उनका मौखिक द्वन्द्वयुद्ध भी सस्कृत मे ही होता था।

बनारस से जाने के बाद मेरा उनके साथ निकट सम्पर्क पत्र द्वारा ही रहा। जयपुर मे आने के बाद उनकी प्रतिभा चमकी। उन्होंने राजस्थान में अनेक जैन छात्रो का विद्यादान देकर विद्वान् बनाया। महावीर जी अतिशय क्षेत्र के द्रव्य का उपयोग छात्रवृत्ति और शास्त्रोद्धार में होने का बहुत कुछ श्रेय उन्ही को है। वह एक निस्पृह विद्वान थे। किसी से अर्थ की आकाक्षा नहीं रखते थे। फलत: उनका प्रभाव भी विशेष था। सुवक्ता होने से उनकी शास्त्रसभा मे प्रतिदिन अच्छी उपस्थिति होती थी और श्रोतागण उनकी वाणी से प्रभावित थे।

प्रकृति से वह सुधारक थे अत. स्थिति पालक पक्ष उन्हें अच्छी दृष्टि से नहीं देखता था। किन्तु उन्होंने इस उपेक्षा की परवाह नहीं की। जयपुर समाज मे उनका इतना प्रभाव था कि जिस कार्य का वे बीडा उठाते थे उसे सफल करके ही दम लेते थे। यदि वे समाज मे राजस्थान से बाहर भी जा सकते तो उनकी ख्याति और कार्यशीलता मे चार चाद लग जाते।

शरीर से बहुत कृश होने पर भी उनकी आत्मा मे अदम्य शक्ति थी और उसी शक्ति के बल पर वे जीवित रहे। उनके अवसान से विद्वत्समाज की ही नही, पूरे समाज की ऐसी क्षति हुई है जिसकी पूर्ति सम्भव नहीं है।

पृष्ठ ४४ का शेष—

मित्र थे। पर जब गजराजजी ने सिद्धान्त के विरुद्ध विवाह किया तो उनका बहिष्कार करने में भी पण्डितजी पीछे नहीं हटे। सिद्धान्त के आगे मित्रता बाधा न बन सकी। ऐसे थे सिद्धान्तवादी पण्डितजी।

इस प्रकार हम देखते है कि पण्डितजी ने धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक क्षेत्र मे जो क्रांतिपूर्ण कार्य किए वे सदा अमिट रहेंगे और सदा समाज को प्रेरणा देते रहेंगे।

मा सरस्वती के सच्चे उपासक गुरुदेव को मेरा शतश प्रणाम।

व्यापक और विशिष्ट

रूपनारायण काबरा

जब पहली बार उन्हें देखा तो उस तप-पूत मनीषी के प्रति हृदय में सहज श्रद्धा जागृत हो उठी मैंने झुककर चरण स्पर्श किये। उन्हें संकोच सा हुआ। कितनी महानता थी उनके इस संकोच मे। और फिर उनसे वार्तालाप हुआ। मेरी लेखन मे रुचि जानकर उन्होने अपना वरद् हस्त मेरे मस्तक पर रखा और प्रेरित करते हुए कहा कि मैं आपकी प्रतिभा को और प्रखर करने का प्रयास करूंगा-आप रचनायें भेज दीजिये।

मैं लगभग दो घटे आपके साथ बैठा और इसी में आपके सुलझे विचार, विद्वत्तापूर्ण अध्ययन, दार्शनिक चिन्तन, आपकी अध्ययनशीलता एव कर्मठता से अभिभूत एवं प्रभावित हुआ। आपके स्वास्थ्य एवं अवस्था को देखते हुए आपकी कर्मशीलता अत्यन्त ही आश्चर्यजनक थी। छात्रो के बारे मे वे केवल यही नही सोचते थे कि वह पास होगा कि नही। वस्तुत: उनका लक्ष्य था विद्यार्थी गुरुजनो का सम्मान करना सीखे, जीवन के प्रति उत्साह, आस्था एव विश्वास रखे एवं प्रमाद से दूर रह कर कुसग से बचे। नैतिक आदर्शों के परिपालन मे ही अपेक्षित उपलब्धिया निहित हैं। ऐसी आपकी मान्यता थी।

जन-जन के देवता

कितने छात्रों को आपने वह ज्योति दी कि जिससे उनके जीवन आलोकित हो उठे। जन जन का देवता कितने विनीत शब्दों मे मुझे पत्र लिखता और मैं नतमस्तक हो उठता था। उन्होने अत्यन्त विषाद एव वेदना के साथ कहा था—ग्राम भादवा की जनता मेरे प्रभाव एव सहयोग का कोई उपयोग नहीं करना चाहती है और क्षुद्र बातो को लेकर परस्पर विभक्त रहती है। काश! मैं अपने ग्राम का विकास जी खोलकर कर पाता। पर .. ..।

कितने स्नेह से उन्होने कहा था "काबरा जी बड़ी इच्छा है आप मेरे यहा मेरे साथ बैठ कर खाना खायें" पर हाय दुर्दैव यह इच्छा पूर्ण न हो सकी। मैं पुन: दर्शनार्थ पहुच भी नही पाया कि वे चल दिये और मैं आलस्य में योजना बनाता ही रह गया। तभी तो वे कहा करते थे—प्रमादी न बनो - कर्म में तत्पर रहो।

उनके साथ मेरा यह साक्षात्कार और वार्तालाप प्रथम एव अन्तिम रहा। मेरी स्मृति मे यह एक अमूल्य निधि है और उनके स्मरण, चिन्तन से मुझे एक नई चेतना और प्रेरणा मिलती है। मैं भूल नही सकता उस महान व्यक्तित्व को जो कितना व्यापक और विशिष्ट था।

एक निरभिमान, सहज व्यक्तित्व

महावीर कोटिया, जयपुर

जब साहित्य से सम्बन्धित कतिपय जिज्ञासाएं थी। पंडित जी का नाम सुना था, अतः उनके दर्शन करने का निश्चय किया। गलियों मे घूमकर एक एक मन्दिरनुमा भवन मे जैन-संस्कृत कालिज स्थित है। सीढियों से चढकर एक बडा कमरा है, जिसके एक ओर बडी सी मेज के पीछे बैठा हुआ एक अदना सा आदमी दो-तीन विद्यार्थियो को संस्कृत की कोई पुस्तक पढा रहा था। क्या यही पं० चैनसुखदास है? नाम बडा पर दर्शन ... .? सीधे-सादे सज्जन पुरुष। ईश्वर-कृपा से पंगु और कृश शरीर, अति-साधारण वेश भूषा, बातचीत-व्यवहार मे सरलता, सभी प्रकार से सामान्य, बडप्पन जैसी कोई चीज नही। थोडी देर बाद छात्रो से निवृत्त होकर मेरी ओर मुडे। मैंने अपनी जिज्ञासाए, समस्याए रखी और उनका सहयोग चाहा। सहज-भाव से उन्होने अपने विद्वत्तापूर्ण समाधान प्रस्तुत किए, अपना पर्याप्त समय दिया। उनके प्रति स्थायी स्नेह मिश्रित श्रद्धा का भाव हृदय मे घर कर गया। इसके बाद तो उनके निकट-सम्पर्क मे आने का अवसर मिलता गया। अपरिचित से परिचित बन गए। पर उनकी महानता की, उनकी निस्पृह सरलता की, उनके सहज-स्नेह की ओर इन सबके साथ उनकी विद्वत्ता की जो छाप लगी, वह आज भी मेरे निकट एक धरोहर है।

निरभिमान सहज व्यक्तित्व

मैं आज अनुभव करता हूँ कि पंडित जी की महानता का रहस्य उनके निरभिमान सहज व्यक्तित्व मे सन्निहित था। उनकी सादगी, उनकी विनम्रता, अपरिचितो के प्रति भी उनका सहज स्नेह सब उनके सहज व्यक्तित्व से उद्भूत थे। उनके प्रथम-दर्शन की इस पुण्य बेला का उल्लेख मैंने इसीलिए किया है कि पंडित जी से मिलने वाला हर व्यक्ति मेरी ही तरह उनकी महानता से प्रभावित होता था।

इसके बाद तो ऐसे अनेक अवसर मिले हैं, जब कि पंडितजी की इस निश्छल सहज प्रकृति के दर्शन हुए हैं। उनका पुण्य-स्मरण यह याद दिलाता है कि ज्ञान-प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को विनम्रता, सादगी, सरलता, सभी के प्रति निष्कपट सहज स्नेह आदि गुणो को अवश्य अपनाना चाहिए। उनके जाने से जयपुर नगर मे जो रिक्तता पैदा हो गई है, उसका समाधान शायद ही हो सके, जब कि पंडित जी अपने जीवन भर सभी जिज्ञासु विद्यार्थियों को समाधान सुझाते रहे थे।

'अर्हंत् प्रवचन'
एक दृष्टि

डा० हरीन्द्र भूषण जैन,

आदरणीय पं० चैनसुखदास जी की पुण्य स्मृति में एक "स्मृति-ग्रन्थ" निकालने की योजना बनाकर विद्वानों के समादर करने की प्राचीन परम्परा का निर्वाह ही किया जा रहा है। जयपुर ने अनेक जैन विद्वान्, साधक, तपस्वी एव विचारक जिनवाणी की सेवा के लिए समर्पित किये हैं। पं० चैनसुखदास जी उन्हीं महामनीषियों मे से एक थे।

पडित जी द्वारा सम्पादित 'अर्हंत् प्रवचन' को मैंने आद्योपान्त बडे ध्यान से पढा। पडित जी ने प्राकृत भाषा की गाथाओ के माध्यम से श्रावक एवं श्रमण दोनो के लिए परमोपयोगी तत्त्वो का सकलन करके इस ग्रन्थ को तैयार किया है। श्री रामसिह तोमर, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्व भारती, शाति निकेतन के 'अर्हंत् प्रवचन' पर दिए गये इस अभिमत से मैं पूर्ण सहमत हूँ कि पडित जी का यह ग्रन्थ गीता और धम्मपद के समान नित्य पाठ के लिए जैन समाज को उपयोगी होगा। यह ग्रन्थ पडित जी की साहित्यिक प्रतिभा एव धार्मिक अभिरुचि का परिचायक है।

सरल हिन्दी में अनुवाद

'अर्हंत प्रवचन' पर एक अन्य दृष्टि से भी विचार करना आवश्यक है। आजकल लोग प्राकृत भाषा के अध्ययन अध्यापन से दिन प्रतिदिन विमुख होते जा रहे है। समस्त प्राचीन जैन वाङ्मय प्राकृत भाषा मे है। अत. प्राकृत-भाषा की ओर जैन-विद्वानो तथा साधारण समाज की रुचि जागृत हो इस बात को ध्यान मे रखकर दूरदर्शी पडित जी ने अनेक आगम ग्रन्थों से प्राकृत गाथाओं को चुनकर उनका सरल हिन्दी मे अनुवाद कर इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है।

मेरा सभी से निवेदन है कि वे पण्डित जी द्वारा प्रणीत 'अर्हंत् प्रवचन' नामक ग्रन्थ का अधिक से अधिक प्रचार करें। प्राय. प्रत्येक विश्वविद्यालय के सस्कृत के साथ अनिवार्य रूप से प्राकृत भाषा के पाठ्य ग्रन्थ के रूप मे इसे सम्पूर्ण अथवा कुछ भाग पाठ्यग्रन्थ के रूप मे निर्धारित किया जा सकता है। जैन-विद्यालयो मे तो जैन परीक्षा बोर्ड के माध्यम से इसके पढाई की व्यवस्था हो सकती है।

मेरा पूर्ण विश्वास है कि यदि 'अर्हंत प्रवचन' का प्रचार हमने किया तो हम पं० चैनसुखदास जी की स्मृति को स्थायी रखने मे सफल हो सकेंगे।

सौम्य मूर्ति पंडित चैनसुखदासजी
न्यायतीर्थ

जन्म तिथि के अवसर पर लिया
गया पंडित साहब का चित्र

पंडित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ अपने शिष्य परिवार के साथ ।

जिनकी स्मृति ही आज हमारा संबल है

पं० भंवरलाल पोल्याका जैनदर्शनाचार्य

श्रद्धेय गुरुदेव का असामयिक निधन जहां राष्ट्र और समाज की अपूरणीय क्षति है वहां वह बहुत से लोगों की वैयक्तिक क्षति भी है। इन पंक्तियों का लेखक भी उनमें से एक है। वे मेरे ज्ञानदाता गुरू ही नहीं थे, मा की सी ममता और पिता का सा प्यार भी मुझे उनसे मिला था। मेरी व्यक्तिगत कठिनाइयों की जितनी चिन्ता उनको थी और उनको दूर करने में जितने प्रयत्नशील वे रहते थे मैं नि.सकोच स्वीकारता हू कि उतनी मेरे जन्मदाता स्वर्गीय पूज्य पिताजी एव अन्य निकटतम सम्बन्धियों को भी नही थी। उनके चले जाने से आज मैं अपने को नितान्त एकाकी सूना-सूना अनुभव करता हू।

वे सच्चे अर्थों मे महा मानव थे। गृहस्थावस्था मे भी सत थे। मानवता का ऐसा कौनसा गुण था जो उनमे नही था। पर हित निरतता उनमे कूट-कूट कर भरी थी। दीन, अनाथ और असमर्थों के वे मसीहा थे। चारित्र उनका आदर्श और अनुकरणीय था। रहन-सहन सादा, बोलचाल मे नम्र, घमण्ड जिन्हे छू भी नही गया था। "विद्या ददाति विनय" सच्चे अर्थो मे उनके जीवन मे खरी उतरी थे। वे जैन दर्शन के साथ-साथ अन्य दर्शनो के भी तल स्पर्शी विद्वान थे। विचारो से वे युगानुसारी थे। उनकी लेखनी और वाणी में जादू था। शिथिलाचार और रूढियों से उन्होने डटकर लोहा लिया था। बड़ा से बड़ा प्रलोभन भी उन्हे अपने आदर्श और कर्तव्यो से च्युत नही कर सकता था। वे आदर्श अध्यापक थे। अपने शिष्यों के साथ उनका पुत्रवत् स्नेह था। उनका प्रत्येक क्षण अमूल्य था और ज्ञानार्जन मे व्यतीत होता था। वे सच्चे अर्थों मे अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी थे।

पूज्य गुरुदेव स्वय मे एक सस्था थे। हजारों कन्धे मिलकर भी जिस बोझ के उठाने मे असमर्थ थे उसे वे अकेले उठा रहे थे। उनके निधन से वह बोझ आज हम सब पर पड़ा है। उसे उठाने की शक्ति और सामर्थ्य हम सबमे उत्पन्न हो, जिस सस्था को उन्होने अपने रक्त से सींचा, परोपकार की जो पावन और निर्मल मंदाकिनी उन्होने बहाई, जिस देशघाती और समाजघाती शिथिलचार और रूढ़ियो के विरुद्ध वे जन्म भर अपनी वाणी, अपनी लेखनी और अपनी करनी से लोहा लेते रहे, हम उस सस्था को जीवित रखें उस धारा को सूखने नही दें और क्राति की मशाल को बुझने नही दे। यही उनके प्रति सच्चे अर्थों में श्रद्धांजलि है और उनका सच्चा स्मारक है।

'ज्ञान-मूर्ति'

प्रो० प्रेमचन्द रांवका, एम. ए.

"ज्ञान-मूर्ति स्वर्गीय पडित चैनमुखदासजी न्यायतीर्थ का स्मरण आते ही उन्नत ललाट, आकर्षक नयन, मझोला कद, कृश-विकलांग देह किन्तु उस पर आध्यात्मिक सन्त आभा, की स्वस्थ एवं पवित्र मूर्ति, प्रदीप्त तेज, आजानुबाहु एवं सादा भद्रवेश से मण्डित एक वन्दनीय व्यक्तित्व सामने आ जाता है। प्राचीन ऋषि-मुनियो की त्याग तपस्या, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से समुत्पन्न प्रकाट्यतर्कणा शक्ति, यशतन्तु जैसा शिष्य-वात्सल्य, पर दुःख कातरता की भावना और अद्भुत समभाव का वह प्रहरी किसे अपनी ओर आकर्षित नहीं करेगा। उनका बाह्य व्यक्तिव्य जितना सूक्ष्म, कोमल एवं दुर्बल था, अन्तरग व्यक्तित्व उनका उतना ही दृढ़, सबल और गम्भीर था। उनमे उन देवत्व गुणो की प्रकाश रेखा थी, जो व्यक्ति को अपने ग्रह से नही सहज दुलार और स्नेह भाव से सही दिशा की ओर अभिमुख करती थी, लक्ष्य सकेत करती थी और मार्ग मे आने वाली बाधाओं से सावधान कर उनसे मुकाबला करने की शक्ति प्रदान करती थी। शक्ति, शील एवं सौन्दर्य का उनमे अद्भुत समन्वय था।

प्राय. पाडित्य और सादगी का समवाय स्वरूप बिरले ही व्यक्तियो मे देखने को मिलता है। शुभ्र भूमि पर शयन करना, स्वच्छ खद्दर के अल्प वस्त्र धारण करना और सात्विक अल्पाहार ग्रहण करना ज्ञान मूर्ति स्वर्गीय पूज्य पण्डित साहब के सादा रहन-सहन को प्रमुख विशेषता थी। वे उन साधकों मे से थे जो अहर्निश ज्ञानाराधना और साहित्य साधना मे सलग्न रहते हैं। समार के आडम्बर पूर्ण कार्यों मे उनकी कोई रुचि नही रहती थी। दर्शन, विज्ञान एव साहित्य की मौलिक समस्याओ पर ऊहापोह तथा समाज एवं राष्ट्र के विविध कार्यकलापो की समीक्षा, स्वस्थ एव निष्पक्ष रूप मे प्रस्तुत करना ही उनका लक्ष्य था। एक शासकीय मान्यता प्राप्त महाविद्यालय के प्राचार्य के रहन-सहन के सम्बन्ध मे किसी की यह कल्पना भी नही हो सकती कि ज्ञानमूर्ति पण्डित चैनमुखदास इतनी सादी वेष भूषा मे किस प्रकार रहते थे। उनकी अपनी आवश्यकताएं इतनी अत्यल्प थी कि वे हृदय खोलकर अपने शिष्यों को ज्ञान के साथ अर्थ से भी सहयोग प्रदान करते थे। वास्तव मे उनका जीवन उस गाय के समान था, जो घास खाकर समाज को बदले में मधुर-दुग्ध प्रदान करती है।

उस ज्ञान-मूर्ति का अहर्निश अध्ययन-अध्यापन में व्यतीत होना। उनके अध्ययन-अध्यापन से प्रभावित होने वाले दाक्षिणात्यवासी, भारतीय प्राच्य विद्या प्रेमी और राजस्थान सस्कृत शिक्षा विभाग के निदेशक स्व० श्री के० माधवकृष्ण शर्मा उन्हें ऋग्वेदकालीन आदर्श अध्यापक मानते थे। वे उपनिषद् के उस सूक्त के चरितार्थक थे- जिसमें गुरू शिष्य से कहता है कि वत्स। आओ तुम और हम दोनों मिलकर अज्ञान से लडें। वे एक ऐसे आचार्य थे- जिनकी शिष्य परम्परा आज समूचे भारतवर्ष मे है। विद्यार्थियो एव शोधार्थियो के लिए उनके द्वार हमेशा खुले रहते थे। केवल शिक्षण समय में ही ज्ञान चर्चा नही करते, अपितु अहर्निश अपने अध्ययन-अध्यापन द्वारा शिष्य वर्ग एव जिज्ञासुओं की शकाओं का समाधान करते रहते थे।

(शेष पृष्ठ ५१ पर)

जन्मजात शिक्षक

श्री के० माधव कृष्ण शर्मा

जब १९५१ मे, निरीक्षक सस्कृत विद्यालय के पद पर मे जयपुर आया, मैंने स्वयं को एक विचित्र वातावरण मे पाया। इससे पूर्व मे शोधक्षेत्र मे था, जहां शोध कार्य एवं अध्ययन के साथ साथ मुझे विद्वानों के सम्पर्क तथा मार्ग दर्शन का सौभाग्य प्राप्त था। जब मुझे सस्कृत पाठशालाओ के उन शिक्षको के बीच रहना था, वहा यद्यपि पुरानी परम्परा के कुछ विद्वान पं० जी तो थे किन्तु आधुनिक ज्ञान व शोध से उनका कोई सम्पर्क नही था तथा वर्तमान सस्कृत पीढी प्राय सस्कृत मे ठोस ज्ञान से रहित थी। ऐसे वातावरण मे, मुझे जीवन मे कुछ रिक्तता का आभास सा होने लगा था।

अचानक एक दिन राजकीय कार्यो के दौरान मेरी भेट स्वर्गीय प० चैनसुखदास जी से हुई। यह तो मुझे निश्चित रूप से स्मरण नही कि हम प्रथम बार कब मिले, किन्तु इतना अवश्य प्रतीत हुआ कि मुझे एक ऐसा आदमी मिला है जिसे पाकर मेरे जीवन की इस रिक्तता का एक भाग भर सका है। मुझे उस दिन असाधारण प्रसन्नता का आभास हुआ क्योकि आखिर मैंने एक अच्छे विद्वान् को पाया था। ज्यो-ज्यो मैं उनके अधिक सम्पर्क मे आया त्यो त्यो यह आकर्षण बढता गया। मैंने उनमे असाधारण गुणो का समन्वय पाया, यद्यपि कालिदास ने कुमार सम्भव मे कहा है कि साधारणतया हम एक ही स्थान पर, एक ही व्यक्ति मे गुण नही पा सकते-

बहुमुखी प्रतिभा

मैने पडित साहब को न केवल एक आदर्श शिक्षक के रूप मैं पाया, अपितु वे एक प्रकाण्ड विद्वान्, शोध-कर्ता, दार्शनिक, कवि, सफल पत्रकार, समाज सुधारक और प्रभावशाली वक्ता भी थे। सच तो यह है कि वे स्वयं एक जीवित परम्परा और सस्था के रूप में थे जहां से बहुत से छात्रो ने ज्ञान, मार्ग दर्शन तथा प्रेरणा प्राप्त की। शिक्षकों को आज प्रशिक्षित किया जाता है। पर वे जन्म जात शिक्षक थे जो अध्यापन के लिए जीये न कि अध्यापन के द्वारा। पाश्चात्य दार्शनिक शापन होवर ने कहा है कुछ दर्शन के लिए रहते हैं जब कि दूसरे दर्शन के द्वारा''। प० साहब भी अध्ययन अध्यापन के लिये रहे न कि अध्ययन के द्वारा जीवन यापन के लिए। वे विद्या की चारों अवस्थाओ की पूर्ति के एक उदाहरण थे।

विशिष्ट सेवाएँ

सस्कृत शिक्षा और शोध के क्षेत्र मे उनकी विशिष्ट सेवायें थी। दिगम्बर जैन संस्कृत कालेज उनकी आजीवन सेवाओ का मूर्तरुप है। वे सस्कृत सलाहकार मण्डल के सदस्य थे। और संस्कृत के क्षेत्र मे उनकी विशिष्टि सेवाओ के लिए राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित भी किया गया था।

(शेष पृष्ठ ५० का)

ऐसे वन्दनीय व्यक्ति का वियोग किसे व्याकुल नही करेगा? इन पंक्तियो का लेखक भी उस महान् आत्मा के वरद हस्त से लाभान्वित था। यह व्यक्ति आज जितने अहं मे है, वह सब उन्हीं की अनुकम्पा फल है वस्तुत. संसार मे साक्षात् ज्ञान की मूर्ति पडित चैनसुखदास सदृश महनीय व्यक्तित्व के धारक विरले ही हुआ करते हैं।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी

श्री जगन्नाथसिंह मेहता

भौतिक आडम्बर के इस युग मे जहां एक ओर व्यक्तित्व पर भौतिकता का प्रभुत्व लदता जा रहा है और मानवीय गुणो का निरन्तर ह्रास हो रहा है वहां समय समय पर समाज के गहन सघर्षों के बीच कुछ ऐसे भी व्यक्तित्व आते जाते रहे है जिन्होंने अपने आदर्श जीवन के माध्यम से एक या अनेक वर्गों पर प्रभुत्व की अमिट छाप छोडी है। जो भी उनके सम्पर्क मे एक बार आ गया उनके रंग मे रंगे बिना नहीं रह सकता। प्रसिद्ध जैन दार्शनिक एव शिक्षक पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ भी इसी प्रकार के व्यक्तित्वों में से थे।

पडित जी से भेंट के अवसर मिले। हर बार उस क्षीणकाय महापुरुष में नयी विलक्षणता का आभास हुआ। जैसा कि सभी जानते है धार्मिक पीठ मे प्रवचन हो अथवा धार्मिक एव दार्शनिक व्याख्यान, शैक्षणिक कार्यक्रम हो या सामाजिक उत्सव– सब अवसरो पर अपनी सहज प्रतिभा से वे श्रोताओ को प्रभावित कर लेने मे सक्षम थे।

सम्पादक

पडित जी मे कितनी विशेषताए थी उनका उल्लेख कहीं एक स्थान एवं व्यक्ति के द्वारा कर पाना असम्भव है। धार्मिक व्यक्तियो के समाज में रह कर भी उनमे जो परम्परानुकरण के विरुद्ध भाव थे वे उनके सदैव परम्परागत रूढ़ियों का विरोध किया, भले ही प्रारम्भ मे उन्हे इसके लिए विरोध सहन करना पडा हो। उनकी यह धार्मिक टिप्पणियां एक सुधारवादी दृष्टिकोण लिए रहती थी। "वीरवाणी" के सम्पादक के रूप में न केवल उन्होंने जैन समाज के लिए ही सुधारक कार्य किये अपितु अपने विद्वत्तापूर्ण लेखो, सामयिक टिप्पणियों व अग्रलेखों के माध्यम से भारतीय सामाजिक जीवन व राजनैतिक गतिविधियो के सम्बन्ध मे भी निष्पक्ष विचार रखने मे वे पीछे नहीं रहे।

साहित्यकार

साहित्यकार के रूप मे पडित जी ने बहुत कुछ कार्य तो 'वीरवाणी' के माध्यम से ही किया पर जैन दर्शन की जटिल दार्शनिक ग्रन्थियो को सुलझाने मे भी उनके विभिन्न ग्रन्थ बहुत सहायक रहे है। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक "जैनदर्शन सार" जैन धर्म के मूलभूत तत्वो का श्रेष्ठ एव सारगर्भित विवेचन है, जिसकी उपयोगिता को समझ कर अनेक विश्व-विद्यालयो ने पाठ्यग्रन्थ के रूप मे अपनाया है। इसी प्रकार "प्रवचन-प्रकाश" दार्शनिक विचार-धाराओं पर समीक्षात्मक ग्रन्थ है। कवि के रूप मे भी पंडित जी काव्य साहित्य के क्षेत्र मे सफल हुए जो उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की एक झलक प्रस्तुत करता है।

जीवन पर्यन्त शिक्षक

लेखक-कवि, सम्पादक इन सबसे भिन्न पडितजी का जो सबसे प्रभावशाली और आदर्श स्वरूप चिर-स्मरणीय रहेगा वह है शिक्षक का रूप। आज तक दिगम्बर जैन संस्कृत कालेज और पंडित चैनसुखदास एक ही शब्द के पर्याय थे। "शिक्षक" ही उनका

(शेष पृष्ठ ५४ पर)

पं० चैनसुखदास ज्ञानी थे

डा० प्रेमसागर जैन

पं० चैनसुखदासजी ने यदि एक ओर धार्मिक ग्रन्थों का तलस्पर्शी अध्ययन किया तो दूसरी मनन और चिन्तन से उसके मर्म को भी समझा। ग्रन्थ पढ़-पढ़ कर पण्डित बनना आसान है किन्तु उसके मर्म का साक्षात् कर लेना उतना ही कठिन है। ऐसा बिरले ही कर पाते है। पण्डितजी उनमे से एक थे। इसी कारण मैं उनको ज्ञानी कहता हू। उनके जीवन का प्रत्येक पहलू इस ज्ञान से प्रभावित रहा। शायद यही कारण था कि उन्होने एक शानदार जिन्दगी एवं जीवन बिताया–गौरव और स्वाभिमान के साथ। आज वह नही है, किन्तु जीने का एक ढग दे गये है, जिसे हम चाहे तो अपना सकते है।

पण्डित जी सीधा देखते थे तो सही देख पाते थे। उन्होने न कभी टेढा देखा और न गलत देख सके। उन्हें देखने का यह तरीका जैन शास्त्रों से प्राप्त हुआ था। गाधी जी का भी यही ढग था। उन्हें भी जैन माध्यम से मिला था। अन्तर इतना ही था कि गाधी जी ने उसे राजनीति के व्यापक क्षेत्र मे अपनाया, वहा पडित जी समाज तक ही सीमित रहे। ढंग दोनो का एक था। इसी कारण दोनों को सफलता मिली। मुझे दु:ख है कि आज जैन लोग उस ढग को नही अपना रहे है। यदि अपना पाये तो उनके प्रति जो व्याप्त उपेक्षा है, दूर हो जाये।

आत्मबल के धनी

हर बात को सीधे देखने की नजर अहिंसा और प्रेम से मिलती है। आज जैन समाज के बडे बडे विद्वान् अहिंसा पर साधिकार बोलते है, किन्तु वे उसे अपने जीवन मे एक तिनके के बराबर भी नही उतार पाते। पंडित चैनसुखदासजी उसके प्रतीक ही थे। जो उनके पास गया, उनका हो गया। एक अपग, अशक्त, सूक्ष्म से व्यक्ति, किन्तु आत्मबल के धनी। उन्होंने अपने स्व को विस्तार दिया था। एक बार जयपुर पहुच गया। जान न पहचान। पण्डितजी का जो स्नेह मिला आज भी अमृत की बूंदों की तरह सहेजे हूं। दूसरों को प्रेम वही दे पाता है, जो भेद-विभेद से ऊपर उठा हो, जिसने अपने पराये का अन्तर मिटाया है। ऐसा व्यक्ति ही सच्चा अहिंसक होता है। प्रेम के बिना अहिंसा एक संकीर्ण-सी चुभती चली जाती है। उसका कोई मूल्य नही। वह अहिंसा है ही नही।

निर्भीकता

निर्भीकता सम्यक्त्व का पहला गुण है। हर कोई सम्यक्त्व की बात करता है, किन्तु छोटासा भय भी दूर नही कर पाता। भय दूर होता है स्वार्थ-त्याग से और हम स्वार्थ कहां छोड पाते हैं। इसी कारण निर्भीक नही बन पाते। पडित जी में निर्भीकता थी, ऐसा मैं समझ सका हू। वह जैन ग्रन्थो के सतत अध्ययन और मनन से आई थी। मनन के पीछे भी शोध-खोज की सुपुष्ट भूमिका थी। बिना उसके, ग्रन्थों से असली तत्व पा लेना आसान नहीं है। काल की मोटी तहों ने, विविध सस्कृतियो के आदान-प्रदान ने और मध्यकालीन अनेक बाह्याडम्बरो के प्रभाव ने उसे दबा कर रख दिया है। उसकी असलियत मालूम करने के लिये एक तेज आंख की जरूरत है। ऐसी आंख जो मोटी परतो के भीतर तक देख सके। प० चैनसुखदास जी देख पाते थे। वे केवल इस पर विश्वास नही करते थे कि जो कुछ लिखा रखा है, वह सब भगवान की दिव्यध्वनि से नि:सृत हुआ था। यह सत्य है कि तीर्थंकर की मूलवाणी में बहुत कुछ मिलावट हुई,

था उसका भिन्न प्रकार से विश्लेषण किया गया। आज उसका जो रूप प्राप्त है, उसको छांट-फटक कर वास्तविकता मालूम करना आवश्यक है। कुछ लोग, जो कुछ जब कभी लिखा गया, सही मानते हैं। मैं चाहूंगा कि वे भी अपनी दृष्टि शोध-परक तो रक्खें ही। मेरा उद्देश्य यह नहीं है कि वे अपना श्रद्धान त्याग दें। श्रद्धा रक्खें, गाढ श्रद्धा रक्खें, किन्तु उसे अन्ध न बनने दें। पं० चैनसुखदास जी सुश्रद्धानी थे। उन्होंने कभी अन्ध श्रद्धा नहीं सहेजी। इसी कारण अन्य लोगो से वे ऊपर उठे हुए थे। और इसी कारण उन्हें समझने मे यदा-कदा भूल हुई है।

सहृदय

वे आदमी थे और उनमें भी दिल था। उन्होने दर्शन के ग्रन्थो का अध्ययन किया था, किन्तु अनुभूतियों को प्रमुखता दी। वे सहृदय थे। उन्हे जितना आनन्द दार्शनिक ग्रन्थो मे आता था, उतना ही काव्य कृतियों मे भी। इसी कारण वे सदैव तटस्थ रहे। निष्पक्षता उनका गुण था। सन्तुलन ही उनका जीवन था। उनका प्रत्येक कार्य विवेकपूर्ण और सन्तुलित होता था और यही कारण था कि उनका दिल कभी भी, किसी के प्रति कलुष को स्थान नही दे सका। उन्होंने कलुष के ऊपर ग्रन्थों के ज्ञान का आवरण कभी नही चढ़ाया। वे ज्ञानी बने साफ दिल के साथ। मुझे उनकी यह बात भाती थी।

यह सुख का विषय है कि उन्होंने एक युवा जैन साधु को अपनी दृष्टि समझा ही नहीं दी थीं, अपितु उसकी अनुभूतियों को भी उसी दिशा में मोड़ दिया था। १०८ मुनिश्री विद्यानन्द जी के प्रवचनों में आज वही दृष्टिकोण पग-पग पर प्रशस्त किया जा रहा है। अपार जन समूह—जैन हो या अजैन उनकी वाणी सुनने के लिए आतुर रहता है। क्योंकि भेद-विभेद से ऊपर उठकर वे सही धर्म समझा पाते हैं। यही कारण था कि हिमवान के उत्तुंग शिखरों पर, जटा जूट धारी वैदिक साधुओं ने भी उनका सम्मान किया। उनके प्रवचन कुछ नहीं, जैन धर्म का विश्लेषण-भर है, किन्तु एक सही व्यापक और मधुर दृष्टिकोण के साथ। वे विरोध की बात करते ही नही, फिर उनसे किसको विरोध होगा। मुनिश्री को इस दिशा मे मोड देना ही मैं पंडित चैनसुखदास की सबसे बडी विशेषता मानता हूं।

———

(शेष पृष्ठ ५२ का)

सच्चा स्वरूप था सत्य तो यह है कि वे जीवन पर्यन्त शिक्षक ही रहे। वो आदर्श शिक्षक जो जीवन की शिक्षा देता है और सघर्ष का दृढ़ता मे सामना करते हुए आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। उनकी कक्षा मे रहने वाला हर छात्र उनके जीवन से ही सम्पूर्ण शिक्षा ग्रहण कर सकता था। पंडित जी स्वय मे एक सस्था थे, और परम्परागत संस्कृत शिक्षा प्रणाली को जीवित रखते हुए उन्होने संस्कृत शिक्षा की अभूतपूर्व सेवा की है।

पंडित जी आज हमारे बीच नहीं हैं ऐसा कह कर हम उनके भौतिक शरीर का अभाव भले ही स्वीकार कर लें— किन्तु शिक्षक, सम्पादक, कवि, साहित्यकार पंडित चैनसुखदास जी सबके बीच हैं और आने वाले युगों में रहेंगे।

मैं चाहूगा कि, उनके शिष्य उनके इस जीवन दृष्टिकोण को अपनायें और समाज में फैलायें। यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

———

जयपुर के धीमान ! चैनसुखदास तुम्हारी जय हो

सुषेश जैन नागौद

'जयपुर' के धीमान। चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।
हे अनुपम मतिमान। चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।।

तुमसे सूना 'जयपुर' अब पर यश तन अमर हुआ है।
और तुम्हारे कारण विश्रुत 'जयपुर' नगर हुआ है।।
जगा तुम्हारे प्रति आदर है, हर प्रबुद्ध के उर मे।
जो तुम पर श्रद्धालु न ऐसा कौन जैन 'जयपुर' में।।
हे सम्मानित विद्वान् चैनसुखदास। तुम्हारी जय हो।
'जयपुर' के धीमान चैनसुखदास। तुम्हारी जय हो।।१।।

तुम शिक्षक, साहित्यकार थे, पत्रकार थे, कवि थे।
जो अज्ञान-तिमिर हरने को ज्ञान ज्योतिमय रवि थे।।
तुमने शोध-खोज के कार्यों को सदैव नव गति दी।
'महावीर' जी क्षेत्र समिति को तुमने नव सम्मति दी।।
मूर्तिमान सद्ज्ञान चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।
जयपुर के धीमान् चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।।२।।

जाने कितने श्रेष्ठ गुणों का तुममे रहा समागम।
औ कण्ठस्थ तुम्हें था प्राय. सारा प्रमुख जिनागम।।
विद्यामृत के कोष। वस्तुत, तुम थे विद्यासागर।
विद्यार्थी तव तट पर आकर भरते थे निज गागर।।
शिक्षा के सोपान, चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।
जयपुर के धीमान चैनमुखदास तुम्हारी जय हो।।३।।

युग युग तक भी अमर रहेगी तव गौरवमय गाथा।
ओ तव पद युग पर नत होगा भावी-युग का माथा।।
प्राप्त जिन्हें भी तो होगा तब सत्कार्यों का परिचय।
वे कृतज्ञतापूर्वक तुमको नमन करेंगे सविनय।।
शिष्यों के भगवान चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।
जयपुर के धीमान चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।।४।।

जहां चैनसुख हो ओ तुम अब वही चैनसुख पाओ।
कवि की यही कामना है तुम दिवस रैन सुख पाओ।।
तव जीवन से नयी प्रेरणा मिले सदा जन-जन को।
तथा मिले प्रोत्साहन आगम के अध्ययन मनन को।।
निर्मल सम्यग्ज्ञान चैनसुखदास। तुम्हारी जय हो।
'जयपुर' के धीमान चैनसुखदास। तुम्हारी जय हो।।५।।

एक दार्शनिक विभूति

पं० गोविन्द नारायण शर्मा न्यायचार्य

प० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ उन गुणग्राही व्यक्तियो मे से थे, जिन्होने अपना समूचा जीवन, सासारिक असारता को समझते हुए पर-हिताय लगा दिया। वे इस ससार मे रहते हुए भी अपने को अन्तरग मे सबसे विलग समझते थे। पर ऐसा समझ कर समाज से उन्होंने कभी पलायन नहीं किया। इस दृष्टि से उनका जीवन जल मे कमल सदृश था। इस भेद-ज्ञान को वे भली-भाति जानते थे और उसे अपने जीवन मे उतार कर अपने सम्पर्क मे आने वाले को भी बोधित करते थे। उनका यह दार्शनिक सिद्धान्त बडा अनूठा था।

प्रकांड विद्वान्

आधुनिक भारतीय दार्शनिक विद्वानो मे उनका स्थान स्मरणीय है। जैन दर्शन के तो वे प्रकाड विद्वान् थे। उनका समूचा जीवन ही दर्शन का जीता-जागता उदाहरण था। उनके दर्शन सम्बन्धी अनेको लेख भारतीय पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हुए और आधुनिक दार्शनिक जीवन के सन्दर्भ मे उनसे पाठको को मौलिक एव नवीन चिन्तन प्राप्त होता रहा। अब वे लेख इस राष्ट्र और संस्कृति की सम्पत्ति बन गये है। उनकी एक पुस्तक 'जैन दर्शन सार' राजस्थान विश्वविद्यालय के एम०ए० (सस्कृत) के पाठ्यक्रम मे चलती हे। यह पुस्तक जैन दर्शन पर सक्षिप्त एव सारभूत सामग्री पाठको को देती है। वर्तमान मे इस पुस्तक ने भारतीय दर्शन जगत् में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान पा लिया है। वस्तुतः उनकी यह मौलिक कृति अनूठी सिद्ध हुई है।

उनकी दूसरी पुस्तक 'अर्हत प्रवचन' उदयपुर विश्वविद्यालय के एम०ए० पाठ्यक्रम मे निर्धारित है। इसमे जैन दर्शन से सम्बन्धित प्राकृत गाथाओं का सुन्दर एव सुव्यवस्थित सम्पादन किया गया है।

'प्रवचन प्रकाश' उनकी अन्तिम सम्पादित कृति है। जिसमे उन्होने सस्कृत जैनाचार्यों की विविध विषयक सूक्तियो का सकलन किया है। यह एकत्र सकलन शोध की दृष्टि से एक बडी आवश्यकता की पूर्ति करता है। इसके अतिरिक्त उन्होने भावना-विवेक, पावन-प्रवाह एव नय-चक्र आदि की भी रचना कर साहित्य जगत् को गौरवान्वित किया है। 'वीरवाणी' मे उनकी सम्पादकीय टिप्पणिया साहित्य-जगत् मे सामान्य पाठक से लेकर शोधार्थियो तक को विविध निबन्धो पर सामग्री प्रदान करती है।

संस्कृत के विद्वानों में अग्रणी

सस्कृत जगत् मे उनकी सेवाए चिरस्मरणीय रहेगी। सस्कृत के पठन-पाठन के लिये वे सामयिक परिस्थितियो के सन्दर्भ मे इसकी अनिवार्यता को अनुभव करते थे। सस्कृत के प्रति उनका प्रगाढ़ स्नेह था। राजस्थान के आधुनिक सस्कृत के विद्वानो मे ये अग्रणी थे। राजस्थान संस्कृत सलाहकार मण्डल के वे पदेन सदस्य थे। जैन सस्कृत कॉलेज के गत ४०वर्षों तक अध्यक्ष रह कर उन्होने कई शिष्यो का निर्माण किया जो आज विविध क्षेत्रों

(शेष पृष्ठ ६४ पर)

एक अविस्मरणीय प्रसंग

□ डा० दरबारीलाल कोठिया, वाराणसी

स्व० प० चैनसुखदास जी समाज के उन मूर्धन्य और सेवाभावी विद्वानो मे से एक थे, जिन पर समाज को गर्व है। उनकी सामाजिक और साहित्यिक सेवाएं उल्लेखनीय एव सदा अविस्मरणीय है। यद्यपि उनका कार्य-क्षेत्र सामाजिक दृष्टि से जयपुर ही रहा और जितनी प्रवृत्तिया उनके द्वारा चलायी गयी उनका केन्द्र भी प्राय जयपुर रहा, पर बौद्धिक सेवा की दृष्टि से उनका सेवा क्षेत्र जयपुर से आगे बढ कर समग्र भारत रहा। यह नही कि उनकी कोई प्रवृति जयपुर मे ही अवरूद्ध रही हो। सूर्य किरणो की तरह उनकी प्रवृत्तियो का प्रकाश सब जगह पहुचा। उनके ज्ञान और विचारो का प्रसार उनकी 'जैनदर्शन सार' 'अर्हत्प्रवचन' आदि ज्ञान-पूर्ण कृतियो तथा पाक्षिक 'वीरवाणी' पत्रिका द्वारा सर्वत्र हुआ है। जो पाठक उनकी कृतियो और 'वीरवाणी' पत्रिका के अध्येता होगे, वे सहज ही जान सकते है कि उनकी विचारधारा कितनी तथ्यपूर्ण, उदार और प्रभावयुक्त थी।

उन्होने ऐसे ज्योतिर्धरों का सर्जन किया है, जो ज्ञान ज्योति सदा प्रज्वलित करते रहेगें। वे सभी वाङ्मय के सतत् प्रकाशक एवं कर्मण्यता के ज्वलन्त प्रतीक है। ऐसे कर्मण्य और योग्य शिष्यो की परम्परा कम विद्वानो की मिलेगी।

स्व० पण्डित जी विद्वान् तो थे ही, वे सहृदय और उच्चकोटि के मनुष्य भी थे। जान-अनजान मे हुयी अपनी भूल को स्वीकार करने वाले बहुत कम लोग होते है। पर पंडित जी ऐसी भूल को स्वीकार ही नही कर लेते थे, अपितु उस पर खिन्नता भी व्यक्त करते थे। एक घटना उनसे ऐसी हो गयी जिसका सम्बन्ध हम से था। जब उन्हें तथ्य ज्ञात हुआ तो उन्होने प० राजेन्द्रकुमार जी न्यायतीर्थ मथुरा से उसके लिए खेद प्रकट किया। बहुत वर्षों बाद जब मैं सपरिवार जयपुर गया और उनसे मिला तो उन्होने न केवल उस भूल का उल्लेख किया, किन्तु अपनी सहृदयता एवं आत्मीयता का व्यवहार किया। दूसरी बार जब मैं पुन. १९६४ के दिसम्बर मे स्व० डा० सम्पूर्णानन्द राज्यपाल राजस्थान की अध्यक्षता मे राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर मे आयोजित अखिल भारतीय दर्शन परिषद् मे अपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की ओर से जैन दर्शन मे सर्वज्ञता की सम्भावनाए विषय पर पेपर पढ़ने के लिए गया और आप से मिला तो आपने जिस आत्मीयता का प्रदर्शन किया वह मेरे मानस पर आज भी अकित है—उसे भुलाया नही जा सकता। वस्तुतः विद्वान् होना अन्य बात है और सहृदय एव उच्चकोटि का मनुष्य होना दूसरी बात है। ऐसे मनुष्यों की गणना देवत्व कोटि मे की गयी हैं।

मेरा ख्याल है कि प्रतिभामूर्ति प० टोडरमल के बाद इतना तथ्य पूर्ण विवेचक, निर्भीक और प्रभावशाली विद्वान जयपुर मे यदि कोई हुआ तो स्वर्गीय प० चैनसुखदास जी हुए, जिन्होने वाङ्मय के प्रति अनन्य निष्ठा एव आस्था रखते हुए सदा विवेक और तर्क से जैन तत्वों की विवेचना की और समाज को प्रबुद्ध किया।

ऐसे प्रबुद्ध, निर्भीक, लोकप्रिय विद्वान् के प्रति हम लोगो की यही श्रद्धाजलि होगी कि हम उनकी छोड़ी परम्परा को सुरक्षित ही नही आगे भी बढ़ाये।

★★★

पं० चैनसुखदास जी : एक संस्मरण

□ डा० पी० एल० भार्गव, जयपुर

पं० चैनसुखदास जी उन विरले व्यक्तियो मे थे जो प्रथम भेंट मे ही अपनी विनय, अपनी विद्वत्ता, अपने विचारों और अपने व्यवहार से मिलने वाले को मुग्ध कर लेते थे। मुझे पंडित जी से अनेक बार मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और प्रत्येक बार मैं उनके गुणों से अधिकाधिक प्रभावित हुआ। अनेक गुणो के बीच भी उनके तीन गुण विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

संस्कृत की प्रसिद्ध उक्ति 'विद्या विनयेन शोभते' यदि किसी पर पूर्ण रुप से घटित होती थी तो पं० चैनसुखदास जी पर। उनका प्रकाण्ड पांडित्य वास्तव मे विनय के संयोग से चमक उठा था। इसीलिए उनके सम्पर्क मे आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उनसे बात करने मे एक आध्यात्मिक सुख प्राप्त होता था। उनके मधुर व्यवहार के कारण ही उनकी विद्वत्ता इतनी प्रभावशालिनी हो सकी थी।

पंडित जी का दूसरा महान् गुण था उनका उदार सामाजिक दृष्टिकोण और उनकी तर्कसम्मत विचार पद्धति। जैनधर्म मे दृढ श्रद्धा रखते हुए भी अन्धविश्वास से वे कोसो दूर थे। समाज में प्रचलित कुरीतियों की वे बेझिझक निन्दा करते थे। धर्म और दर्शन के उन जैसे अधिकारी विद्वान के मुख से निकले हुए समाज सुधार सम्बन्धी विचारों का कितना प्रभाव होता था यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

पंडित जी का तीसरा गुण जिसका उल्लेख करना मैं आवश्यक समझता हूं, उनका आतिथ्य भाव था। भारतीय संस्कृति में आतिथ्य का जो महत्व है उसका साकार रूप उनके घर जाने पर दिखाई देता था। मैं एक बार अपने मित्र को लेकर उनके घर गया था। मेरे मित्र को अपने अनुसन्धान कार्य मे उनसे कुछ सहायता लेनी थी। पंडित जी ने बड़े प्रेम से मेरे मित्र की प्रार्थना सुन कर उनका मार्ग निर्देशन किया और भविष्य मे भी उनकी सहायता करने का वचन दिया। कार्य सम्पन्न हो जाने पर जब हमने उनसे विदा मागी तो पंडित जी बोले—ऐसा कैसे हो सकता है? बिना कुछ खाये पिये आप यहा से कैसे जा सकते है? यह कह कर आग्रहपूर्वक उन्होने हमे बिठाया और एक बालक को भेज कर जयपुर का प्रसिद्ध कलाकन्द मगाया। जब हमने वह स्वादिष्ट कलाकन्द खा लिया तभी उन्होंने हमे जाने की अनुमति दी।

पंडित जी निस्सन्देह हमारे नगर की विभूति थे। उनके देहावसान से जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है।

सच्ची श्रद्धांजलि

□ पं बंशीधर शास्त्री,

वह दिन मुझे अभी तक याद है जब मेरे स्व० पू० बाबाजी श्री छोगालाल जी २२ वर्ष पूर्व पंडित चैनसुखदास जी के पास ले गये थे। मैं काव्य मध्यमा एवं हिन्दी प्रभाकर की परीक्षा देने वाला था, आगे क्या पाठ्यक्रम हो इसलिए मुझे उनके पास ले गये थे। उन्होंने मुझ जैसे अपरिचित किशोर के साथ भी ऐसे स्नेह से बात की कि मैं भाव विभोर हो गया। उन्होंने मुझे न्याय लेने को कहा, मैंने कहा कि किशनगढ़ (रेनवाल) मे जहां मैं पढ़ता था न्याय के अध्यापन का प्रबन्ध नही है, इसलिए न्याय का अध्ययन सम्भव नही होगा। उन्होंने मुझे लेख वगैरह लिखने की भी प्रेरणा दी। मैंने सर्वप्रथम खण्डेलवाल जाति के गोत्रों के सम्बन्ध मे एक लेख लिखा जिसे उन्होंने "वीरवाणी" मे अविकल रूप से छाप दिया, इससे मेरा लिखने के प्रति उत्साह बढ़ा।

मैं सन् १९४८ मे जयपुर रह कर अध्ययन करने लगा तब उनसे बराबर सम्पर्क रहा। मैंने देखा कि वे सभी विद्यार्थियो से समान रूप से स्नेह करते थे। वे विद्यार्थी को ज्ञान एवं चारित्र के विकास के लिए अधिक जोर देते थे। अध्ययनशील विद्यार्थियो के प्रति उन्हे विशेष प्रेम रहता था। वे उन्हे उच्च कोटि का साहित्य पढने, समाचार-पत्र पढने एव लेख लिखने की बराबर प्रेरणा देते थे।

वे समाज की अविवेकपूर्ण रूढियो कुरीतियों को समाज के लिए अत्यन्त हानिकार समझते थे। अतः इनके विरोध मे वे हमेशा तैयार रहते थे। वे सत्-श्रद्धा विवेक के साथ निर्मल चरित्र मे विश्वास करते थे किन्तु उन्होंने चरित्र के नाम पर ढोंग का कभी समर्थन नही किया इसी कारण वे कुछ व्यक्तियों के कोपभाजन भी बने रहे किन्तु उन्होंने कभी ऐसे कोप की परवाह नही की।

उनकी मृत्यु से २ माह पूर्व मैं उनसे मिला था। तब उन्होंने पद्मपुरा मे होने वाली पंचकल्याणक प्रतिष्ठा की स्पष्ट शब्दो मे अनावश्यकता बताते हुए असहमति प्रकट की थी। इस असहमति को प्रकट रूप देने के लिए उन्होंने पद्मपुरा तीर्थ क्षेत्र कमेटी से त्याग पत्र दिया था। जब उनके त्याग पत्र का मेला के निर्णय पर कोई असर नही पड़ा तब उन्हो ने मुझे लिखा "मैंने क्षेत्र कमेटी से त्याग पत्र दे दिया किन्तु प्रतिष्ठा होगी ही। इसको रोकने के लिए जबरदस्त क्रांति की आवश्यकता है"।

●●●

स्मृतियों के दर्पण में : पण्डित जी

☐ डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

गौर वर्ण, मध्यम आकार और दुबली-पतली काया मे समाविष्ट पंडित जी का व्यक्तित्व बाह्य मे जितना सुकुमार, सहज और साधारण था अन्तरग मे उतना ही कठोर, गम्भीर और असाधारण था। ज्ञान की गरिमा से मण्डित होने पर भी वे सरल और विनम्र थे। स्वाभिमान तो उनमे कूट-कूट कर भरा था। और यह एक ऐसा गुण था, जिसके कारण वे इतर पण्डितो से भिन्न थे। उनके व्यवहार मे जहा एक ओर सरलता थी वही अनुशासन मे वे अत्यन्त कठोर थे। वे सबके लिए सुलभ होने पर भी इस एक गुण के कारण अलङ्घ्य और दुर्लभ थे। इसलिये जैन समाज मे उत्पन्न होने के कारण समाज उन्हे नही पहचान सकी और न उनके हार्द के अनुसार विशेष योग दे सकी।

मैं जब भी पण्डित जी की आकृति को अपने सामने छायावत् देखता हूं तो मेरे स्मृति-पटल पर उक्त रेखाए एक साथ उभर आती हैं। मैं सोचने लगता हूं कि पण्डित जी मुझे कितना चाहते थे, क्यो? क्या मैं उनके गाव का था। या हू, क्या उनके प्रान्त का था या हू, क्या उनसे अध्ययन किया था, क्या अन्य प्रकार से—शिक्षा पाई, क्या किसी साहित्य-लेखन मे वे मेरे पथ-प्रदर्शक थे? इन सभी का उत्तर नहीं है। और मैं उन्हें किस श्रद्धा की दृष्टि से देखता रहा हूं, यह कोई लिखने की बात नही है। किन्तु मुझे कारण बताने मे किसी प्रकार की हिचकिचाहट नही है। क्योंकि मैं मानता हू कि जैन समाज मे विद्वान् बहुत हैं और सम्भवतः एक से एक बढ़कर भी है; परन्तु पण्डित जी जैसा कोई पण्डित नही है।

भविष्य दृष्टा

उनके जीवन की जो स्मृतिया मेरे अन्तर्मन से जुडी हुई है वे मानो श्रद्धा की पुंज है। उनके आलोक मे मुझे अतीत और वर्तमान ही नही भविष्य की रेखायें भी स्पष्ट झलकती हुई लक्षित होती है। वे भविष्यद्दृष्टा थे। और इसलिए समाज मे प्राचीन तथा आधुनिक पीढियो एव विद्वत्परिताओ के मध्य ऐसे सेतु थे, जिसका आलम्बन लेकर समाज की विभिन्न समस्याओ का निराकरण हो सकता था किन्तु दुर्भाग्य से आज वे हमारे बीच नही है। और जब थे तब हम व्यर्थ की बातो मे उलझे रहे। काश। आज हमारे बीच होते।

एकता के हामी

मैं जहा तक पण्डित जी को समझ सका हू उनके भीतर एक तडप थी और वे हृदय से चाहते थे कि उनके जीवन काल मे ही समाज एक और तेजस्वी बने।

समाज के तथा विशेषकर राजस्थान एव जयपुर के विभिन्न सास्कृतिक एव सामाजिक कार्यों मे पण्डित जी का प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग रहता था। कई महत्त्वपूर्ण कार्य आपके बिना सम्पन्न ही नही हो सकते थे। ऐसे महान् शिक्षा-शास्त्री तथा आदरणीय पण्डित जी को विनीत भाव से श्रद्धाजलिया समर्पित करता हू और आशा करता हू कि जैन समाज उनके अधूरे स्वप्नो तथा आदर्शो को एक साथ प्रेम मे मिल कर सम्पन्न करने मे सहयोग देगी।

प्रौढ विद्वान्

☐ सर सेठ भागचन्द सोनी, अजमेर

पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ समाज के उन शिरोमणि विद्वानो मे से थे जिन्होने समाज के निर्माण मे उल्लेखनीय सहयोग प्रदान किया है। पडित जी साहब की सेवाएं समाज के सीमित क्षेत्र मे ही नही रही अपितु उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन धर्म, समाज तथा देश सेवामय बना लिया था। जयपुर के साथ उनका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध था, वहा उनका प्रत्येक क्षेत्र मे सदैव अग्रणी स्थान रहा।

पंडित जी दिगम्बर जैन सस्कृत कालेज के एक मात्र उन्नायक थे। कालेज के माध्यम से शिक्षा जगत को उनकी सदैव अविस्मरणीय सेवाए प्राप्त हुई। यही कारण है कि कुशल शिक्षा शास्त्री के रूप मे राष्ट्रपति पुरस्कार से समादृत होने वाले समाज मे वे प्रथम प्रज्ञापुरुष थे।

प्रभावशाली व्यक्तित्व

विद्वानो के जन्मदाता पडित जी के मार्गदर्शन मे अनेक अनुसधित्सुओं ने पी० एच० डी० आदि की उपाधिया प्राप्त की। अनुसधान तथा प्राचीन वाङ्मय के शोध खोज की दिशा मे आपकी रुचिपूर्ण अनेक उपलब्धिया रही। श्री महावीर जी क्षेत्र के अन्तर्गत शोध विभाग का प्रारम्भ आपकी ही सफल प्रेरणा से हुआ। आपकी अनेक मौलिक कृतिया भी इस दिशा में समाज की धरोहर हैं।

पडित जी का व्यक्तित्व प्रभावशाली तथा वाणी ओजस्वी थी। वे निर्भिक वक्ता, मनीषी, साहित्यकार, कुशल पत्रकार, सुयोग्य सम्पादक, कर्मठ अध्यापक तथा सफल शिक्षा शास्त्री के रूप मे सदैव अविस्मरणीय रहेगे। एक ओर जहां शिक्षा जगत उनकी अनुपम सेवाओ के लिये स्मरण करेगा वही दूसरी ओर समाज उनको कुशल उपदेष्टा तथा मार्गदर्शक के रूप मे विस्मृत न कर सकेगा। पाक्षिक पत्रिका 'वीरवाणी' के माध्यम से २१ वर्ष तक अपने समाज को अनवरत मार्गदर्शन प्रदान किया। उनकी लेखन शैली प्रभावक एव सशक्त तथा सम्पादकीय सामयिक, निर्भीक एव प्रेरक होते थे।

दिवगत पंडित जी का निधन समाज की अपूरणीय क्षति है। मैं अपने हार्दिक श्रद्धा-सुमन स्वर्गीय आत्मा को समर्पित करता हू तथा विश्वास करता हूँ कि समाज उनके कृतित्व से प्रेरणा प्राप्त करेगा।

एक संस्था,

एक तीर्थ

★ डा गोकुलचन्द्र जैन, वाराणसी

पण्डित चैनसुखदास जी का जीवन तीर्थ सा पावन और फूल–सा कोमल था। वे अकेले एक बडी सस्था के बराबर थे । उनके व्यक्तित्व मे एक चुम्बकीय आकर्षण और सग्राहकता थी जिसके कारण उनके सम्पर्क मे आने वाला हर व्यक्ति उनका अपना हो जाता था। उनकी आत्मीयता और निश्छल वाणी का जादुई असर होता था। यही कारण था कि उनके यश का सौरभ जयपुर और राजस्थान की परिधि से पार दूर दूर तक फैल गया था।

मैं पडित जी से फरवरी १६६५ मे पहली बार मिला था, पर पत्र व्यवहार द्वारा जो सम्पर्क था उसके कारण मुझे तनिक भी ऐसा नही लगा कि पहली बार मिल रहा होऊं। थोड़े ही दिन पहले उन्होने 'वीरवाणी" मे मेरे द्वारा सम्पादित 'सत्य शासन–परीक्षा' की समीक्षा की थी। जैन न्याय उनका प्रिय विषय था, इसलिए उनको पुस्तक बहुत रूची थी। उसकी लम्बी प्रस्तावना और सम्पादन पद्धति से वे काफी प्रभावित हुए थे। जब मैं उनसे मिला तो उनका स्नेह इसलिए और अधिक उमड आया कि मैं उनकी परिकल्पना मे कम उम्र का था।

जयपुर मे दो दिन रुका था। पडित जी के साथ अनेक महत्वपूर्ण विषयो पर चर्चा हुई थी। श्री महावीर जी क्षेत्र द्वारा सचालित साहित्य शोध विभाग के कार्य आदि के विषय मे विस्तार से चर्चा हुई थी। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि साहित्य शोध विभाग का एक अच्छे अनुसधान सस्थान के रूप मे विकास किया जाये। जैन वाङ्मय और संस्कृति के अनुसधान और प्रचार–प्रसार के लिए उनके मन की आतुरता को मैंने अनुभव किया। उनके चले जाने से एक अपूरणीय क्षति हुई है।

———

आजीवन स्मरणीय

★ प्रो० अमृतलाल जैन दर्शनाचार्य, वाराणसी

श्रद्धेय कविरत्न प० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, अध्यक्ष जैन कालेज, जयपुर का नाम प्रथमत: मुझे मासिक पत्र 'जैन दर्शन' से ज्ञात हुआ था, जिसके आप प्रधान सम्पादक थे। उसमें प्रकाशित भावपूर्ण हिन्दी संस्कृत कविताओं और विद्वतापूर्ण लेखों के जो आपकी लेखनी से अनुस्युत रहते थे, अध्ययन ने मेरे हृदय मे आपके प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर दी। न केवल विशिष्ट छात्र, बल्कि वरिष्ठ अध्यापक भी समय समय पर आपके लेखो व कविताओं की मुक्त-कण्ठ से प्रशसा किया करते थे। फलत आपके दर्शनो की अभिलाषा हुई। सोचता रहा जैन समाज मे अन्य विद्वानो की भांति कभी आप भी काशी पधारेंगे तो अनायास ही अभिलाषा की पूर्ति हो जायगी, पर ऐसा न हो सकेगा।

जहा तक स्मरण है सन् १६५७ मे ग्रीष्मावकश के समय मुझे केकडी जाना पडा। वहाँ भी श्रीमान् पं० मिलापचन्द्र जी कटारिया आदि प्रखर समालोचक विशिष्ट विद्वानो से आप के वैदुष्यकी भूरी-भूरी प्रशसा सुनी। विचार किया कि लौटते समय आपके दर्शन अवश्य करूंगा।

सम्भवत: २० जून १६५७ को जयपुर पहुंचा। एक जैनेतर धर्मशाला मे सामान रख कर आपके पास गया। उस समय आप कुछ जिज्ञासु ज्ञान पिपासु सज्जनों को पाणिनीय व्याकरण पढा रहे थे, यद्यपि ग्रीष्मावकाश के कारण कालेज बन्द था। मिलते ही आपने पूछा—सामान कहां है ? मैंने कहा धर्मशाला में। तुरन्त ही उन्होंने वहां से सामान मंगवा लिया और अपने पास जैन कालेज में ही ठहरा लिया, जहां वे चौबीसो घण्टे रहा करते थे। आप केवल भोजन के लिए हि प्रतिदिन दो बार घर जाते थे। मुझे भी वे प्रतिदिन दोनो समय भोजन कराने के लिए अपने ही घर लिवा जाते थे।

मुझे 'नेमिनिर्वाणम्' महाकाव्य के कुछ संदिग्ध स्थलो का मिलान करने के लिए प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों की आवश्यकता थी। आपने अपने स्थानीय शास्त्र भण्डारों से उन्हें शीघ्र ही मंगवा दिया। उन्हीं के कमरे में बैठकर मैं एक सप्ताह तक प्रतियों का मिलान करता रहा और वे अपने कार्यो में व्यस्त रहे।

मैं एक सप्ताह पास में रह कर अपना जो अध्ययन किया उसके आधार पर यह समझा कि आप अनुपम आदर्श विद्वान् हैं। असाधारण अनेक विशेषताओं के कारण आप आजीवन स्मरणीय हैं।

● ● ●

बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व

☐ डा० कैलाशचन्द्र जैन, उज्जैन

पंडित चैनसुखदास जी से मेरा विशेष सम्पर्क १९५३ ई० से हुआ जब मैं पटना से प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति मे एम० ए० करके जयपुर लौटा था। उन्होंने मुझे 'राजस्थान मे जैन धर्म' पर शोध करने के लिये प्रेरित किया। इस विषय को पूरा करने के पश्चात् डी० लिट् के विषय 'राजस्थान के प्राचीन नगर और उनकी संस्कृति' पर लिखने को वे लगातार प्रोत्साहन देते रहे। उनकी हमेशा यह कामना रहती थी कि मुझे शोध कार्य में अधिक से अधिक सफलता मिले। वे इसके लिये सब प्रकार की सहायता देने को तैयार रहते थे।

मुझे जयपुर मे शोध कार्य हेतु बहुत लम्बे समय तक संस्कृत कालेज मे पण्डित जी के साथ रहना पड़ा। मैंने बारीकी से उनके व्यक्तित्व को परखा। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न था। वे एक आदर्श गुरु, विद्वान्, लेखक, ओजस्वी वक्ता, समाज सुधारक तथा कुशल नेता थे। ऐसा व्यक्ति अब सम्पूर्ण जैन समाज मे देखने को नहीं मिलता। ●●●

(शेष पृष्ठ ५६ का)

मे कार्य कर रहे हैं। वस्तुतः वे एक आदर्श अध्यापक थे। प्रातःकाल से लेकर रात्रि शयन-समय तक उनकी समूची दिनचर्या अध्ययन अध्यापन मे ही व्यतीत होती थी। उनके इन्ही कार्य-व्यापारो से प्रभावित होकर सन् १९६७ मे राजस्थान से एक मात्र श्रेय संस्कृत अध्यापक के रूप मे भारत सरकार ने उन्हे अध्यापक-दिवस पर पुरस्कृत किया।

राजस्थान संस्कृत सलाहकार मण्डल की मीटिंग मे उनके कई बार दर्शन हो जाया करते थे। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनके इस ससार से चले जाने से दर्शन एवं संस्कृत दोनो क्षेत्रो मे एक ऐसी क्षति हुई है, जो आगामी कई वर्षों तक पूरी नही हो सकती। अस्तु, आज वे भले ही भौतिक शरीर से इस ससार मे न हो, पर अपनी कृतियो से सदैव अमर रहेगे और हमारा मार्ग दर्शन करते रहेगे। हमारी सच्ची श्रद्धांजलि इसी मे है कि उनके बताये गये आदर्शों को हम अपने जीवन में उतार कर उनकी ही भांति स्व-पर हित मे लगे रहे। ●●●

मेरे जीवन निर्माता

सुरज्ञानीचन्द न्यायतीर्थ

पूज्य पंडितजी साहब का आशीर्वाद मुझे मेरे बचपन से ही मिलने लगा था। जब वे जयपुर आये तब मैंने महापाठशाला मे प्रवेश लिया ही था। धीरे-धीरे सम्पर्क मे आता गया और प्रवेशिका श्रेणी मे आने के पश्चात् तो मेरी गणना उनके प्रिय शिष्यो मे होने लगी। उन्होने मुझे न्यायतीर्थ की उपाधि परीक्षा दिलायी। मैं दिन में दुकान पर बैठता और प्रात एव रात्रि को उनके पास पढता पंडितजी के आशीर्वाद से मुझे न्यायतीर्थ मे प्रथमबार ही सफलता प्राप्त हुई उसके पश्चात् उनके स्नेह मे बराबर वृद्धि होती रही। और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे उनका मार्ग दर्शन मिलता रहा। मेरे लघु भ्राता चिरंजीलाल को उन्होने दर्शनाचार्य कराया। इस प्रकार हमारे पूरे परिवार पर उनकी असीम कृपा रही। जब कभी हमारे सामने कोई समस्या आती हम उनके पास चले जाते और अपनी पूरी राम कहानी सुना कर उनके मार्ग दर्शन की प्रतीक्षा करते और जैसा भी वे कहते उसी के अनुसार हम लोग बढते। मुझे सामाजिक क्षेत्र मे काम करने की प्रेरणा उन्होने ही दी और जब तक वे जीवित रहे मुझे बराबर किसी न किसी संस्था मे कार्य करने का अवसर देते रहे। साहित्य क्षेत्र मे कार्य करने के लिये भी वे बराबर प्रेरित किया करते। वास्तव मे वे मेरे जीवन निर्माता थे।

पंडित जी सा० मेरे गुरु थे यह मेरे लिये गौरव है। मै उनके सानिध्य मे कितने ही वर्षों तक रहा और जीवन निर्माण की मजिल को ओर बढता रहा। आज मैं जो कुछ हूँ वह सब उन्ही के आशीर्वाद का सुफल है। वे क्रान्तिकारी विद्वान् थे इसलिये देश एव समाज मे व्याप्त बुराइयो के विरुद्ध जीवन पर्यन्त सघर्ष करते रहे। उन जैसा कर्मठ नेता कभी कभी ही हुआ करते है। मैं अपनी अनन्त भावनाओ से उनके चरणो मे श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

कपूरचन्द पाटनी

श्री गजानन्द डेरोलिया

निर्धन के राम

जैन दर्शन केप्रकाण्ड पडित, वीरवाणी के सम्पादक तथा आदर्श अध्यापक श्रद्धेय पंडित चैनसुख दासजी के निधन के समाचार पढकर मै हतप्रभ रह गया । जीवन भर सामाजिक बुराइयो और अध विश्वास से सघर्ष करते रहने के कारण स्वर्गीय पंडितजी की काया वैसे ही कृशकाय थी, उसके उपरान्त घरेलू से भी अधिक वे सामाजिक समस्याओ के लिए चिन्तित रहते थे ।

पंडितजी जीवन ने भर अपने स्वय के लिए कुछ नही चाहा परन्तु प्राय सदा ही वे अभावग्रस्त लोगो के लिए सहायता की व्यवस्था करने मे व्यस्त रहते । अनेक निर्धन बालको की शिक्षा की व्यवस्था करके उन्हे पडित बनाया । उनके दर्जनो शिष्य डाक्टरेट पाकर आज साहित्य जगत मे सम्मान प्राप्त स्थानो पर है । वे स्वयं संस्थानो के निर्माता थे । उनके ही प्रयासो से भारत के प्रसिद्ध जैन तीर्थ श्री महावीरजी का प्रबन्ध समिति ने साहित्य शोध विभाग और छात्रवृत्ति कोष की स्थापना की । उनकी सतत प्रेरणा से राजस्थान के विभिन्न शास्त्र भडारो मे अस्त-व्यस्त पडा जैन साहित्य प्रकाश मे आ सका और उनकी विस्तृत सूचिया तैयार कराई गई ।

अनेक वर्षों से वे दिगम्बर जैन सस्कृत महाविद्यालय के आचार्य पद पर कार्य कर रहे थे और राष्ट्रपति द्वारा उन्हे आदर्श अध्यापक के रूप मे पुरस्कृत किया गया था । जयपुर जिले के भादवा नामक एक छोटे से ग्राम मे जन्मा यह वणिक् पुत्र कालान्तर मे उद्भट विद्वान प्रगतिशील विचारो का प्रतिनिधि विचारक बनकर सभी क्षेत्रों मे सम्मान प्राप्त करेगा इसकी किसी को कल्पना तक नही थी । अपने विचार प्रधान पाक्षिक पत्र "वीरवाणी" द्वारा वे सदा सामाजिक बुराइयो, अन्याय, भ्रष्टाचार तथा प्रगति विरोधी आचरण पर करारी चोट करते रहे । जयपुर मे उनके अनुयायियो, समर्थको और भक्तो की जोरदार पक्ति है । चुनावो के समय सभी राजनैतिक दलो के प्रतिनिधि उनका आर्शीवाद प्राप्त करने को लालायित रहते थे । उनकी लोकप्रियता और निष्पृहता का पता तो इसी से चलता है कि एक बार सभी राजनैतिक दलो के प्रतिनिधियो ने उन्हे सर्व सम्मति से संसद मे भेजने की पेशकश की थी जिसे पडितजी ने विनम्रता पूर्वक यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि मेरा स्थान तो साहित्य साधना मे ही है ।

जैन विद्वत् समाज मे वे प्रगतिशील विचारो के मुखिया माने जाते थे । एक पैर के पक्षाघात से ग्रस्त होने के उपरान्त भी पडितजी लेखन कार्य मे घोर परिश्रम करते थे । गणतंत्र दिवस के पावन दिन लगभग एक पखवाडे तक अस्वस्थता से जूझकर पंडितजी ने नश्वर शरीर का त्याग कर दिया । उसके कुछ दिन पूर्व ही उनके प्रशंसको ने उनकी रोग शैया के समीप हीं उनके ७०वें जन्म

(शेष पृष्ठ ७१ पर)

सनत्कुमार जैन

स्वनाम धन्य पूज्य पंडित साहब

पूज्य गुरुदेव कविरत्न पं० चैनसुखदास जी को दिवंगत हुए करीब ७-८ वर्ष होने को आये किन्तु ऐसा आभास होता है कि वे आज भी हमारे सामने मोजूद हैं और हमें कुछ आदेश दे रहे है। जिस समय वे जयपुर की दि० जैन महापाठशाला में पधारे उस समय मै प्रवेशिका मे पढता था। सम्भवत वह वर्ष सन् १९३१ था और मेरी आयु उस समय १४ वर्ष की थी। उस समय उपाध्याय परीक्षा मे सर्वार्थसिद्धि और न्याय सिद्धान्त मुक्तावली भी पढाई जाती थी। सर्वार्थसिद्धि आप हमे पढाया करते थे। तभी आप ने हम लोगो को कलकत्ता यूनिवर्सिटी की परीक्षाओ मे बिठाने का सिलसिला चालू किया और उसके परिणाम स्वरुप सर्वप्रथम न्यायतीर्थ परीक्षा पास करने का सौभाग्य प० भंवरलाल जी, प० मिलापचन्द जी और प० कैलाशचन्द जी को मिला। इसके बाद तो प्रतिवर्ष न्यायतीर्थ निकलते ही रहे। अभी हाल मे आपके दो प्रमुख शिष्य प० भवरलाल जी न्यायतीर्थ एवं डा० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल क्रमश. समाजरत्न एवं इतिहासरत्न की उपाधि से अलकृत किये जा चुके है।

आपके निधन से जो समाज की क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना असम्भव है। उनकी शिक्षाओ को यदि हम शताश मे भी अपने जीवन मे उतार सके तो उनकी आत्मा को असीम शान्ति होगी इसमे कोई सन्देह नही है।

(शेष पृष्ठ ६७ का)

दिन के अवसर पर उन्हें अभिनन्दन ग्रंथ तथा एक अच्छी राशि भेंट करने का सकल्प किया था। इस सम्मान को प्राप्त करने के लिए पडितजी जीवित नही रह सके। एक ज्ञान का पुंज बुझ गया।

स्पष्टवादिता स्वर्गीय पडितजी का विशेष गुण था जिसे उन्होने कभी नही त्यागा। जैन दर्शन का शोध सम्बन्धी उनका कार्य अभी चल रहा है। समाज सुधार की जो जागृति जयपुर जैन समाज मे आई थी पंडितजी के बिना उसका कार्य अपेक्षाकृत अधूरा रह गया है। उनके देहावसान पर हुई शोक सभाओ मे पडितजी का प्रेरणा योग्य स्मारक बनाने का निश्चय हुआ है। आडम्बरों से सदा ही दूर रहने वाले इस मूक और दृढ़ निश्चयी, समाज सेवी का स्मारक पत्थर का बुत नही बन कर जीता जागता विद्या मन्दिर, सस्कृति केन्द्र अथवा सरस्वती का आराधना स्थल बने जहां हर ज्ञान का प्यासा अपनी ज्ञान पिपासा को शात करने के लिए अनुकूल वातावरण, साधन और सुविधा प्राप्त कर सके तो यह निश्चय ही पडित जी के लिए सच्ची श्रद्धाजलि होगी।

वैद्य फूलचन्द जैन

युग निर्माता

पण्डितजी साहब समाज के गतिशील विद्वानो मे से एक थे। आप उच्चकोटि के लेखक, कुशल सम्पादक, विचारक, सफल साहित्यकार के साथ साथ निर्भीक वक्ता थे। आपके व्यक्तित्व मे एक अनूठी शक्ति थी। आपने अपने तेजस्वी पूर्ण भाषणो से एव मौलिक लेखो से समाज मे व्याप्त अंध विश्वास, कुरूतियो व शिथिलाचारो को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया। साथ ही युवको मे नवीन विचारो की क्रांति लाने का भी प्रयास किया।

युवक वर्ग आपकी विद्वता, सादगी से बहुत प्रभावित हुआ और कुछ ही समय मे आपका पुजारी बन गया। वर्तमान मे जो दिगम्बर जैन सस्कृत कालेज है वह पहिले जैन पाठशाला थी लेकिन इसको कालेज 'महाविद्यालय' बनाने का श्रेय श्रद्धेयवर को ही रहा। यह राजस्थान की शिक्षण सस्थाओ मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है तथा पण्डित साहब की प्राण है जिसे उन्होने अपनी मेहनत रूपी पसीनो से सींचा है। इसमे जैन दर्शन, साहित्य, सस्कृत, अंग्रेजी की शिक्षा दी जाती है। आपके स्नातको मे अनेक न्यायतीर्थ, शास्त्री व आचार्य है जो भारत भर मे यश प्राप्त कर रहे है।

पण्डितजी साहब की आयुर्वेद मे पूर्ण आस्था थी अत उन्होने सस्कृत विभाग के साथ आयुर्वेद विभाग की भी स्थापना करवाई जिसके परिणाम स्वरूप अनेक छात्रो ने उनकी छात्रावास में रहकर आयुर्वेद का अध्ययन किया।

बाहर से जितने छात्र छात्रावास मे आकर रहते उन सभी को पण्डितजी साहब इस प्रकार रखते थे जैसे कि उनको घर का सुख वही मिल पाया हो। वही उनका हरा भरा परिवार था जिसे वे सदैव सुखी देखना चाहते थे।

पण्डितजी साहब सर्वगुण सम्पन्न, शास्त्रो के ज्ञाता, निर्भीक वक्ता, कुशल लेखक, समालोचक, निष्पक्ष विचारक, सन्मार्ग प्रदर्शक, सधर्म प्रचारक, सुकवि, विद्वत्रत्न, सज्जनोत्तम, विद्यावारिधी, सच्चे साहित्य सेवी, कुशल अध्यापक, परोपकारी, हितोपदेशी, श्रेष्ठ विचारक, हृदय के उदार एवं निपुण सम्पादक थे।

सामाजिक शक्ति और शोभा के प्रतीक

डा० कपूरचन्द जैन

मैंने उनसे एक प्रसंग मे एक प्रश्न पूछा— "आप गाधीवादी विचारो के व्यक्ति है फिर सामाजिक दायरे से ऊपर क्यों नही उठते ?" उन्होने कहा प्रश्न तुम्हारा वजनदार है। गाधीवादी दृष्टि एक अच्छाई का नाम है। जैन धर्म मे अपरिग्रहवाद उससे ऊची और स्थायी व्यवस्था है। यदि मैं गाधीवादी हू तो इसका यह अर्थ तो नही है कि मै जैन धर्म से हट जाऊ। जैन धर्म गाधीवाद से अधिक व्यापक है जैन धर्म कतई साम्प्रदायिक नही है। सच तो यह है कि लोगो ने गलत समझा है। इसीलिए लोग सामाजिक कार्यकर्ता को सीमित दायरे का आदमी मान लेते है। मनुष्य को सेवा का काम अपने घर से ही शुरू करना चाहिए। धीरे-धीरे उसका क्षेत्र बढता जाता है फिर वही अखिल भारतीय स्तर का कार्यकर्ता हो जाता है। जैन धर्म को सीमित दायरे मे रखने की भूल हमें हमेशा दुख देने वाली साबित होगी। मेरी मशा यह है कि जैन धर्म की व्यापक और सर्वाधिक जानकारी के लिए हमारे विद्वानो को अनेक भाषाओं का विद्वान् होना चाहिये तभी वे प्रभावशाली ढग से धर्म के मर्म को लोगो तक पहुंचा सकते है।

मैं अनुभव करता हूं कि पंडितजी की मंशा यदि बहुभाषाविद विद्वानो के सृजन की पूरी होती है तब निश्चय ही जैन धर्म का उत्कर्ष और उसकी व्यापकता बढ़ने मे कोई सदेह नही है।

विशिष्ट व्यक्तित्व—

वे एक स्नेही पिता, कठोर अनुशासक तथा गरिमामय गुरू के रूप मे छात्रो के हृदय मे आजीवन प्रतिष्ठित रहे। निःसन्देह पडितजी के आचार-विचार और व्यवहार से सामाजिक शक्ति मे वृद्धि हुई और उनके हर कदम से समाज की शोभा बढी है।

दिशा-बोध—

वैसे तो समूचा देश ही पडितजी से उपकृत और अनुप्राणित हुआ है। राजस्थान के होते हुए भी उन्होने सभी प्रान्तो के विद्यार्थियो को न केवल दिशा-बोध ही दिया है बल्कि उन्हे आर्थिक सुविधाएं भी जुटाई है। उनके सहयोग का अवलम्ब पाकर कितने ही छात्र आज प्रतिष्ठित जीवन व्यतीत कर रहे है।

बुन्देल खंड के सैकडो छात्रो को पंडितजी ने जीविका की दृष्टि से स्वावलम्बी बनाने के लिए जैन सस्कृत कालेज, जयपुर मे आयुर्वेद विभाग की स्थापना की। विभाग की स्थापना करके ही वे सन्तुष्ट नही हुए उन्होंने छात्रो को छात्रवृत्तियां दिये जाने की भी व्यवस्था कराई। इस प्रकार छात्रो के पंडितजी सब कुछ थे। उनके उठ जाने से सम्पूर्ण समाज की महान् क्षति हुई है लेकिन बुन्देल खड का तो सहारा ही टूट गया है

———

शोधार्थियों के हितैषी

डा. गंगाराम गर्ग

विगत कई वर्षों से महावीर अतिशय क्षेत्र द्वारा संचालित शोध सस्थान जैन साहित्य और सस्कृति के शोध का प्रमुख तीर्थ बना हुआ है । देश के उच्चकोटि के शोधको ने भी यहां के ग्रन्थो का अवलोकन और आलोडन किया है । इसकी स्थापना पूज्य पंडितजी की प्रेरणा से ही हुई थी ।

पूज्य पडितजी भारतीय दर्शन एवं सस्कृति तथा जैन साहित्य के बडे विद्वान् थे । सस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओ मे भी वे निष्णात थे । अतः शोधार्थियो को उनसे बडी मदद रहती थी । उनकी सरलता व सौजन्य को देखकर कोई भी जिज्ञासु अपनी समस्याओ के समाधान मे नि संकोच उनकी विद्वता का लाभ उठाता था । मै शोधार्थी के रूप मे जितनी बार और जब भी पूज्य पंडितजी के पास गया, उन्होने सदैव रुचिपूर्वक मेरे कार्य को प्राथमिकता दी । शोधार्थी को सबसे बडा लाभ उनके प्रति समस्त जैन समाज की असीम श्रद्धा का था । चाहे श्वेताम्बर हो और चाहे दिगम्बर श्रावक, पूज्य पडितजी का नाम लेने मात्र से उसने मेरी सम्मानपूर्वक यथेष्ट सहायता की ।

पूज्य पडितजी की इस पुण्यमयी स्मृति के अवसर पर मै, शोधार्थियो के एक प्रतिनिधि के रुप मे उनकी उदाराशयता एव ज्ञानगरिमा को स्मरण करता हुआ उन्हे भाव-भीनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हू ।

———

पूज्य पंडितजी सा० के उपकारो का स्मरण करते ही मेरा मस्तक उनके चरणो मे झुक जाता है । उन जैसा गुरु पाकर मैं ही नही मेरे जैसे सैकडो हजारो शिष्यकृत कृत्य है । मै और मेरे भाई सा० (डा० कस्तूर चन्द जी कासलीवाल) बचपन मे ही उनके चरणो आये और उनके अंतिम समय तक उनकी छत्रछाया मे रहे यह हमारा सौभाग्य है । उन जैसे हितैषी, शुभचिन्तक एव आदर्श गुरु के चरणो मे शत शत वन्दन ।

वैद्य प्रभुदयाल कासलीवाल

विविध गुणों के धनी

श्री घनश्याम गोस्वामी सहायक
निदेशक-संस्कृत शिक्षा, जयपुर ।

राजस्थान की रत्नगर्भा वसुन्धरा ने जहा विश्व प्रसिद्ध शूर वीरो और योद्धाओ को पैदा किया है, वहा उसकी कोख से महान साहित्यकारो कवियो, तन्त्र-मन्त्र शक्तियो, ज्योतिषियो, धर्मोपदेशको और भक्तो ने जन्म लिया है ।

महाकवि माघ से लेकर स्व० श्री मधुसूदनजी ओझा, श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, भट्ट श्री मथुरानाथ शास्त्री तक कई प्रतिभाओ ने इस राजस्थान मे देव वाणी के स्वरूप को सवारा और समृद्ध किया है । स्वर्गीय श्री चैनसुखदासजी देववाणी की इसी आराधना परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी थे । वैयक्तिक सुख-सुविधाओ का परित्याग करके ऋषिवत साहित्य और शास्त्रो की विशाल वारिधी मे अवगाहन करने वाली विभूतिया बिरली ही होती है । श्री चैनसुखदासजी राजस्थान की ही नही अपितु भारत की ऐसी ही विभूतियो मे से थे । वे आजीवन सस्कृत साहित्य के अध्ययन, अध्यापन और सृजन मे सलग्न रहे । शारीरिक बाधा के बीच भी उन्होने जो सस्कृत की सेवा की है वह अविस्मरणीय है । अध्यापन एव धार्मिक उपदेशों के माध्यम से उन्होने अनेको व्यक्तियो का निर्माण भी किया । उनकी सृजन शक्ति ने उन्हे अमरत्व प्रदान किया है ।

उन्होने आजीवन भारतीय सस्कृति की सेवा मे निरन्तर रहकर एक अद्भुत आदर्श को देश के समक्ष रखा और मार्ग दर्शन कराया । आपकी व्याख्यान शैली बहुत ही सरल एवं मनोहर थी ।

विविध विषयो के गहन अध्ययन के कारण उनकी अध्यापन शैली मे एक समन्वयात्मक प्रवाह था । विद्यार्थी उन्हे आदर्श अध्यापक समझते थे और थे भी । पण्डितजी अपने पास अध्ययन करने वाले प्रत्येक छात्र की मनोदशा एवं बाह्य परिस्थिति से पूर्ण परिचित रहते थे तथा उनकी सहायता के लिए सदा सर्वदा तैयार रहते थे ।

———

TRIBUTE TO PANDIT CHAIN SUKHDASJI

Dr. R. M. KASLIWAL

I have known Pundit Chain Sukh Dasji Nyayatirth for a longtime. My father late Munshi Pyarelalji held Panditji in great esteem and he was particularly impressed by his profound knowledge of Jain Literatur's and Philosophy and other comparative religions.

Panditji was not only a great teacher of Sanskrit and Hindi but was an excellent exponant of Jain Dharam and we all remember how we used to hear his periodic addresses which he used to deliver in Diwanji Ka Mandir.

Panditji was a living example of a selfless and devoted worker and besides his profound knowledge it was this quality that attracted many of us to him. Whenever we found ourselves in difficulty we used to approach him for his advice which was always given freely and frankly He was considered a doyen of Sanskrit and Prakrit literature and held the position of Principal of Jain Sanskrit College, Jaipur with distinction for a great many years. Many a scholars used to come to him for advice from various parts of India and he was guiding a number of students in Research work for either Ph. D degree or writing of original manuscripts In fact he himself had written several books in Jain Leterature and his books "Arhat Pravachan" and "Pravachan Prakash" are particularly worth mentioning as these books bear out the salient features of Jain religion so distinctively and clearly.

Besides, being a great scholar and a great teacher Panditji was also a great reformist. He gave a propar lead to many a progressive reforms in the Jain community in Jaipur and by Virtue of his Catholic and progressive views he was not only respected by members of Jain Samaj but by members of other society and religious groups and samaj also.

Panditji's sudden and untimely death after a short-illness has not only left the Jain Samaj of Jaipur leaderless but his absence from amongst us is acutely felt at this Juncture since he was guiding various deleberation and solving various problems of the Jain Society in Jaipur from time to time with his mature advice. He was a great piller of strength of the goodness in Society in general, and I sincerely feel that the void that the has occurred in our society in Jaipur due to his sudden demise will be difficult to fill. However, we hope and pray that let his selfless and dedicated life continue to show us a beem light in this strip riddenselfish and well for a long time to come. ———

श्री महावीर क्षेत्र कमेटी के मन्त्री स्व. श्री रामचन्द्रजी खिन्दूका एवं स्व श्री सेठ बघीचन्दजी गगवाल के साथ पंडित चैनसुखदास जी ↑

खण्ड २

१

निश्चय और व्यवहार

□ डा० कमलचन्द सोगाणी, उदयपुर

विश्व के धार्मिक इतिहास मे ऐसे अनेकों व्यक्ति हुए हैं जिन्होने आध्यात्मिक अनुभव को जीवन का चमोत्कर्ष स्वीकार किया है। ऐसे व्यक्ति किसी देश, जाति, समाज आदि के बधन से बध हुऐ नही है। विभिन्न वातावरण, विभिन्न देशकाल, विभिन्न धर्म सम्प्रदायो मे उत्पन्न व्यक्तियों ने एक ही प्रकार के आध्यात्मिक अनुभवों की घोषणा की है। इससे प्रतीत होता है कि आध्यात्मिक अनुभव वैज्ञानिक अनुभव की भांति मानव जाति की सम्पत्ति है। इन आध्यात्मिक अनुभव करने वालों को विभिन्न नामो से अभिहित किया गया है। उदाहरणार्थ योगी, सन्त, तीर्थंकर, केवली, बोधिसत्व, सूफी शुद्धोपयोगी, अर्हत्, स्थितप्रज्ञ इत्यादि। सभी योगियो तीर्थंकरो आदि ने उस अनुभव को परामानसिक एवं इन्द्रियातीत घोषित किया है। उसे एक अपूर्व अन्तर्दृष्ट्यात्मक अनुभव कहा गया है। भाषा के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति एक समस्या है। मौन के द्वारा ही वह उत्तम रुप से अभिव्यक्त हुआ है। वह अनुभव शान्त एवम निःशब्द है। पर जब इस अन्तर्दृष्टायत्मक आध्यात्मिक अनुभव की अभिव्यक्ति का प्रयास किया जाता है तो हम तुरन्त मानसिक बुद्ध्यात्मक स्तर पर उतर आते है। बुद्धि के द्वारा उसको समझने का प्रयास प्रारम्भ होता है। बुद्धि विश्लेष्णात्मक होती है। वह दृष्टियो के माध्यम से अनुभव को पकड़ना एवं अभिव्यक्त करना चाहती है। वह इस अनुभव को दूसरों के लिये बुद्धिगम्य बना देना चाहती हैं: बौद्धिक स्तर अनुभव को सामाजिक बनाने का प्रयास है। इस प्रयास मे अनुभव अपनी मौलिकता खो देता है फिर भी वह एक अर्थ मे सामाजिक बन जाता है। बुद्धि प्रत्ययों के माध्यम से कार्य करती है। इस लिए वह आध्यारिमक अनुभव के खण्ड-खण्ड कर देती है। पर मानव के पास इस अनुभव को दूसरो तक पहुंचाने का बुद्धि और भाषा के अतिरिक्त और कोई माध्यम भी तो नही है। अनुभव के सामाजीकरण के लिए बुद्धि और प्रत्यात्मक भाषा एक मात्र शरण है। जैन दर्शन मे उस आध्यात्मिक अनुभव को व्यक्त करने के लिये जिस शैली का उपयोग किया गया है उसे हम "नय" शैली कहते है। और जिन नयो का उपयोग किया गया है उन्हे हम निश्चय नय और व्यवहार नय कहते है। पर यह ध्यान रहे कि अनुभव इन दोनों नयों से अतीत है। आचार्य कुन्द-कुन्द ने कहा है: " नय पक्ष से रहित जीव आत्मा का अनुभव करता हुआ दोनो नयों के कथनो को मात्र जानता है। और उन्हें किंचित् मात्र भी ग्रहण नही करता (समयसार १४३) इसका अभिप्राय यह है कि आध्यात्मिक अनुभव नयातीत है।

जैन दर्शन की यह नय शैली उसके अनेकान्तवाद का परिणाम है। वस्तु के स्वरूप को कहने के

लिए जैन दार्शनिकों के विभिन्न नयों का उपयोग किया है । उन सब नयो का विभाजन हम दो प्रकार से कर सकते है ।

(१) तथ्यात्मक (२) मूल्यात्मक

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय तथा इन्ही के भेद रुपो मे नैगम, सग्रह आदि सात नय तथ्यात्मक है । निश्चय और व्यवहार मूल्यात्मक नय है और इनका उपयोग जीव की आध्यात्मिक यात्रा को व्यक्त करने के लिए ही किया जाता है । नयो का यह उपर्युक्त विभाजन ऐसे ही है जैसे जैन दर्शन में सात तत्व और छह द्रव्यो का हैं । सात तत्वों का उद्देश्य मूल्यात्मक है जो जीव की निम्नतम अवस्था से उच्चतम अवस्था की ओर अग्रसर होने के मार्ग को अभिव्यक्त करता है । छह द्रव्यो का वर्णन तात्विक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति है । अर्थात् मनुष्य के सामने जब प्रश्न जीव के विकास का होता है तब दृष्टि मूल्यात्मक होती है और सप्त तत्वो का सहारा ग्रहण करती है । पर जब प्रश्न जगत के अन्तिम तत्वो को समझने का होता है । तो दृष्टि तथ्यात्मक होती है और द्रव्यो के रुप मे प्रकट होती है । यहा यह बात ध्यान रखनी चाहिये कि तथ्य और मूल्य का विभाजन वस्तु स्थिति मे नही होते हुए भी बुद्धि के दृष्टिकोण से अवश्य उपस्थित है ।

उपर्युक्त विवेचन का अभिप्राय यह है कि जैन दर्शन की निश्चय और व्यवहार शैली जीव के विकास का उदघाटन करने वाली मूल्यात्मक शैली है । इस शैली को परिपक्व अवस्था तक पहुचाने का श्रेय आचार्य कुन्दकुन्द को है । उनके समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रन्थ इस शैली का निरुपण करने वाले अद्वितीय ग्रन्थ है । निश्चय नय जीव के शुद्ध स्वरुप का कथन करने वाली दृष्टि है और व्यवहार नय उसके अशुद्ध स्वरुप का कथन करती है । इसलिए समयसार में कहा गया है कि निश्चय नय भूतार्थ है और व्यवहार नय अभूतार्थ (समयसार–११) । मूल्यात्मक दृष्टि से जीव का शुद्ध स्वरुप ही ग्राह्य है और जीव का अशुद्ध स्वरूप अग्राहय है । यदि निश्चय नय आत्मापेक्षी है तो व्यवहार नय समाजापेक्षी हैं । दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि राग और द्वेष, शुभ और अशुभ, मान और अपमान, घृणा और प्रेम आदि समाज लक्षी है । दूसरे के अस्तित्व के बिना इन द्वन्दो की अभिव्यक्ति सम्भव नही है । इसलिए कहा गया है कि यह सब व्यवहार हैं । आत्मा राग द्वेष रहित है, मान अपमान रहित, है जो ऐसा कहा गया है कि आत्मापेक्षी दृष्टि है इसलिए निश्चय नय है । मैं यहां यह प्रश्न उपस्थित नही कर रहा हू कि आत्मापेक्षी समाजापेक्षी नही हो सकती है । मेरा मानना यह है कि आत्मापेक्षी दृष्टि वाला ही शुद्ध सामाजिक दृष्टि वाला हो सकता है । इस बात का अधिक विवेचन करना अप्रासगिक होगा । निश्चय और व्यवहार के संदर्भ मे मै यही कहना चाहता हूं कि आत्मापेक्षी होना निश्चय है और परापेक्षी होना व्यवहार है । परापेक्षी का अर्थ है राग–द्वेष, शुभ–अशुभ तथा शरीर एव अन्य की दृष्टि वाला होना । उदाहरणार्थ निश्चय नय से जीव रुप, रस गन्ध रहित चेतना गुण वाला, किसी चिन्ह से ग्रहण न होने वाला तथा आकार रहित है (समयसार ४६)। किन्तु व्यवहार नय से जीव रूप, रस गध वाला, राग द्वेष का कर्ता सुख–दुख का भोक्ता तथा स्वदेह परिमाण वाला है । जीव कर्मों से स्पर्शित है व्यवहार नय की दृष्टि है । किन्तु जीव कर्मों से अस्पर्शित है यह निश्चय नय की दृष्टि है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि निश्चय नयी व्याख्या सार्वभौमिक होती है जब कि व्यवहार नयी व्याख्या सीमित और एक देशीय

होती है। जैन दार्शनिकों ने आध्यात्मिक तत्वों की व्याख्या के लिए इन दोनों नयों का उपयोग किया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र की व्याख्या इन दोनो नयो की शैली पर की गई है। इसी कारण इन तीनो की व्याख्या सर्वदेशीय और एक देशीय बन गई हैं। जैसे सम्यग्दर्शन को लीजिए। निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा ही सम्यग्दर्शन है किन्तु व्यवहार नय के दृष्टि से सम्यग्दर्शन की व्याख्या अलग-अलग समयो मे अलग अलग कर दी गई है। कभी कहा गया है सात तत्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, कभी कहा गया है देव-शास्त्र, गुरू का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसी प्रकार निश्चय नय से सम्यक्चारित्र का अभिप्राय है आत्मा मे रमण। व्यवहार नय से सम्यक्चारित्र की व्याख्या शुभ-अशुभ भावो पर आश्रित होने के कारण परिवर्तनशील है। शुभ अशुभ भाव पर की अपेक्षा रखते हैं तथा सामाजिक मूल्यो पर उनकी व्याख्या आश्रित होती है। सामाजिक मूल्य सार्वकालिक नही हो सकते है इसलिये व्यवहार नय से सम्यक्चारित्र की व्याख्या भी सार्व कालिक नही हो सकती। कभी हमे चारित्र के बाह्य पक्ष को पकडना पडता है और कभी अन्तं पक्ष को। इसलिये व्यवहार की व्याख्या परिवर्तनशील ही होती है। निश्चय नय की दृष्टि से सम्यग्ज्ञान का अर्थ है आत्मज्ञान, किन्तु व्यवहार नय की दृष्टि से परवस्तु का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। इस तरह से निश्चय नय परिवर्तनशील व्याख्याओं को स्वीकार न कर अपरिवर्तनशील व्याख्याओ का हामी होती है।

इतना सब कुछ होते हुए भी व्यवहार नय निश्चय नय की दृष्टि को हृदयगम कराने वाला होता है। जिन लोगो को निश्चय नय का कथन बुद्धिगम्य नही होता और इस कारण वे उस मार्ग का अनुसरण नही कर सकते उनके लिए व्यवहार नय उपयोगी होता है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते है कि अज्ञानी जीवों को समझाने के लिए व्यवहार नयका उपयोग किया जाता है (पुरुषार्थ सिद्धचुपाय) जैसे किसी व्यक्ति को शुद्धोपयोग की बात समझ मे न आए तो उसको शुभ-अशुभ भावों के माध्यम से समझाने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार व्यवहार नय निश्चय नय का निमित्त बन सकता है। लेकिन यदि कोई व्यक्ति व्यवहार नय मे ही अटक जाय और उसी को अन्तिम मान ले तो वह व्यवहाराभासी कहलायेगा। ऐसे व्यक्ति धर्म के सार्वभौमिक तत्व के जाने बिना धर्म के बाह्य रूपों से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। वास्तव मे देखा जाय तो व्यवहार नय उसी समय व्यवहार नय होता है जिस समय वह निश्चय नय की ओर दृष्टि को मोडने वाला बने अन्यथा वह व्यवहाराभास ही है। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति अपनी वर्तमान स्थिति को विचारे बिना निश्चय नय की दृष्टि से अपने को शुद्ध मान बैठे और शुभ भावो को बन्ध का कारण जानकर हेय कह दे तो वह व्यक्ति निश्चयाभासी होगा। निश्चय दृष्टि को व्यवहार की अपेक्षा है तो व्यवहार दृष्टि को निश्चय की।

ये दोनो नय अध्यात्म के लिये अत्यन्त आवश्यक है क्योकि मनुष्य आत्मानुभव पर तुरन्त ही छलांग नही लगा सकता। वह शनै.शनै. ही उस ओर अग्रसर होता है। ऐसे समय मे निश्चय नय उस दिशासूचक यन्त्र की भांति होता है जो सही दिशा मे चलने की प्रेरणा देता रहता है और व्यवहार नय को अपने ऊपर हावी नही होने देता। व्यवहार को निश्चय का अनुगमन करने वाला बनाये रखता है। यदि यह कहा जाय कि निश्चय के बिना व्यवहार अंधा है और व्यवहार के बिना निश्चय कोरा काल्पनिक है तो कोई अत्युक्ति नही होगी। मानसिक स्तर पर वे दोनो परस्परापेक्षी है। जैसा कहा जा चुका है अनुभव स्तर पर न निश्चय है और न व्यवहार।

हमें यहां यह नहीं भूलना चाहिये कि निश्चय और व्यवहार का वास्तविक अनुभव सम्यग्दृष्टि को ही हो सकता है। सम्यग्दृष्टि आत्माएँ दो तल पर जीती हैं। एक तल पर वे अनन्त की ओर उन्मुख हैं तो दूसरे तल पर उनका सान्त से सम्बन्ध हैं। इन्हे भान हो चुका है कि जिस तल पर वे जी रही हैं वह अन्तिम नहीं है। अतः वे अनन्त मे छलांग लगाने के लिये सदैव उद्यत हैं। ये ऐसी आत्माएँ हैं जिनमे अनन्त के प्रति जागरुकता उत्पन्न हो चुकी है। उनके जीवन मे अनन्त और सान्त का सघर्ष मूर्तिमान हो उठा हैं। ऐसी आत्माओ के अनन्त और सान्त तल को भी निश्चय और व्यवहार कहा जा सकता हैं। वे जीती है व्यवहार तल पर, उन्मुख हो चुकी हैं निश्चय की ओर। सम्यग्दृष्टि के लिये व्यवहार एक विवशता है क्योंकि आखिर उसे उस तल से उठकर निश्चय तल में जीना ही है। जीवन के इन दो स्तरो का अनुभव केवल सम्यग्दृष्टि को ही हो सकता है। मिथ्यादृष्टि जीव इनका अनुभव नहीं कर सकते क्योकि उनमे अनन्त के प्रति जागृति का पूर्ण अभाव हैं। इसलिये कुन्दकुन्द ने समयसार मे कहा है "सर्व लोक को काम, भोग सम्बन्धी बन्ध की कथा तो सुनने मे आ गई, परिचय मे आ गई और अनुभव मे आ गई, इसलिये सुलभ है, किन्तु आत्मा का भिन्नत्व न तो सुना है, न परिचय में आया है और न अनुभव मे आया है, अतः एक मात्र वही सुलभ नही हैं" "। यह बात आचार्य ने उन जीवो के लिये कही है जो केवल शरीर तल पर ही जी रहे हैं। वे चाहते हैं कि मनुष्य इस तल की सीमाओ को जानकर अनन्त की ओर अग्रसर हो। क्योंकि सिंह को सर्वथा नही जानने वाले पुरुष के लिये जैसे बिल्ली सिंह रूप मे दिखाई देने लग जाती है, उसी प्रकार निश्चय नय के स्वरुप से अपरिचित पुरुष के लिये व्यवहार ही निश्चय नय के रूप में दिखाई पडने लग जाता है।

निश्चय और व्यवहार के इस सैद्धान्तिक विवेचन के पश्चात् अब हमें यह देखना है कि अध्यात्म के मूलभूत पहलुओं का इन दो दृष्टियों से मूल्यांकन कैसे किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किस प्रकार जीव, पुण्य-पाप, आश्रव, संवर आदि तत्वों का तथा कर्ता-कर्म आदि विषयों को इन दो दृष्टियों मे परखा जा सकता हैं? निश्चय दृष्टिकोण से जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं हो सकते किन्तु व्यवहार नय जीव और शरीर की एकता प्रतिष्ठापित करता है (समयसार २७) इसी प्रकार निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूं, दर्शन-ज्ञान मय हू, सदा अरूपी हूं, पर द्रव्य किंचित मात्र भी मेरा नहीं है (समयसार-३८) जीव के वर्ण नही है, गंध नही है, राग और द्वेष भी नही है ऐसा कथन करना निश्चय नय है और जीव के ये सभी है ऐसा व्यवहार नय से कहा जाता है (समयसार ५० से ५६) जैसे मार्ग मे जाते हुए व्यक्ति को लुटता हुआ देखकर "" यह मार्ग लुटता है" " इस प्रकार लोक में व्यवहार होता है किन्तु निश्चय से विचार किया जाय तो मार्ग नही लुटता मार्ग मे जाता हुआ मनुष्य ही लुटता हैं। इसी प्रकार जीव मे शरीर के सम्बन्ध मे रुप, रस, गध का व्यवहार होता है। निश्चय से जीव तो शुद्ध स्वरुप है उसे ससारिक केवल व्यवहार से ही कहा जाता है।

कर्ता-कर्म के सम्बन्ध में भी इन दृष्टियो से विचार किया जा सकता है। यह कहना कि जीव राग-द्वेष पुद्गल कर्मो का कर्ता है और उन्हीं का भोक्ता है, व्यवहार है। निश्चय नय से यह आत्मा अपने शुद्ध भावों का कर्ता और भोक्ता है (समयसार ८३-८४) यदि निश्चय से यह आत्मा पुद्गल कर्म को करे और उसी को भोगे तो यह पर द्रव्य का करने वाला हो जायेगा जो कि युक्ति सगत नहीं है। व्यवहार से यह कहा जाता है कि यह

आत्मा घट, पट, रथ इत्यादि वस्तुओं को और क्रोधादि कर्मों को करने वाला है। यदि इसी को निश्चय से मान लिया जाय तो यह आत्मा पर द्रव्यमयी बन जायेगा। निश्चय दृष्टिकोण से शुभ अशुभ भावों का कर्ता और भोक्ता आत्मा नही हो सकता। वह तो केवल शुद्ध भावो का ही कर्ता हो सकता है, क्योंकि उसी से उसकी तन्मयता सम्भव है। अतः कहा जा सकता है कि आत्मा अपने को ही कर्ता है और अपने को ही भोक्ता है अन्य को नही (समयसार ८३) इसका अभिप्राय यह नही है कि राग-द्वेष आदि परिणामों का उत्तरदायित्व जीव पर न हो। जीव अनादि काल से कर्मों से बंधा हुआ है, इसलिये कर्मो का निमित्त पाकर राग-द्वेषादि परिणाम जीवो के होते हैं इस बात से इन्कार नही किया जा सकता। बात यह है कि जिस भूमिका मे जीव होता है उस सबधी भावो का कर्ता व भोक्ता होता है। कहा हैं अज्ञानी के भाव अज्ञानमय होते हैं (समयसार १३०,१३१)।

निश्चय और व्यवहार दृष्टि से पुण्य और पाप पर भी विचार किया जा सकता है। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि अहिंसा आदि व्रतों का धारण करना पुण्य है तथा क्रोध, मान माया लोभादि कषायो के वशीभूत होकर नाना प्रकार के हिंसादि कुकर्म करना पाप है। इन्ही को शुभ-अशुभ कर्म भी क्रमशः कहा जाता है। चारित्र के क्षेत्र मे अशुभ तो त्याज्य है ही। उसके लिये तो कोई स्थान है ही नही। पर शुभ ग्रहण करने योग्य है। अध्यात्म मे प्रश्न यह है कि क्या निश्चय दृष्टिकोण से शुभ को ग्राह्य कहा जाय? जब यह प्रश्न उठता है तो आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि पुण्य भी एक सोने की बेडी है (समयसार १४६) इसका अभिप्राय यह नही समझना चाहिये कि शुभ कर्म जीवन में पूर्णतया हेय है। जब तक मनुष्य आत्मानुभव की भूमिका पर अवस्थित नही होता तब तक शुभ कर्म उपादेय हैं। उस भूमिका को प्राप्त करने के पहिले ही यदि शुभ कर्मों को हेय मान लिया जायगा तो व्यक्ति अशुभ से बचने के लिये किसका सहारा लेगा। इससे यह भी नही समझ लेना चाहिए कि वह शुभ करते करते शुद्ध को प्राप्त हो जायगा। शुद्ध भावो की प्राप्ति तो शुद्ध भावो से ही होती है शुभ से नही। दूसरे शब्दो में, निर्विकल्प अवस्था की प्राप्ति सविकल्प अवस्था से नहीं हो सकती। सम्भवतया इसी बात को ध्यान मे रखकर आचार्य कुन्द-कुन्द ने कहा "प्रतिक्रमण, निन्दा आदि विष-कुंभ है" (समयसार ३०६) यदि इस बात को सुन कर कोई आत्मा बिना शुद्ध मे स्थित हुए शुभ को छोड दे तो ध्यान रहे वह आत्मा अशुभ मे चला जायगा। इसलिये सामान्य जीवो के लिये शुभ ही एक मात्र सहारा है। जहा-जहा शुभ को व्यवहार कह कर त्याज्य कहा गया है वहां वहा निश्चय की अपेक्षा ही ऐसा है।

जैन दर्शन मे निश्चय और व्यवहार के इस विवेचन के पश्चात् हमे यह देखना है कि अद्वैत वेदान्त के परमार्थ और व्यवहार का इससे क्या भेद है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही परमार्थ रूप से सत्य है, भौतिक तत्त्व व्यवहारिक रूप से सत्य है। इस तरह यहा सत्ता के परमार्थ और व्यवहार रूप से भेद है। जैनों का व्यवहार नय वस्तुओ की सत्ता को नही छूता है। वह तो केवल आत्मा के पतन की ओर संकेत करता है और निश्चय नय उच्चतम अवस्था तक पहुंचने की ओर प्रेरित करता हैं। जैन दर्शन मे सत्ता के विभाग पारमार्थिक और व्यावहारिक रूप से नही किये गये हैं। इस तरह से जैन दर्शन के निश्चय और व्यवहार वैसे नही हैं जैसे अद्वैत वेदान्त के परमार्थ और व्यवहार। दोनों मे मौलिक भेद है।

●●●

२

जैन दर्शन में सर्वज्ञ सिद्धि

☐ डा० रामजीसिंह, भागलपुर

जैन दर्शन में सर्वज्ञता जीव का वास्तविक स्वभाव भी है और उसका परम आदर्श भी। स्वाभाविक स्थिति मे जीव "अनन्त-चतुष्टय" को प्राप्त रहता है, इसलिये अनन्त वीर्य एवं अनन्त सुख के साथ-साथ अनन्त दर्शन एव अनन्त ज्ञान युक्त भी होता है। कषायो के कारण कर्मों के अनुरूप जब पुद्गल जीव में जमा होते हैं, तभी वह बन्धन मे पडता है। आत्मा सूर्य की तरह भास्वरता रहता है, यों जब धूल-कण या वाष्पकण उसे आभृत कर लेते हैं तो फिर उसकी भास्वरता ढक जाती है। इसीलिये जब "सवर एव निर्जरा" के बाद मोक्ष की स्थिति आती है तो जीव पूर्ववत् अनन्त चतुष्टय को प्राप्त होता है। अत. मोक्ष की स्थिति कोई 'अप्राप्त' स्थिति नही मानी जानी चाहिये। यह तो वही स्थिति है जो वास्तव मे जीव का स्वभाव है। वस्तुतः जिसमे जो तत्त्व अन्तर्निहित नही होता है, उससे वह निष्पन्न भी तो नहीं हो सकता।

यह ठीक है कि मीमासक सर्वज्ञता के स्वरूप के विषय मे ही कुछ गम्भीर शकाये उपस्थित करते है। जिनका सक्षिप्त विवेचन भी आवश्यक है। मीमासक यह प्रश्न उठाते हैं कि आखिर सर्वज्ञता का क्या अर्थ है– सर्व विषयों का ज्ञान या केवल संसार के महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक वस्तुओ का ज्ञान। जैन विचारक दूसरा विकल्प इसलिये स्वीकार नहीं कर सकते कि जब तक "सभी" वस्तुओं का ज्ञान नहीं होगा तो "सार" एवं "निःस्सार" का भेद नही किया जायगा। फिर जैन विचारक यह मानते हैं कि ससार की सभी वस्तुओं का एक दूसरे से अविभाज्य सम्बन्ध है। इसीलिये **आचारांग सुत्त** में कहा गया है–जे **एग जाणइ से सर्व जानई**। यही कारण है कि अनन्त प्रहारों के बावजूद भी जैन दार्शनिक न तो केवल मीमासकों की तरह "धर्मज्ञता" को और न बौद्धों की तरह हेय और उपादेय–ज्ञान को ही" सर्वज्ञता मानते हैं। यशोविजय के अनुसार सर्वज्ञता के दो मुख्य लक्षण हैं—"**सर्व विषयता**" एवं **साक्षात्कारित्व**। मीमासक भी सर्व विषयता को स्वीकार करते है किन्तु केवल 'धर्म-ज्ञान' के सम्बन्ध मे, उसी प्रकार 'साक्षात कारित्व' को भी मानते है लेकिन 'असर्व विषयक ज्ञान' के सदर्भ मे। वस्तुत. यह सर्व विषयता को तोड-मरोड कर रखने का प्रयास है। 'सर्व विषयता' सर्व विषयता है, सर्व विषयता को किसी विषय या वस्तु का सार ज्ञान नही माना जा सकता।

मीमासकों का यह आरोप कि सर्व विषयता में केवल सभी वस्तुओ का ही ज्ञान होता है लेकिन उसमे वस्तु के गुणो एवं पर्यायो का ज्ञान सम्मिलित नहीं है। इस सदर्भ में जैनों की ओर से इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि गुण एव पर्याय से स्वतन्त्र द्रव्य की स्थिति एवं अवस्थिति नही है। इसलिये

द्रव्य को जान लेने का अर्थ ही है कि उसके सभी गुणों एवं पर्यायों को भी जान लें।

मीमांसकों का प्रहार इतने पर भी बन्द नही होता और वे पूछते हैं कि यदि सर्वज्ञता का अर्थ सभी स्थानों, सभी कालों में सभी द्रव्यों के सभी गुणों एव पर्यायो का ज्ञान प्राप्त करना है तो फिर भी यह पूछा जा सकता है कि ऐसा ज्ञान क्रमिक है या युगपत्। यदि क्रमिक मान लें तो फिर अनन्त वस्तु एव अनन्त धर्म का ज्ञान कभी पूर्ण नही होगा। जैन दार्शनिक इस कठिनाई को पहले से समझ कर सर्वज्ञता को युगपत् ज्ञान मानते हैं। लेकिन युगपत् मान लेने पर भी प्रश्न रह भी जाता है कि ऐसा ज्ञान एक ज्ञान के द्वारा होता है या अनेक के द्वारा। मन्द एक ही ज्ञान है तो फिर विरोधी तत्वों का परिज्ञान एक साथ ही सम्भव नहीं।

लेकिन यह तो गलत है क्योंकि हम एक ही अनुभूति से एक वस्तु के अन्तर्गत अच्छाई और बुराई दोनो का ज्ञान प्राप्त करते हैं। एक साथ हम एक ही वस्त्र के लाल, पीले, हरे, काले रग को तो देखते ही हैं।

सर्वज्ञता पर यह आरोप लगाते हुए अक्सर मीमासक दार्शनिक यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि सर्वज्ञ किसी अतीत या अनागत वस्तु को उसी रूप मे देखता होगा या वर्तमान मे। यदि रूप मे देखता है तो यह एक भ्रमजाल है, किन्तु यदि उसे वर्तमान मे दीखता है तो फिर उसका स्वरूप परिवर्तन हो जाता है। अत दोनों अर्थो मे सर्वज्ञता असम्भव है, किन्तु जैन तो इसका सीधा उत्तर यही देते हैं कि अतीत अनागत को वर्तमान रूप मे नही बल्कि उस रूप मे देखते हैं, इसमे कोई भ्रम का प्रश्न नहीं। फिर अतीत एवं अनागत का भी तो अपना अस्तित्व है ही।

एक छोटी सी आपत्ति यह भी उठायी जाती है कि यदि सर्वज्ञ सभी वस्तुओं का ज्ञान एक क्षण में ही प्राप्त नहीं करेगा और वह अचेतन जैसा रहेगा। लेकिन आरोप लगाने वाले भूल जाते हैं कि न तो सर्वज्ञ की अनुभूति और न ससार नष्ट होता है अत: प्रत्येक नया क्षण भी अनुभूति का विषय होता है। यह ठीक है कि किसी वस्तु का प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव दोनो साथ-साथ सम्भव नही है, जैसे कि किसी व्यक्ति का जन्म एवं मृत्यु दोनों एक साथ सम्भव नही है लेकिन विभिन्न संयमों में एक ही व्यक्ति का जन्म एव मृत्युको हम रोज देखते हैं।

मीमांसकों की ओर से एक और प्रभाव आरोप है कि यदि सर्वज्ञ सभी वस्तुओं की अनुभूति करता है तो फिर उसे गर्हित से गर्हित वस्तुओ का भी अनुभव करना होगा, साथ-साथ राग-द्वेष आदि से भी वह प्रभावित होगा। फिर वह पूर्ण पुरुष या वीतराग नही रह पायेगा। किन्तु इसका उत्तर यह होगा कि राग-द्वेष आदि के ज्ञान से राग-द्वेष नहीं होता, जिस प्रकार जहर देख लेने मात्र से किसी की मृत्यु नही हो जाती है। किसी वस्तु का ज्ञान होना एक बात हैं एव उसकी सक्रिय अनुभूति अलग बात है।

मीमासक लोग सर्वज्ञता-प्रत्याख्यान का एक प्रबल आधार धर्मज्ञता को मानते हैं। उनका कहना है कि अर्हत सर्वज्ञ नहीं हो सकते क्योंकि वहां धर्म का वक्ता और उपदेशक है और धर्म तो एक नित्य, चिरंतन एवं सर्व व्यापी तत्व है। यदि महावीर, बुद्ध जैसे किसी व्यक्ति को धर्मज्ञ मान लें तो कई तरह की कठिनाइयां आ जायेगी। पहली बात तो व्यक्ति चिर

तन नहीं जिस प्रकार धर्म चिरंतन है। वे सर्व व्यापी भी नहीं कि सब जगह धर्म का उपदेश दे सकते। फिर विभिन्न सर्वज्ञ पुरुषों के परस्पर धर्मोपदेश में वैभिन्य होता है। किन्तु इन आलोचनाओं मे बहुत दम नहीं। भले ही सर्वज्ञ पुरुष सब दिन सब जगह न रहते हों लेकिन इनके उपदेश तो सब दिन एवं सब जगह दिशा दर्शन के लिये रहते हैं। फिर यदि सर्वज्ञ पुरुषों के उपदेशो मे वैभिन्न है तो यह वैभिन्य तो अपौरुषेय; नित्य एवं चिरतन माने जाने वाले वेदो में भी है।

यह कहना कि अर्हत् इसलिये सर्वज्ञ नही हो सकता क्योंकि वह वक्ता है और वक्तृत्व राग-द्वेष का परिणाम है और जहा राग-द्वेष है वहीं सर्वज्ञता असम्भव है। लेकिन यह आरोप तो वेदों के सबध मे भी लागू हो सकता है। वेद भले ही नित्य हैं और वे वक्ता नहीं हैं, लेकिन वेदों के भी तो भाष्यकार है, जिनमे राग-द्वेष का समावेश स्वाभाविक है। इसी प्रकार अन्य भी कही आरोप मीमांसकों के द्वारा सर्वज्ञता के सम्बन्ध किये गये हैं।

सर्वज्ञता कालक्रम से जैन-दर्शन का मूल बिन्दु बन गया क्योंकि उनके यहा कर्त्ता धर्त्ता है तो तथा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी परमेश्वर का अस्तित्व नही माना जाता है तो फिर उस प्रकार की उदात्त कल्पना से वे वचित हो जाते हैं। धर्म केवल तत्वज्ञान एवं तर्क का ही विषय नही यह तो हमारी आस्था और विश्वास का भी विषय है। हमें एक ऐसे उपास्यदेव की आवश्यकता होती है जो हमे असुरक्षा से सुरक्षा मे ले जाय, कष्ट मे सात्वना दें एव वह इतना भव्य, महान हो कि जिसके सहारे हम जी सके। जैन दर्शन से अर्हत् की प्राय; ऐसी ही भव्य एवं उदात्त कल्पना की गई है जिसमे ईश्वर की भाति कर्तव्य आदि भले न हो लेकिन उसमे अनन्तज्ञान (सर्वज्ञता), अनन्तवीर्य (सर्व शक्तिमानता) एवं अनन्तसुख (आनन्दमयता) आदि दिव्य गुण विद्यमान हैं। इस प्रकार वीतराग अर्हत् की कल्पना मे ईश्वर के अभाव की क्षतिपूर्ति हो जाती है। लेकिन विश्वास की चुनौती भले नही दी जाय किन्तु जब सिद्धान्त रूप मे कोई तत्व प्रतिपादित होता है तो फिर शास्त्रकारो के लिए यह एक चुनौती उपस्थित कर ही देता है। यही कारण है कि सर्वज्ञता के पक्ष एव विरोध मे शास्त्रीय प्रमाणों का एक क्रमबद्ध सिलसिला है। मीमासक दार्शनिक षट प्रमाणों के आधार पर सर्वज्ञता सिद्धि का प्रत्याख्यान करते हैं, जिनका जैन दार्शनिक उसी शक्ति से प्रतिवाद करते है। कुछ उदाहरण नीचे उपस्थित किये जाते हैं :—

(क) सर्वज्ञ सिद्धि के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण की समीक्षा

इन्द्रिय-प्रत्यक्षता वर्तमान काल मे इन्द्रिय-वस्तु के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। अत. इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा सर्वज्ञता का ज्ञान सम्भव नही है। किन्तु जैन दार्शनिक तर्क उपस्थित करते हुए पूछते हैं कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष क्या किसी एक व्यक्ति और किसी एक स्थान काल के विषय मे सर्वज्ञता का निषेध करता है या सभी व्यक्तियो के सभी स्थानो एवं सभी कालो के विषय मे यदि मीमासक पहला विकल्प मानकर शका करते हैं तो इसमे जैनो को कोई आपत्ति नही लेकिन यदि दूसरा विकल्प मान्य हो तो सर्वज्ञता स्वत: सिद्ध हो जाती है। क्योंकि जो सभी जगहो, सभी कालो मे सभी व्यक्तियो के विषयो मे सर्वज्ञता के निबन्ध का प्रतिपादन करते है, वे तो स्वय सर्वज्ञ है क्योंकि कोई असर्वज्ञ यह नही कह सकता है कि सभी असर्वज्ञ है। यदि कोई अपने अनुभव के आधार पर सर्वज्ञता का निषेध करता है तो यह गलत है क्योंकि जिन वस्तुओं का हम अनुभव नही भी करते हैं उनका अस्तित्व रहता

ही है। यदि सबों की अनुभूतियो के आधार पर सर्वज्ञता का प्रत्याख्यान किया जाता है तो फिर सर्वज्ञता परोक्ष रूप से सिद्ध हो जाती है क्योंकि जो यह जानता है कि किसी की अनुभूति मे सर्वज्ञता नही है, वह स्वय सर्वज्ञ है। वास्तव मे इन्द्रिय प्रत्यक्ष एव अर्हत् प्रत्यक्ष मे भेद होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष मे इन्द्रिय वस्तु सन्निकर्ष अपेक्षित है, जब कि अर्हत, प्रत्यक्ष मे आत्मा बिना इन्द्रिय सन्निकर्ष के वस्तु तत्व को जानता है।

(ख) अनुमान-प्रमाण की समीक्षा

मीमासको के अनुसार अनुमान से सर्वज्ञ सिद्धि सम्भव नही है क्योंकि अनुमान के लिये साध्य एव हेतु के बीच व्याप्ति सम्बन्ध आवश्यक है जो सर्वज्ञ के सम्बन्ध मे सम्भव नही। यदि मान भी लिया जाय कि व्याप्ति सम्बन्ध सम्भव है तो यह या तो अनुपलम्भ या कार्यकारण अविनाभाव या स्वभाव सम्बन्ध के आधार पर माना जायगा। अनुपलम्भ मानने मे काम नही चलेगा क्योंकि हेतु एवं साध्य के बीच भावात्मक सम्बन्ध चाहिये। फिर इसमे कार्यकारण सम्बन्ध भी सम्भव नही क्योकि कार्य-कारण सम्बन्ध सर्वदा पूर्वानुभूति पर आश्रित रहता है किन्तु सर्वज्ञ का कोई भी पूर्वानुभव नही होगा। तीसरा विकल्प यानि स्वरूप सम्बन्ध की तो बात ही नही हो सकती क्योंकि जब सर्वज्ञ ही अनुभव से परे है तो फिर उसका स्वरूप भी अनुभव-ग्रस्त नहीं हो सकता।

फिर यह व्याप्ति सम्बन्ध या तो प्रत्यक्षाधारित माना जा सकता है या अनुमानाधारित। प्रत्यक्ष के आधार पर तो व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान सम्भव ही नही क्योकि हम सबो का प्रत्यक्ष कर नही सकते। फिर अनुमान के आधार पर यदि व्याप्ति सम्बन्ध की स्थापना की जाय तो यह भी गलत है, क्योकि इसमे आत्मा-श्रयदोष होगा। सर्वज्ञ सिद्धि के लिये यदि हम भाव धर्म हेतु उपस्थित करते हैं तो फिर असिद्ध दोष लगता है क्योकि जब तक किसी की सिद्धि नही होती तो फिर भाव धर्म हेतु कैसे सम्भव है? उसी प्रकार यदि हम अभाव धर्म हेतु देते है तो इसमे विरुद्ध दोष होता है क्योकि सर्वज्ञसिद्धि के बदले सर्वज्ञ असिद्धि को ही हेतु मान लिया जाता है। यदि उभय धर्म हेतु मान लिया जाय तो फिर अनेकातिक दोष होगा क्योकि उभय धर्म हेतु मे भावात्मक एव अभावात्मक दोनो प्रकार के हेतु होगे।

मीमासक एक और प्रश्न उठाते है कि सर्वज्ञ कोई व्यक्ति विशेष है या फिर सर्व सामान्य सर्वज्ञ। यदि उसे कोई व्यक्ति विशेष माना जाय तो चूंकि हम पक्ष या विपक्ष का कोई दृष्टान्त नही दे सकते, अतः हेतु असाधारण अनेकातिक से प्रभावित होगा। किन्तु यदि उसे हम सर्व सामान्य सर्वज्ञ मानते हैं तो फिर अर्हत प्रणीत आगम सिद्ध नही होगा।

जैन दार्शनिक समन्तभद्र की सर्वज्ञ-सिद्धि की युक्ति है कि जिस प्रकार सूक्ष्म दूरवर्ती आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान किसी न किसी को होता ही है उसी प्रकार सर्वज्ञ भी किसी के प्रत्यक्ष का विषय है। किन्तु मीमासक इसके प्रत्याख्यान क्रम के प्रश्न उठाते है कि क्या सर्वज्ञ किसी एक या अनेक के प्रत्यक्ष का विषय है? यदि प्रथम विकल्प को मानें तो विरुद्ध दोष होगा क्योकि सूक्ष्म, अन्तरित एव दूर की वस्तुएँ प्रत्यक्ष के विषय नही हो सकते हैं। यदि दूसरा विकल्प माने तो उसमे कठिनाई कोई नहीं होगी। छह प्रमाणो के माध्यम से यदि व्यक्ति सभी चीजो का ज्ञान प्राप्त करता है तो फिर इसमे किस का विरोध हो सकता है? इन्हीं कठिनाइयो के कारण जैन दार्शनिक सर्वज्ञ सिद्धि मे 'तपत्व', प्रमेयत्व,' एवं 'अस्तित्व' हेतु का प्रयोग करते हैं। इस पर भी मीमासकों को आपत्ति है क्योकि उसमें भी असिद्ध

एवं अनैकांतिक दोष है। लेकिन जैन दार्शनिक इसको नहीं मानते। उनके अनुसार अनुमान के आधार पर सर्वज्ञाभाव सिद्ध नही किया जा सकता। सर्व प्रथम सर्वज्ञाभाव स्वसम्बन्धी प्रत्यक्षपर नही सिद्ध हो सकता है। क्या पता है कि किसी दूसरे को सर्वज्ञ के अस्तित्व का ज्ञान हो। यदि कोई व्यक्ति स्वय सभी मनुष्यो की प्रकृति को जानता है कि वह सर्वज्ञ है या नहीं तो फिर ऐसा जानने वाला व्यक्ति भी सर्वज्ञ है। वास्तव मे अनुपलब्ध वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता है, जो होता है उपलब्ध का। अतः सर्वज्ञ की अनुपलब्धि सर्वज्ञ का न तो कारण हो सकता है, न कार्य और न व्यापक। अतः स्वसम्बन्धी प्रत्यक्ष विरुद्ध प्रमाण के आधार पर भी सर्वज्ञाभाव इसलिये सिद्ध नही किया जा सकता है क्योकि विरुद्ध प्रमाण के साक्षात् एव परम्परा दोनों ही प्रकार इसमें लागू नहीं हो सकते। साक्षात् विरुद्ध से सर्वज्ञाभाव या तो किसी एक स्थान, समय मे सिद्ध हो सकता है या सभी स्थानो एव सभी कालो मे। यदि प्रथम विकल्प माना जाय, तो सर्वज्ञाभाव सिद्ध नही होता किन्तु यदि दूसरा विकल्प माना जाय तो फिर ऐसा कथन ही क्रम से सर्वज्ञता सिद्ध करता है।

(ग) अर्थापत्ति के आधार पर सर्वज्ञसिद्धि

जो अर्थापत्ति के आधार पर सर्वज्ञ सिद्धि करने का प्रयास करते हैं उनके अनुसार सर्वज्ञ के अस्तित्व को स्वीकार करना इसलिये जरूरी है कि बिना सर्वज्ञ के उपदेश सही नही माना जा सकता। किंतु मीमासको की आलोचना यह है कि उपदेश तो स्वप्न, विभ्रम या वेद के द्वारा भी सम्भव है। इस पर जैनो का कहना है कि इस प्रकार अर्थापत्ति से सर्वज्ञाभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि साध्य एवं हेतु के बीच अविनाभाव सम्बन्ध नही है।

(घ) उपमान के आधार पर सर्वज्ञसिद्धि

चूंकि सर्वज्ञ के सदृश हमे किसी अन्य व्यक्ति का दर्शन नही होता है और सादृश्यमान के आधार पर ही उपमान प्रमाण चलता है, अतः उपमान के आधार पर सर्वज्ञ सिद्धि सम्भव नही। लेकिन मीमासकों के उपर्युक्त तर्क को उलट कर कहते हैं। चूंकि सर्वज्ञाभाव की तरह किसी का अस्तित्व हमे नही दिखता, अत सादृश्यज्ञान के आधार पर सर्वज्ञाभाव की सिद्धि नही हो सकती।

(च) आगम के आधार पर सिद्धि

मीमासको के अनुसार आगम के आधार पर सर्वज्ञ सिद्धि आत्मा-श्रय दोष उत्पन्न करेगा क्योकि आगम प्रामाणिकता किसी सर्वज्ञ पर निर्भर है और सर्वज्ञ की प्रामामिकता आगम पर है। आगम नित्य एव अनित्य है। नित्य आगम अर्थात् वेद मे किसी सर्वज्ञ प्रणीत है या असर्वज्ञ प्रणीत। प्रथम विकल्प मे अन्योन्याश्रय दोष होगा एव दूसरे विकल्प मे आगम की प्रामाणिकता खंडित हो जायगी।

जैन दार्शनिको का कहना है कि सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने वाले आगम है या तो पौरुषेय हैं पर अपौरुषेय। पौरुषेय आगम या तो सर्वज्ञ प्रणीत है या असर्वज्ञ प्रणीत। यदि प्रथम विकल्प माना जाय तो आत्माश्रय दोष होगा, यदि द्वितीय विकल्प माना जाय तो फिर आगम ही आप्तवचन एवं

प्रमाण नही रहेंगे। किन्तु यदि आगम अपौरुषेय मान लिए जाएं और उनका यह कथन सर्वज्ञाभाव सभी स्थानों एवं सभी कालो मे सिद्ध है, स्वय आत्म विरोधी हो जायगा।

(छ) अनुपलब्धि (अभाव) के आधार पर सर्वज्ञसिद्धि

अभाव प्रमाण मे सर्वज्ञाभाव की सिद्धि सम्भव नही। अभाव के दो भेद है-प्रसज्य-प्रतिषेध और पर्युदास। यदि प्रथम विल्कप स्वीकार किया जाय तो सर्वज्ञाभाव आत्यन्तिक रूप से सिद्ध हो जाने पर वेद की सर्वज्ञता खंडित होगी जो मीमासक स्वीकार कर सकते। किन्तु यदि दूसरा विकल्प माना जाय तो सर्वज्ञाभाव की सिद्धि से सर्वज्ञसिद्धि हो जायगी क्योंकि पर्युदास अभाव मे यदि एक विकल्प को अस्वीकार किया जाय तो दूसरे का स्वीकार करना ही होगा।

इन शास्त्रीय प्रमाणो के अतिरिक्त भी सर्वज्ञ सिद्धि के लिए कई स्वतन्त्र प्रमाण दिये गये है जिनका नीचे विवेचन होगा —

(क) आत्मा का सचेतनता सम्बन्धी प्रमाण

जैन दर्शन जीव की चेतना को पर्याप्त मानता है। चेतना ही जीव का लक्षण है। चेतना लक्षणो जीव। जीव का स्वभाव ही है, जानना। अतः यदि उसको किसी प्रकार का व्यवधान नही होगा तो वह सर्वज्ञ होगा ही। वीरसेन और विद्यानन्द ने ही समन्तभद्र द्वारा प्रस्तुत अग्नि सम्बन्धी उपमा का प्रयोग कर इसको स्पष्ट किया है। जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव ही है जलाना और वह वस्तुओ को जलाती है यदि कोई व्यवधान नही रहता है, उसी प्रकार जीव का स्वभाव है जानना और वह भी व्यवधान के बिना सभी वस्तुओं को जानता है। निषेधात्मक रूप से भी एक उपमा दी गई है, जिस प्रकार कोई हीरा जब तक धूल में लिपटा रहता है तब तक नही चमकता है। ठीक उसी प्रकार जब तक जीव ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के कारण आच्छादित रहता है तो वह सभी चीजों को नही जानता है। अकलक ने इस युक्तिवाद का आधार दर्शन समझाते हुए लिखा है कि जीव मे सर्वार्थ-ग्रहण सामर्थ्य है अत. जैसे ही व्यवधान दूर होता है जीव सर्वज्ञ की तरह सबो को जानने लग जाते है। इसलिए कम-पुदगलो का सम्पूर्ण विनाश करने के लिए समन्तभद्र ने तपश्चर्या विधान बनाया है।

(ख) अनुमेयत्व सम्बन्धी युक्ति -

मीमासको ने केवल वेद को धर्मज्ञ माना और किसी को नही। इस प्रकार अनुमेयत्व को धर्मज्ञता के क्षेत्र से निष्कासित कर दिया। किन्तु समन्तभद्र शबर स्वामी के इस तर्क को नही मानते। उनका कहना है कि जिस प्रकार अराग जैसा अदृश्य अतीत एव दूरवर्त्तीय वस्तुओ का ज्ञान भी किसी के प्रत्यक्ष के विषय हैं जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष के आधार पर सम्भव नही है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अतीन्द्रिय ज्ञान भी सम्भव हैं। यद्यपि कुमारिल ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि कोई भी प्रमाण सर्वज्ञसिद्ध कर सकने मे समर्थ नही है। इसीलिये अकलक के अनुमेयत्व के बदले प्रमेयत्व हेतु का व्यवहार किया है। इस तरह हम कह सकते है कि ऐसी कोई वस्तु नहीं जो किसी ज्ञाता के ज्ञान का विषय नही है। अत ऐसा भी कोई व्यक्ति हो सकता है जिसके ज्ञान का विषय समस्त वस्तु हो और यही सर्वज्ञता है।

(ग) ज्ञान के उत्तरोत्तर विकास-क्रम सम्बंधी युक्तिः

ज्ञान एक विकास क्रम है और सर्वज्ञता उसकी चरम पराकाष्ठा है हम देखते हैं कि किसी को कम किसी को अधिक ज्ञान है। इससे हम यह अनुमान लगा सकते है कि ज्ञान का विकास होते होते क्रम से वह सर्वज्ञता तक पहुचेगा। इसीलिये आत्मा के अनन्त चतुष्टय मानकर उसे अनन्तज्ञान सयुक्त माना गया है जीव मे स्वभाव की सर्वज्ञता निहित है, यो व्यवधान के कारण वह अल्पज्ञ रहता है। किन्तु मीमासको ने इसका प्रत्याख्यान करते हुए यह कहा हैं कि यदि सर्वज्ञता ज्ञान की चरम सीमा मान ली जाय तो वह तो इन्द्रिय ज्ञान की ही अपनी सीमाये हैं जैसे यदि हम ८-१० फीट ऊचा कूद सकते हैं तो इसका अर्थ यह नही कि हम ८-१० मील ऊची भी छलाग लगा सकते है। ठीक इसी प्रकार ज्ञान के विकास की भी अपनी सीमायें है। इसके उत्तर मे जैन दार्शनिक अनन्तकीर्ति गृद्ध की दूर दृष्टि, सुअर की श्रवण शक्ति एव चीटी की अपूर्व धारणा शक्ति का दृष्टान्त देकर यह समझाना चाहते है कि मनुष्य के सम्बन्ध मे भी यह सम्भव है। अकलंक भी मीमासक का यह तर्क अनुभवाधारित नही मानते कि ज्ञान की सीमायें हैं। भले ही हम आठ मील ऊचा फाद नहीं सके लेकिन गरूड जैसा पक्षिराज तो सैकडो मील ऊचा उडता है। विद्यानन्द भी उडने वाले सर्प एव हजारो हजार मील नीचे गिरने वाले पत्थर की उपमाये देकर यह सिद्ध करना चाहते है। मानव ज्ञान एव शक्ति की सीमायें नही है। जहा तक प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमायें हैं, वे भी विचारणीय है। जब चमगादर एवं बिल्ली रात्रि काल मे बिना प्रकाश के दूर-दूर तक देख हैं तो फिर मानव के सम्बन्ध मे ही यह मर्यादा क्यों हो ? योग की भूमिका यही समझाने लायक है जिसके अनुसार मनोज्य, इन्द्रिय जय की बात तो है ही साथ-साथ सर्वज्ञता की ओर भी स्पष्ट सकेत हैं।

(घ) ज्योतिषज्ञान की नक्षत्र सम्बन्धी भविष्यवाणियां -

ज्योतिष विज्ञान की नक्षत्र सम्बन्धी भविष्य वाणिया सर्वज्ञता की सम्भावनाओ का संकेत करती है। ईक्षणिका और प्रश्नविद्या नामक प्राचीन विद्याये अतीन्द्रिय वस्तुओं के ज्ञान देती है। इन सबसे इतना तो सिद्ध होना ही है कि इन्द्रिय वस्तु का सन्निकर्ष ही सभी प्रकार के ज्ञानो के लिये आवश्यक नही है। यहा यह कहा जा सकता है कि ज्योतिषशास्त्र एक प्रकार का गणित विज्ञान है जो भौतिक तत्वो के हमारे वास्तविक अनुभवों पर आधारित है। किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान की सम्भावनायें तो प्रकट ही है।

(च) बाधक प्रमाण का अभावः-

हम देख चुके है कि शास्त्र के षट्विध प्रमाणों मे कोई भी सर्वज्ञ सिद्धि मे बाधक नही है। प्रत्यक्ष सर्वज्ञाभाव सिद्ध नही कर सकता क्योकि यह तो केवल उसी को प्रमाणित करता है जिसका भावात्मिक अस्तित्व हो। अनुमान भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नही कर सकता क्योकि इसके लिये जिस प्रकार हेतु एव साध्य के बीच व्याप्ति सम्बन्ध चाहिये, वह उपलब्ध नही। आगम, अर्थापत्ति, उपमान एवं अनुपलब्धि (अभाव) की भी यही स्थिति हैं। असल मे यह प्रमाण कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं। अन्य प्रमाणो का योग मात्र है। इससे केवल यही सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ सिद्धि में कोई भी बाधा नहीं है।

(छ) अंश से पूर्ण की ओर जाने की वृत्ति

मानवमन हमेशा ही अपनी मर्यादाओं का उल्लघन करता है। किसी वस्तु के अंश का ज्ञान वास्तवमें अंश तक ही सीमित नही रह कर पूर्ण तक जाना है। इसीलिये मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय के बाद ही केवल ज्ञान आता है। जिस प्रकार मनोविज्ञान मे गेस्टाट–वृत्ति
होती है, उसी प्रकार ज्ञान के क्षेत्र मे भी अपूर्णता से पूर्णता की ओर आने की हमारी महज एव स्वाभाविक वृत्ति होती है।

(ज) परामनोविद्या सम्बन्धी युक्तिः

आज परा–मनोविद्या का विकास हो रहा है जिसमे इन्द्रिय–सन्निकर्ष – निरपेक्ष ज्ञान (इ० एस० पी० और पी० के०) आदि की चर्चा हो रही है। ये बातें मनगढ़न्त एव केवल कपोल कल्पना नही बल्कि वस्तु स्थिति है। मनोविज्ञान अपने क्षेत्र का विस्तार कर रहा है जिस प्रकार जैन दर्शन अवधि एव मनः पर्यय की बात करता है, आज परामनो विद्या भी उसको मानता है और उसके लिये प्रयोग एवं तर्क भी उपस्थित करता है। इस दृष्टि से हमे समझना होगा।

वैशाली जन का प्रतिपालक, गण का आदि विधाता।
जिसे ढूंढता देश आज उस स्वतन्त्र की माता।।
रुको एक क्षण, पथिक यहां मिट्टी को शीष नवाओ।
राज सिद्धियों की सम्पत्ति पर फूल चढ़ाते जाओ।।

—राष्ट्रकवि श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' वैशाली का प्रतिपालक

३

जैन दर्शन में शब्दप्रमाण

☐ कु० हेमलता बोलिया

भूमिका

जैन दर्शन मे प्रमाण चर्चा सर्व प्रथम उमास्वाति के 'तत्वार्थसूत्र' मे देखने को मिलती है । जैन आगमिक परम्परा मे ज्ञान के पाच भेद—(मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल ज्ञान) उपलब्ध हैं ।[1] वहा इन पाच ज्ञानो को पुन. दो भागो मे यथा प्रत्यक्ष और परोक्ष मे विभाजित किया गया है । प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का कहा गया है—(१) केवल ज्ञान और (२) अकेवलज्ञान । अकेवलज्ञान के पुन दो भेद किये गये हैं—(१) अवधि (२) और मन - पर्यय । तथा परोक्षज्ञान भी दो प्रकार से वर्णित है–(१) आभिनिबोधिक (मति) और श्रुतज्ञान ।[2]

इन्ही पाच ज्ञानो को उमास्वाति ने प्रमाण कहा है । अर्थात् इनकी दृष्टि मे ज्ञान ही प्रमाण है ।[3] इन्होने मति ज्ञान के ही पर्याय, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध बतलाये है ।[4] इस प्रकार

१- (क) पचविहे णाणे पण्णत्ते त जहा—
अभिणिबोहियणाणे सुयणाणे ओहिणाणे
मणपज्जवणाणे केवलणाणे ।

स्था० सू० स्थान ५, उद्दे० ३, सू० ४६३

(ख) अनु० सू० १

(ग) नन्दीसूत्र, १

(घ) भगवती सूत्र, शतक ८, उद्दे० २, सू० ३१८

२ दुविहे पण्णत्ते, त जहा—पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव १, पच्चक्खे णाणे दुविहे पण्णत्ते, त जहा–केवलणाणे चेव नोकेवलणाणे चेव २, ······ णोकेवलणाणे दुविहे पणणते, त जहाओहिणाणे चेव मणपज्जवणाणे चेव, परोक्खणाणे दुविहे पण्णत्ते, त जहा अभिणिबोहियणाणे चेव सुयणाणे चेव ।

(स्था० सू०, स्थान २, उद्दे० १ सू० १७)

३ (क) मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलानिज्ञानम् । त० सू० (१।६)

(ख) आद्ये परोक्षम् । वही, (१।११)

(ग) प्रत्यक्षमन्यत् । वही, (१।१२)

४. मति स्मृति सज्ञा चिन्ताऽभिनिबोधइत्यनर्थान्तरम् । वही, (१।१३)

उमास्वाति ने अपने समय मे प्रचलित स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान प्रमाणो का अन्तर्भाव मतिज्ञान मे करके जैन क्षेत्र मे प्रमाण पद्धति को आगे बढाया, किन्तु प्रमाणशास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा भट्ट अकलकदेव के समय से ही प्रारम्भ होती है। यद्यपि जिन भद्रगरिण[५] ने मन और इन्द्रिय की गया। फिर भी प्रमाणशास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा स्सथापित करने का श्रेय भट्ट अकलदेव को ही प्राप्त है। इन्होने भी तत्वार्थसूत्र के 'तत्प्रमाणे' सूत्र को आदर्श मानकर अपने 'लघीस्त्रय'[४] नामक ग्रन्थ मे प्रमाण विभाग इस प्रकार किया है—

सहायता से होने वाले मतिज्ञान को परोक्ष की परिधि से निकालकर तथा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम देकर प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित किया जिससे जैनेतर दार्शनिको से इन्द्रिय जन्य ज्ञान को परोक्ष न मानने का जो विवाद था वह समाप्त हो
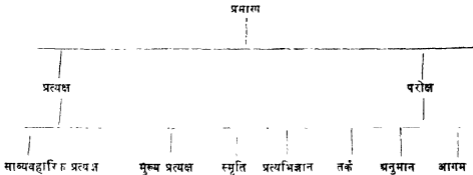
यद्यपि अकलक के ग्रन्थो के प्रमुख टीकाकार अनन्त वीर्य और विद्यानन्दी को स्मृति आदि को अनीन्द्रिय-प्रत्यक्ष मानना अभीष्ट नही हुआ, फिर भी समस्त उत्तरकालीन जैन दार्शनिको ने अकलक द्वारा प्रतिष्ठादित प्रमाण-पद्धति को एक स्वर से स्वीकार किया है केवल सिद्धर्षि ने न्यायावतार पर सक्षिप्त टीका करते हुए प्रत्यक्ष और परोक्ष मे से परोक्ष के अनुमान और आगम ये दो भेद माने हैं जो अवश्य ही अकलक परम्परा से भिन्न है।

आगम व श्रुत प्रमाण

अन्य दर्शनों मे मान्य शब्दप्रमाण ही जैनदर्शन मे आगम या श्रुतप्रमाण के नाम से जाना जाता है किन्तु जैनाचार्यों मे सिद्धर्षि ही ऐसे हैं जिन्होने सर्व प्रथम जैन दर्शन मे आगमप्रमाण के स्थान पर शब्द-प्रमाण शब्द का प्रयोग किया है। श्रुतज्ञान (प्रमाण) शब्द जैनदर्शन की अपनी मौलिक देन है। यह जिस रूप में जैनदर्शन मे पाया जाता है उस रूप मे अन्य

१ एगतेण परोक्खं लिगियमोहाइय चपच्चक्ख।
इदियमणो भव जं र सववहारपच्चक्ख ।विशे आ भा, गा. ६५, (भा-१) पृ २४

दर्शनों में नहीं पाया जाता है। फिर भी श्रुतज्ञान एवं शब्दप्रमाण शब्दों में कोई विशेष अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों में ही शब्द की प्रधानता है। यह आगे के विवेचन में स्पष्ट हो जायेगा।

जैनाचार्यों के अनुसार आप्तवचन से आविर्भूत होने वाला अर्थ संवेदन आगमप्रमाण है। साथ ही इनका यह भी कहना है कि यदि अन्य दार्शनिक यह आशंका करें कि जब अर्थ का संवेदन आगम है तो वह अप्रवचनात्मक ही कैसे हो सकता है? तो प्रत्युत्तर में इनका कहना है कि उपचार से वचन भी आगम है।[६]

माणिक्यनन्दी आप्त के वचन एवं संकेत आदि के निमित्त से होने वाले ज्ञान को आगम कहते है।[७]

उक्त दोनों परिभाषाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है केवल माणिक्यनन्दी ने लक्षण में 'आदि' पद से संकेत आदि ग्रहण विशेषरूप से किया है।

सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार परमार्थ वक्ता दृष्ट और इष्ट के अविरोधी वाक्य से तथा तत्त्व-ग्राहिता से उत्पन्न वाक्य शब्दप्रमाण है।[८]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि आप्त के वचन से उत्पन्न हुआ पदार्थ का ज्ञान आगम प्रमाण है और उपचार से आप्त के वचन को भी आगम प्रमाण कहते है। इस बात में तो सभी जैनाचार्य एकमत है, किन्तु आप्त के स्वरूप के विषय में उनके परस्पर भिन्न-भिन्न मत हैं।

आप्त का स्वरूप

कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने 'नियमसार' नामक ग्रन्थ में आप्त के स्वरूप को बतलाते हुए लिखा है कि— जिसके समस्त दोष दूर हुए हैं ऐसा जो सकल-गुणमय पुरुष है वह आप्त है।[९] इसके विपरीत जिसके समस्त दोष दूर नहीं हुए है ऐसा जो सकल-गुणहीन पुरुष है वह अनाप्त है।

'नियमसार' की टीका करते हुए पद्मप्रभमलधारि ने लिखा है कि जो शंकारहित है वह आप्त है।[१०] इसके विपरीत जो शंका से युक्त है वह अनाप्त है।

---

६ का० ३,१०

७ (क) आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागम । उपचारादाप्तवचनं च ।
प्र न त लो अ. (४।१-२) पृ ३४, जैन त भा पृ. ६

(ख) आप्तवचनाज्जातमर्थज्ञानमागम । उपचारादाप्तवचन च ।
षड्द सम. (जै.) का ५५।३२० पृ ३२७

(ग) आप्तवचनादिजनितपदार्थज्ञानम् आगम । तद् वचनमपि ज्ञानहेतुत्वादागम । ।१२३) पृ ११७
प्र. प्र म. (१परी. मु (३।६६)

८. आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागम ।

९ दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात्परमार्थाभिधायिन ।
तत्वग्राहितयोत्पन्न मान शाब्द प्रकीर्तितम् ।
न्या. अव., का ८

१० ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो ।
नि सा गा ५, पृ ११

समन्तभद्र का कहना है कि जो दोषो को नष्ट कर चुका है, सर्वज्ञ और आगमेशी अर्थात्—हेयोपादेयरूप अनेकात तत्व के विवेकपूर्वक आत्महित मे प्रवृत्ति करने वाले अबाधित सिद्धातशास्त्र का स्वामी (अर्थात्–आगम का स्वामी है) वह नियम से आप्त होता है, दूसरे प्रकार के आप्तता नही हो सकती है।[११] साथ ही इनका यह भी कहना है कि जिसमे क्षुधा, प्यास, बुढापा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह और 'च' शब्द द्वारा सूचित चिता, अरति निद्रा विस्मय, विषाद, खेद और स्वेद ये अठारह दोष नही वह आप्त है और उसे निर्दोष कहते है।[१२]

समन्तभद्र का यह भी कहना है कि जिसमे निर्दोषिता, सर्वज्ञता और आगमेशिता इनमे से यदि एक गुण भी नही है तो वह आप्त भी नही है। इनके अनुसार आप्त मे इन तीनो गुणो का होना आवश्यक है। इस प्रकार सर्वज्ञ, अर्हंत और तीर्थंकर आदि ही आप्त हो सकते है। क्योकि ये तीनो गुण तो उन्ही मे पाये जाते है। वैसे भी स्वय समन्तभद्र ने अपनी 'आप्त मीमासा' मे अर्हन्त के विषय मे कहा है कि अर्हन्त ही सर्वज्ञ तथा आगम का स्वामी है जिसकी सर्वज्ञता के कारण उसके वचनों मे युक्ति और शास्त्र से किसी प्रकार का विरोध नही आता है वही राग-द्वेषादि दोषो से सर्वथा रहित अर्थात् निर्दोष है और उसके द्वारा माने गये तत्व प्रमाणो से बाधित नही होते हैं।[१३]

समन्तभद्र के समान अकलकदेव ने भी अर्हन्त को ही सर्वज्ञ कहा है। इनके अनुसार अर्हन्त ही सर्वज्ञ है, इनके अतिरिक्त दूसरे न्याय और आगम के विरुद्ध कथन करते है।[१४]

हेमचन्द्राचार्य ने भी अर्हन्त को ही अपने 'आप्तनिश्चयालकार' मे सर्वज्ञ कहा है। इनके अनुसार जो सर्वज्ञ अर्थात् सब कुछ जानता है, रागादि दोषों को जीत चुका हो, जो तीन लोको मे पूजित हो, वस्तुए जैसी है उन्हे वैसी ही कहता हो, वही परमेश्वर अर्हत् देव है।[१५]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जो सर्वज्ञ होता है वही सभी दोषो से रहित और आगम का स्वामी होता है। क्योकि निर्दोषिता के बिना सर्वज्ञता सम्भव नही और सर्वज्ञता के बिना आगमेशिता नही हो सकती है। इसलिए तीर्थंकर

---

११ आप्तेनोत्छिन्न-दोषेण सर्वज्ञेनाऽऽगमेशिना।
भवितव्य नियोगेन नाऽन्यथा ह्याप्तता भवेत्।

रत्नक. उपा, का. ५, पृ. ३७

१२. क्षुत्पिपासा-जरातक-जन्माऽन्तक भय-स्मया।
न राग-द्वेष-मोहाश्च यस्याप्त. स प्रकीर्त्यते ॥

रत्नक. पा, का. ६, पृ. ३९

१३. स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्रविरोधिवाक्।
अविरोधी यदिष्ट ते प्रासिद्धेन न बाध्यते ॥

आ. मी, का. ६, पृ. १९

१४. सोऽर्न्न भवानर्हन्नेव, अन्येषां न्यायागम विरुद्ध।

आदि ही आप्त सिद्ध होते हैं क्योकि ये तीनो गुण इनमे विद्यमान हैं। तीर्थंकर, अर्हन्त आदि को आप्त मानने के विषय मे सभी जैनाचार्य परस्पर सहमत हैं।

किन्तु अकलंकदेव को आप्त का इतना ही लक्षण अभीष्ट नही हैं। इन्होने अपनी 'अष्टशती' में आप्त का व्यापक अर्थ मे एक दूसरा लक्षण भी किया हैं। जिसके अनुसार जो जहा (अर्थात् जिस विषय मे) अविसवादक है वह वहा या उस विषय मे आप्त है, अन्यत्र अनाप्त है। आप्तता के लिए तद्विषयकज्ञान और अविसवादकता आवश्यक है।[१६]

वादिदेवसूरि[१७] और हरिभद्र[१८] के अनुसार जो व्यक्ति जिस वस्तु का कथन करता है उसे यथार्थ रूप से जानता हो तथा जिस प्रकार उसे जाना है ठीक उसी रूप मे उसका कथन करता है तो वह आप्त कहा जाता है। जैसे माता पिता और तीर्थंकर आदि। क्योकि इनका ही वचन अविसवादी होता है। जैसे 'यहा धन घड़ा है' 'मे रूपर्वत है' इत्यादि वाक्यो के अर्थ को पिता और तीर्थंकर अच्छी प्रकार से जानते हैं। अत: वे उक्त वाक्यों के आप्त हैं।

रत्नप्रभाचार्य के अनुसार जिससे कहा हुआ अर्थ ग्रहण किया जाता है वह आप्त है या जिसमे राग-द्वेषादि दोषों का क्षय हो चुका है वह आप्त हैं और इनका यह भी कहना है कि अर्शादिगण से बने आप्त शब्द का भी यही अर्थ है। रत्नप्रभाचार्य का कहना है कि जो पुरुष रागादि दोषो से युक्त है वह आप्त से भिन्न अर्थात् अनाप्त है क्योकि वह पदार्थो को जानता हुआ भी इन पदार्थों का अन्यथा रूप से कथन करता है, जैसे कि पदार्थ-ज्ञान से रहित व्यक्ति करता है। साथ ही इनका यह भी कहना है कि यदि कोई अक्षर लेखन के द्वारा, संख्या के निर्देश से, अपने करपल्लव आदि की चेष्टा विशेष से अथवा शब्द स्मरण करने से परोक्षार्थ विषयक ज्ञान को दूसरे को करा सकता है तो वह भी आप्त कहा जाता है।[१६]

लघुअनन्तवीर्य ने भी अकलक के समान ही आप्त का व्यापक अर्थ किया है किन्तु इन्होने अविसवादी के स्थान पर अवचक शब्द का प्रयोग किया

---

१५. सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजित ।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन्परमेश्वर ॥

१६. यो यत्राविसवादक स तत्राप्त, तत परोऽनाप्त । तत्वप्रतिपादनमविसवाद, तदर्थज्ञानात् ।

अष्टश., अष्टसह पृ २३६

१७. अभिधेयं वस्तु यथावस्थित यो जानीते यथाज्ञात चाभिधत्ते सआप्त ।
तस्यहि वचनमविसवादि भवति ।

पु. न. त. लो. अ, (४।४-५) पृ. ३७

२८. अभिधेय... . . , सआप्तो जनक-तीर्थकरादि ।

षड्द समु (जै) का. ५५।३२०, पृ. ३१

१६. आप्यते प्रोक्तोऽर्थोऽस्मादित्याप्त । यद्वा, आप्तीरागादिदोषक्षय सा विद्यते यस्येत्यर्शआदित्वादनि अ.प्त जानन्नपि हि रागादिमान् पुमानन्यथाऽपि पदार्थान् कथयेत् तद्व्यवच्छित्तये यथाज्ञानमिति।

तेनाक्षरविलेखनद्वारेण, अंकोपदर्शनमुखेन, करपल्लव्यादिचेष्टा-विशेषवशेन वा शब्दस्मरणाद्य परोक्षार्थ विषयं विज्ञान परस्योत्पादयति, सोऽप्याप्त इत्युक्त भवति ।

है। इनके अनुसार जो जहां अवचक है, वहा आप्त है[20] यहा अवंचक मे अभिप्राय यह है कि जो छल कपट से रहित है अर्थात् निष्कपटी है और निष्कपटी वही हो सकता है जिसमे रागादि दोष नही है। अत जो रागादि दोषो से रहित है वह अवचक है और यह अवचक पद यहा उपलक्षण है।

भावसेनत्रैविद्य ने भी आप्त का लक्षण लघु-अनन्तवीर्य के समान ही किया है। किन्तु इन्होने 'यो यत्राभिज्ञत्वे' यह विशेषण अधिक जोड़ दिया है। इनके अनुसार जो जिस विषय को जानता है और सत्य अवचक है वह वहा आप्त है।[3]

यशोविजय के अनुसार वस्तु जैसी है उसको उसी रूप मे जो जानता है और हितोपदेश प्रवण है वह आप्त है।[२४]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि आप्त दो प्रकार के है (१) लौकिक (२) और लोकोत्तर।[1] लौकिक आप्त जनक आदि और लोकोत्तर आप्त तीर्थंकर आदि हैं।[2]

आगम प्रमाण के भेद

आप्त के दो प्रकार के होने से आगम प्रमाण भी दो प्रकार का है—(१) लौकिक (२) और लोकोत्तर। सिद्धर्षि ने लोकोत्तर के स्थान पर शास्त्रज शब्द प्रमाण माना है किन्तु लोकोत्तर और शास्त्रज मे कोई विशेष अन्तर नही है।

(१) लौकिक

अपने विषय मे अविसंवादी और अवचंक आप्त के वचनो से जो अर्थ बोध होता है वह लौकिक आगम प्रमाण है।

(२) लोकोत्तर

यह लोकोत्तर आगम प्रमाण अगप्रविष्ट और अगबाह्य रूप से दो प्रकार का है। साक्षात् तीर्थंकर जिस अर्थ को अपनी पवित्रवाणी से प्रकट करते हैं और गणधर जिसका सूत्रबद्ध रूप मे ग्रथन करते है उसे अ गप्रविष्ट कहते है। यह आचाराग, सूत्रकृतांग, स्थानाग, समबयाग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अ तकृतदश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाक सूत्र ओर दृष्टिवाद आदि के भेद से बारह प्रकार का है। तथा जो गणधर परम्परा के आचार्यों के द्वारा शिष्य के हितार्थ जो रचा जाता है, वह अ गबाह्य है। यह दशवैकालिक उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। यह अ गबाह्य, है। यह दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार

---

२०. यो यत्रावञ्चक स तत्राऽऽप्त'।
प्रमे. रत्न (३।६५) पृ. २०४

२१. यो यत्राभिज्ञत्वे सत्यवञ्चक सतत्राप्त.। पृ. प्रमे. (१।१२३) पृ. ११७

२२. यथास्थितार्थपरिज्ञानपूर्वकहितोपदेशप्रवण आप्त।
जै. तर्क भा., पृ. ६

२३. स च द्वेधा लौकिको, लोकोत्तरश्च।
प्र. न. त. ऊ. (४।६) पृ. ३७

२४. लोकिको जनकादिर्लौकोत्तरस्तु तीर्थंकरादि
वही, (४,७)

कलाकल्प, महाकल्प आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। यह अंगबाह्य, अंगप्रविष्ट के समान ही प्रमाण रूप है, क्योंकि गणधर परम्परा के आचार्यों ने अंगप्रविष्ट ग्रन्थो को आधार बनाकर ही काल-दोष से कम आयु, बल और बुद्धि वाले शिष्यों के हितार्थ दशवैकालिक आदि ग्रन्थों की रचना की। इसलिए इन ग्रन्थों की उतनी ही प्रमाणिकता है जितनी गणधरो और श्रुतकेवलियों के द्वारा रचित सूत्रो की है, क्योंकि ये अर्थ की दृष्टि से सूत्र ही हैं, जैसे क्षीर सागर से घड़े मे भरा हुआ जल क्षीर सागर के जल से भिन्न नही होता है वैसे ही अंगबाह्य अंगप्रविष्ट से भिन्न नही है। इन अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य आगमग्रन्थों की उपलब्धि के विषय मे जैन परम्पराओ मे परस्पर मतभेद हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के अनुसार द्वादशांग मे से दृष्टि-वाद को छोड कर अन्य ४५ आगम आज भी प्राप्य हैं। तथा श्वेताम्बर स्थानक वासी परम्परा के अनुसार आज वर्तमान समय मे ३२ आगम ही उपलब्ध हैं। यद्यपि दोनो मे आगमों की संख्या के विषय में परस्पर मतभेद है किन्तु दोनों ही उनकी उपलब्धि के विषय मे तो एक मत है। परन्तु इसके विपरीत दिगम्बर परम्परा का तो कहना है कि ये द्वादशांग आदि प्राचीन आगम आज वर्तमान समय मे अप्राप्य है। इन आगमो के आधार से लिखे गए षट्खण्डागम, कषायपाहुड और महाबन्ध तथा इन पर लिखी गई धवला आदि टीकाओं को आगम की ही भांति वे प्रमाण भूत मानते हैं।

सिद्धर्षि ने जो लोकोत्तर के स्थान पर शास्त्रज को प्रमाण माना है उस शास्त्रज प्रमाण का स्वरूप इस प्रकार है—जो आप्तोपज्ञ अर्थात् आप्त के द्वारा प्रथमतः ज्ञात होकर उपदिष्ट हुआ है, उल्लंघनीय नही है, दृष्ट अर्थात प्रत्यक्ष और इष्ट अर्थात अनुमानादि का अविरोधी है, वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादक है, सबके लिये हित कारक है और कुमार्ग का निराकरण करने वाला है, उसे शास्त्र कहते हैं। और इस प्रकार के शास्त्र से उत्पन्न जो ज्ञान है उसे शास्त्र प्रमाण कहते हैं।[२५] इस शास्त्रज प्रमाण के स्वरूप से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकोत्तर और शास्त्रज मे कोई विशेष अन्तर नही है, केवल शब्द के प्रयोग का अन्तर है। जैन दर्शन के अनुसार ये आगम या शास्त्र पौरुषेय हैं और इनका स्वत.प्रामाण्य है।

यह आगम प्रमाण जैन आगमिक परम्परा का श्रुतज्ञान ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि श्रुतज्ञान इन अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य आगम ग्रन्थो तक ही सीमित रह जाता है, किन्तु आगम प्रमाण तो इन आगम ग्रन्थो तक ही सीमित नही रहता अपितु वह तो व्यवहार मे भी अपने विषय मे अविसम्वादी या अवंचक आप्त के वचनो से जो अर्थ बोध होता है उसको भी आगम की मर्यादा मे लेता है। श्रुतज्ञान ही आगम प्रमाण है, इसलिए श्रुतज्ञान का स्वरूप भी जानना आवश्यक है। अतः अब जैन आगमिक परम्परा मे श्रुतज्ञान का क्या स्वरूप रहा है ? इसका निर्वचन किया जायेगा। जिससे श्रुतज्ञान ही आगमप्रमाण है यह जो कहा गया है स्वत स्पष्ट हो जायेगा।

---

२६. आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्।
न्या. अव., का ९, पृ. ५८

श्रुतज्ञान

श्रुतज्ञान पर विचार करने से पूर्व श्रुत शब्द को जान लेना आवश्यक है। क्योंकि श्रुत को समझे बिना श्रुतज्ञान को नही जान सकते हैं। सामान्यत श्रुत का अर्थ श्रवण-श्रुतम् से सुनना है। यह संस्कृत की श्रु धातु से निष्पन्न है। पूज्यपाद ने भी श्रुत का अर्थ—श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर निरूप्यमाण पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनना या सुनाना मात्र है वह श्रुत है।[२६]

किन्तु श्रुत शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ 'सुना हुआ' होने पर भी जैन दर्शन में यह श्रुत शब्द ज्ञान विशेष में रूढ है। पूज्यपाद ने तो अपनी सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि यह श्रुत शब्द सुनने रूप अर्थ का मुख्यता से प्रतिपादक होने पर भी रूढि के कारण ज्ञान विशेष मे ही रूढ है।[२७] तथा मतिश्रुतावधिमन: पर्ययकेवलानि ज्ञानम्[२८] इस सूत्र मे भी ज्ञान शब्द की अनुवृत्ति चली आने के कारण भावरूप श्रवण द्वारा निर्वचन किया गया श्रुत का अर्थ श्रुतज्ञान है। केवल मात्र कानो से सुना गया शब्द ही श्रुत नही है।[२९]

परन्तु श्रुत का अर्थ ज्ञान विशेष करने पर जैन दर्शन में जो शब्दमय द्वादशांग श्रुत प्रसिद्ध है उसमे विरोध उपस्थित होता है क्योंकि श्रुत शब्द से ज्ञान को ग्रहण करने पर ज्ञान छूट जाता है क्योंकि दोनो का एक साथ ग्रहण होना असम्भव है। इस पर जैन दार्शनिको का कहना है कि उपचार से शब्दात्मक श्रुत भी श्रुतशब्द करके ग्रहण करने योग्य है। इस लिये सूत्रकार ने शब्द के भेद-प्रभेदो को बताया है यदि इनको श्रुत शब्द मे ज्ञान ही इष्ट होता तो ये शब्द के होने वाले भेद-प्रभेदो को नही बताते।[३०] अत; जैन दार्शनिको को मुख्यत, तो श्रुत से ज्ञान अर्थ ही इष्ट है। किन्तु उपचार से श्रुत का शब्दात्मक होना भी उनको ग्राह्य है।

श्रुत के बाद अब हम श्रुतज्ञान पर आते हैं। उमास्वाति के पूर्व शब्द को सुनकर जो ज्ञान होता था उसे श्रुतज्ञान कहा जाता था और उसमें मुख्य कारण होने से शब्द को भी उपचार से श्रुतज्ञान कहा जाता था।[३१] किन्तु उमास्वाति को श्रुतज्ञान का इतना ही लक्षण इष्ट नही हुआ। इसलिये इन्होने अपने तत्त्वार्थसूत्र मे श्रुतज्ञान का एक दूसरा

---

२६. (क) तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते अनेन शृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम्।
सर्वा. सि. (१।९) पृ. ६६

(ख) श्रुतशब्द कर्म साधनश्च।२। किंच पूर्वोक्तविषयसाधनश्चेति वर्तते।
श्रुतवरणक्षयोपशमाद्यन्तरंग बहिरंग हेतुसन्निधाने सति श्रूयतेस्मेति श्रुतम्।
कर्तरि श्रुतपरिणत आत्मैव शृणोमीति श्रुतम्। भेदविवक्षायां श्रूयते नेनेति श्रुतम्, श्रवणमात्रं वा।
(त. वा. (१।९।२) पृ)

२७. (क) श्रुतशब्दोऽयं श्रवणमुपादाय व्युत्पादितोऽपि रूढिवशात् कस्मिंश्चिज्ज्ञान विशेषे वर्तते।
सर्वा. सि. (१।२०) पृ. ८३

(ख) श्रुतावरणविश्लेषविशेषाच्छ्रवणं श्रुतम् (त. श्लो. वा. अ. (३।९।४) पृ १

२८. त. सू. १।२०

२९. ······· ज्ञानमित्यनुवर्तनात्।
श्रवण हि श्रुतज्ञानं न पुन शब्द मात्रकम्।
त. श्लो. वा अ. (३२।०।२०) पृ. ५९८

३०. तच्चोपचारितो ग्राह्य श्रुतशब्द प्रयोगत.।

लक्षण किया है जिसके अनुसार श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है।[३१] उमास्वाति के पश्चात्वर्ती जैन दार्शनिकों में नेमिचन्द्र संद्धान्तिक को छोडकर प्रायः सभी यह मानते है कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। किन्तु इनका कहना है कि इतना कह देने से ही श्रुतज्ञान का स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट नही होता है। इसलिए इन्होंने कुछ विशेषण और जोड़ कर श्रुतज्ञान का लक्षण किया है। जिनमे जिनभद्रगणि ने शब्दानुसारी और अपने मे प्रतिभासमान अर्थ का प्रतिपादन करने मे समर्थ ये दो विशेषण और जोड़ कर श्रुतज्ञान का लक्षण अपने विशेषावश्यक भाष्य में इस प्रकार किया है कि इन्द्रिय और मन की सहायता से शब्दानुसारी जो ज्ञान होता है तथा जो अपने मे प्रतिभासमान अर्थ प्रतिपादन करने मे समर्थ होता है उसे श्रुतज्ञान कहते है [३३]

जिनभद्रगणि के इस लक्षण से यद्यपि अकलक सहमत है किन्तु इन्होंने शब्द पर जिनभद्रगणि से अधिक बल दिया है। अकलक का तो कहना है कि शब्द योजना से पूर्व जो मति स्मृति, चिन्ता, तर्क और अनुमान ज्ञान होते है, वे मतिज्ञान है और शब्द योजना होने पर वे ही श्रुतज्ञान हैं।[३३] अकलक ने श्रुतज्ञान का यह लक्षण करके अन्य दर्शनों में माने गये उपमान, अर्थापत्ति अभाव, सम्भव, ऐतिह्य और प्रतिभा प्रमाणो का अन्तर्भाव श्रुतज्ञान मे किया है और इनका यह भी कहना है कि शब्द प्रमाण तो श्रुतज्ञान ही है। इनके इस मत का विद्यानन्दी ने भी समर्थन किया है। परन्तु बाद के जैन दार्शनिकों को इनका शब्द पर इतना अधिक बल देना ठीक प्रतीत नही हुआ। यद्यपि वे भी इस बात को तो मानते हैं कि श्रुतज्ञान मे शब्द की प्रमुखता होती हैं। इसलिए अमृतचन्द्र सूरि ने श्रुतज्ञान का लक्षण करते हुए इतना ही कहा कि मतिज्ञान के बाद स्पष्ट अर्थ की तर्कणा को लिये हुए जो ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है।[३५]

माधवाचार्य ने एक विशेषण और जोड कर श्रुतज्ञान का लक्षण इस प्रकार किया है कि ज्ञान के आवरण के क्षय या उपशम हो जाने पर मतिज्ञान से उत्पन्न स्पष्ट ज्ञान श्रुतज्ञान है।[३६] इनका अमृतचन्द्रसूरि से भेद यह है कि जहा अमृतचन्द्र सूरि ने मतिज्ञान के बाद स्पष्ट अर्थ की तर्कणा को लिये हुए ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा है। वहां माधवाचार्य ने एक विशेषण और जोड कर मतिज्ञान से उत्पन्न

शब्दभेदप्रभदोक्त. स्वयं तत्कारणत्वत

स. श्लो वा अ. (३-१०-३) पृ. ५९०

३१. श्रूवणा श्रुतम्, आभिलापप्लाविताथं स्वरुप उपलब्धिविशेष श्रुत तद्‌ ज्ञानं च श्रुतज्ञानम् अथवा श्रुयते इति श्रुत शब्द, स च असो कारणे कार्योपचाराद्‌ ज्ञान च श्रुतज्ञानम्, शब्दो हि श्रोतुम् साभिलापज्ञानस्य कारण भवतीति सो पि श्रुतज्ञानमुच्ते. (अनु० सू,. ६

३२. श्रुतम् मतिपूर्वकम् .. ..।' त.सू (५।५०')

३३. इदियमणोणिमित्तम् ज विण्णाणम् सुताणुमारेणम्. णिअयत्थु त्ति समत्थन तम् भावसुतम् मति सेसम्.
विशे.आ.भा. (भा. ५) गा. ९९,

३४. ज्ञानमाद्यम् मति सज्ञाम्यचिन्ता चभिनिबाधिकत्. प्राङ्. नामयोजनाच्छेषम् श्रुतम् शब्दानुयोजनात्-
लघीय-, का- ७५

३५. मतिपूर्वं श्रुतम् प्रोक्तमविस्पेष्टार्थं तर्कणम्. त.सा., का १४, पृ. ९

स्पष्ट ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा है। इस प्रकार शब्दों के हेर फेर के कारण दोनों में भेद होने पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इन दोनों में कोई मूलत भेद दृष्टिगोचर नहीं होता है।

किन्तु नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक ने तो श्रुतज्ञान का लक्षण इस सबसे एकदम भिन्न किया है। ये तो इस बात को ही नहीं मानते हैं कि श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। इनके उसको न मानने का कारण शायद यह रहा होगा कि श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक रूप से जो दो भेद हैं, उनमें अनक्षरात्मक श्रुत दिगम्बर परम्परा के अनुसार शब्दात्मक नहीं है और ऊपर श्रुतज्ञान की यह परिभाषा दी गयी है कि शब्द योजना से पूर्व जो मति, स्मृति चिन्ता, तर्क और अनुमान ज्ञान है वे मतिज्ञान है और शब्द योजना होने पर वे श्रुतज्ञान है। इस परिभाषा को मानने पर मतिज्ञान और अनक्षरात्मकश्रुत में कोई भेद नहीं रह जाता है। इसीलिये इन्होंने श्रुतज्ञान का लक्षण इन सबसे भिन्न किया है। इनके अनुसार मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थ से भिन्न पदार्थ के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते है।[३७]

किन्तु श्रुतज्ञान मति पूर्वक होता है इस कथन में कोई असगति नहीं है, क्योंकि यह इस दृष्टि से कहा गया है कि श्रुतज्ञान होने के लिये शब्द-श्रवण आवश्यक है और शब्द-श्रवण मति के अन्तर्गत है, क्योंकि यह श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। जब शब्द होता है तब उसके अर्थ का स्मरण होता है। शब्द श्रवण रूप जो व्यापार है वह मतिज्ञान है, और उसके बाद उत्पन्न होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। मतिज्ञान के अभाव में श्रुतज्ञान नहीं हो सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि श्रुतज्ञान में मतिज्ञान मुख्य कारण है क्योंकि मतिज्ञान के होने पर भी जब तक श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम न हो तब तक श्रुतज्ञान नहीं हो सकता है। मतिज्ञान तो इसका बाह्य कारण है।

अतः संक्षेप में श्रुतज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम होने पर मन और इन्द्रिय की सहायता से, अपने में प्रतिभासमान अर्थ को प्रतिपादित करने में समर्थ स्पष्ट ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान के भेद

श्रुतज्ञान के कितने भेद है? इस विषय में जैनाचार्यों में परस्पर मतभेद हैं। सभी ने अपने-अपने मत के अनुसार श्रुतज्ञान के भेदों को गिनाया है। श्रुतज्ञान के अंगप्रविष्ट और अंग बाह्य रूप से जो भेद हैं, ये भेद सभी जैनाचार्यों को मान्य है। इसलिए अब इन दो भेदों के अतिरिक्त जो भेद प्रभेद जैनाचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार बताये है उन पर विचार किया जायेगा।

आवश्यकनियुक्ति में कहा गया है कि जितने अक्षर हैं और उनके जितने संयोग है उतने ही श्रुतज्ञान के भेद हैं, और इन सारे भेदों को गिनना सभव नहीं है। इसलिए मुख्य रूप से श्रुतज्ञान के चौदह भेद है —(१) अक्षर (२) सज्ञा, (३) सम्यक, (४) सादिक, (५) सपर्यवसित, (६) गमिक, (७)

---

३६ ज्ञानावरणक्षयोपशमे सति मतिजनितम् स्पष्टमृज्ञानम् श्रुतम्.
सर्वद. सं. (आर्ह.द.) प्र. १३८

३७. अत्थादो अत्थतरमुवलभत भणंति सुदणाणम्.
गो. सा. (जी.का.) गा. ५६, प्र. ५४७

अंगप्रविष्ट, (८) अनक्षर, (६) असंज्ञा, (१०) असम्यक, (११) अनादिक, (१२) अपर्यवसित (१३) अगमिक (१४) अगबाह्य।[३८] नन्दीसूत्र मे इन चौदह भेदो का विस्तृत स्वरूप बतलाया गया है।[३९]

अकलंकदेव[४०] ने अपने 'प्रमाणसग्रह' नामक ग्रन्थ मे श्रुतज्ञान के तीन भेद किये हैं-(१) प्रत्यक्ष-निमित्तक, (२) अनुमाननिमित्तक (३) और आगम निमित्तक। किन्तु जैन तर्कवात्तिककार[४१] अकलक द्वारा बताये श्रुत के इन तीनों भेदो में से अनुमान निमित्तक आगमनिमित्तक ये दो ही भेद मानते है।

अमृतचन्द्रसूरि[४२] और नरेन्द्रसेनाचार्य[४३] ने विस्तार की अपेक्षा पयाय आदि के भेद से श्रुतज्ञान के बीस भेद किये है। और नेमिचन्द्र सिद्धान्तिक चक्रवर्ती ने भी अपने 'गोम्मटसार' के जीवकाण्ड मे श्रुतज्ञान के बीस भेदो का उल्लेख किया है, जिनके नाम इस प्रकार है-(१) पर्याय, (२) पर्याय समास (३) अक्षर, (४) अक्षरसमास, (५) पद, (६) पद-समास, (७) सघात (८) सघातसमास, (६) प्रति-पत्तिक, (१०) प्रतिपत्तिक-समास, (११) अनुयोग, (१२) अनुयोगसमास, (१३) प्राभृतप्राभृत, (१४) प्राभृतप्राभृतसमास, (१५) प्राभृत, (१६) प्राभृत समास, (१७) वस्तु, (१८) वस्तुसमास, (१९) पूर्व (२०) और पूर्व समास।[४४] इनका स्वरूप जैनाचार्यों ने अपने-अपने ढग से बतलाया है किन्तु इनके स्वरूप के विषय मे उनमे परस्पर कोई मौलिक अन्तर नहीं। ये श्रुतज्ञान के बीस भेद दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही परम्पराओ को मान्य हैं, क्योकि इन बीस भेदो का उल्लेख दोनों परम्पराओ के कर्म-साहित्य में मिलता है।

श्रुतज्ञान पाचो इन्द्रिय और मन से ज्ञात विषय का ही आलम्बन लेकर व्यापार करता है। इसलिये श्रुतज्ञान के अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक रूप से भी दो भेद गोम्मटसार मे किये गये हैं।

गोम्मटसार के अनुसार अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान का स्वरूप इस प्रकार हैं—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियो मे से किसी भी इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान को अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं और इस श्रुतज्ञान का दूसरा नाम लिंगज श्रुतज्ञान भी है।

(२) श्रोत्रेन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक जो श्रुत-ज्ञान होता है उसे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं तथा इसको शब्दज श्रुतज्ञान भी कहते हैं। अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान की यही परिभाषा सर्वाधिक प्रचलित है।

---

३८ आव. नियुं गा. ६७-४६

३९ नन्दीसू., ४८

४०. श्रुतमविप्लवम् प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तम्. (प्र.सं६, पृ ६

४१. जै. त. वा., प ७४

४२. तत्पर्यायादिभेदेन व्यासाद्विशतिधा भवेत्. (त सा., का ६४. प. ६)

४३. परम् विशतिभेद यत्पर्यायाद्यामिधानत श्रुतम् तदापि कथ्येह यथाशक्ति . . .

४४ द्रष्टव्य— (क) गो.सा., (जी,का) गा ३१७-३१७

(ख) सि.सा.स., का ८५८-६४, प, ८६-८६

अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक रूप से जो श्रुतज्ञान के दो भेद किये गये हैं इनका सबसे प्राचीन उल्लेख अकलंक के *'तत्वार्थवार्त्तिक'* मे मिलता है। अकलंकदेव का कहना है स्मृति, तर्क अनुमान आदि प्रमाणो के द्वारा जब ज्ञाता स्वयं जानता है उस समय वे अनक्षरश्रुत हैं और जब वह इनके द्वारा दूसरों को ज्ञान कराता है तो वे अक्षर-श्रुत है।

ऊपर जो अक्षर और अनक्षरश्रुत की परिभाषा दी गयी है उसकी अकलकदेव के उक्त कथन के साथ संगति नही बैठती है। क्योंकि इनके अनुसार तो एक ही श्रुतज्ञान अनक्षरात्मक भी होता है और अक्षरात्मक भी होता है। जब तक वह ज्ञान रूप रहता है तब तक अनक्षरात्मक है और जब वह वचनरूप होकर दूसरे को ज्ञान कराने मे कारण होता है तब वही अक्षरात्मक कहा जाता है।

यदि हम दोनो परिभाषाओ की तुलना करे तो दोनो मे कोई विशेष अन्तर नही हैं। प्रचलित परिभाषा के अनुसार तो अक्षर के निमित्त से होने वाला श्रुतज्ञान अक्षरात्मक है और अकलकदेव के अनुसार अक्षरोच्चारण मे निमित्तज्ञान अक्षरात्मक है। परन्तु विचार करने पर दोनो ही श्रुतज्ञानो को अक्षरात्मक मानना उचित प्रतीत होता है। क्योकि वास्तव मे ज्ञान अक्षरात्मक नही होता है वह तो भावरूप ही होता है और अक्षर द्रव्यरूप होता है। किन्तु ज्ञान अक्षर के निमित्त से उत्पन्न होता है इसलिय इसको (ज्ञान को) अक्षरात्मक कहते है। वैसे अक्षर के निमित्त के बिना जो श्रुतज्ञान होता है वह अनक्षरश्रुत है।

श्रुतज्ञान के अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक रूप से जो दो भेद किये गये है वे श्वेताम्बर परम्परा को भी मान्य है किन्तु इनके स्वरूप के विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं मे आंशिक मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार अक्षर और अनक्षरश्रुत ये दोनो ही शब्दज हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि अक्षरात्मक श्रुतज्ञान अक्षरात्मक शब्द से उत्पन्न होता है और अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान को अक्षरात्मक और लिंगज को अनक्षरात्मक श्रुत माना गया है। यद्यपि यह बात तो दिगम्बर परम्परा भी मानती है कि श्रुतज्ञान मे शब्द की प्रधानता होती है। और गोम्मटसार के जीवकाण्ड मे तो स्पष्टतया लिखा है कि—श्रुतज्ञान के शब्दज और लिगज ये दो भेद हैं किन्तु इसमे शब्दज की ही प्रमुखता है।[४४] परन्तु दोनो ही श्रुत शब्दज होते है यह बात दिगम्बर परम्परा को मान्य नही है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनाचार्यों ने अपने-अपने ढंग से श्रुतज्ञान के भेद किये है। उन मे श्रुतज्ञान के अक्षर और अनक्षर रूप से जो दो भेद किये गये है, अधिक प्राचीन और सर्वाधिक प्रचलित प्रतीत होते हैं। क्योकि श्रुतज्ञान के इन दो भेदो का उल्लेख किसी न किसी रूप में सभी जैनाचार्यों ने किया है। आवश्यक निर्युक्ति[४५] और नन्दी सूत्र[४६] मे भी जो अक्खरसन्नी सम्मं— आदि चौदह श्रुत के भेद सर्वप्रथम देखने को मिलते है, वे किसी प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थ मे देखने को नही मिलते हैं, फिर भी उनमे अक्षर और अनक्षरश्रुत ये भेद सर्व प्रथम देखने को मिलते हैं। यहा तक कि प्रथम प्रयत्न के फलस्वरूप माना जाने वाला अंगप्रविष्ट

---

४४. णियमेणिह सद्दजम् पमुहम् (गो सा- (जी.का.), गा. ७५५)

४५. गा ८६

और अंगबाह्य श्रुत भी दूसरे प्रयत्न के फलस्वरूप मुख्य अक्षर और अनक्षर श्रुत में समा जाता है। यद्यपि अक्षरश्रुत आदि चौदह प्रकार के श्रुत का निर्देश आवश्यकनिर्युक्ति और, नन्दीसूत्र, के पर्ववर्ती ग्रन्थों मे नही देखा जाता है, फिर भी इन चौदह भेदो के आधारभूत अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक श्रुत की कल्पना तो प्राचीन ही प्रतीत होती है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओं के कर्म-साहित्य मे समान रूप से वर्णित श्रुत के बीस प्रकारो मे भी अक्षर श्रुत का निर्देश है।

अतः श्रुतज्ञान के कितने भेद हैं इस विषय मे जैनाचार्यों मे परस्पर मतभेद होते हुए भी कोई मौलिक भेद नही हैं।

श्रुतज्ञान का प्रामाण्य

जैनाचार्यों ने श्रुतज्ञान को प्रमाण न मानने वाले चार्वाक, बौद्ध आदि दार्शनिको का खण्डन किया है। इनका कहना है कि इन्द्रियो से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षज्ञान जैसे अपने और अपने विषय के जानने में सम्वादी होने के कारण भी प्रमाणरूप माना जाता है उसी प्रकार स्व और अर्थ के जानने मे सम्वादी होने के कारण श्रुतज्ञान भी प्रमाणरूप है। तथा जैन दार्शनिको का यह भी कहना है कि चार्वाकों और बौद्धो के अपने शास्त्र है और उनको पढ-कर उनको जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान से भिन्न ज्ञान नही है। इनका यह भी कहना है कि इस शब्द जन्य श्रुतज्ञान के अभाव मे गूंगे और वाग्मी मे कोई विशेषता नही रहेगी, क्योंकि मूर्ख को पण्डित बताने मे या बालक को उत्तरोत्तर ज्ञानशाली बताने मे शब्द ही प्रधान कारण है। जैनाचार्यों का कहना है कि कही कही विसम्वाद हो जाने के कारण यदि सभी श्रुतज्ञानों को अप्रमाण ठहराया जायेगा तो सीप में चादी का ज्ञान होना, एक चन्द्रमा को जान लेना आदि प्रत्यक्षों के अप्रमाण हो जाने से सभी प्रत्यक्ष अप्रमाण हो जायेगे। यह ठीक है कि प्रत्यक्षा-भास के समान श्रुताभास भी मान लिया जाय, किंतु उनका श्रुतज्ञान को एकदम अप्रमाण ठहराना कदापि उचित नहीं हैं।

अत उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होता हैं कि अन्य प्रमाणो के समान श्रुतज्ञान भी एक स्वतन्त्र प्रमाण है। और यदि इसको प्रमाण न माना जायेगा तो लोक व्यवहार चलना भी मुश्किल हो जायगा। क्योंकि व्यवहार मे भी एक दूसरे के वचनो पर विश्वास करके ही कार्य किया जाता है।

श्रुत ज्ञान का महत्व

श्रुतज्ञान ही एक ऐसा ज्ञान है जो ज्ञानरूप भी है और शब्दरूप भी है। इसे ज्ञान स्वयँ भी जानता है और दूसरो को भी ज्ञान कराता है। वैसे शब्द प्रमाण तो श्रुतज्ञान ही हैं, किन्तु अन्य। दर्शनो मे माने गये उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, ऐतिह्य, सम्भव और प्रतिभा प्रमाणों का भी शब्द योजना होने पर श्रुतज्ञान ही अन्तर्भाव हो जाया जाता है।[४६] श्रुतज्ञान के द्वारा ही पूर्वज तीर्थंकरों गणधरो और इनके उत्तरोत्तर आचार्यों शिष्य प्रशिष्यो का ज्ञान प्रवाहित होता है। इसको कोई श्रुत, कोई श्रुति और कोइ आगम कहते हैं।

---

४६. (क) आगमत्वम् पुन सिद्धमुपमानम् श्रुत यया. सिंहासने स्थितो राजेत्यादिशब्दोत्थवेदनम्.

त.श्लो.वा अ. (३.२०.१२४) प ६५५

(ख) उत्तरप्रतिपत्त्याख्या प्रतिभा च श्रुतम मता. नाभ्यसजा सुमर्वित्ति कूटद्रूमादिगोचरा.

वही,प, ६६१

संकेत सूची

१.	अनु० सू०	अनुयोगद्वारसूत्रम् (ज्ञान मन्दिर, पाटण)
२.	अष्टश०	अष्टशती
३	अष्टसह०	अष्टसहस्त्री (सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद)
४	आ० मी०	आप्तमीमासा (श्रीशान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान, शान्तिवीरनगर
५.	आव० निर्यु०	आवश्यकनिर्युक्ति
६.	गो० स्वा० (जी० का०)	गोम्मटसार (जीवकाण्ड), (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, आगास)
७.	जै० तर्कभा०	जैनतर्क भाषा (सिंघी जैनग्रन्थमाला, अहमदाबाद)
८	त० सू०	तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय (लालाशादीराम, गोकुलचन्द जौहरी देहली)
९	त० वा०	तत्त्वार्थवार्त्तिक (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी)
१०.	त० श्लो० वा० अ०	तत्वार्थश्लोकवार्तिकालकार (कल्याणभवन, सोलापुर)
११.	त० सा०	तत्वार्थसार (श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी)
१२.	नन्दीसू०	नन्दीसूत्र (अ० भा० श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट)
१३	न्या० अव०	न्यायावतार (जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई)
१४	नि० सा०	नियमसार (श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई)
१५	प्र० न० त० लो० ल०	प्रमाणनयतत्वालोकालकार (यशोविजय जैन ग्रन्थमाला बनारस)
१६.	प्र० प्रमे०	प्रमाप्रमेय (जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर)
१७.	प्रमे० रत्न०	प्रमेयरत्नमाला (चौखम्वा, वाराणसी)
१८,	प्र० स०	प्रमाणसग्रह (सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद)
१९.	भगवतीसू०	भगवतीसूत्र (अ० भा० श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट)

२०.	रत्नक० उपा०	रत्नकण्ड-उपासकाध्ययन (वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली)
२१.	विशे० श्रा० भा०	विशेषावश्यक भाष्य (भारतीय सस्कृति विद्या मन्दिर, अहदाबाद)
२२.	षड्द० समु०	षड्दर्शनसमुच्चय (भारतीय ज्ञान पीठ, काशी)
२३.	सर्वद० सं०	सर्व दर्शन सग्रह (चौखम्बा, वाराणसी)
२४.	सर्वा० सि०	सर्वार्थसिद्धि (भारतीय ज्ञानपीठ काशी)
२५.	स्था० सू०	स्थानाग सूत्र (अ० भा० श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धारसमिति., राजकोट)
२६.	सि० सा० स०	सिद्धान्तसारसग्रह (जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर)

सद्भिरेव सहासीत सद्भि कुर्वीत सगतिम् ।
सद्भिर्विवाद मैत्री च, नासद्भिर्किञ्चिदाचरेत् ।।

सज्जनों के साथ ही बैठो, सज्जनों के साथ ही रहो, सज्जनों के साथ ही दोस्ती करो, सज्जनो के साथ ही झगडा करो, तात्पर्य जो कुछ भी आचरण करो केवल सज्जनो के साथ ही करो, असत्पुरुषों के साथ जरा सा भी किसी भी प्रकार का सम्पर्क मत रखो ।

वृत्तं यत्नेन संरक्षेत्, वित्तमायाति याति च ।
अक्षीणो वित्तत. क्षीणो, वृत्ततस्तु हतो हत ।।

अपने चरित्र की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करनी चाहिये क्योंकि धन चले जाने पर भी मनुष्य क्षीण नही होता, उसका कुछ नही बिगडता किन्तु जिसका चरित्र नष्ट हो जाता है वह मनुष्य तो मरे हुए के समान ही है ।

नय

☐ सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी

ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते है और प्रमाण से गृहीत वस्तु के एक देश मे वस्तु का निश्चय ही अभिप्राय है। आशय यह है कि प्रमाण का विषय द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु है। उसके एक देश द्रव्य अथवा पर्याय को वस्तु रूप से ग्रहण करने वाला ज्ञान नय है प्रमाण का विषय एकात नही है क्योंकि एकान्त तो अवस्तु है और नय का विषय अनेकात नही है क्योंकि एकान्त रूप अवस्तु मे अनेकान्त रूप वस्तु का आरोप नही हो सकता। इसके सिवाय प्रमाण का विषय न तो केवल विधि है क्योंकि ऐसा होने पर प्रमाण जिस पदार्थ को जानेगा, दूसरे पदार्थों से उसकी भिन्नता का ग्रहण न करने पर घट की तरह पट मे भी उसकी प्रवृत्ति हो जायेगी क्योंकि उसे तो केवल विधि का ही ज्ञान है यह नही है, इस निषेध का ज्ञान नही है। तथा प्रमाण केवल निषेध को भी ग्रहण नही करता, क्योंकि विधि को जाने बिना घट पट से भिन्न है, इस प्रकार के निषेध को जानना शक्य नही है। प्रमाण मे विधि और निषेध दोनो परस्पर मे भिन्न भी प्रतिभासित नही होते, क्योंकि ऐसा होने पर पूर्वोक्त दोनो दोषो का प्रसंग आता है। अत: विधि-निषेधात्मक वस्तु प्रमाण का विषय है और इसलिए प्रमाण का विषय एकान्त नही है। अत. प्रमाण से जानी हुई वस्तु के एक देश मे वस्तुत्व की विवक्षा का नाम नय है। यत. प्रमाण से गृहीत वस्तु मे जो एकान्त रूप व्यवहार होता है वह नयनिमितक है इसलिये समस्त लोक व्यवहार नय के अधीन है।

अकलक देव ने कहा है[1]—प्रमाण से प्रहीत अस्तित्व–नास्तित्व, नित्यत्व–अनित्यत्व आदि अनन्त धर्मात्मक जीवादि पदार्थों के धर्मो का निर्दोषरूप से कथन करने वाला नय है। शायद कहा जाये कि ज्ञाता के अभिप्राय का नाम नय है, किन्तु अभिप्राय तो अबोध रूप होता है वह जीवादिपदार्थों के धर्मों का दोष रहित कथन करने वाला कैसे हो सकता है? इस का समाधान यह है कि द्रव्य और पर्याय के अभिप्राय मे उत्पन्न द्रव्य पर्याय के निरूपणात्मक बचनो को अथवा अभिप्राय वाले पुरुष को नय मानने से उक्त दोष नही आता है। आचार्य पूज्यपाद-ने कहा है[1] अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म का ज्ञान कराते समय श्रेष्ठ हेतु की अपेक्षा करने वाला निर्दोष प्रयोग नय है। वहां भी जैसे अभिप्राय वाले प्रयोक्ता को नय कहा है वैसे ही प्रयोक्ता के अभिप्राय को प्रकट करने वाले नय जन्य प्रयोग को भी कार्य मे कारण का उपचार करके नय कहा है। साराशं यह है कि अनेक धर्मो से युक्त की विवक्षा है शेष धर्मों की विवक्षा नही है। नय के तीन रूप है अर्थरूप, शब्दरूप और ज्ञानरूप। वस्तु का एक धर्म अर्थ नय है, उस धर्म का वाचक शब्द शब्द-रूप नय है

और उस धर्म का ग्राहक ज्ञान ज्ञानरूप नय है। वस्तु का एक धर्म नय के द्वारा ग्राह्य है इसलिये उसे नय कहा जाता है और उस धर्म का वाचक शब्द रूप नय है और उस धर्म का ग्राहक ज्ञान ज्ञानरूप नय है। वस्तु का एक धर्म नय के द्वारा ग्राह्य हैं इसलिये उसे नय कहा जाता है और उस धर्म का वाचक शब्द तथा ग्राहक ज्ञान एक धर्म को ही कहता अथवा जानता है इसलिये वह तो नय है ही क्यो कि वस्तु के एक देश के ग्राहक को नय कहते है और सकल वस्तु के ग्राहक को प्रमाण कहते है।

नय ही अनेकांत का मूल्य

सब दर्शनो मे एक जैन दर्शन ही अनेकातवादी है। अनेकात का लक्षण है सदैकान्त, असदैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त आदि सर्वथा एकान्तो का निरसन करके जो वस्तु को कथ चित सत् कथ चित असत्, कथ चित नित्य, कथ चित् अनित्य आदि रूप स्वीकार करता है वह दर्शन अनेकान्तवादी है।

यदि वस्तु को सर्वथा सत्यस्वरूप ही माना जायेगा दूसरे शब्दो मे यदि भावैकान्त माना जायगा तो अभाव का सर्वथा लोप हो जाने से अनेक दोप उत्पन्न होगे। अभाव के चार प्रकार है, प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। घट के उत्पन्न होने से पहले जो उसका अभाव है उसे प्रागभाव कहते हैं। प्रागभाव का अभाव होने पर घर उत्पन्न होता है। यदि प्रागभाव को न माना जायेगा तो घट आदि कार्य अनादि हो जायेगे। उत्पत्ति के पश्चात् जो अभाव होता है उसे प्रध्वसाभाव कहते हैं जैसे घट के टूटने पर घट का प्रध्वसाभाव होता है। यदि प्रध्वासाभाव को न माना जायेगा तो घट आदि सभी कार्य नित्य हो जायेगा, उनका कभी विनाश नही होगा। पुद्गल द्रव्य की दो पर्यायो मे जो परस्पर मे अभाव होता है जैसे घट पट नही है और पट घट नही है इसे अन्योन्याभाव कहते है। अन्योन्योभाव का अभाव होने पर घट पट हो जायेगा और पट घट हो जायेगा। एक द्रव्य मे दूसरे द्रव्य के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते है जैसे जड का चेतन मे अभाव है और चेतन का जड मे अभाव है। अत्यन्ताभाव का अभाव होने पर जड़ चेतन सब एक हो जायेगे। पदार्थ की कोई अपनी मर्यादा ही नही रहेगी। इसी तरह यदि केवल अभावैकान्त माना जाये कि ससार मे केवल अभाव ही है कुछ भी भाव रूप नहीं है तो उस अभावैकात का समर्थन करने का साधन ही नही रहेगा, न ज्ञान ही होगा और न शब्द ही, तब कैसे भावैकान्त मे दूषण देखकर अभावैकान्त कीसिद्धि कर सकगे।

अत प्रत्येक वस्तु स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा सत् ही है और पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा असत् ही है कौन ऐसा विचार शील दार्शनिक है जो इस सत्य का स्वीकार नही करेगा। वस्तु का वस्तुत्व दो बातो पर निर्भर है। स्वरूप का ग्रहण और पररूप परित्याग। यदि स्वरूप की तरह पर-रूप से भी वस्तु को सत् माना जायगा तो चेतन अचेतन हो जायगा और यदि पररूप की तरह स्व-रूप से भी वस्तु को असत् माना जायगा तो सर्वथा शून्यता की आपत्ति उपस्थित होगी। स्वद्रव्य की तरह पर द्रव्य से भी वस्तु को सत् मानने पर द्रव्यो का कोई नियम नही रहेगा तथा पर द्रव्य की तरह स्वद्रव्य से भी वस्तु को असत् मानने पर भी द्रव्य निराश्रय हो जायेगे। तथा स्वक्षेत्र की तरह

१. षट्खण्डागम (धवला टीका) पु. ९, पृ. १६६-१६७

पर क्षेत्र में भी वस्तु को सत् मानने पर किसी वस्तु का कोई सुनिश्चित क्षेत्र नहीं रहेगा। पर क्षेत्र की तरह स्वक्षेत्र से भी वस्तु को असत् मानने पर सभी द्रव्य निराश्रय हो जायेंगे तथा स्वक्षेत्र की तरह पर क्षेत्र से भी वस्तु को सत् मानने पर भी किसी वस्तु का कोई सुनिश्चित क्षेत्र नही रहेगा। पर क्षेत्र की तरह स्वक्षेत्र से भी वस्तु को असत् मानने पर वस्तु के क्षेत्र का ही अभाव हो जावेगा। स्वकाल की तरह पर काल मे भी वस्तु को सत् मानने पर कोई सुनिश्चित काल नही रहेगा। पर काल की तरह स्वकाल मे भी वस्तु को असत् मानने पर समस्त काल ही असम्भव हो जायेगा। तब आप कैसे किसी इष्ट और अनिष्ट तत्व की व्यवस्था कर सकेंगे। अत प्रत्येक वस्तु कथंचित सत्स्वरूप और कथंचित असत्स्वरूप है। कहा भी है—

भावैकान्ते पदार्थानाम भावा नाम पन्हवात।
सर्वात्मक मनाद्यन्तम स्वरूपमतावकम् ॥९॥

अभावैकान्त पक्षेऽपि भावा पन्हववादिनाम्।
बोधवाक्य प्रमाण न केन साधम दूषणम् ॥१३॥

सदेव सर्व को नेच्छेत् स्वरूपादि चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

जैसे प्रत्येक वस्तु कथंचित् सत्स्वरूप और कथंचित् असत्स्वरूप है वैसे ही कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है। जैन दर्शन मे सत् को युक्त हो उसे सत् कहा है। जैसे मिटटी का पिण्डाकार नष्ट होकर घटाकर उत्पन्न होता है किन्तु दोनो ही अवस्थाओ मे मिट्टी न उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। जो मैं पहले सुखी था वही मैं अब दु:खी हूं। इस प्रतीति मे सुखी रूप का विनाश, दु:खी रूप का उत्पाद और एक पुरुष रूपत्मक है। उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनो भी परस्पर मे सापेक्ष है। क्योकि व्यय और ध्रौव्य के बिना केवल उत्पाद नही होता, उत्पाद और व्यय के बिना केवल ध्रौव्य नही होता। और उत्पाद के बिना केवल सत्ता सम्भव नही है अतः सत उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है। इसके लिये आचार्य समन्तभद्र ने दो उदाहरण दिये है—एक राजा के के पास सोने का घडा है। उसकी पुत्री को वह प्रिय है किन्तु राजपुत्र घट तुडवाकर उसका मुकट बनवाता है, जब घट टूटता है तो पुत्री रोती है, मुकुट के बनने मे राजपुत्र प्रसन्न होता है किन्तु राजा मध्यस्थ रहता है। यहा घट की इच्छुक पुत्री को इसलिये शोक हुआ कि घट नष्ट हो गया। मुकुट के इच्छुक राजपुत्र को इसलिये आनन्द हुआ कि मुकुट उत्पन्न हुआ और सुवर्ण का इच्छुक राजा इसलिये मध्यस्थ रहा है कि सुवर्ण का सुवर्ण बना रहा। इन तीनो का यह शोक, आनन्द और मध्यस्थ भाव अकारण नही है अत सिद्ध है कि वस्तु उत्पादादि तीन रूप है।

इसी तरह एक व्रती यह नियम लेता है कि आज मैं दूध ही पीऊंगा वह दही नही खाता। दूसरा व्रती यह नियम लेता है कि आज मैं दही खाऊंगा वह दूध नहीं पीता। तीसरा व्रती यह नियम लेता है कि आज मैं गोरस नही खाऊंगा वह न दही खाता है और न दूध पीता है क्यों कि दोनो ही गोरस रूप है। इससे सिद्ध है कि वस्तु त्रयात्मक है।

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिनयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्य जनो याति सहेतुकम् ॥५९॥

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्वं त्रयात्मकम् ॥६०॥

आप्तमीमांसा।

इस तरह यत: वस्तु ध्रौव्यात्मक है अत. नित्य है और यत: वस्तु उत्पाद-व्ययरूप है इसलिये अनित्य है अत. वस्तु कथंचित् नित्य और कथचित् अनित्य है।

इस तरह जैन दर्शन वस्तु को अनेकान्तात्मक मानने से अनेकान्तवादी कहा जाता है। अनेकात-वस्तु के कथन करने का नाम स्याद्वाद है। स्याद्वाद के बिना अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन करना शक्य नही है क्योकि जैसे ज्ञान (प्रमाण) अनेकान्तात्मक वस्तु को एक साथ जान सकता है उस प्रकार शब्द उसे कह नही सकता। अत वक्ता एक धर्म के द्वारा अनन्तधर्मात्मिक वस्तु का कथन करता है इसी से शेष धर्मों का सूचक या द्योतक "स्यात्" शब्द के प्रत्येक वाक्य के साथ प्रकट या अप्रकट रूप से सयुक्त रहता है जो इस बात को बतलाता है कि वस्तु मे अनेक धर्म है। कथंचित आदि शब्द भी "स्यात्" शब्द के ही पर्याय शब्द है। अतः स्यात् सत् या कथंचित सत् का एक ही अर्थ है। इस तरह स्याद्वाद अनेकान्त को अपना कर सात भंगों की तथा नय की अपेक्षा से वस्तु को स्वरूप की अपेक्षा सत् पररूप की अपेक्षा असत् इत्यादि कथन करता है। इसलिये आचार्य समन्तभद्र ने स्याद्वाद के द्वारा गृहीत अनेकान्तात्मक अर्थ के नित्यत्व आदि विशेष धर्मों के पृथक पृथक प्रतिपादन को नय कहा है। यथा—

स्याद्वाद प्रविभक्तार्थ विशेष व्यजनको नय. ।।१०६।।
आप्तमीमांसा।

अत: अनेकान्त की प्रतिपत्ति का नाम प्रमाण है और एकान्त की प्रतिपत्ति का नाम नय है।

किन्तु जैन दर्शन कहता है कि जी कुछ सत् है वह सब अनेकान्तात्मक है और एकान्त रूप वस्तु-तत्व कोई है ही नहीं। ऐसी स्थिति मे एकान्त का ग्राही नय मिथ्या ही ठहरता है। इस आशका का परिहार यह है कि अनेकान्त और एकान्त दोनों ही सम्यक और मिथ्या के भेद से दो प्रकार के हैं। प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एक देश को सयुक्ति ग्रहण करने वाला सम्यग् एकान्त है और एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है। एक वस्तु मे युक्ति और आगम से अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मों को ग्रहण करने वाला सम्यक् अनेकात है और वस्तु को तत् अतत् आदि स्वभाव से शून्य कह कर उसमे अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करने वाला अर्थ शून्य वचन विलास मिथ्या अनेकान्त है। सम्यक एकान्त को नय कहते है और सम्यक अनेकान्त को प्रमाण कहते है। प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त रूप वस्तु है और नय की अपेक्षा एकान्त रूप है।

यदि अनेकान्त ही माना जाय और एकान्त को न माना जाये तो जैसे पूर्वादि के अभाव में वृक्ष का भी अभाव होता है वैसे ही एकान्त के अभाव मे अनेकान्त का भी अभाव हो जायेगा, क्योकि एकान्तो के समूह को ही अनेकान्त कहते है। किन्तु वे एकान्त अन्य एकान्त सापेक्ष होना चाहिये। निरपेक्ष नही होना चाहिये। जो धर्मान्तर की अपेक्षा रखते हुए वस्तु के एक अंश (धर्म) को ग्रहण करता है उसे नय कहते हैं और जो केवल उस एक धर्म को ही पूर्ण मानकर उसके प्रतिपक्षी धर्म का निराकरण करता वह तो दुर्लभ है। अत निरपेक्ष नय मिथ्या है और सापेक्ष नय सुनय है उनका समूह ही वस्तु है। निरपेक्षता का मतलब है प्रतिपक्षी धर्म का निराकरण, सापेक्षता का मतलब है प्रतिपक्षी धर्म की अपेक्षा न होने से उपेक्षा।

अत: अनेकान्त रूप अर्थ के ज्ञान को प्रमाण कहते है। उसके एक अंश के ग्रहण को नय कहते

है और जो धर्मान्तर का निराकरण करता है वह दुर्नय है। इस तरह अनेकान्त का मूल नय है।

इस तरह वस्तु के एक धर्म की विवक्षा से लोक व्यवहार को साधने वाला नय ही है। नय के तीन रूप है- अर्थ रूप, शब्दरूप और ज्ञानरूप। वस्तु का एक धर्म अर्थरूप नय है उस धर्म का वाचक शब्द शब्द-रूप नय है और उस धर्म का ग्राहक ज्ञान ज्ञानरूप नय है। वस्तु का एक धर्म नय के द्वारा ग्राहक है इसलिये उसे भी नय कहा जाता है। उस धर्म का वाचक शब्द और ग्राहक ज्ञान तो नय है ही। जैसे अनेक धर्मों को अनेकान्त कहते है वैसे ही वस्तु के एक धर्म को एकान्त कहते है। अनेकान्त रूप वस्तु प्रमाण का विषय है और एकान्त रूप वस्तु नय का विषय है। अतः प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त है तो नय की अपेक्षा एकान्त है। यदि एकान्त को नही माना जाये तो अनेकान्त भी नही बन सकता क्यो कि एकान्तो के समूह का नाम ही अनेकान्त है किन्तु एकान्त सच्चा भी होता है और मिथ्या भी। एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है और प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एक धर्म को सयुक्ति ग्रहण करने वाला सम्यग्एकान्त है। सम्यग् एकान्त को नय कहते है और मिथ्या एकान्त को दुर्नय कहते है। नय एक अंश का प्रतिपादक होने पर भी वस्तु के इतर अंशो का निषेध नही करता, वह इतर अंश सापेक्ष होता है। अतः इस तरह सभी अंश ग्राही नय अपने अपने अंश द्वारा मिल कर सम्पूर्ण वस्तु का ही कथन करते है किन्तु दुर्नय अपने विषय-भूत एक अंश को ही सम्पूर्ण वस्तु मान कर उसी का प्रतिपादन करने के साथ दूसरे अंशो का निरसन करता है। अतः जो अभिप्राय एकान्त स्पर्शी होने पर भी उस वस्तु के दूसरे अविवक्षित अंशो के विषय मे केवल उदासीन रहता है, उस अंश के का आग्रह नही रखता और केवल अपने वक्तव्य अंश मे ही प्रवृत्ति होता है वही नय है। इस तरह अनेकान्त का मूल नय है। नय को जाने बिना अनेकान्त को नही जाना जा सकता।

नय का विकास

जैन दर्शन मे वस्तु को द्रव्य पर्यायात्मक या सामान्य विशेषात्मक माना है। किन्तु द्रव्य और पर्याय का अस्तित्व जुदा जुदा नही है। दोनो का एक ही अस्तित्व है द्रव्य के बिना पर्याय नही, पर्याय के बिना द्रव्य नही। जैसे दूध, दही, मक्खन और घी रूप पर्याय से रहित गोरस नही होता है और गोरस से रहित दूध, दही, मक्खन घी नही होते। दोनो ही परस्पर मे अभिन्न है केवल दृष्टिभेद या विवक्षा भेद से ही दोनो मे भेद है। इसी से द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु के अंशग्राही नयो का नाम द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक है। ये दो ही मूल नय है शेष सब नय इन्ही दोनो नयो के भेद प्रभेद है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार मे इन्ही दोनो नयो के द्वारा द्रव्य को एक अनेक बतलाया है। इन्ही के रूपान्तर निश्चयनय और व्यवहार नय से उन्होंने सब पदार्थों का निरूपण समयसार मे किया है। उमास्वामी ने तत्वार्थ सूत्र मे (१।३३) मे केवल सात नयो का निदश है। नयों के स्वरूपादि का विशेष विवेचन समन्तभद्र और सिद्धसेन के ग्रन्थो में मिलता है।

सिद्धसेन ने अपने सन्मति[२] तर्क के प्रथम काण्ड मे नय का ही विवेचन किया है। तीसरी गाथा से मुख्य प्रतिपाद्य विषय का अवतरण करते हुए उन्होने

२. सन्मति तर्क का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रथमवार प्रकाशन ज्ञानोदय ट्रस्ट अहमदाबाद से वि०स० २०१९ मे हुआ है।

कहा है–तीर्थंकरो के वचनो की सामान्य और विशेष रूप राशियों के मूल प्रतिपादक द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय है । बाकी के सब इन दोनों के ही भेद हैं । आगे इन दोनो नयो का विशेष विवेचन करते हुए कहा है ।

१ द्रव्यार्थिक का वक्तव्य पर्यायार्थिक की दृष्टि में नियम से अवस्तु है इसी तरह पर्यायार्थिक की वक्तव्य वस्तु द्रव्यार्थिक की दृष्टि मे अवस्तु है (गा० १०)

२. पर्यायार्थिक की दृष्टि मे सभी पदार्थ नियम से उत्पन्न और नष्ट होते है द्रव्यार्थिक की दृष्टि मे सभी वस्तुएं सदा उत्पत्ति और विनाश से रहित है । (गा० ११)

३. दोनो मूल नय अलग अलग मिथ्यादृष्टि है । (गा० १३)

४. जिस तरह ये दोनो नय उसी तरह दूसरे सब नय भी अलग अलग द्रव्य है (गा० १५)

५. दोनो मूलनय अलग अलग मिथ्यादृष्टि क्यो है ? इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है ।

६ द्रव्यार्थिक के पक्ष मे संसार नही घटता क्योकि वह नित्यत्ववादी है और पर्यायार्थिक के पक्ष मे भी संसार नही घटता क्यो कि वह नाशवादी है । नित्यवाद मे भी सुख दुःख सम्भव नही और सर्वथा विनाशवाद मे भी सम्भव नही है । (गा० १७-२०)

जैसे मूल्यवान रत्न भी यदि बिखरे हुए हों तो रत्नावली नाम नही पाते उसी तरह सभी नय परस्पर में निरपेक्ष होने पर सम्यग्दर्शन व्यवहार नहीं पा सकते । और जैसे वे ही रत्न अपने अपने गुण के अनुसार डोरे मे पिरोये जाने पर रत्नावली कहलाते हैं वैसे ही सभी नय यथोचित रूप से संकलित होकर व्यवस्थित होने पर सम्यग्दर्शन व्यवहार पाते हैं ।

इस तरह आचार्य सिद्धसेन ने नयों के सम्बन्ध में अनेक आवश्यक बातो का कथन करने के साथ अपने कुछ विशेष मन्तव्य भी रखे । उन्होंने सात नयों में से नैगम को पृथक नय स्वीकार नही किया तथा व्यवहार नय पर्यन्त ही द्रव्यार्थिक की मर्यादा स्थापित की और ऋजुसूत्र नय को पर्यायार्थिक नय का भेद माना ।

आचार्य समन्तभद्र ने अपने आप्त[3] मीमांसा के अन्त मे नय का स्वरूप बतलाया तथा सापेक्ष नयों को सम्यक् और निरपेक्ष नयो को मिथ्या कहा (श्लोक १०६,१०८) ।

अपने बृहत्स्वयंभूस्तोत्र मे भगवान विमल जिन की स्तुति मे भी परस्पर सापेक्ष नयों को स्वपरोपकारी कहा तथा अरजिन की स्तुति मे अनेकान्त मे अनेकान्त की अवतारणा करके अनेकान्त की सर्वव्यापकता को सिद्ध किया । प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त और नय की अपेक्षा एकान्त है । यह कथन सर्वप्रथम उन्ही के ग्रन्थ मे मिलता है । इन दोनों आचार्यों के पश्चात् आचार्य मल्लवादी ने द्वादशाग[4]

---

३. आप्त मीमासा और वृ० स्वं० स्तोत्र का हिन्दी अनुवाद वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट देहली से प्रकाशित हुआ है ।

४ इस ग्रन्थ पर सिंह सूरि की टीका ही उपलब्ध है । उसके कुछ भाग का प्रकाशन बडौदा गायकवाड सिरीज से हुआ था । उसके पश्चात् वि०स० २००४ मे लब्धी स्सूरिश्वर जैन ग्रन्थमाला छाणी से हुआ ।

नयचक्र नाम का ग्रन्थ रचा। सम्भवतया नय पर यह प्रथम स्वतन्त्र ग्रन्थ था। इसके नाम मे नय के साथ चक्र शब्द सयुक्त करके नयचक्र नाम दिया गया। चक्र गाडी के पहिये को कहते हैं। पहिये मे जो डण्डे लगे होते हैं उन्हे अर कहते है। इस नय चक्र मे भी विधि निषेध रूप १२ अर होने से द्वादशार नयचक्र नाम दिया गया।

नय को चक्र की उपमा क्यो दी गई यह बात विचारणीय है। हमारी दृष्टि मे चक्र का कोई भाग सदा ऊचा या नीचा नही रहता। चक्र के चलने पर ऊचा भाग नीचा और नीचा भाग ऊचा हो जाता है। नय की भी ऐसी ही स्थिति है विवक्षा-वश वस्तु के एक अ श को ग्रहण करने वाला नय मुख्य होता है और विवक्षा नही होन पर वही गौण हो जाता है। नय की इसी सरणि का सूचन उसके साथ सयुक्त चक्र शब्द से होता है। उपलब्ध साहित्य को देखते हुए 'नयचक्र' नाम की परम्परा का सर्वत्र यही नय चक्र प्रतीत होता है।

तत्वार्थ सूत्र के व्याख्याकार आचार्य पूज्यपाद, भट्टाकलक और विद्यानन्द ने अपने अपने व्याख्या-ग्रन्थो मे नय के सात भेदो का विवेचन किया है। इन तीनो मे से आचार्य विद्यानन्द ने अपने 'तत्वार्थ श्लोकवार्तिक' मे नय की स्थिति को विशेष रूप से स्पष्ट किया है। भट्टाकलक देव ने अपने लघीयस्त्रय और सिद्धिविनिश्चय म नयो का सुन्दर विवेचन किया है। यह विवेचन दार्शनिक सरणिको लिये हुए है। 'सिद्धिविनिश्चय' का दसवा प्रस्ताव अर्थ नय सिद्धि है और ग्यारहवा प्रस्ताव शब्द नय सिद्धि है। अकलक देव ने सात नयो मे से नैगम से लेकर ऋजुसूत्र पर्यन्त नयो का अर्थ प्रधान होने से अर्थनय और शेष तीन नयो के शब्द प्रधान होने से शब्द नय कहा है।

(लघीय स्त्रय का २२)। ऊपर लिख आये है कि ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते है तथा उस अभि-प्राय को ही पूर्ण वस्तु मानना दुर्नय या नयाभास है। अकलंक देव ने नयाभास का विवेचन करते हुए वैशेषिक दर्शन को द्रव्यार्थिकाभास, साख्यमत को नैगमाभास, ब्रह्मवाद को सग्रहाभास तथा बौद्ध-मत को ऋजुसूत्राभास बतलाया है।

अकलक के अनुवादक आचार्य विद्यानन्द ने तत्वार्थ श्लोकवार्तिक मे प्रथम अध्याय के छठे तथा तेतीस के सूत्रो की व्याख्या मे नय का इतना सुन्दर विवेचन किया है कि उस विवेचन का संकलन नय[५] विवरण नाम से किसी ने पृथक कर दिया है और वह एक स्वतन्त्र प्रकरण जैसा प्रतीत होता है। इसमे आचार्य विद्यानन्द ने प्रमाण और नय के भेद को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रमाण स्व और अर्थ का निश्चायक है तो नय उसके एक देश का निश्चायक है वह अ श न तो वस्तु है और न अवस्तु है किन्तु वस्तु का अ श है जैसे समुद्र का अ श न समुद्र है और न असमुद्र है किंतु समुद्राश है। यदि अ श को ही समुद्र कहा जायगा तो शेष अ श असमुद्र कहलायेगे या फिर एक एक अ श को समुद्र मानने पर बहुत से समुद्र हो जायेगे इसी तरह नय का विषय स्वार्थैकदेश वस्तु न ही है क्योकि उस एक देश को ही वस्तु मानने पर स्वार्थ के अन्य देश अवस्तु कहलायेगे या फिर एक एक देश को ही वस्तु मानने से वस्तु बहुत्व का प्रसग प्राप्त होगा। वह एक देश अवस्तु भी नही है उसे अवस्तु मानने से शेष अ श भी अवस्तु कहलायेगे और तब वस्तु की व्यवस्था ही नही बन सकेगी। इसलिये नय का विषय वस्तु का एक देश है।

इस पर से यह आशका की गई कि जैसे अ शी

५. संस्कृत प्रथम गुच्छक (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित) मे।

वस्तु को जानने वाले ज्ञानको प्रमाण कहते है वैसे ही उसके एक अंश को जानने वाला नय प्रमाण क्यों नहीं है[६] इसका उत्तर देते हुए कहा है कि जिस अंशी के सब अंश गौरा है उसका ज्ञान नय है और वह द्रव्यार्थिक है किन्तु जिस अंशी के सभी अंश प्रधानता को लिये हुए हो उसका प्रमाण ही है अतः प्रमाण से नय भिन्न है।

इस पर पुन आशका की गई कि यदि नय प्रमाण नही है तो वह अप्रमाण हुआ और अप्रमाणात्मक नय से वस्तु का यथार्थ ज्ञान कैसे हो सकता है ? तो इसका उत्तर दिया गया कि नय न तो प्रमाण है और न अप्रमाण है किन्तु प्रमाण का एक देश है।

अब प्रश्न हुआ कि जैन दर्शन मे पाच ज्ञान प्रमाण माने गये हैं उनमे से किस प्रमाण का एक देश नय है ? इसका उत्तर दिया गया कि मतिज्ञान अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान से ग्रहीत वस्तु के अंश मे नयों की प्रवृत्ति सम्भव नही है क्योकि नय समस्त देश और कालवर्ती अर्थ को विषय करते है और मति आदि ज्ञानो का विषय समस्त देश और कालवर्ती पदार्थ नही है। नय त्रिकलावर्ती समस्त पदार्थों के एक देश मे प्रवृत्त होते हैं इसलिये वे केवलज्ञान के भेद हैं ऐसा भी नही समझना चाहिये क्योंकि केवलज्ञान स्पष्ट है और नय अस्पष्ट अवभासी है। शेष बचे श्रुत ज्ञान के ही भेद नय है।[७]

इस तरह आचार्य विद्यानन्द ने नय की स्थिति को सम्यक् रीति से स्पष्ट किया है।

आचार्य समन्तभद्र के 'आप्तमीमासा' नामक प्रकरण पर अकलक देव ने अष्टशती नामक भाष्य रचा है और भाष्य पर आचार्य विद्यानन्द ने अष्टसहस्त्री नामक दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की है। कारिका १०४ पर निर्मित भाष्य की एक पंक्ति इस प्रकार है– 'द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक प्रविभागवशा न्नैगमादय शब्दार्थनया वहुविकल्पा मूलनय द्वय शुद्धय शुद्धिभ्याम्' इसकी व्याख्या में विद्यानन्द ने मूलनय द्रव्यार्थिक की शुद्धि और अशुद्धि से नयो के भेदो का विवेचन करते हुए नैगम नय के अनेक भेदो का निर्देश किया है और नय के भेदो को नयचक्र से जानने की प्रेरणा की है। 'तत्वार्थ[८] श्लोकवार्तिक' मे भी उन्होने नैगमादिनयो के भेदो का विवेचन करके नय चक्र मे उनका विस्तार देखने का निर्देश किया है।

आचार्य विद्यानन्द के पश्चात् आचार्य देवसेन के नयचक्र तथा उसके ऊपर विरचित 'आलाप पद्धति' मे तथा तदनुसारी द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नय चक्र मे ही नयो का भेद प्रभेदो का विस्तृत विवेचन मिलता है। जिनका परिचय आगे कराया जायेगा। इस तरह हम देखते है कि उत्तरोत्तर नय तथा तद्विषयक साहित्य का क्रमश. विकास हुआ है और इसका कारण सम्भवतया नयों की उपयोगिता के साथ नय विषयक जिज्ञासा की वृद्धि है।

---

६. 'तत्वार्थश्लोकवार्तिक' मूल गाधी नाथारग जैन ग्रन्थ माला बम्बई से सन् १६१८ मे प्रकाशित हुआ। हिन्दी अनुवाद के साथ कुन्थु सागर जैन ग्रन्थमाला शोलापुर से प्रकाशित हुआ है।

७. इति मूलनय द्वय शुद्धयशुद्धिभ्यां बहुविकल्पा नयाः नयचक्रत. प्रतिपत्तव्या. । अष्ट स०पृ० २८८

८ सक्षेपेण नयास्तावद व्याख्यातास्तत्र सूचिताः। ताद्विशेषा प्रपञ्चेन संचित्या नयचक्रतः। ॥१०२॥ त० श्लो०वा० १।३३।

नय का महत्व

आचार्य देवसेन ने अपने नयचक्र के प्रारम्भ में नय का महत्व बतलाते हुए कहा है कि जैसे सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन है या सप्त धातु का मूल भोजन के पाचन से बनने वाला रस है वैसे ही अनेकान्त का मूल नय है। तथा लिखा है कि जिनके नय रूपी दृष्टि नही है वे वस्तु के स्वरूप को कैसे देख सकते है और जो वस्तु के स्वभाव से ही अनजान है वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते है जैसे धर्महीन[९] मनुष्य सुख की वाञ्छा करता है, जैसे प्यासा मनुष्य बिना पानी के प्यास बुझाना चाहता है वैसे ही नय के ज्ञान से रहित मनुष्य वस्तु स्वरूप का निश्चय करना चाहता है इन वचनो से स्पष्ट है कि वस्तु स्वरूप को जानना कितना आवश्यक है। और वस्तु स्वरुप के ज्ञान के लिये नयो का ज्ञान कितना आवश्यक है।

असल मे ज्ञानो मे दो ज्ञान सब से बड़े है- प्रत्यक्ष ज्ञानो मे केवलज्ञान और परोक्षज्ञानो मे श्रुतज्ञान। दोनो ही परस्पर एक दूसरे के कारण है। केवलज्ञान के द्वारा श्रुत या आगम का प्रकाशन होता है और आगम के अभ्यास से केवलज्ञान प्रकट होता है। इस तरह केवल ज्ञानी और आगम की सन्तान अनादि है। जैसे केवलज्ञान सर्वतत्व का प्रकाशक है वैसे ही श्रुत भी सर्वतत्व प्रकाशक है। जैसे आगम दूसरो के लिये समस्त जीवादि तत्वों का कथन करता है वैसे ही केवली भी करता है अन्तर केवल इतना है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष है और श्रुतज्ञान परोक्ष है। इस प्रकार श्रुतज्ञान ही ऐसा है जो ज्ञान रूप भी है और वचन रूप भी है किन्तु जैसे केवल ज्ञान समस्त तत्वो का एक साथ जानता हैं उस तरह कोई वाक्य ऐसा नहीं है जो एक साथ सब का कथन कर सके।

इसके साथ ही वचन का आधार वक्ता का अभिप्राय है वक्ता वस्तु को जानकर भी अपने अभिप्राय के अनुसार कथन करता है। इससे किसी भी एक वस्तु के बारे मे जितने वचन प्रकार सभव है उतने ही उस वस्तु के विषय में भिन्न-भिन्न अभिप्राय है ऐसा समझना चाहिये।

इन अभिप्रायो को ही नय कहते है। अतः एक वस्तु के एक-एक धर्म को विषय करने वाले ये जितने भी वक्ता के अभिप्राय रूप नय है वा उनके विषयभूत त्रिकालवर्ती एकान्त है उन सब एकातों का जो तादात्म्य रूप सम्बन्ध है वही तो द्रव्य है। ऐसा ही स्वामी समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

> नयोपनयैकातानां त्रिकालानां समुच्चयः ।
> अविभ्राड्भावसम्बधो द्रव्यमेकमनेकधा ॥
> आप्तमीमांसा, श्लो० १०७।

इसीलिये जैन दर्शन मे नय का इतना महत्व है। नयो के ज्ञान के बिना वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नही हो सकता और वस्तु स्वरूप का ज्ञान हुए बिना सम्यग्दृष्टि नही हो सकता।

नय के भेद

आचार्य सिद्धसेन ने अपने सन्मति तर्क प्रारम्भ करते हुए कहा है कि तीर्थंकर के वचनो की

---

९. जह सद्धणांमाई सम्मत्तं जह तवाइ निलये। धाओ वा एयरस तह णयमूलो अणेयतो ॥१०॥

सामान्य और विशेष रूप राशियों के मूल व्याख्यान करने वाले द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय है। शेष सभी नय इन दोनो के ही भेद है। यथा–

तित्थयर वयरा सगह विसेस पत्थार मूलवायरणी।
दव्वट्ठयो य पज्जवण ओ य सेसा वियप्पा सिं।।
सन्मति १।३

यही बात आचार्य देवसेन ने नय चक्र मे कही है–
दो चेव मूलिमणया भणिया दव्वत्थ पज्जयत्थगया।
अण्णं असख सखा तं तब्भेया मुणेयव्वा।।११।।

आशय यह है कि वस्तु सामान्य विशेषत्मक या द्रव्य पर्यायात्मक है। सामान्य या द्रव्याश को ग्रहण करने दृष्टि को द्रव्यार्थिक नय और विशेष या पर्यायाश को ग्रहण करने वाली दृष्टि को पर्यायार्थिक नय कहते। इसीसे ये दो ही मूल नय है। इन दोनो दृष्टियो का विवेचन आचार्य अमृतचन्द्र जी ने प्रवचनसार की टीका मे किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने न तो नय की परिभाषा दी है और न उसके भेदो का निर्देश किया है किन्तु द्रव्य की चर्चा करते हुए लिखा है:

दव्वट्ठिएण सव्व दव्व त पज्जयट्ठिएण पुणो।
हवदि य अण्णमणंण तक्काले तम्मयत्तादो।।११४।।

इसी की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—सभी वस्तु सामान्य विशेपात्मक है। अत. वस्तु के स्वरूप को देखने वालों के क्रमशः सामान्य और विशेष को जानने वाली दो आखे है—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। जब पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके एक मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा जीव द्रव्य को देखा जाता है तो नारक, तिर्यच, मनुष्य, देव और सिद्ध पर्यायरूप विशेषो मे रहने वाले एक जीव सामान्य को देखने वाले और विशेषो को न देखने वालों को सब जीव द्रव्य है, ऐसा भासित होता है और जब द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके केवल मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है तो जीव द्रव्य में रहने वाले नारक तिर्यंच मनुष्य देव और सिद्ध पर्यायरूप विशेषो को देखने वाले और सामान्य को न देखने वाले जीवो को वह जीव द्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है क्यो कि द्रव्य उन उन पर्यायो के समय उस उस पर्यायमय होने से उन पर्यायो से अभिन्न है। और जब उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनो आखों को एक साथ खोलकर देखा जाता है तो नारक तिर्यंच मनुष्य देव और सिद्ध पर्यायो मे रहने वाला जीव सामान्य और जीव सामान्य मे रहने वाले नारक तिर्यच मनुष्य देव और सिद्ध पर्याय रूप विशेष एक साथ दिखाई देते है। एक आख मे देखना एक देश देखना है और दोनो आखो से देखना सम्पूर्ण देखना है।

इस तरह द्रव्यार्थिक नय वस्तु को केवल सामान्य रूप ही देखता है और पर्यायार्थिक नय उसी वस्तु को केवल विशेप रूप से देखना है। इसलिये पर्यायार्थिक की दृष्टि मे सभी पदार्थ नियम से उत्पन्न होते है और नष्ट होते है। किन्तु द्रव्यार्थिक की दृष्टि मे सभी वस्तुए सर्वदा न उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि कोई भी वस्तु ध्रौव्य से रहित केवलमात्र उत्पाद विनाशवाली नहीं है। बल्कि प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है। वह मूल रूप मे ध्रुव रहने पर भी प्रतिसमय परिवर्तनशील है। वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है। एक ही वस्तु मे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य विरुद्ध नही है, वास्तविक

---

११. धम्म विहीणो सोक्ख तहरा छेद जलेण जह रहिदो। तह इह बदई मूरो णयरहिओहव्वणि च्छिति।।६।।

नयचक्र

है। ये तीनों–उत्पाद व्यय ध्रौव्य वस्तु मे एक साथ मिलकर ही रहते है। अत दोनो नयो का अलग-अलग विषय वस्तु का लक्षण नही है। इसलिये दोनो ही मूल नय अलग-अलग मिथ्या है। यदि कोई दोनो मे से एक ही नय को अपना कर वस्तु के सम्पूर्ण रूप को कहने का दावा करता है तो वह मिथ्यादृष्टि है। क्योकि किसी एक नय को ही स्वीकार करने पर ससार मोक्ष नही बन सकते है।

केवल द्रव्यार्थिक या केवल पर्यायार्थिक के पक्ष मे ससार नही बनता क्योकि उनमे से एक केवल नित्यतावादी है और दूसरा केवल अनित्यतावादी है। दोनो ही पक्षो मे सुख दुःख का सम्बन्ध नही बनता क्योकि आत्मा की कायिक, वाचनिक और मानसिक प्रवृत्ति के कारण कर्म का बन्ध होता है और कषाय के कारण बद्ध कर्म मे स्थिति पडती है किन्तु आत्मा को सर्वथा अपरिवर्तनशील या सर्वथा क्षणिक मानने पर न बन्ध ही बनता है और स्थिति ही। और जब बन्ध ही सम्भव नही है तो ससार के भय की बात तथा मोक्ष सुख की बात काल्पनिक ठहरती है क्योकि कर्मबन्ध से ही ससार होता है और उसको काटने से मोक्ष सुख मिलता है ऐसा सभी मानते है। अत, केवल अपने-अपने पक्ष का आग्रह करने वाले सभी नय मिथ्या है परन्तु परस्पर सापेक्ष होने से सब समीचीन है।

इस तरह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से नय के दो ही मूल भेद है। उनमे से द्रव्यार्थिक नय के तीन भद है–नैगम, सग्रह और व्यवहार। इनमे से जो सत्ता आदि की अपेक्षा मे सबको पर्यायरूप कलक का अभाव होने से अद्वैत रूप से जानता है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक संग्रह नय है। और जो सग्रह नय के द्वारा ग्रहीत पदार्थों के भेद प्रभेदो को ग्रहण करता है वह व्यवहार नय है। यत. यह नय पर्याय रूप कलक से मुक्त होता है। अत अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। इसके सम्बन्ध मे सन्मति सूत्र की नीचे लिखी गाथा द्रष्टव्य है–

दव्वट्ठिय णय पयडी सुद्धा सगहपरूवणाविसम्रो।
पडिरूव मणवयणत्थणिच्छयो तस्स ववहारोत।१।४।

अर्थात् सग्रहनय की प्ररूपणाका विषय द्रव्यार्थिक नय की शुद्ध प्रकृति है और पदार्थ के प्रत्येक भेद के प्रति शब्दार्थ का निश्चय करना उसका व्यवहार है।

इसका आशय यह है कि सत्ता या द्रव्य के अभेद से वस्तु के ग्रहण करने वाला सग्रह नय है और सत्ता या द्रव्य के भेद से वस्तु को ग्रहण करने वाला व्यवहार नय है। इसी से संग्रह नय सामान्यग्राही द्रव्यार्थिक नय की शुद्ध प्रकृति है और व्यवहार नय अशुद्धप्रकृति है। व्यवहार नय को द्रव्यार्थिक नय की अशुद्ध प्रकृति कहने का कारण यह है कि यद्यपि व्यवहार नय सामान्य धर्म की मुख्यता से ही वस्तु को ग्रहण करता है। इसलिये वह द्रव्यार्थिक है फिर भी वह सामान्य या अभेद मे भेद मानकर प्रवृत्त होता है इसलिये वह द्रव्यार्थिक होते हुए भी उसकी अशुद्ध प्रकृति है।

जो सत्य है वह भेद और अभेद दोनो को छोड कर नही रहता है। इस प्रकार जो केवल एक को ही अभेद या भेद को ही प्राप्त नही होता किन्तु मुख्यता और गौणता से भेदाभेद दोनो को ही ग्रहण करता है। उसे नैगम नय कहते है। अर्थात् सग्रह और व्यवहार नय के परस्पर भिन्न दोनो विषयो का अवलम्बन करने वाला नैगमनय है। शब्द, शील, कर्म, कार्य, कारण आधार, आधेय, सहचार, मान, मेय, उन्मेय, भूत, भविष्यत, वर्तमान आदि का आश्रय लेकर होने वाला उपचार नैगम नय का विषय है। आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक व अष्ट सहस्त्री (पृ० २८७) मे नैगम नय के अनेक भेदो का कथन किया है। यह नय भी अशुद्धि को लिये हुए है क्योंकि सोपाधिवस्तु को

विषय करता हैं। आशय यह है कि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से शुद्धि—अभेद है और अशुद्धि भेद है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से शुद्धि भेद है, अशुद्धि अभेद है क्योंकि द्रव्यार्थिक का शुद्ध विषय द्रव्य ही है और पर्यायार्थिक का शुद्ध विषय पर्याय ही है। द्रव्य अभेदरूप है और पर्याय भेद रूप है। द्रव्यार्थिक की दृष्टि मे जितना अ श भेद को विषय करता है उतना अ श अशुद्धि मूलक या अशुद्धि का जनक हैं और पर्यायार्थिक की दृष्टि मे जितना अ श अपभेद को विषय करता है उतना अ श अशुद्धि मूलक या अशुद्धि का जनक होता है।

पर्यायार्थिक नय के चार भेद है—ऋ जुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, और एवमूत है। इनमे से ऋ जुसूत्र नय अशुद्धि मूलक है क्योंकि वह काल भेद और लिग भेद होने पर अभेद रूप का ही ग्राहक है शब्द नय शुद्धि मूलक है क्योकि कालादि के भेद से वस्तु को भेद रूप ग्रहण करता है। समभिरूढ नय शब्द नय से भी शुद्धतर है क्योकि पर्यायवाचक शब्दो मे परस्पर भेद होने से वस्तु को भी भेद रूप ग्रहण करता है। एवभूत नय शुद्धतम है क्योकि क्रिया के भेद से भेद मानता है।

त्रिकाल विषयक अपूर्व पर्यायो को छोड कर जो केवल वर्तमान काल विषयक पर्याय को ग्रहण करता है वह ऋ जु सूत्र नय है। अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय की स्थिति के अनेक प्रकार होने से उसके अनेक भेद होते है। यहा शुद्ध ऋजुसूत्र नय का विषय बतलाते है चूंकि इस नय का विषय एक क्षणवर्ती वर्तमान पर्याय है अत; यह नय पकते हुए भात को पच्यमान पक्व कहता है क्योकि उसका कुछ अ श वर्तमान मे पकता है और कुछ अ श पक चुकता है। इसी तरह किये जाने वाले कार्य को क्रियमाण—कृत भोजन करते हुए को भुज्यमान भुक्त कहलाता है। इस नय की दृष्टि में कुम्भकार सज्ञा भी नहीं बनती क्योंकि कुम्भ (घडा) से पहले होने वाली शिविकादि पर्यायों मे तो कुम्भपना नही है इसलिये उनके होने पर तो उनके कर्त्ता को कुम्भकार नही कहा जा सकता है और कुम्भ पर्याय के समय वह कुम्भ अपने अवयवो से ही उत्पन्न हो जाता है उसमे कुम्भकार क्या करता है? कार्य की उत्पत्ति तो उत्पादन कारण से ही होती है ऐसा होने से शेष सहकारी कारणो के व्यपार को निष्फलता का प्रसग आता है। ठहरे हुए किसी पुरुष से कहा से आरहे हो ऐसा प्रश्न करने पर कही से भी नही आ रहा हू ऐसा ऋ,जुसूत्र नय मानता है क्योकि प्रश्न के समय आगमन रूप क्रिया नही पाई जाती। इस नय की दृष्टि मे विनाश निर्हेतुक है उसका कोई कारण नही है जैसा बौद्ध मानते हैं इसी तरह उत्पत्ति भी निर्हेतुक है तथा इस नय की दृष्टि मे सर्वथा अभिन्न दो पदार्थो मे और सर्वथा भिन्न दो पदार्थो मे सयोग सम्बन्ध अथवा समवाय सम्बन्ध भी नहीं बनता है क्योकि जो सर्वथा एक पने को प्राप्त है ऐसे दो पदार्थ मे सयोग या समनवय सम्बन्ध मानने तो विरोध आता है और सर्वथा भिन्न दो पदार्थो मे सयोग अथवा समन्वय सम्बन्ध मानने पर अव्यवस्था पैदा होती है। इसलिये इस नय की दृष्टि मे शुद्ध परमाणु ही वास्तविक है, स्तम्भादि रूप स्कन्धो का बोध है।

इससे लोक व्यवहार के उच्छेद का भय नही करना चाहिये क्योकि लोक व्यवहार तो सर्व नयो से होता है। यह तो ऋ,जुसूत्र नय की दृष्टि को बतलाया है।

कालकारक लिग आदि के भेद से जो वस्तु को भेद रूप ग्रहण करता है उसे शब्द नय कहते है और जो शब्द भेद से अर्थ भेद मानता है। समभिरूढ नय है। जैसे एक ही देवराज इन्दन क्रिया अर्थात् आज्ञा एश्वर्य आदि से युक्त होने से इन्द्र,

शक्तिशाली होने से शुक्र और पुर अर्थात् नगरो का कारण–विभाग करने से पुरन्दर कहलाता है। शब्दनय की दृष्टि मे तो ये तीनो शब्द एक ही लिंग वाले होने से एकार्थक है किन्तु समभिरूढ नय की दृष्टि मे भिन्न भिन्न अर्थ से सम्बन्ध रखने के कारण एकार्थ नही है। चू कि अर्थ भेद के बिना पदो में भेद नही बन सकता इसलिये शब्द भेद से अर्थ भेद होना ही चाहिये यह समभिरूढ नय की दृष्टि है तथा जिस शब्द का जिस क्रिया रूप अर्थ है उस क्रिया रूप प्रवृत्ति जिस समय होती हो उस समय ही उसे उस शब्द के द्वारा अभिहित करना एवभूत नय है। जैसे 'इन्द्र' शब्द का अर्थ आनन्द करने वाला है जिस समय आनन्द करना हो उसी समय इन्द्र है, अभिषेक या पूजन करना हो तो उसे अभिषेचक या पूजक कहना होगा। यह है एव-भूत नय दृष्टि है। इस तरह यह नयो का विवेचन है।

संकटो को जीतने वाले, बुरे सस्कारो पर काबू पाने वाले, साहसी, आत्म सयमी और हठ प्रतिज्ञ लोग ही सच्चा ज्ञान, धर्म और सही आचरण प्राप्त करते है।

भारतीय दर्शन में आत्मा

कुमारी प्रीति जैन एम.ए. रिसर्च स्कालर

इस विशाल विश्व की प्रत्येक वस्तु की ओर मानव अनवरत दृष्टि लगाकर देखता आ रहा है, और प्रयास करता रहा है कि विश्व की समस्त वस्तुओं का मुझे ज्ञान हो। समस्त वस्तुओं के माध्यम से वह विश्व को जानना चाहता है। विश्व को जानने की चिरवाच्छा के साथ ही उसे शका हुई कि क्या मुझमे विश्व को जानने की क्षमता है? क्या मैं विश्व की भौतिक वस्तुओं को जान सकता हू? और इन शकाओं के साथ ही एक नई जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि य हमैं जो समस्त विश्व को जानने के लिये प्रयत्नशील हूं, वह क्या है। उसमे ऐसी कौनसी विशिष्टता है जिसके कारण वह विश्व को जान सकता है और उसके लिये अथक प्रयास कर रहा है? यह जानने की जो उत्सुकता है उसके पीछे कौनसी प्रवृत्ति है, उसमे क्यो कुछ जानने की अभिलाषा है! जानने की यह जिज्ञासा बाह्य से अन्तर्मुखी होती गई और अन्तर से एक के बाद एक प्रश्न, 'मै' कौन हू 'मेरा स्वरूप क्या है' मेरा लक्ष्य क्या है, मै के बारे मे उठने लगे। प्रश्न जटिल किन्तु स्वभाविक है। इन जिज्ञासाओं तथा उत्सुकताओं के माध्यम से उस (मानव) ने अनुभव किया कि मुझ मे तथा विश्व मे दृष्टिगत हो रही प्रायः सभी वस्तुओं मे कुछ पृथकत्व है। परन्तु यह पृथकत्व क्यो है, किस कारण से है? इन सभी शकाओ के समाधान के लिये वह प्रयत्न करने लगा, इसके लिये अध्ययन चिन्तन एवं मनन का सहारा लिया।

अध्ययन–चिन्तन के माध्यम से उसने जाना मैं क्या हूं? मेरा स्वरूप क्या है? ऐसे आग्रही प्रश्न अनादि काल से चले आ रहे हैं। इन प्रश्नो के समाधान हेतु मनीषियों द्वारा काफी चिन्तन होता रहा हैं और उसे व्यवस्थित रूप भी दिया जाता रहा है। अपने चिन्तन के माध्यम से प्राय. सभी मनीषी इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सभी अनुभवो, जिज्ञासाओ आदि के पीछे जो 'मैं' परिलक्षित होता है, वह इन समस्त भौतिक वस्तुओ से पृथक चेतना सत्ता है, जिसे उन्होने आत्मा नाम से अभिहित किया है।

आत्मा की सत्ता स्वीकारने के तुरन्त पश्चात् समस्या सम्मुख आती है कि उसका स्वरूप क्या है? उसमे कौन कौन सी विशिष्टतायें हैं जो उसे इस जगत की अन्य वस्तुओ से पृथक करने मे सहायक होती हैं? वह एक है अथवा अनेक है? वह सादि सान्त है अथवा अनादि अनन्त है? उसका परिणाम क्या है? क्या वह कर्तृत्व भोक्तृत्व शक्ति युक्त है? इत्यादि। इनके समाधान मे सभी भारतीय मनीषियो (दार्शनिको) ने अपने अपने चिन्तन के अनुसार उसका स्वरूप बताया है?

आत्मा का स्वरूप–लगभग सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायो ने आत्माको नित्य, चैतन्य-युक्त एव स्वतन्त्र स्वीकार किया है, चार्वाक दर्शन व बौद्ध दर्शन इसके अपवाद है।

चार्वाक दार्शनिकों ने आत्मा की सत्ता को तो स्वीकार है किन्तु उनके अनुसार पंच महाभूतो से निर्मित इस भौतिक देह से पृथक आत्मा की कोई

नित्य स्वतन्त्र सत्ता नहीं है जब तक देह है तब तक चैतन्य है उसके पश्चात कोई पृथक चैतन्य सत्ता का अस्तित्व नही है।

बौद्ध दार्शनिकों ने भी नित्य शाश्वत आत्म सत्ता का निषेध किया है, परन्तु आत्मा के अस्तित्व का निषेध नही किया। बुद्ध की मान्यता थी कि कि सब कुछ अनित्य, गतिशील, क्षणिक तथा परिवर्तनशील है 'सर्वक्षणिक'। कही भी कोई भी स्थायित्व या नित्यत्व नही है अत; उन्होंने अपनी इस मान्यता के अनुसार स्थायी एव नित्य आत्मसत्ता का निषेध किया है।

बौद्ध दार्शनिको के अनुसार मनुष्य केवल एक समष्टि का नाम है, बाह्य रूप युक्त शरीर, मानसिक अस्थायी, सज्ञा, सस्कार, चेतना के समूह या सघात को ही मनुष्य कहते है। इस संघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई अन्य सत्ता नही है।

इन दोनो दर्शनो के अलावा न्याय दार्शनिक, सांख्य दार्शनिक, मीमासक, अद्वैतवेदान्त दार्शनिक तथा जैन दार्शनिको ने नित्य चैतन्य युक्त तथा स्वतन्त्र आत्मसत्ता स्वीकार की है। इन दार्शनिक सम्प्रदायो ने चार्वाक द्वारा स्वतन्त्र नित्य आत्म सत्ता के निषेध की आलोचना की है। जैन, न्याय व वेदान्त-दर्शन के मानने वालो का कथन है 'मै हू' ऐसा स्व-सवेदन प्रत्येक व्यक्ति को होता है। **जैनों के अनुसार** स्वानुभव प्रत्यक्ष के सिद्ध 'आत्मा' को चार्वाक दार्शनिक किस आधार पर अस्वीकार करता है, जब कि चार्वाक वादियो ने केवल मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण स्वीकार किया है। **नैयायिकों के अनसार** प्रत्येक मनुष्य को 'अहम् सुखी' 'अहम् दुःखी 'अहम् जानामि' इत्यादि भान होता है।

सांख्य, न्याय, मीमासा, अद्वैतवेदान्त व जैन दार्शनिकों ने आत्माका चैतन्य युक्त तो माना किंतु चैतन्य आत्मा का स्वरूप ही है। ऐसा सबने नहीं माना।

न्याय दर्शन व मीमासा दर्शन मे 'चेतना को' आत्मा का एक आगन्तुक गुण माना है। उनकी मान्यतानुसार 'चेतना का' आत्मा के साथ विशेष परिस्थितियो मे ही सम्पर्क होता है, और तभी आत्म चैतन्युक्त होती है, सदैव नही है। न्याय दर्शन मानता है कि आत्मा मे चेतना का सचार तभी होता है जब आत्मा का मन के साथ, मन का इन्द्रियों के साथ, इन्द्रियो का बाह्य वस्तुओ के साथ सम्पर्क होता है, अन्यथा आत्मा चैतन्य शून्य ही होता है। इस मान्यतानुसार जब आत्मा मुक्त होती है तब उसमे ज्ञान चेतना का अभाव रहता है, सुषुप्तावस्था मे भी चेतना का अभाव रहता है।

मीमासा दर्शन भी चेतना को आत्मा का एक औपाधिक गुण मानता है, जो किसी अवस्था विशेष मे उत्पन्न होता है। मीमासा दर्शन की मान्यता है कि आत्मा स्वतः प्रकाशक नही है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो हमे प्रगाढ निद्रा मे भी ज्ञान होता है, जबकि मीमासानुसार ऐसा नही होता।

किन्तु इनसे विपरीत जैन, सांख्य, एव अद्वैतवेदान्ती चेतना को आत्मा का स्वभाव मानते हैं. वस्तु स्वभाव शून्य कदापि नही हो सकती, जब चेतना आत्मा का स्वभाव है तब आत्मा चैतन्य रहित हो जाये यह असम्भव है।

जैन दार्शनिको के अनुसार न्याय दर्शन मे चेतना को आत्मा का आगन्तुक गुण माना है और मुक्तावस्था मे भी जडरूप हो जाती है। ऐसी अवस्था मे बाह्य भौतिक जड-पदार्थों व मुक्तात्मा की स्थिति मे क्या अन्तर शेष रह जाता है, मुक्तावस्था फिर अर्थ मे स्पृहणीय रह जाती, शुष्क शिलावत् मोक्षावस्था से तो यह सुख दुःख रूप संसार ही भला हैं। जैनो के अनुसार तो जीव अथवा आत्मा ज्ञान चैतन्य स्वरूप तथा सदा प्रकाशयुक्त है।

अद्वैतवेदान्ती भी आत्मा को ज्योतिर्मय मानता है। जिस प्रकार प्रकाशित करने के लिये कोई वस्तु उपस्थित न रहने पर भी सूर्य स्वतन्त्र रूप से चमकेगा ही उसी प्रकार आत्मा के अन्दर चैतन्य सदा विद्यमान रहता है, ऐसी अवस्था मे भी जबकि कोई ज्ञातव्य विषय उपस्थित न भी हो।

सांख्य का पुरुष (आत्मा) शुद्ध चैतन्य स्वरूप है जो सर्वदा ज्ञाता के रूप मे रहता है। वह चैतन्य का आधार भूत द्रव्य नहीं अपितु स्वतः चैतन्य स्वरूप है।

आत्मा व ज्ञान

मानव की कुछ जानने की इच्छा, उत्कंठा को देखते हुये जिज्ञासा होती है कि मानव का किसी भी वस्तु को जानना, उसका ज्ञान होना यह कैसे सम्भव है? यह किस की प्रवृत्ति है, यह कौन सी शक्ति है जिसके कारण उसकी प्रवृत्ति ऐसी है, अथवा जानना देखना आत्मा का स्वभाव है। अथवा किसी विशिष्ट संयोग मे आत्मा ज्ञान (जानने) की ओर प्रवृत्त होती है।

भारतीय दार्शनिको के अनुसार 'ज्ञान' आत्मा की एक विशिष्ट शक्ति अथवा गुण है, जिसके कारण आत्मा की जानने की प्रवृत्ति है। ज्ञान को आत्मा का गुण प्राय सभी भारतीय दार्शनिकों ने माना है, किन्तु कुछ दार्शनिक गुण मानते हुए औपाधिक अथवा संयोगिक सम्बन्ध मानते हैं और कुछ दार्शनिक ज्ञान को आत्मा का स्वभाव मानते हुए तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं। (ज्ञान को चेतना भी कहा जाता है)।

न्याय दर्शन मे 'चैतन्य' आत्मा का औपाधिक गुण है। नैय्यायिको के अनुसार चेतना का आत्मा के साथ किन्ही विशेष परिस्थितियों मे सम्पर्क होता है। अत ज्ञान अथवा चैतन्य का भी आत्मा के साथ किन्ही विशिष्ट परिस्थितियों मे ही सम्पर्क होता है इनके अनुसार आत्मा व ज्ञान दोनो का संयोगात्मक सम्बन्ध है। अत. आत्मा ज्ञानमयी नही है।

साख्य दर्शन आत्मा व ज्ञान के बारे मे अधिक स्पष्ट नही है। साख्य दार्शनिक मानते हैं कि पुरुष शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, वह चैतन्य का आधारभूत द्रव्य नही अपितु स्वय चैतन्य स्वरूप है, चैतन्य इसका स्वभाव है। परन्तु इस मान्यता के साथ में वे यह भी कहते है कि आत्मा को स्वतः विषयो का साक्षात्कार नही होता, यदि ऐसा होता तो आत्मा को सब वस्तुओ का ज्ञान सदा होना चाहिये, जब कि ऐसा होता नही है। कारण यह है कि आत्मा को बुद्धि मन तथा इन्द्रियो के सहारे ही पदार्थों का ज्ञान होता है। साख्य मतानुसार न अकेले पुरुष मे ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है और न बुद्धि मे, बल्कि दोनो के सम्मेलन से ही ज्ञान, अनुभव व्यापार समझाया जा सकता है। बुद्धि प्रकृति मे उत्पन्न होती है। अतः पुरुष (आत्मा) से ज्ञान भिन्न ही है। यहा सांख्यमत स्पष्ट नही है, वह आत्मा को शाश्वत चैतन्य मानते हुए भी ज्ञान युक्त नही मानता। अपितु जड प्रकृति के परिणाम बुद्धि के सम्मेलन से ज्ञान की उत्पत्ति मानते है। मीमासा दर्शन की मान्यता भी न्याय दर्शन जैसी ही है, ये भी चेतना को आत्मा का औपाधिक गुण मानते हैं।

अद्वैतवेदान्तियों का मानना है कि चैतन्य, ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। आत्मा का यथार्थ स्वरूप नित्य ज्ञान है। आत्मा सर्वांगरूप मे प्रज्ञा के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है। प्रज्ञा ही उसका अनन्य स्वरूप है, जैसे नमक का स्वरूप उसके नमकीन स्वाद में है। आत्मा ज्ञानरूप है तथा ज्ञाता भी है। ज्ञाता वस्तुत. ज्ञान से पृथक नही होता।

विशिष्टाद्वैत दर्शन के अनुसार आत्मा ज्ञान का सारतत्व है और ज्ञान उसका गुण है। आत्मा नित्य है इसलिये ज्ञान भी, जो इसका गुण हैं, नित्य है।

जैन दर्शन मे ज्ञान आत्मा का गुण है किन्तु औपाधिक नही है। जैन दर्शन के अनुसार गुण और गुणी पृथक्-पृथक् नही है, गुणी से भिन्न कोई गुण नही है। क्योकि गुणी से पृथक् गुण उपलब्ध नही होते। गुण गुणी के स्वभावी होते है, उसमे तादात्म्य सम्बन्ध होता है।

जैन-दर्शन के अनुसार जैसे अग्नि स्वभाव से उष्ण होती है वैसे ही आत्मा स्वभाव से ज्ञानी है। देवदत्त और डण्डा ये दो पृथक् वस्तुएं है, जब देवदत्त डण्डे को हाथ मे लेता है तब वह डण्डे के सम्बन्ध से दण्डी कहलाने लगता है, किन्तु जैसा सम्बन्ध डण्डे व देवदत्त मे है वैसा सम्बन्ध आत्मा व ज्ञान मे नही है। आत्मा व ज्ञान गुणी व गुण है, गुण व गुणी के प्रदेश पृथक् पृथक् नही होते इसी से गुण सदैव गुणी वस्तु मे ही पाया जाता है। गुणी की विशिष्टता ही गुणो के कारण है। एक प्रकार से गुण व गुणी मे तादात्म्य सम्बन्ध है।

आत्मा की अनेकता

आत्मा के सम्बन्ध मे विचार करते समय प्रश्न उठता है कि आत्मा एक है अथवा अनेक? प्राय सभी भारतीय दार्शनिको ने आत्मा की अनेकता मे विश्वास किया है, मात्र अद्वैतवेदान्त इसका अपवाद है।

सांख्य दार्शनिको के अनुसार आत्मा प्रत्येक शरीर मे भिन्न भिन्न है। यदि सभी शरीरो मे एक ही आत्मा मानी जाये तो एक के उत्पन्न होते ही सब मृत हो जायेगे। प्रत्येक मानव की प्रवृत्तियो, सुख दुःख रूप अनुभव इत्यादि भिन्न-भिन्न हैं।

नैयायिक भी आत्मा की अनेकता को स्वीकारते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की जीवात्मा पृथक् पृथक् है। यदि पृथक् न होती तो सबके अनुभव एक समान हो जाया करते। न्याय भाष्य (३:२,३२) मे एक ही आत्मा द्वारा भिन्न-भिन्न शरीरों के सचालन की सम्भावना को असाधारण घटना माना गया है।

मीमासक भी आत्मा के अनेकत्व की प्राकल्पना को मानते है, इसलिये कि अनुभवो की विविधता की व्याख्या की जा सके। जिस प्रकार मेरी क्रियायें मेरी आत्मा के कारण है, इसी प्रकार दूसरो की क्रियाये अन्य आत्माओं के कारण है। आत्मा के गुणो की अपेक्षा जो भेद दिखाई देते है वे भिन्न भिन्न आत्माओ के कारण ही है।

जैन-दर्शन मे भी आत्मा की अनेकता मान्य है। जैन दर्शन कर्म की अलध्य व्यवस्था मे विश्वास करता है। जो प्राणी जैसा करता है वैसा ही फल भोगता है। आनुभविक स्तर पर हम सुख दुख, अमीर-दरिद्र, जन्म-मृत्यु, रोग-शोक गत आदि विभिन्नताओ का अनुभव करते है, यह सब विभिन्नता कर्मजन्य है। प्रत्येक आत्मा पृथक् पृथक् कर्म करती है, तदनुसार कर्मफल भोगती है। यदि एक ही आत्मा होती तो एक को मोक्ष प्राप्त होते ही सब प्राणियो को मोक्ष प्राप्त हो गया होता। एक ही आत्मा है तो वह ससारी होगी या मुक्त, यदि वह ससारी आत्मा है तो सब प्राणियो को संसारी होना चाहिये और यदि वह मुक्तात्मा है तो सब प्राणियो को भी मुक्त होना चाहिये। अद्वैतवेदान्त मे एक ही आत्मा ब्रह्मरूप भी है और ससारियों में भी व्याप्त है, यह किस प्रकार सम्भव है, जबकि शकर ने आत्मा को अविभागी व एक माना है? अद्वैत मानने वाले शकर एक ही आत्मा में एक ही समय ब्रह्मरूप व निरा अज्ञानी व्यावहारिक स्तर

का प्राणी मानकर ही द्वैत को स्थान दे रहे है।

आत्मा का परिमाण

आत्मा के स्वरूपादि के बारे मे विचार करने के पश्चात् प्रश्न उठता है कि उसका परिमाण कैसा है? क्या आत्मा का कोई निश्चित परिमाण है? अथवा वह निराकार है? इस सम्बन्ध मे सभी दार्शनिको की मान्यता पृथक पृथक है। आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकारने वाले सांख्य दार्शनिक, न्याय दार्शनिक, अद्वैतवेदान्ती, मीमांसक तथा जैन दार्शनिक सभी का इस सन्दर्भ में मत-वैभिन्य है। परिमाण के सम्बन्ध मे सांख्य दर्शन का कोई स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नही होता। मीमांसा दर्शन व अद्वैतवेदान्त मे आत्मा को विशिष्ट परिमाण मे मानकर सर्वव्यापक परिमाण माना है।

न्याय-दर्शन मे परिमाण की चर्चा करते समय कहा गया है कि आत्मा अणु परिमाण नही माना जा सकता, क्योंकि अणु के गुण प्रत्यक्ष गोचर नही हो सकते जबकि आत्मा के गुण बुद्धि इच्छा राग-द्वेष, प्रयत्न, कृति इत्यादि मानस प्रत्यक्ष गम्य हैं। यदि आत्मा को घटपटादि की भांति मध्यम परिमाण वाला पदार्थ माना जाये तो यह प्रश्न उठता है कि उसका आकार कितना बडा है, शरीर तुल्य है, शरीर से छोटा है, अथवा शरीर से बडा है? यदि शरीर तुल्य माने जाये तो आत्मा का आकार गर्भावस्था से ही बढने लगता है, तो आत्मा का आकार किस समय के शरीर तुल्य माना जाये। यदि आत्मा का आकार शरीर से छोटा माना जाये तो एक साथ सम्पूर्ण शरीर मे चैतन्य की व्याप्ति कैसे सम्भव है? यदि आत्मा को शरीर से बडा माना जाये तो फिर वह शरीर मे प्रवेश कैसे कर सकता है? इस प्रकार अनेक शका समाधानों के पश्चात् न्याय दर्शन मे भी आत्मा को सर्व-व्यापक ही माना गया है।

जैन दर्शन मे आत्मा को स्वदेश परिमाण माना गया है। जो आकार देह का है वही आकार आत्मा का है। स्पष्ट रूप से कर्मानुसार प्राप्त छोटे बडे शरीर के अनुसार सकोच और विस्तार करके उस शरीर प्रमाण परिमाण वाला होता है। जीव का जिस समय में जिस भौतिक शरीर से सम्बन्ध होता है। वह उसके विस्तार के अनुसार ही संकोच और विस्तार की क्षमता रखता है। (समुद्घात की स्थिति के अलावा)। इसकी तुलना दीपक से की गई है जो एक समान रह कर भी जिस छोटे या बडे स्थान अथवा कक्ष मे रखा होता है, उसके अन्दर के पूर्ण स्थान को प्रकाशित करता है। तत्वार्थ सूत्र (अध्याय पंचम, सूत्र १६) मे कहा भी है।

"प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्"

किन्तु उपर्युक्त कथन कर्म सयुक्त आत्मा की अपेक्षा से है, क्योकि पुद्गल शरीर का योग पुद्गल कर्मों के कारण है। जब पुद्गल कर्मों का नितान्त अभाव होगा तब पुद्गल शरीर का योग अथवा साहचर्य किस अपेक्षा से सम्भव है? अत शुद्ध स्वरूप आत्मा का कोई विशिष्ट परिमाण नही माना गया है।

आत्मा का कर्तृत्व भोक्तृत्व

कर्तृत्व भोक्तृत्व का प्रश्न आत्मा के सदर्भ मे चर्चा करते समय अवश्य उठता है। क्या आत्मा मे कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव है अथवा आत्मा निष्क्रिय है।

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष (आत्मा) अपरिणामी है। पुरुष केवल द्रष्टा है, उसमे कोई क्रिया नही होती, वह निष्क्रिय तथा अविकारी है। सांख्य दार्शनिक मानते हैं कि पुरुष स्वभाव से ही शुद्ध

अपरिणामी होने से संसार दशा मे विकृत नही होता। पुरुष कर्ता नहीं है वह तो प्रकृति के कर्तृत्व के साथ भ्रमवश कर्ता प्रतीत होता है। सांख्य दर्शन में पुरुष को भोक्ता तो माना गया है, उसके अस्तित्व प्रमाण मे कहा गया है—

'पुरुषोस्ति भोक्तृभावत' (स० का० १७)। यहा शंका उठती है कि पुरुष कर्ता नही है तो भोक्ता कैसे हो सकता है ? कर्ता प्रकृति और भोक्ता पुरुष है। ऐसा माने तो इसका तात्पर्य है कि कर्म कोई और करे और भोक्ता कोई और हो, यह मान्यता तो नैतिकता के विरुद्ध है। अत: पुरुष को केवल भोक्त मानना, कर्ता नही मानना एक अस्पष्ट स्थिति है।

मीमासा दर्शन मे, प्रभाकर मत मे आत्मा क्रियाशीलता, अनुभव सुखोपभोग आदि गुणो का अधिष्ठान है अर्थात् कर्ता भोक्ता है।

बौद्ध दार्शनिको ने स्वतन्त्र नित्य आत्मसत्ता को न मानते हुए भी कर्तृत्व भोक्तृत्व को स्वीकार किया है। उनके अनुसार प्राणी अपने किये गये कर्मों का फल आगामी जीवन मे भोगता है।

न्याय–दर्शन के अनुसार जीव प्रयत्नशील होने के कारण कर्ता, सुखी दुखी होने कारण भोक्ता है। किन्तु यह आत्मा का यह कर्तृत्व भोक्तृत्वादि गुण तभी तक रहता जब तक वह शरीर के साथ सम्बन्ध रखता है शारीरिक बन्धन से मुक्त हो जाने पर इच्छा, सुख दुःख, कर्तृत्व, भोक्तृत्व सभी गुण लुप्त हो जाते है। जब मन व इन्द्रिय सहित शरीर से आत्मा का सम्पर्क छूट जाता है तब ये गुण भी नष्ट हो जाते है। अर्थात् न्याय दर्शन के अनुसार ससारी अवस्था तक ही आत्मा मे कर्तृत्व भोक्तृत्व गुण है, तत्पश्चात् नही।

जैन-दार्शनिको ने आत्मा मे कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वीकार किया है। जैनो की 'आत्मा' उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यात्मक परिणमन करने के कारण कर्तृत्व-भोक्तृत्व पर्याय से स्वय परिणत होना है। बन्धक भी उसका होता है और मोक्ष भी उसी का होता है। जैन-दर्शन मे शुद्ध आत्मा भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व युक्त मानी गई है।

यदि आत्मा मे कर्तृत्व भोक्तृत्व न स्वीकार किये जाये तो आत्मा निष्क्रिय जड रूप हो जायेगी। आनुभविक स्तर पर भी हम देखते है कि 'मैं' को किसी न किसी क्रिया के माध्यम से ही जानते हैं, साख्य-दर्शन की स्थिति विचित्र है। चेतस पुरुष तो निष्क्रिय है और जड सक्रिय। प्रकृति के कर्तृत्व से वह भ्रमवश कर्तृत्वयुक्त प्रतीत होता है। एक चेतन सत्ता दूसरी जड सत्ता के प्रभाव से कर्तृत्वयुक्त-भोक्तृत्व कैसे प्रतीत होगी ? जब पुरुष निष्क्रिय सत्ता को कोई किस प्रकार प्रभावित कर सकता है, शुद्ध रूप से ससारावस्था मे कैसे ला सकता है ?

आत्मा की प्रभुत्वशक्ति

यहा एक प्रमुख प्रश्न हमारे समक्ष उपस्थित होता है कि आत्मा स्वय अपना प्रभु है अथवा किसी अन्य सत्ता पर वह आश्रित है ? सुख-दुःख, जन्म-मरण मोक्ष आदि के लिए वह किसी पर आश्रित है अथवा स्वतन्त्र है ?

इस सन्दर्भ मे न्याय दर्शन का मत है कि प्राणियो का धर्म व्यवस्थापक, कर्मफलदाता व सुख दुःख का निर्णायक वह स्वय नही अपितु ईश्वर है। परमेश्वर ही जीवो को साधु तथा असाधु कर्म कराते हैं। जीव कर्म करने वाला है और परमेश्वर उन सब कर्मों को कराने वाले है अर्थात् हेतु कर्ता या प्रयोजन कर्ता है। वे ही सब जीवों के सब कर्मों के अध्यक्ष है।

अर्थात् सब अदृष्टों के अधिष्ठाता हैं तथा वे ही जीवों को कर्मों का फल देने वाले है। न्याय दर्शन में जीवात्माओं की मुक्ति के लिए भी ईश्वर को ही आधार माना गया है। कहा भी है— वास्तव मे परमेश्वर की पराभक्ति के बिना तत्वज्ञान प्राप्त ही नही हो सकता। ईश्वर की परमभक्ति के फल-स्वरूप परमात्मा का दर्शन होने पर, तब उन्ही के अनुग्रह के शरणागत 'मुमुक्षु' साधक को अपनी आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है। ईश्वर का दर्शन ही मुक्तिलाभ का एकमात्र मार्ग है। ईश्वर के अनुग्रह के बिना किसी को किसी भी कर्म मे सफलता नही मिल सकती। इसलिए मुक्ति भी नही मिल सकती ?

इस प्रकार न्याय दर्शन के अनुसार 'ईश्वर' ही जीवों को कर्म कराते हैं तथा फल देते हैं। इससे यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि ईश्वर ही जीवो से साधु असाधु कर्म करवा कर सुखी दु खी करता है, एक महान् सत्ता के लिए किसी को सुखी किसी को दुखी कर पक्षपाती नीति अपनाना कहा तक समीचीन है।

सांख्य दर्शन मे आत्मा (पुरुष) निष्क्रिय है। अत कर्म व कर्मफल के लिए वह किसी के आश्रित नही है। सांख्य का पुरुष न बधता है न मुक्त होता है। अत वह मुक्ति के लिये किसी पर भी आश्रित नही है।

अद्वैतवेदान्त मे आत्मा अथवा ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है, अत कर्म, कर्मफल इत्यादि के लिए किसी अन्य सत्ता के ऊपर आश्रित होने की सम्भावना ही नही है, अर्थात् आत्मा ही अपना प्रभु है। अद्वैतवेदान्त मे आत्मा को न कुछ प्राप्त करना है न कुछ त्यागना होता है, अतः मोक्ष के लिए आत्मा को किसी अन्य सत्ता की मुक्ति, कृपा आदि की आवश्यकता ही नही है।

जैन दर्शन मे आत्मा अपने समस्त कर्म, कर्मफल, ज्ञान, मोक्ष इत्यादि के लिए पूर्णरूपेण स्वतन्त्र है। यह जीव स्वयं ही प्रभु है। प्रभु का अर्थ है स्वामी। यह जीव स्वय अपना स्वामी है। स्वयं ही अपने कार्यों द्वारा कर्म से बद्ध होता है और स्वय ही अपने कार्यों के द्वारा कर्मबन्ध से मुक्त होता है। इसका बन्धन व मुक्ति किसी अन्य की कृपा या रोष का परिणाम नही है। ऐसी प्रभुत्व शक्ति से युक्त जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चरित्र के द्वारा चार घातिकर्मों को नष्ट करके जब अनन्त चतुष्टय से युक्त होता हुआ अर्हन्त दशा को प्राप्त होता है तब उसमे प्रभुत्व शक्ति का पूर्ण विकास होता है, और जब वह शेष चार अघाति कर्मों को भी नष्ट करके सिद्ध युक्त हो जाता है तब वह स्वय साक्षात प्रभु ही हो जाता है।

जैनो का, जीव के नैसर्गिक अनन्त सामर्थ्य मे गम्भीर विश्वास है। वह प्राणी मात्र के लिए आशा का सन्देश व स्वावलम्बन की श्लाघनीय शिक्षा देता है।

आत्मा के भेद

आत्मा कर्ता है, भोक्ता है, वह दु ख सहता है, सुखको भोक्ता है। इन बातो पर विचार करते हुए एक जिज्ञासा होती है कि क्या जीव अथवा आत्मा इन ससार के दु.खो से मुक्त हो सकता है ? ससार के दु खो से मुक्त होने का क्या तात्पर्य है ? ससार से मुक्त होने के पश्चात् उसकी स्थिति क्या होती है ? इत्यादि।

दुःख की पीड़ा उससे मुक्ति की प्रेरणा देती है, उससे मुक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। प्राय सभी भारतीय दार्शनिकों ने दुःख के कारण व उनके निवृत्ति के उपाय खोजे हैं, वे सभी दार्शनिक इस बात से सहमत हैं कि मोक्ष की अवस्था

प्राप्त होने पर मानव को सासारिक दु खों से निवृत्ति मिल जाती है । इस प्रकार लगभग सभी भारतीय दार्शनिक आत्मा के दो भेद अथवा अवस्थाये स्वीकार करते है (१) सासारिक (२) मुक्त ।

सासारिक स्थिति मे तो लगभग सभी दार्शनिको ने समान अवस्था स्वीकार की है किन्तु मुक्तावस्था मे सभी दार्शनिको ने आत्मा की अवस्था को भिन्न-भिन्न प्रकार से स्वीकारा है ।

न्याय-दर्शन के अनुसार आत्मा के दो माने है : (१) जीवात्मा (२) परमात्मा ।

जीवात्मा अनेक तथा प्रति शरीर मे भिन्न-भिन्न है । जीवात्मा के इच्छा, राग, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु ख, और ज्ञान गुण है । जीव कर्त्ता, भोक्ता तथा अनुभवी है, किन्तु आत्मा का कर्तृत्व-भोक्तृत्व, इच्छा, रागद्वेष गुण तभी तक रहता है जब तक वह शरीर के साथ सम्बद्ध रहता है । शारीरिक बन्धन से मुक्त हो जाने अथवा मोक्ष प्राप्त होने पर आत्मा बिल्कुल शान्त और निर्विकार हो जाता है, उस अवस्था मे उसे न सुख रहता है न दु ख, शरीर सापेक्ष धर्म है, अतः जब मन इन्द्रिय सहित शरीर से आत्मा का सम्पर्क छूट जाता है तब ये धर्म भी नष्ट हो जाते है, उस अवस्था मे वह जड पाषाणवत् शून्य हो जाता है ।

'परमात्मा' एक जगत् का सृष्टा, पालक व सहारक है । उसे सभी वस्तुओ तथा घटनाओ का यथार्थ ज्ञान है । अतः वह सर्वज्ञमयी है ।

यहा स्पष्ट है कि न्याय दर्शन ने जीवात्मा व परमात्मा, आत्मा के ये दो ही स्तर माने है किन्तु उसकी मान्यता ने तीसरा भेद 'मुक्तात्मा' और स्वीकारा है, क्योंकि जो आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है वह न तो जीवात्मा के स्तर का रहा, न परमात्मा के स्तर का, (क्योंकि परमात्मा तो एक ही है) तब फिर मुक्त आत्माओ की न्याय दर्शन मे क्या स्थिति है ? न्याय दार्शनिक यह भी स्वीकार नही सकते कि मुक्त आत्माये परमात्मा मे विलीन हो जाती है, इस मान्यता से तो उसकी आत्मा के अनेकत्व को ठेस पहुचती है । तब मुक्त आत्माओ की स्थिति क्या है ? यह विचारणीय प्रश्न है ।

साख्य दर्शन मे भी आत्मा के (१) लौकिक जीवात्मा व (२) पुरुष, दो भेद (स्तर) स्वीकार किये है ।

जैन दर्शन मे मुख्यतः जीवो के दो स्तर माने है (१) ससारी (२) मुक्त ।

कर्मबन्धन से बद्ध जो जीव एक गति से दूसरी गति मे समरण करते है, राग द्वेष युक्त है वे जीव ससारी है और जो इनसे छूट चुके है वे मुक्त है, अर्थात् मुक्ति या मोक्ष शब्द का अर्थ छुटकारा है, अत आत्मा के समस्त कर्म बन्धनो से छूट जाने को मोक्ष कहते है । जैसे धातु को गलाने तपाने से उसमे से मल आदि दूर होकर शुद्ध धातु प्राप्त हो जाती है वैसे ही आत्मा के गुणो को कलुषित करने वाले दोषो कर्मों को दूर करके शुद्ध आत्मा की स्थिति को मुक्ति या मोक्ष कहते हैं । जैन दर्शन मे न तो आत्मा के अभाव को मोक्ष कहा गया है– न आत्मा के गुणो के विनाश को । अपितु जैन दर्शन मे आत्मा एक स्वतत्र द्रव्य है जो ज्ञाता–दृष्टा है, किंतु अनादिकाल मे कर्म बन्धन से बन्धा हुआ होने के कारण अपने किये हुए कर्मों का फल भोगता रहता है । जब वह उस कर्म बन्धन का क्षय कर देता है तो मुक्त कहलाने लगता है ।

मुक्तावस्था मे जीव के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख व अनन्तवीर्य आदि स्वाभाविक

गुण विकसित हो जाता है। जैसे स्वर्ण में से मल के निकल जाने पर उसके स्वाभाविक गुण पीतता आदि ज्यादा विकसित हो जाते है, इसी से शुद्ध सोना अधिक चमकदार व पीला होता है। वैसे ही आत्मा मे से कर्ममल के निकल जाने से आत्मा के स्वाभाविक गुण निखर उठते है।

मुक्त अवस्था मे आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप मे स्थित होता है, वह ज्ञान की चरमावस्था है, जैनो ने उसे 'केवलज्ञान' कहा है। उस अवस्था मे आत्मा को तीनो लोक का त्रिकालाबाधित ज्ञान होता है। लोक की भूत, भविष्यत्, वर्तमान की सर्व ही वस्तुओ का युगपत् ज्ञान होना केवलज्ञान है। एक बार केवल ज्ञान अथवा मुक्ति प्राप्त होने के पश्चात् आत्मा कभी बन्धन मे नही फसती, जन्म मरण सब से वह पूर्ण-रूपेण मुक्त हो जाती है।

जैनो ने स्थूल रूप से तो आत्मा के ससारी व मुक्त ये दो ही स्तर माने है किन्तु सूक्ष्मरूप से अनेक स्तर है। मुक्तावस्था मे तो कोई भेद नही है। किन्तु ससारी-अवस्था मे जीवो के अनेकानेक भेद है। गति की अपेक्षा से जीवो के चार भेद हैं—मनुष्य, देव, तिर्यञ्च और नारकी। इन्द्रिय अपेक्षा से जीवो के पाच भेद हैं एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पचेन्द्रिय।

एकेन्द्रिय, दो-इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय व पचेन्द्रिय जीवो का वर्णन भी अत्यन्त स्पष्ट व सुव्यवस्थित रूप से किया है। इस प्रकार जैन-दर्शन मे वृक्ष कृमि, चीटी, मक्खी, मच्छर घोडा, बैल आदि का व्यवस्थित वर्णन किया है, अर्थात् जैन दर्शन ने पशु-पक्षी कीडे मकोडे मानव सभी का वर्णन किया है।

इस प्रकार विदित होता है कि आत्माकी स्वतत्र सत्ता स्वीकार ने वाले सभी दार्शनिक मतों ने अपने चिन्तन का लक्ष्य मोक्षावस्था को माना है। सभी ने आत्मा की पूर्णता मुक्तावस्था मे ही माना है, वही दुख से निवृत्ति की अवस्था नित्य है शाश्वत है।

सक्षेप मे चार्वाक दर्शन व बौद्ध-दर्शन के अनुसार स्वतन्त्र आत्मा सत्ता नही है। न्याय-दर्शन की मान्यता है कि चैतन्य आत्मा का अगतुक गुण है, मीमासा-दर्शन मे भी चेतना को आत्मा का औपाधिक गुण माना है। अद्वैतवेदान्ती एक ही आत्मा स्वीकार करते हैं। साख्य-दार्शनिक मानते है कि आत्मा (पुरुष) निष्क्रिय व अविकारी है। विशिष्टाद्वैत मे आत्मा पूर्ण-रूपेण ईश्वर पर निर्भर है किन्तु जब जैन दृष्टिकोण पर विचार करते है तो पाते है कि उन्होने, स्वतन्त्र आत्मा सत्ता है, ज्ञान-चैतन्य आत्मा का स्वरूप है, आत्मा अनेक है, कर्तृत्व-भोक्तृत्व युक्त है तथा पूर्णरूपेण स्व-निर्भर है, ऐसा मानकर सभी भारतीय दर्शनो की आत्मा सम्बन्धी नकारात्मक मान्यताओ को भी युक्तिसंगत रूप से मान्यता प्रदान की है और इससे अनेकान्त सिद्धान्त का अद्भुत उदाहरण पेश किया है।

जैन-दर्शन ने मानव-पशु-पक्षी, कीडे-मकोडो आदि का व्यवस्थित वर्णन किया है जबकि अन्य दर्शनो ने केवल आत्मा-परमात्मा का व मानव जाति का वर्णन किया है अन्य जीवो की विभिन्नता सम्बन्धी उलझन को नही सुलझाया है जो कि मात्र जैन दर्शन ने किया है। ऐकन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय व पचेन्द्रिय जीवो का वर्णन कर विश्व के सूक्ष्म काय से स्थूलकाय के जीवो का वर्णन किया है।

जैन दर्शन की परिमाण, परिणमन, पुरुषार्थ के द्वारा अपने शुद्ध रूप मे स्थित होना, आदि के बारे मे अत्यन्त स्पष्ट व युक्ति संगत मान्यता है। इस प्रकार हम देखते हे कि व्यावहारिक व पारमार्थिक दोनो ही स्तर पर जैन दर्शन की मान्यता उचित व उपयुक्त है। दोनो ही स्तर पर यह मानवीय शकाओ का निराकरण करती है।

●●●

कहा मुडाए मूंड बसे कहा मठुका।
कहा नहाए गग नदी के तट्टका।।
कहा वचन के सुने कथा के पट्टका
जो वस नाहि तोहि पसेरो अट्टका।।

अर्थ—जब यह आठ पंसेरी का मन ही तुम्हारे वश मे नही है तो हे मनुष्य सिर मु डवाने, मठ मे रहने, गगा मे रहने अथवा कथा पाठ के सुनने से क्या काम ? अर्थात् किञ्चत भी लाभ नही है।

भैया भगवती दास

६

जैनदर्शनसार–परिशीलन

पं० गुलाबचन्द जैनदर्शनाचार्य

पण्डित चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ की कई मौलिक रचनाएं है, उनमें जैनदर्शनसार उनकी विशिष्ट कृति है। इसमे जैन दर्शन के प्रायः सभी मुद्दे आ गये हैं जो कि तत्वतः कहे जा सकते हैं या गिनाये जा सकते है। इनकी गणना जैन दर्शन के आधुनिक ग्रन्थों मे तो है ही किन्तु भारतीय दार्शनिक ग्रन्थो मे भी यह अपना स्थान उसी रूप मे रखता है जिस रूप मे अन्य प्राचीन ग्रन्थ रखते आये है। यह ग्रन्थ अर्वाचीन होते हुए भी प्राचीन ग्रन्थों की कोटि मे भली प्रकार गिनाया जा सकता है क्योकि ग्रन्थकर्त्ता ने इसमे उन सभी विषयो का समावेश किया है जिनमे पूर्वाचार्यों को ख्याति प्राप्त हुई है।

भाषा

ग्रन्थ की भाषा सरल एवं सुबोध संस्कृत है। ग्रन्थकर्त्ता ने अपनी रचना को छोटे-छोटे वाक्यो मे सुगम शब्दो से इसलिए गूंथा है कि साधारण संस्कृतज्ञ भी इससे लाभ उठा सके।

प्राचीन दर्शन ग्रन्थ विषय की अपेक्षा से तो दुरूह होते ही है, वे भाषा की दृष्टि से और भी दुरूह हो जाते है। ऐसे ग्रन्थो मे एक तो विद्यार्थी का विषय प्रवेश ही कठिन फिर भाषा भी यदि क्लिष्ट हो तो छूने मे भी मन नही कर सकता यह भी एक कारण है कि दिनो दिन दर्शन के पढ़ने वालो की संख्या कम होती जा रही है। लेखक ने इस विषय को बड़ी गम्भीरता से सोचा है और यही सार निकाला है कि ग्रन्थ की भाषा अत्यन्त सरल एवं सुबोध हो ताकि विद्यार्थी उसको नोट्स के बिना ही सरलता से समझ सके। इसी का परिणाम है कि ग्रन्थ आद्योपान्त व्यवहार्य शब्दो द्वारा सरल संस्कृत मे रचा गया है। समासो की भी स्तोक रचना है। ऐसे वाक्य ग्रन्थ मे खोजने को भी नही मिलेगे जो दीर्घ समासो द्वारा ग्रथित हो।

शैली

जब हम न्याय के ग्रन्थो को देखते है तो ज्ञात होता है कि इनकी शैली साहित्य आदि विषयो मे जटिल और दुर्बोध जान पड़ती है। चाहे ये ग्रन्थ जैन दर्शन के हो या जैनेतर, सभी की शैली प्रायः समान रूप से एकसी जटिल दिखाई पड़ती है। प्राचीन न्याय एवं नव्य न्याय सभी की एक सी परिपाटी अवच्छेदकावच्छिन्नत्व से ओत प्रोत है। इनके पारिभाषिक शब्द भी सामान्यतया प्रचलित कोषों मे नही मिलते। इनके शब्द कोष भी विशेष ही होते है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा प्रभृति दर्शन ग्रन्थो की शैली अपनी निराली ही है किन्तु जैन दर्शन भी इससे अछूता नहीं रहा है। प्राचीन जैनाचार्यों ने भी अपने ग्रन्थो की रचना उसी दार्शनिक कठिन शैली मे की है। उनकी टीकाओं को

समझने के लिए भी टीकाओं की आवश्यकता पड़ती है। बिना गुरु सहयोग के इनमें भी ग्रन्थों का समझना सरल नहीं है। अष्टसहस्त्री को कष्ट-सहस्त्री का रूप देना उसकी शैली का महात्म्य ही तो है।

प्राचीन न्याय से नव्य न्याय को सरल होना चाहिये किन्तु यह नव्य न्याय प्राचीन न्याय से भी कष्ट साध्य सिद्ध हुआ है।

किन्तु हमारा प्रकृत ग्रन्थ जैनदर्शनसार सभी दृष्टियों से सरल एवं सुबोध है। न उसमें अवच्छेदकावच्छिन्नत्व की झड़ी है न दीर्घ समास और न दार्शनिक कठिन एवं जटिल परिभाषायें। सारे विषय को सरल शैली में आधुनिकता को लिए हुए समझाया है। यद्यपि दार्शनिक ग्रन्थों में उतनी सरलता एवं सरसता तो आ ही नहीं सकती जितनी कि साहित्यादि रोचक विषयों में आया करती है। किन्तु फिर भी विषय को समझने के लिए इतनी कठिनता नहीं पड़ती जितनी कि अन्य दार्शनिक ग्रन्थों के समझने में पड़ती है। अत कहना पड़ेगा कि समस्त ग्रन्थ सुबोध गद्यात्मक शैली में रचा गया है।

विषय

जिसका नाम ही 'जैनदर्शनसार' है फिर जैन दर्शन का कौनसा विषय इसमें नहीं हो सकेगा, सभी होंगे। ग्रन्थ कर्ता ने मंगलाचरण से लेकर, अन्त तक उन सभी विषयों का वर्णन अपने प्रतिपाद्य ग्रन्थ में कर दिया है।

जैन दर्शन का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति है जो कि सभी भारतीय दर्शनों का अपना एक है। जैन दर्शन का प्राचीनतम सूत्र ग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र है जो आचार्य उमास्वामी द्वारा रचित है। इस ग्रन्थ का आदि सूत्र "सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग" है। ग्रन्थ कर्ता ने भी इसी सूत्र को आधार बना कर ग्रन्थ की संगति प्रारम्भ की है। मोक्ष की प्राप्ति किस को होती है और किन से मोक्ष मिलता है। इन सभी तत्त्वों का दिग्दर्शन ग्रन्थ में सुचारू रूप से कराया गया है।

तत्त्व विवेचन

जैनदर्शन में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर-निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों की प्रमुखता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इन सातों तत्त्वों का खुलासा विवेचन किया गया है।

'द्रव्य संग्रह' का आधार लेकर जीव के नव अधिकारों का वर्णन अपनी स्वयं की विशेषता रखता है। तर्क वितर्क एवं शंका समाधानों के साथ सभी अधिकारों का संक्षिप्त एवं सुन्दर विवेचन किया है। इन्हीं नवों अधिकारों के बीच आत्मा की सनातन सिद्धि ग्रन्थ की अपनी स्वयं की मौलिकता है। आत्मा को संसारावस्था में शरीर प्रमाण सिद्ध करना और उसका व्यापकपना वट-कणिका मात्रपना, अणु प्रमाणपना इत्यादि न होना अनेकों युक्तियों से निषेधा गया है। सभी युक्तियां प्रमाण नय और निक्षेपों से युक्त अत्यन्त मनोरम हैं।

आत्मा के अध्यात्म भाषया तीन रूप जो कि आध्यात्मिक ग्रन्थों में बताये गये हैं ग्रन्थ कर्त्ता ने उन तीनों का विवेचन सोदाहरण करके पाठकों का अज्ञान दूर किया है। आत्मा का बहिरात्म रूप कर्मोपाधि सहित होने से हेय बतलाया है और अन्तरात्मरूप साधक रूप में स्वीकार किया है। तीसरा परमात्म रूप पद जिसको दो भागों में विभक्त किया है सकल परमात्मपद और निकल

परमात्मपद । सकल परमात्मा अरहन्तावस्था और निकल परमात्मा सिद्धावस्था है । ऐसे आत्मा के तीनो रूपों को सयुक्तिक समझाया है । इसी आत्मा के अन्तिम रूप को उत्कृष्ट परमज्योतिरूप अविद्या से दूर और महान माना है । आत्मा का यही रूप मुमुक्षुओ द्वारा पृष्टव्य, एष्टव्य और दृष्टव्य है ऐसा ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ मे सिद्ध किया है । इसके विपरीत रूप को अविद्या मय एवम् त्यागने योग्य बताया है । हमे ग्रन्थकर्त्ता के कथनानुसार बहिरात्म रूप को हेय समझ कर छोडना चाहिए तथा अन्तरात्मरूप स्वय बन कर परमात्म पद की प्राप्ति करनी चाहिए । मानव जन्म का सार भी वस्तुतः यही है ।

जैसा पूर्वाचार्यों ने अजीव तत्वो का विवेचन किया है ग्रन्थ कर्त्ता ने भी उसी का अनुसरण किया है । किन्तु धर्म अधर्म तत्व को समझाने की ग्रन्थ कर्त्ता की अपनी स्वय की विद्या है । सूक्ष्म और अमूर्त्त तत्वो को समझाना और उनके लिए प्रचलित उदाहरण पेश करना ग्रन्थकर्त्ता का निरालापन है ।

मोक्ष तत्व के विवेचन मे कई शका समाधान प्रस्तुत कर सिद्ध किया है कि यही अन्तिम तत्व मानव को सुखदायी एव उपादेय है । यही पुरुष का चरम पुरुषार्थ है । इसके दोनो स्वरूपो का अर्थात् द्रव्य मोक्ष और भाव मोक्ष का, ग्रन्थ कर्त्ता ने सुन्दर विवेचन किया है ।

प्रमाण निरूपण

दूसरे अध्याय मे प्रमाण का निरूपण किया गया है जिस प्रकार पूर्वाचार्यों ने प्रत्येक विवेच्य तत्व का लक्षण बाधा है उसी प्रकार ग्रन्थ कर्त्ता ने भी लक्षण निर्देश किया है । सर्व प्रथम लक्षण का लक्षण और उसके आत्म भूत और अनात्म भूत दो भेदो के लक्षण समझाये है और समझाया है कि जो लक्षण वस्तु के स्वरूप मे प्रविष्ट हो वह आत्मभूत और जो वस्तु के स्वरूप मे प्रविष्ट न हो वह अनात्मभूत लक्षण है । यथा अग्नि का लक्षण उष्णता आत्मभूत का उदाहरण और दण्डीका दण्ड अनात्मभूत लक्षण का उदाहरण है । ग्रन्थकर्ता ने लक्षण के अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असम्भव ये तीन दोष भी प्रकरणवश समझाये है ।

प्रमाण के स्वरूप को समझाने मे भी पूर्वाचार्यों का ही अनुसरण किया गया है किन्तु विशेषता शैली की है । ग्रन्थकर्त्ता ने प्रमाण का लक्षण भेद प्रभेद और दृष्टान्तो को समझाने मे अपना निजीपन रखा है ।

नय स्वरूप

"नयो हि प्रमाण विकल्पः यह ग्रन्थ कर्त्ता की स्वतन्त्र परिभाषा है । उन्होने उदाहरण के रूप मे पूर्वाचार्यो का निदर्शन प्रस्तुत किया है "सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन." । अथवा "नानाभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन स्वभावे वस्तु नयति नय." इस प्रकार कई उदाहरण देकर नयो का स्वरूप प्रतिपादन किया है । नय के दो भेद द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा द्रव्यार्थिक के नैगम सग्रह और व्यवहार ये तीन भेद तथा पर्यायार्थिक नय के चार भेद ऋजुसूत्र, शब्द समभिरूढ और एवभूत इन सभी को ग्रन्थ मे सोदाहरण सरल तरीके से समझाया गया है ।

स्याद्वाद निरूपण

जैन दर्शन की आधारशिला स्याद्वाद का विवेचन भी सुगमतया समझाया है कहा है "स्याद्वा-

दोहि जैनागमस्य बीज" अर्थात् स्याद्वाद जैनागम का बीज है। स्याद् का अर्थ कथचित् और वाद का अर्थ सिद्धात है। जिस वाद मे स्यात् की प्रधानता है वह स्याद्वाद है। ग्रन्थकार ने इसे निराग्रहवाद भी कहा है। इसमे उन्होने वस्तु का नित्यानित्यपना, सदसदात्मकपना द्रव्य-पर्यायात्मकपना, सामान्य विशेषात्मकपना, सिद्ध किया है। उन्होने कहा है कि वस्तु सामान्यतया उदित भी नही होती और नष्ट भी नही होती बल्कि विशेष रूप से उदित भी होती है और व्यय भी होती है।

सप्तभगी विवेचन

सप्तभगी विवेचन मे ग्रन्थ कर्ता ने स्यादस्ति, स्याद्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्याद्अवक्तव्य, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्याद्नास्ति अवक्तव्य और स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य इन सातो भगो का सोदाहरण एव सलक्षण निरूपण किया है। "प्रश्नवशादेकत्र वस्तुनि अविरोधेन विधि प्रतिषेध कल्पना सप्तभगी"। अकलकदेव के इस लक्षण की सिद्धि कई शका समाधानो के साथ की है।

अहिंसा

जिस प्रकार ग्रन्थकर्त्ता ने सप्तभंगी विवेचन अनेको उदाहरणो शका समाधानो एव उद्धरणो के साथ किया है वैसे अहिसा का विवेचन भी ग्रन्थ कर्ता की मौलिकता है। "प्रमत्तयोगात् प्राण-व्यपरोपणं हिंसा" इसी सूत्र के आधार पर सम्पूर्ण विवेचन है। द्रव्यहिसा और भाव हिसा का विवेचन अनेको प्रश्नोत्तरो के साथ किया है प्राणघात होते हुए भी यदि भावो मे विकृति नही है तो वह हिसा नही कहलायगी और यदि भावो मे विकार है तो चाहे प्राणघात न हो तब भी हिसा है। इसमे किसान को हिसा करते हुए भी अहिंसक और धीवर को हिसा न करते हुए भी हिसक सिद्ध किया है। गृहस्थ को आरम्भी उद्योगी और विरोधी हिसा का त्यागी न बता कर सकल्पी हिसा का त्यागी बताया है और मुनि को सर्वथा अहिसक सिद्ध किया है। मन्त्र, औषधि, देवता, यज्ञ और अतिथियो के लिए भी हिसा करना वर्जित बताया गया है। इस प्रकरण मे कई आचार्यों के उद्धरण दिये है और सिद्ध किया है कि अहिसा ही सब धर्मों की जननी है।

जाति तत्त्व मीमांसा

ग्रन्थ मे जाति तत्त्व को बडे ही सुन्दर ढंग से समझाया है। सर्वप्रथम यही कहा गया है कि जब तक जाति नाम का मद नष्ट नही होता सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही होती जो कि रत्नत्रय की नीव है। एकेन्द्रियादि जाति अथवा मनुष्य पशु इत्यादि जातियो पर ही विशेष बल दिया है। अन्य जातिया धन्धो अथवा पेशो के आधार से ही मानी गई है जो अपना पृथक मूल्य रखती है इसमे ऊच और नीच का प्रश्न ही नही पैदा होता है। जिन शासन मे इस प्रकार के जातिवाद को कोई स्थान नही जहा मानव की मानवता नष्ट की जाती है।

निक्षेप

अर्थों का शब्दो मे और शब्दो का अर्थो में आरोप करना निक्षेप कहलाता है इसके आरोप, निक्षेप, न्यास, विन्यास आदि कई नाम है। ग्रन्थ मे इसके चार भेद नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के रूप मे गिनाये गए है। इन नामादिकों को बडी सुन्दर युक्तियो के साथ उत्तमोत्तम उदाहरण देकर ग्रन्थकर्त्ता ने पाठको के सम्मुख रखा है।

इस प्रकार पडितजी की 'जैनदर्शनसार' दर्शन शास्त्र की अमर कृति है।

७

जैन दर्शन में अवयव–समीक्षा

डा० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य

जैन दर्शन में अनुमान के अवयवो का सर्व प्रथम सकेत हमे आचार्य गृद्धपिच्छ के तत्त्वार्थसूत्र मे मिलता है। गृद्धपिच्छ ने अनुमान का उल्लेख अनुमान शब्द द्वारा नही किया। न उन्होने अवयवो का निर्देश अवयव रूप मे किया है। पर उसके द्वारा दशवे अध्याय मे मोक्ष के प्रसग से आत्मा के उर्ध्वगमन का प्रतिपादन प्रतिज्ञा हेतु और दृष्टान्त के प्रदर्शनपूर्वक किया है। उन्होने मुक्त जीव के उर्ध्वगमन की सिद्धि तर्क पुरस्सर करते हुए निम्न प्रकार लिखा है—

१ तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्

२ पूर्वप्रयोगादसगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागति परिणामाच्च।

३ आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालबुव देरण्डबीजवदग्निशिखावच्च।

इन सूत्रों मे ऊर्ध्वगमन रूप प्रतिज्ञा (पक्ष), उसे सिद्ध करने वाले चार हेतु तथा इन चार हेतुओ की सम्पुष्टि के लिये प्रयुक्त चार दृष्टान्त प्राप्त होते है। इसमे इतना स्पष्ट है कि आचार्य गृद्धपिच्छ ने यहा अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण इन तीन अवयवो का सकेत किया है।

हमारे इस कथन को प्रमाणित करने वाला सर्वार्थसिद्धि गत इन सूत्रो की व्याख्या है जिसमे व्याख्याकार पूज्यपाद ने बताया है कि हेतु के कथन किये बिना उर्ध्वगमन का निश्चय नही हो सकता। तथा पुष्कल हेतुओ का प्रयोग होने पर भी वे दृष्टान्त के समर्थन बिना अभिप्रेतार्थ की सिद्धि करने मे असमर्थ है। यथा—

अनुपदिष्टहेतुकमिदमूर्ध्वगमन कथमध्यवसातु शक्यमिति। अत्रोच्यते–आह–हेत्वर्थ पुष्कलोऽपि दृष्टान्तसमर्थनमन्तरेणाभिप्रेतार्थ साधनाय नालमिति, उच्यते। १०।६,७ की उत्थानिका

पूज्यपाद के इस व्याख्यान से स्पष्ट है कि आ० गृद्धपिच्छ को यहा अनुमान के तीन अवयवो द्वारा ऊर्ध्वगमन की सिद्धि करना अभीष्ट है।

गृद्धपिच्छ के बाद स्वामी समन्तभद्र का स्थान आता है। उन्होने भी उक्त अवयवत्रय का नामत उल्लेख किये बिना अनुमेयार्थ की सिद्धि प्रतिज्ञा हेतु और दृष्टान्त से की है। किन्तु समन्तभद्र की विशेषता यह है कि उन्होंने अनुमेय–सिद्धि पुष्ट तर्क के आलोक मे की है। आ० गृद्धपिच्छ जहा चार-चार हेतु और चार-चार दृष्टान्त उपस्थित कर साध्यकी सिद्धि करते है वहा आ० समन्तभद्र एक पुष्ट प्रतिज्ञा और उसकी सिद्धि के लिए एक-एक ही पुष्ट हेतु और दृष्टान्त प्रयुक्त करते हुए मिलते है। इसके अतिरिक्त समन्तभद्र ने प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीनों का शब्दत भी प्रयोग किया

है, जो उनके ग्रन्थों मे विकशलित उपलब्ध होते हैं। किन्तु गृद्धपिच्छ ने उनका विशकलित भी प्रयोग नही किया। विकास सिद्धान्त के अनुसार ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

समन्तभद्र ने उक्त अवयवत्रय के प्रदर्शक कुछ उद्धरण उदाहरणार्थ यहा प्रस्तुत है--

(क) सूक्ष्मान्तरितदूरार्था प्रत्यक्षा. कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग् न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थिति ।।

(ख) अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेद विवक्षया ।।

जैन न्याय के विकास क्रम मे समन्तभद्र के पश्चात् न्यायावतारकार सिद्धसेन का महत्वपूर्ण योगदान है। सिद्धसेन ने न्यायावतार मे पक्षादि वचन को परार्थानुमान कहकर उसके पक्ष हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवो का स्पष्टत. निर्देश किया है तथा प्रत्येक का स्वरूप विवेचन भी किया है। देखिए का० १४,१७,८१,१६, उत्तरकाल मे प्रतिपाद्यो की दृष्टि से अवयव प्रयोग।

सिद्धसेन तक जैन चिन्तको ने सामान्यतया तीन अवयवो के प्रयोग की मान्यता को स्वीकार किया है। पर उत्तरकाल मे प्रतिपाद्यो को दो वर्गों मे विभक्त कर उनकी अपेक्षा से अवयवो के प्रयोग का कथन किया है। प्रतिपाद्य दो प्रकार के है—(१) व्युत्पन्न और (२) अव्युत्पन्न।

अकलंकदेव ने अवयवो की समीक्षा करते हुए पक्ष और हेतु इन दो ही अवयवो का समर्थन किया है। उनका अभिमत है कि कुछ अनुमान ऐसे भी है, जिनमे दृष्टान्त नही मिलता। पर वे उक्त दो अवयवो के सद्भाव से समीचीन माने जाते है। अकलंक पक्ष और हेतु की समीक्षा न कर केवल दृष्टान्त की मान्यता का आलोचन करते हुए कहते हैं कि दृष्टान्त सर्वत्र आवश्यक नही है। सर्वत्रैव न दृष्टान्तोऽनन्वयेनापि साधनात्। अन्यथा सर्वभावाना प्रसिद्धोऽय क्षणक्षय: ।।) न्या०वि०३८। अत: एव अकलंक के विचार से किन्ही प्रतिपादों के लिए या कही पक्ष और हेतु ये दो ही अवयव पर्याप्त है। दृष्टान्त किसी प्रतिपाद्य विशेष अथवा स्थल विशेष की अपेक्षा ग्राह्य है, सर्वत्र नही।

आ० विद्यानन्द ने प्रमाणपरीक्षा और पत्रपरीक्षा मे कुमारनन्दि भट्टारक ने वादन्याय के, जो आज अनुपलब्ध है, कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये है, जिनमे बताया गया है कि परार्थानुमान के अवयवो के प्रयोग की व्यवस्था प्रतिपाद्यो के अनुसार की जानी चाहिए।

जैसा कि विद्यानन्द के उल्लेख से प्रकट है कि अवयव व्यवस्था मे नया मोड़ स्पष्टतया आ० कुमारनन्दि ने उपस्थित किया है। उन्होने अवयवो के प्रयोग को 'प्रयोग परिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधत.' कह कर उनका प्रयोग प्रतिपाद्यो के अनुसार बतलाया है।

विद्यानन्द ने अकलक और कुमारनन्दि से प्रकाश पाकर प्रतिज्ञा और हेतु को व्युत्पन्न प्रतिपाद्यो तथा शेष अवयव को अव्युत्पन्नो प्रतिपाद्यो की अपेक्षा प्रतिपादित किया है। 'बोध्यानुरोध मात्रानु शेषावयवदर्शनात्'। पत्रपरीक्षा पृ० ३।

'तत्वार्थश्लोकवार्तिक' मे विद्यानन्द ने तीन प्रकार के बोध्य बतलाये हैं :

१. सन्दिग्ध,

२. विपर्यस्त और

३. अनध्यवसित।

माणिक्यनन्दि ने अपने 'परीक्षामुख' मे बहुत ही स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि 'एतद्द्वयमेवानुमानांग नोदाहरणम्' प० मु० ३।१७।

प्रभाचन्द्र, देवसूरि और हेमचन्द्र इन तीनो जैन विचारकों ने माणिक्यनन्दि का पूरा समर्थन किया है। ध्यान रहे इन विद्वानो ने वीतराग कथा (शास्त्र) मे ही दृष्टान्तादि का प्रतिपादन किया है।

पंच शुद्धियां

भद्रबाहु और उनके अनुसर्ता देवसूरि, हेमचंद्र और यशोविजय ने उक्त प्रतिज्ञादि पाच अवयवो के अतिरिक्त उनकी पाच शुद्धिया भी वर्णित की है और इस प्रकार उन्होंने अधिक-से-अधिक दश अवयवो का कथन किया है। वे इस प्रकार है: १-प्रतिज्ञा, २—प्रतिज्ञाशुद्धि, ३—हेतु, ४—हेतु शुद्धि, ५—दृष्टान्त, ६—दृष्टान्तशुद्धि ७—उपसहार, ८—उपसहारशुद्धि, ९—निगमन और १०-निगमन शुद्धि। इन तार्किको का मन्तव्य है कि जिस प्रतिपाद्य को मनिज्ञानादि पाच अवयवो के स्वरूप मे शक हो या उनमे दश—भाषादि दोषो की सम्भावना हो तो उस प्रतिपाद्य को उनके परिहार के लिए उक्त प्रतिज्ञा शुद्धि आदि पाच शुद्धियो का भी प्रयोग किया जाना चाहिये। उल्लेखनीय है कि भद्रबाहु ने एक अन्य प्रकार से भी दशावयवो का निरूपण किया है। उनके नाम है—१—प्रतिज्ञा, २—प्रतिज्ञाविभक्ति, ३—हेतु, ४—हेतुविभक्ति ५—विपक्ष, ६—विपक्ष प्रतिषेध, ७—दृष्टान्त ८—आशका, ९—आशका प्रतिषेध और १०—निगमन। पर इन दश अवयवो का देवसूरि आदि ने अनुगमन नही किया और न उनका उल्लेख किया है।

ध्यान रहे कि ये दोनों दशावयवो की मान्यताएं श्वेताम्बर परम्परा मे स्वीकृत हैं। दिगम्बर परम्परा के तार्किको ने उन्हे प्रश्रय नही दिया। इसके कारण पर विचार करते हुए पं० सुखलाल जी सघवी ने लिखा है कि 'इस तफावत का कारण दिगम्बर परम्परा के द्वारा श्वेताम्बर आगम साहित्य का परित्याग जान पडता है'। हमारा अध्ययन है कि दिगम्बर परम्परा के तार्किको ने अपने तर्कग्रन्थो मे न्याय व वैशेषिक परम्पराओ के पचावयवो पर ही चिन्तन किया है, क्योंकि वे ही सबसे अधिक लोक प्रसिद्ध, चर्चित और सामान्य थे। यही कारण है कि वात्स्यायन द्वारा समीक्षित और युक्ति दीपिकाकार द्वारा प्रतिपादित जिज्ञासादि दशावयवो की भी उन्होने कोई अनुकूल या प्रतिकूल चर्चा नही की। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार वात्स्यायन ने पाचो अवयवो का प्रयोजन बतलाते हुए हेतु और उदाहरण की परिशुद्धि का जिक्र किया है अर्थात् वात्स्यायन ने निर्दोष हेतु और उदाहरण के प्रयोग द्वारा ही पक्षादि दोष परिहार हो जाने का प्रतिपादन किया है। उसी तरह दिगम्बर जैन तार्किको ने भी पक्षादि दोषो को परिहार साध्याविनाभावी हेतु के प्रयोग और प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध पक्ष (साध्य) के प्रयोग द्वारा ही हो जाने से उन्हें स्वीकार नही किया।

तुलनात्मक अवयव-मीमांसा

यहा जैन दर्शन के अवयव विचार के सदर्भ मे जैन दर्शनेतर दर्शनो मे हुए अवयव-विचार को भी प्रस्तुत किया जाता है, जो ज्ञातव्य है।

न्याय और वैशेषिक तार्किको ने पचावयव के प्रतिपादक वचनो को परार्थानुमान स्वीकार किया है। पर ज्ञान को प्रमाण मानने वाले जैन और बौद्ध विचारको ने वचन को उपचार से परार्थानुमान कहा है। उनका अभिमत है कि वक्ता के

---

१ प्रमेय कमलमार्त्तण्ड ३।३७

२ प्र०न० त० ३।२८।२

३. प्र० मी० २।१।९ पृ० ५२

स्वार्थानुमान के विषय (साध्य और साधन) को कहने वाले वचनों से श्रोता (प्रतिपाद्य) को जो अनुमेयार्थका ज्ञान होता है वह ज्ञानात्मक मुख्य परार्थानुमान है और उसके जनक वक्ता के वचन उसके कारण होने से उपचारत परार्थानुमान है।

विचारणीय है कि वक्ता का कितना वचन समूह प्रतिपाद्य के लिए अनुमेय की प्रतिपत्ति मे आवश्यक है? न्यायसूत्रकार[१] और उनके अनुसर्ता वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, जयन्त भट्ट प्रभति न्याय परम्परा के तार्किको तथा प्रशस्तपाद[२] आदि वैशेषिक विद्वानो का मत है कि प्रतिज्ञा, हेतु, [३] उदाहरण[४], उपनय[५] और निगमन[६] ये पाच वाक्यावयव अनुमेय प्रतिपत्ति मे आवश्यक है। इन मे से एक का भी अभाव रहने पर अनुमान सम्पन्न नही हो सकता और न प्रतिपाद्य को अनुमेय की प्रतिपत्ति हो सकती है[७]।

साख्य विद्वान युक्तिदीपिकाकारने[८] उक्त पचावयवो मे जिज्ञासा, सशय योजन, शक्य प्राप्ति और सशयव्युदास इन पाच अवयवो को और सम्मिलित करके परार्थानुमान के दशावयवो का कथन किया है। परन्तु माठर ने[९] परार्थानुमान वाक्य के तीन (पक्ष, हेतु और दृष्टान्त) अवयव प्रतिपादित किये है। साख्यो की यही त्रिअवयव मान्यता दार्श-निको द्वारा अधिक मान्य और आलोच्य रही है।

बौद्ध विद्वान दिङ्नाग के शिष्य शकर स्वामी का[१०] मत है कि पक्ष हेतु और दृष्टान्त द्वारा प्राश्निको को अप्रतीत अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है, अतः उक्त तीन ही साधनावयव है। धर्मकीर्ति[११] इन तीन अवयवो मे से पक्ष को निकाल देते है और हेतु तथा दृष्टान्त इन दो अथवा मात्र हेतु को ही परार्थानुमान वाक्यका अवयव मानते है।

---

४ परार्थ तु तदर्थ परामर्शिवचनाज्जात। तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्

५. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा। न्यायसू० १।१।३२

६ अवयवा पुन प्रतिज्ञापदेश निदर्शनानुसन्धान प्रत्याम्नायः। प्रश० भा० पृ० ११४, ३, ४, ५, ६
प्रशस्तपाद ने हेतु के स्थान मे अपदेश, उदाहरण के लिये निदर्शन, उपनय की जगह अनुसन्धान और निगमन के स्थान मे प्रत्याम्नाय नाम दिए है। पर अवयवो की पाच सख्या तथा उनके अर्थ मे प्रायः कोई विशेष अन्तर नही है।

७. वात्स्या भाष्य १।१।३६, १. ५३।

८. युक्तिदीपि कार १ की भूमिका तथा का० ६ पृ० ४७—५१

९. पक्षहेतु दृष्टान्ता इति त्र्यवयवम्—माठर (का० ५ की) वृत्ति

१०. न्याय प्र० पृ० १,२ (११) प्रमाण वा० १।१२८। हेतुवि० पृ० ५५।

१२. प्रकरण प० पृ० २२०।

मीमासक तार्किक शालिकानाथ[12] नारायण भट्ट[13] और पार्थसारथि ने[14] उक्त तीन (प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त) अवयव वर्णित किये है। नारायण भट्ट दृष्टान्त, उपनय और निगमय इस प्रकार से भी तीन अवयव मानते हुए मिलते हैं।

उपसहार

भारतीय दर्शनो में इस प्रकार हमे अवयवो की बडी दिलचस्प चर्चा मिलती है। जैन तार्किको के चिन्तन मे जो वैशिष्ठय दिखायी देता है वह यही है कि उन्होने उल्लिखित अवयवो को सबकी अपेक्षा से न मानकर विभिन्न प्रतिपाद्यो की दृष्टि से उन्हें न्यूनाधिक प्रतिपादित किया है। अर्थात् आरम्भ मे प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवों की मान्यता होने पर भी उत्तर काल मे अकलक, कुमारनन्दि, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, देवसूरि, हेमचन्द्र, धर्मभूषण, यशोविजय प्रभृति तार्किकोने प्रतिपाद्यों को दो भागो मे विभक्त कर उनकी दृष्टि से उनका प्रतिपादन किया है। अत्यन्त व्युत्पन्न प्रतिपाद्य के लिए केवल दो और अव्युत्पन्नो मे किसी अव्युत्पन्नने प्रतिपाद्य की अपेक्षा से तीन, किसी अन्य प्रतिपाद्य की दृष्टि से चार और किसी अन्य की अपेक्षा से पाच अवयव प्रतिपादित है।

●●●

---

१३. मानमेयो० पृ० ६४।
१४. न्यायरत्ना० पृ० ३६१

अलप थकी फल दे घना, उत्तम पुरुष सुभाय
दूध झरै तृण को चटै, ज्यो गोकुल की गाय ।।
जेता का तेता करे, मध्यम नर सन्मान
घटै बढै नहि रचहू, धरयो कोठरै धान ।।
दीजै जेता ना मिलै, जघनपुरुष की बान ।
जैसे फूटे घट धरयो, मिलै अलप पयथान ।।

—बुधजन

८

परिग्रह-परिमाण व्रत और समाजवाद

पूर्णचन्द्र जैन, एम० ए० शास्त्री

दृश्यमान जगत का प्रत्येक प्राणी कल्पित सुखों की प्राप्ति एव दुःखो की निवृत्ति के लिए ही प्रयत्नशील है। वर्तमान युग भौतिकता का युग है अतएव सभी मनुष्य भौतिक-सुखो को ही अपना प्रेय समझ कर उन्ही सुख साधनो की पूर्ति हेतु प्रशस्त अथवा अप्रशस्त मार्ग का अनुसरण कर रहे है। प्रत्येक प्रवृत्तिमूलक आचारवादी तथा सग्रही प्रवृत्तिवाला होने के कारण स्वार्थजन्य शत्रु-मित्रता को ही जन्म देता है जो कि मानसिक द्वन्द तथा सामाजिक क्रान्ति जैसी भारी अस्थिरता को ही जन्म देती है।

ससार मे व्यक्तियो की संख्या सीमित है किन्तु उनकी इच्छाए अनन्त एव असीमित है जिन्हे प्राप्त सीमित साधनो के द्वारा सन्तुष्ट नही किया जा सकता। सुख साधनों के प्रति असीमित इच्छाओ का उद्वेलन ही वर्ग सघर्ष एव विश्वसघर्ष का जन्मदाता है। वर्ग सघर्ष का अभाव तथा विश्वशान्ति को सुरक्षित एवं स्थायी बनाने के लिए वह आवश्यक है कि मनुष्य अपनी इच्छाओ को सीमित करे।

भौतिक जगत की वे वस्तुएं जिन पर व्यक्ति या देश का स्वामित्व होने के कारण वह सर्वसामान्य की अपेक्षा विशेष सम्माननीय एवं प्रभावशाली माना जाता है वे है जमीन जायदाद, महल, मकान, धन आदि। यही बाह्य परिकर ही व्यक्ति या देश को स्वार्थी बनाता है क्योंकि इस परिकर का संचय बिना किसी मनुष्यो को कष्ट दिये सम्भव नही है। इस कार्य मे प्राणियो तथा मनुष्यों का शोषण अनिवार्य है जो कि वर्ग सघर्ष तथा विश्व सघर्ष का जनक है। समाजवाद तथा साम्यवाद इसी के प्रतिरूप है।

जब जब भी किसी समस्या विशेष ने जन्म लिया, प्रबुद्धमानव ने उसके निराकरण के उपाय अवश्य खोज निकाले। कुशल चिकित्सक जिस प्रकार असाध्य रोग को क्रमशः शमित करने का प्रयास करता है, ठीक उसी प्रकार आचार्य उमास्वामी तथा परवर्ती जैन चिन्तको मे से नीतिशास्त्रकर पं० आशाधर ने मानव-समाज व्यवस्था एव शान्ति को ध्यान मे रख कर व्यक्ति की संचय-प्रवृत्ति जैसी बीमारी से छुटकारा पाने के लिए पचाणुव्रत रूपी महौषधी प्रदान की। जिसे इस प्रकार समझा जा सकता है—

(१) मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्रकार से प्राणीमात्र के प्रति अहितकारी कार्य न करना।

(२) स्वार्थ-सिद्धि के लिये यथार्थ को अयथार्थ तथा अवास्तविक को वास्तविक रूप प्रदान कर कथन न करना ।

(३) दूसरे देशो तथा व्यक्तियों के स्वत्व को सुरक्षित रखना ।

(४) भौतिक-विषयो (व्यसनो) के प्रति आत्मा की सजगता रखना ।

(५) अनावश्यक वस्तुओ का सग्रह तथा उनके प्रति ममत्व का भाव न रखना ।

स्वर्गीय प० जवाहरलाल नेहरू के द्वारा प्रतिपादित पचशील का सिध्दान्त इसी का दूसरा रूप है ।

इन उपरोक्त पाच अणुव्रतो का अनुसरण एव अनुकरण ही सम्पूर्ण विश्व मे एक आदर्श समाजवाद की स्थापना कर सकता है । अन्य कोई भी शक्ति चाहे वह मजदूर क्रान्ति अथवा पू जीवादी सघर्ष के रूप मे हो समाजवाद या साम्यवाद स्थापित नही कर सकती ।

परिग्रह-परिमाण-व्रत तथा समाजवाद के स्पष्टीकरण के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि व्रत क्या है तथा उसके पूर्व परिग्रह परिणाम जैसा विशेषण जोडने का क्या महत्व है ? जैसा कि ऊपर कहा है कि विश्व मे समाजवाद की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ को सीमित बनाये तथा आचरण को प्रशस्त करे ।

व्रत की परिभाषा

व्रत की परिभाषा करते हुए समाजशास्त्रकार प० आशाधर ने लिखा है कि "जीवनोपयोगी भौतिक" वस्तुओ के प्रति सकल्पपूर्वक नियम करना अर्थात् हिंसादि पाच पापो या सामाजिक अपराधों तथा परोपकारादि शुभ कार्यो मे प्रवृत्ति को ही व्रत कहते है ।[1] अर्थात् विषयाभिलाषाओ का स्वेच्छया नियमन करना ही व्रत है । जब कि इच्छाओ का नियम किसी व्यक्ति का परिस्थिति द्वारा कराया जाय तब वह व्रत न होकर 'दण्ड हो जायेगा । यथा भिखारी का भूखा रहना तथा कैदी का जेल मे रहना उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति के विपरीत है एव पराधीनता के कारण व्रत नही है ।

मनुष्यमात्र मे भोगविलास एव भौतिक सुखो की प्राप्ति की इच्छा सहज स्वाभाविक है किन्तु ससार मे इच्छाओ एव साधनो की असमानता है । कुछ ऐसे व्यक्ति है जिनके पास अपनी इच्छाओ को तृप्त करने के पर्याप्त साधन है, कुछ ऐसे है जिनके पास इच्छापूर्ति के साधन सीमित तथा इच्छायें असीमित है । कुछ ऐसे ऐसी भी व्यक्ति है जिनकी इच्छाये असीमित तथा पूर्ति के साधनों का नितान्त अभाव है । ऐसी अवस्था मे यह आवश्यक है कि सर्वसाधारण मे साधनो का समान रूप से वितरण करने के लिए स्वार्थ साधन से परे अपनी इच्छाओ का निग्रह करे । इस तरह स्वेच्छया व्यक्ति की अपनी लालसाओ का नियमन हो जायेगा । इसी इच्छा नियमन को दूसरे शब्दो मे व्रत कहेगे । किन्तु त्याग जैसे भावना का अनुसरण कष्ट साध्य होता है, क्योकि अच्छे कार्य

---

१ सकल्पपूर्वक सेव्ये, नियमो शुभ कर्मण । निवृत्ति वा व्रतं स्याद्वा, प्रवृत्ति शुभकर्मणि ॥८०।२ सागार धर्मामृत ।

प्राय प्रयत्न साध्य है जब कि असद्कार्य सहज एव आकर्षक होते हैं।

असद् कार्यों मे प्रवृत्ति सदैव विध्वसात्मक होती है। अत समाज मे एकरूपता लाने के लिए व्रतो की उपायदेयता स्वय सिद्ध है। व्यक्ति समाज की एक इकाई है। अनेक व्यक्तियो के मेल मे समाज का निर्माण होता है। जिस समाज मे जिस स्तर के व्यक्ति को समाज को उन्नत रूप प्रदान करने के लिए अपने कर्तव्य के अनुरूप सदाशयो एव नैतिक-गुणो का धारक होना चाहिए। समाज की सुव्यवस्था, शान्ति सौहार्द तथा सृजन के वातावरण के लिए नैतिक मूल्यो के निर्धारण की आवश्यकता है, जिसके फलस्वरूप समाज मे विभिन्न वर्गो के भेद भाव से उत्पन्न होने वाले सघर्ष, अनिश्चय की भावना ऊच नीच की भावना, दुराचरण, झूठ-चोरी, हत्याये तथा अन्त मे युद्ध आदि प्रलयकारी मनोवृत्तियो को रोका जा सकता है, सुधारा जा सकता है क्योकि इन सभी बुराईयो की जड एकमात्र भौतिकवादी दृष्टिकोण है।

वर्तमान युग मे भौतिक मूल्यो के आधिक्य के कारण सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक वातावरण भी पूर्णत भौतिकता मे प्रभावित होता जा रहा है। फलस्वरूप सर्वत्र केवल अर्थ की प्रतिष्ठा तथा नैतिकता की उपेक्षा की जा रही है। 'सर्वे गुणाः काचनमाश्रयन्ति" के अनुसार अर्थ की ही प्रधानता है। प्रत्येक व्यक्ति काले या सफेद माध्यमो से लक्ष्मीपति बनने का प्रयास कर रहा है। वर्तमान सभ्य-ससार को अलकृत करने वाले व्यक्तियो की रूपसज्जा, सौन्दर्य प्रसाधन और उनके मनोरजन के साधन उपन्यास, नाटक, नौटकी, सिनेमा, क्लब, भोजन की विविध सामग्री एवं स्थान, शिक्षा, परिधान का ढग तथा इन सबके आधार पर निर्मित समाज का वातावरण मनसा, वाचा, कर्मणा व्यभिचार एव दुराचरण का साधन बन गया है। नैतिकता को ताक मे रखकर युद्ध और शोषण का विश्व व्यापी दौर चल रहा है।

आज के युग मे जीवन की परिभाषाये बदलती जा रही है। आजकल "जीने की अपेक्षा भोग-विलास मे—अनियन्त्रित रूप से सलग्न रहने का नाम ही जीवन है।" तदर्थ धनोपार्जन के लिये नैतिक तथा अनैतिक साधनो का प्रयोग किया जा रहा है। निर्धन--वर्ग अति निर्धन तथा अमीर वर्ग और धनिक बनता जा रहा है। शोषण का बाजार चारो ओर गर्म है। मजदूरवर्ग तथा पूजी पतियों के बीच सघर्ष ही इसका प्रतिफल होगा। विस्तृत क्षेत्र मे इसी के प्रतिरूप उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद एव युद्ध तथा अन्त मे जातीय एव सास्कृतिक परम्पराओ का लोप हो जाता है। युद्ध मे नागरिक जीवन ग्रस्तव्यस्त हो जाता है, सम्पत्ति का विनाश व्यापारियो मे मुनाफा खोरी, चोर बाजारी, अतिसंग्रह तथा घूसखोरी आदि अनैतिक प्रवृत्तिया जन्म ले रही हैं। ऐसी अवस्था मे यह नितान्त आवश्यक है कि समूचे विश्व मे पुन नैतिकता के मूल्यो की स्थापना की जाये तथा मनुष्य के भौतिकवादी दृष्टिकोण मे परिवर्तन लाया जाय अन्यथा विज्ञान की बढती हुई विनाशकारी शक्तियो मानव जाति का कभी नाम निशान समाप्त कर सकती है। अतएव मनुष्य को अपने कर्तव्य का ज्ञान करते हुए अपनी लालसाओ को सयमित करना होगा। जिसका एक मात्र माध्यम अणुव्रतो का अनुसरण करना ही है। अणुव्रतो के माध्यम मे व्यक्ति के सुधार के बाद समाज तथा विश्वसुधार किया जा सकता है।

अणुव्रत कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र और विश्व के मनुष्यो एव समस्त प्राणियो के प्रति व्यक्ति के व्यवहार की नैतिक गारटी है। क्योकि "मनुष्य के कर्त्तव्यो की व्यवस्थित व्याख्या का नाम ही अणु-

व्रत है ।[२] अणुव्रतों के माध्यम से व्यक्ति को नैतिक जीवन को अंगीकार करने की प्रेरणा दी जाती है । अणुव्रतो के द्वारा वर्गविहीन' धनी, निर्धन, भिक्षुक पूंजीपति आदि भेदभाव से रहित सच्चे अर्थों मे समाजवादी समाजव्यवस्था को मूर्त्त रूप दिया जा सकता है ।

परिग्रह की परिभाषा—

व्रत की परिभाषा एव उसकी आवश्यकता के कथन के पश्चात् "परिग्रह क्या है" जिसके परिमाण के फलस्वरूप समाजबाद सम्भव हो सकता है, जान लेना आवश्यक है । परिग्रह की परिभाषा विभिन्न चिन्तकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है । आचार्य श्री उमास्वामी ने "मूर्च्छा परिग्रह" अर्थात् भौतिक वस्तुओ के प्रति आसक्ति को ही परिग्रह कहा है[३] परवर्ती चिन्तको ने इसी सूत्र की विस्तृत व्याख्याये प्रस्तुत की है । पुरुषार्थ-सिद्धियुपाय के अनुसार यद्यपि जीवन की आवश्यकताओ की मूर्ति पदार्थों से होती है फिर भी पदार्थ स्वय मे परिग्रह नही है प्रत्युत उनके प्रति ममत्व भाव ही परिग्रह है । सर्वार्थसिद्धि में की गई व्याख्या के अनुसार वाह्य गौ, भैंस मणि, मुक्ता आदि चेतन अचेतन पदार्थों के प्रति रागादि भावों का संरक्षण, अर्जन आदि रूप व्यापार को 'मूर्च्छा' कहा है । परिग्रह की उत्पत्ति ममत्व भाव से ही है अतएव उसे परिग्रह कहा है । धन धान्यादि बाह्यपदार्थ ममत्व के आलम्बन एव उद्दीपक होने से उन्हे भी परिग्रह की कोटि मे रखा है । आचार्य समन्तभद्र के अनुसार "अपनी जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओ के अनुरूप वस्तुओ से अतिरिक्त वस्तुओ का सग्रह को परिग्रह कहा है"[५] आचार शास्त्रकार प० आशाधर के अनुसार "यह वस्तु मेरी है इस प्रकार के सकल्प का नाम ही परिग्रह है"[६] आगे परिग्रह को दो भागो मे विभक्त करते हुए लिखा है कि मिथ्यात्व, क्रोध मान, माया लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, स्त्रीवेद और पुंवेद और तथा नपुंसकवेद इस प्रकार चौदह प्रकार का अन्तरग परिग्रह तथा बाह्य-परिग्रह भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति को कहा है । इसके प्रति इच्छाओं को संयमित करना चूंकि युगपत् सम्भव नही होता अतएव देश, काल जाति, पदवी तथा अवस्था के अनुरूप क्रमश वस्तुओ के प्रति आसक्ति का कम करने का विधान भी किया है ।[७] आचार्य उमास्वामी ने बाह्य परिग्रह की चर्चा करते हुए क्षेत्र, वस्तु, हिरण्य सुवर्ण, धन, धान्यादि को परिग्रह कहा है ।[८]

---

२. विपरित स्थूलबधादे-र्मनवचोऽङ्ग, कृतकारितानुमतै क्वचिदपरेऽप्यननुमते पचाहिसाणुव्रतानि ।।५।४।

३. तत्वार्थसूत्र आ ७।१७ सूत्र ।

४. श्लोक सख्या १११ मे १२१ तक पुरूषार्थ० ।

५. धनधान्यादि ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेपु निस्पृहता, परिमित परिग्रह स्यादिच्छा परिमाणनामापि ।।

६. ममेदमिति संकल्पश्चिदचिन्मिश्रवस्तुसु, ग्रन्थस्तत्कर्षनात्तेषाम कर्षनम् तत्प्रमाव्रतम ।।(६१।। रत्नकरण्ड श्रा० । ५६।४ सा० घ० ।।

७. श्लोक सख्या ६०, ६१, ६२ । अ० ४ सागा० घ० ।

८. क्षेत्रवस्तुहिरण स्वर्णधन धान्यादि दासी दास कुप्य प्रमाणीतिद्रुमा । तत्वार्थसूत्र-७।२९

परिग्रह के दोष

जैसा कि पहले कह चुके है कि परिग्रह ही अनन्त अनर्थों का मूल है। व्यष्टिगत, समष्टिगत, देशगत अथवा विश्वव्यापी जिन्होंने सघर्ष हुए है वे सभी अतिसग्रह, ममत्व भाव तथा दुराग्रहवादिता के कारण ही हुए है। प्रसिद्ध नीतिशास्त्रकार आशाधर ने परिग्रह जन्य दोषो को इस प्रकार स्पष्ट किया है जिस प्रकार रात्रि मे अन्धकार बढता है वैसे ही मानव-समाज मे परिग्रही व्यक्ति के प्रति अविश्वास बढता है। अग्नि को बढाने के लिए जिस प्रकार घी सहायक होता है उसी प्रकार पदार्थों के प्रति मोह या तृष्णा को प्रज्वलित करने लिए परिग्रह सहयोगी होता है तथा व्यक्ति के मानस सागर मे इच्छाओ के ज्वार आने लगते है।

परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार

परिग्रह की सूक्ष्म एव स्पष्ट विवेचना करते हुए गृहस्थ धर्म शास्त्रकार आशाधर ने कहा—

वास्तु क्षेत्रे योगात् धनधान्ये बन्धनात् कनकरूप्ये।
दानात् कुप्ये भावान्न गवादौ गर्भतो मितिमतीयात्॥
सा. धर्मामृत६४। ४

अर्थात् १–वास्तु क्षेत्र योग, २–धन धान्य बन्धन, ३–कनकरूप्यदान ४–कुप्यभाव तथा ५–गवादिगर्भ के विषय मे निर्धारित मर्यादा का उल्लघन करना परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार नामक दोष होने से नैतिक अपराध है।

१. क्षेत्र वास्तुयोगातिचार

वास्तु अर्थात् घर, ग्राम, नगर या देश की मर्यादा का उल्लघन करना। यथा घर की मर्यादा लम्बाई, चौडाई तथा सख्या सीमित होने पर उसे दो या तीन मजिला बनवाना अथवा दो मकानो को मिलाकर एक कर लेना। दूसरे देशो की सीमा में अपने देश की सीमा निर्धारित करना। नगरो और ग्रामो को राजाओ द्वारा अपने राज्य मे मिला लेना।

२ धनधान्य बन्धनातिचार

धन–गणिम, धरिम, मेय और परीक्ष्य के भेद से चार प्रकार का है। व्यक्तिगत तथा व्यापारिक दृष्टिकोण को ध्यान मे रख कर सीमोल्लघन के भय से कभी-कभी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को अपने पास न रख किसी दूसरे के सरक्षण मे रख देता है। व्यापारी अपना माल दूसरे व्यापारी के यहा बन्धक करा देता है। इस तरह वस्तुओ की प्राप्ति के अभाव मे सामान्य जनता को बहुत कष्ट का सामना करना पडता है तथा आवक कम होने से वस्तुओ के मूल्य भी बढ जाते है। जीवनोपयोगी वस्तुओ का अतिसग्रह करना मानवता का हनन करना है।

३ कनकरूप्यदानातिचार

सोना, चादी को सीमाति रोक के भय से दूसरे परिचितो के पास रख देना अथवा छोटे गहनो को बड़ा लेना या जमीन मे गाड देना आदि।

४ कुप्यभावातिचार

स्वर्ण तथा चादी से भिन्न ताम्बा, पीतल, बास, लकड़ी मिट्टी आदि तथा इनसे बने हुए उपकरणो का व्यापार या प्रयोग करना तथा सीमातीत होने पर उन्हें दूसरो के पास सुरक्षित रखना।

५. गवादि गर्भातिचार

गाय, भैस आदि के गर्भाधान होने पर सीमा का उल्लंघन होते भी पशुओ को रखना। आचार्य

उमास्वामी ने भी परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचारों को इस प्रकार कहा है—१. क्षेत्र तथा वास्तु का प्रमाणत अतिक्रमण, २. हिरण्य—सुवर्ण के प्रमाण का अतिक्रमण। ३ धन और धान्य के प्रमाण का अतिक्रमण, ४. दासी-दास के प्रमाण का अतिक्रमण, ५. कुप्य के प्रमाण का अतिक्रमण।[3]

इस प्रकार परिग्रह परिमाण व्रत की परिभाषा तथा अतिचारों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति परिग्रह परिमाणव्रती बन कर अपने कर्त्तव्य का सही रूप से पालन करे तो न केवल उसका वरन् समाज, देश तथा विश्व के समस्त मनुष्यों का जीवन शान्ति एवं सुखमय बन सकता है।

विश्व मे प्रचलित समाज सुधार के विभिन्न वादो से परिग्रह परिमाणव्रतवाद कहा तक मेल खाता है तथा कहा तक उनकी तुलना मे उपयोगी सिद्ध होता है, इसका ज्ञान करने के लिए हमे प्रथमत सभी वादो का परिचय अपेक्षित है।

समाजवाद

प्रबुद्धविचारक—कार्ल मार्क्स के अनुसार "समाजवाद एक ऐसा समाज है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार पूर्ण एवं स्वतन्त्र विकास का अवसर प्राप्त हो।" मानव इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। उत्पादनो के परिवर्तन के साथ ही समाज मे परिवर्तन होता है। क्योकि सभी सुखसाधनों के प्राप्ति की इच्छा रखते है और उसका समाधान सघर्ष मे ही होता है। यह संघर्ष-दासो का स्वतन्त्र व्यक्तियो मे, साधारण जनता का कुलीन तन्त्रियो से, कृषिदासो का भूमिपतियो से, वेतन भोगियो का श्रेणिपतियों से या पूजीपतियो से होता रहा है। राज्य का आधार चूंकि वर्ग समाज है अतएव समाजवाद को कार्यान्वित करने के लिए वर्ग सघर्ष आवश्यक होगा।

साम्यवाद

साम्यवाद का लक्ष्य भी व्यक्ति मात्र को समाज मे समान रूप से विकास के साधनो की उपलब्धि कराना है। ऊंच नीच तथा अमीर गरीब का भेद भाव रहित समाज के निर्माण की यह कल्पना वर्ग-क्रांति एवं हिंसा का सहारा लिये बगैर सम्भव नही हो सकती क्योकि इसका उदय सामन्तवाद तथा पूजीवाद के उन्मूलन के लिये ही हुआ। राजनीति के प्रमुख विचारक 'प्लेटो' ने साम्यवाद के दो रूपो मे विभाजित किया है। यथा १-आर्थिक-साम्यवाद तथा २. पारिवारिक साम्यवाद। आर्थिक साम्यवाद के अन्तर्गत (क) सरक्षक वर्ग की अपनी कोई निजी सम्पत्ति नही होगी। (ख) व्यक्ति की आवश्यकताओ की पूर्ति राज्य द्वारा की जायेगी। (ग) सैनिक एवं शासको का निवास शासन द्वारा निर्धारित स्थानो मे ही होगा। (घ) भोजन सभी का शासकीय भोजनालयों मे ही होगा। चूंकि राजनैतिक तथा आर्थिक शक्तियो का गठबन्धन राज्य के जीवन को घातक सिद्ध होता है अतएव इस साम्यवाद के अन्तर्गत दोनो शक्तियो को अलग रखा जायेगा और व्यक्तिगत हित की अपेक्षा समाज या राज्य हित की प्रधानता न होगी।

२ पारिवारिक साम्यवाद

प्लेटो महोदय का कथन है कि "जब व्यक्ति विशेष का अपना निजी परिवार होता है तब वह उसे उत्तरोत्तर समृद्धिशाली बनाने का प्रयास करता

---

६ क्षेत्रवास्तु हिरण्यसुवर्ण धन धान्यादि दासीदासकुप्य प्रमाणातिक्रमः ॥२९।७ तत्वार्थ सूत्र

है। अतएव स्वार्थबद्ध दृष्टि होने से ऐसा व्यक्ति साम्यवाद का कभी पोषक नही हो सकता। ऐसे ही भेद-भाव को दूर करने के लिए प्लेटो ने पारिवारिक साम्यवाद को निम्न आधारो पर खडा किया है—

(१) सरक्षक वर्ग की पारिवारिक सस्था की समाप्ति।

(२) पति-पत्नी के सम्बन्धो का अन्त।

(३) स्त्री पुरुष का सम्भाग सयोग केवल देश के लिए अच्छी सन्तान प्राप्ति हेतु।

(४) उत्पन्न बच्चो पर समाज का अधिकार।

(५) सम्राट पूर्णत ब्रह्मचारी तथा (६) उत्पादक वर्ग

पर किसी प्रकार का बन्धन नही।

इसी प्रकार के साम्यवाद की कल्पना अप्रायोगिक ही नही हास्यास्पद भी है। क्योकि ऐसा करने से समाज स्वत दो भागो मे विभक्त हो जायेगा और समाज मे भ्रष्टाचार फैल जायेगा। मनुष्य केवल मशीन के एक पुर्जे की तरह ही अस्तित्वहीन हो जायेगा। समाज शास्त्री बीसेज के अनुसार—"परिवार एक आधारभूत एव सार्वभौमिक सस्था है। प्रत्येक समाज का जीवन इसी पर निर्भर है। अतएव इसे समाप्त नही किया जा सकता।"

रूस, चीन अमेरिका जैसे भौतिकवादी प्रगतिशील देशो मे प्रचलित उपरोक्त वादो से भारतीय प्रबुद्ध विचारक भी अप्रभावित नही रह सके। उन्होंने प्राचीन भारतीय नीतिशास्त्रो के परिप्रेक्ष्य तथा सस्कृति के परिवेश मे प्रजातन्त्रात्मक राज्य की कल्पना को मूर्त रूप प्रदान किया। भारतीय सविधान व्यक्ति को अपने बहुमुखी विकास के समान रूप से के अवसर प्रदान किये है। महात्मा गाधी ने भी अपने सर्वोदय सिद्धात के द्वारा व्यक्ति को उसके सर्वांगीण विकास के लिये अपनी एक निजी परिकल्पना प्रदान की है। इसके अन्तर्गत वर्ग तथा वर्गहीन समाज मे ग्रामीण स्वराज्य का आधार अहिसा एव प्रेम को ही बनाया है।

परिग्रह-परिमाण व्रत एवं समाजवाद

वर्तमान विश्व म प्रचलित समाजवाद, व्यक्ति के विकास के प्राचीन मार्ग का ही एक नया रूप है। भारतीय चिन्तको ने अपरिग्रहवाद के रूप मे इसे बहुत पहिले ही प्रतिपादित किया था। जिसके परिणाम स्वरूप ही विश्व मे हुए अपने उतार-चढाव के बाद ही मानव जाति शाति से जी सकी। २५०० वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने 'जीओ और जीने दो'' का सिद्धात का प्रतिपादन मानव के समान रूप से विकास को ध्यान मे रखकर किया था। आचार्य जिनसेन के अनुसार मनुष्य जाति एकैव जातिकर्मोदयोद्भवा" अर्थात मनुष्य मात्र मे देश गत, जाति या वर्णगत कोई भेद नही प्रत्युत मानव मात्र की एक ही जाति है। अतएव सभी को अपने विकास के साधन एव अवसर मिलना चाहिये।

परिग्रहपरिमाण व्रतानुसार पदार्थों के सग्रह की मर्यादा का विधान है। साथ ही अपनी आवश्यकताओ से अधिक सग्रहीत वस्तुओ को उन्हे जिनके पास उनका अभाव है, प्रदान कर देना चाहिये। "अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्" उपरोक्त कथन की पुष्टि करता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति से अधिक संग्रह न करे जिससे समाज के अन्य सदस्यों की आवश्यकताये भी पूर्ण हो सके। इस तरह साम्यवाद, समाजवाद एव सर्वोदयवाद अपने

सिद्धांतों के अनुसार अपरिग्रह-वाद के पर्यायवाची शब्द कहे जा सकते हैं।

परिग्रहवादी व्यक्ति लोभी होने से दूसरों को विकास के अधिकारों से वंचित करता है तथा उनका शोषण करता है। सामन्तशाही तथा साम्राज्यवादिता इसी के सुविकसित रूप है। इनके विस्तार मे ही अनेक सघर्ष जन्म लेते हैं। अतएव जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओ का संग्रह न कर सग्रहीत वस्तुओ के त्यागने का इच्छुक रहेगा तभी मानवमात्र मे सौहार्द एवं सहानुभूति तथा सहिष्णुता की भावना जाग्रत होगी। तब सही अर्थो मे विश्वबन्धुत्व की स्थापना होगी।

मनुष्यों मे दो प्रकार आसक्ति अपनी सग्रहीत वस्तुओ के प्रति होती है। १-क्षणिक आसक्ति २-स्थायी आसक्ति। मृग जंगल में क्षणिक आसक्ति के साथ घास का भक्षण करता है। भय की आशका होते ही निर्ममत्व भाव से उसे छोड कर आगे बढ जाता है तथा बाद मे भी उसके प्रति पश्चाताप नही करता किन्तु बिल्ली अपने शिकार चूहे पर इतनी अधिक आसक्त होती है कि प्राणो पर आ बनने पर भी उसे अपनी इच्छा से त्याग नहीं कर सकती।

दूसरी कोटि के मनुष्य जो कि चमडी की अपेक्षा दमडी का अधिक मूल्य अधिक समझते है, ऐसे व्यक्ति ही अपने कर्तव्य को ताक में रख कर दूसरो का शोषण करने की योजनाये बनाते हैं। परन्तु स्वत उनके ही अन्तकरण से प्रेरणा प्रवाहित होना चहिये कि जब वे अपने विकास मे किसी की बाधा पसन्द नही करते तब उन्हें दूसरो के बाधक बनने का क्या अधिकार है? अतएव मनुष्य मात्र को अपने लिए मानव समाज का एक सेवक मात्र समझना चाहिए तथा अपने द्वारा उपार्जित धन समाज कल्याण के लिए प्रयोग करना चाहिए। अपनी सग्रहीत सम्पत्ति का समाज की ओर स्वय अपने को उसके सरक्षक समझना चाहिए जिससे उसका दुरुपयोग न हो। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि व्यक्ति विशेष को अपनी सचित प्रतिभा के प्रयोग करने मे अकर्मण्यता नही लाना चाहिए तभी उसकी कमाई मे शुध्दता आयेगी क्योकि "जो व्यक्ति आर्थिकरूप से पवित्र होगा वही पवित्र या सुसस्कृत कहा जायेगा"।[१०]

परिग्रह-परिमाण व्रत का पूर्णत: व्यावहारिक रूप मे पालन करने पर प्रत्येक समाज तथा देश परस्पर विश्वबन्धुत्व के सूत्र मे बधेगे और समाज-वाद की कल्पना साकार हो जायेगी। इसमे हिंसा के साधनो का सहारा भी नही लेना पडेगा।

परिग्रह परिमाण-व्रत के सन्दर्भ मे स्वामी कार्तिकेय ने कहा कि जो व्यक्ति अपनी लोभी प्रवृत्ति का हनन कर सतोषरूपी रसायन से संतुष्ट होकर नश्वर भौतिक पदार्थों के प्रति तृष्णा का नाश करता है तथा धन धान्यादि भौतिक वस्तुओं का परहितार्थ परिमाण करता है वही व्यक्ति यथार्थत परिग्रह-परिमाण व्रती या समाजवादी हो सकता है।[११] परिग्रह-परिमाणव्रत मानव समाज

१०. "योऽर्थशुचि सो शुचि" स्मृतिकार, मनु

११ जो लोहणिहणित्ता सन्तोष रसायणेण सन्तुट्ठो।
णिहणदि तिण्हादुट्ठा मणांतो विणस्सर सव्वं ॥३३९॥
जो परिमाण कुव्वदि धणधाण सुवण्ण खित्त माई ण।
उवयोग जाणित्ता अणुव्वय पचम तस्स ॥३४०॥ कार्तिकेयानुप्रेक्ष।

६

जैन दर्शन में स्याद्वाद सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रमाण ज्ञान का विषय

पं० मूलचन्द जैन शास्त्री

जैन दर्शन या आर्हत दर्शन मे सामान्य रूप से यावत् सत् को परिणामी नित्य माना गया है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण वाला सत्[1] होता है, प्रत्येक सत् अनन्त धर्म विशिष्ट कहा गया है। इस अनन्त धर्म विशिष्ट सत् का यथार्थ रूप मे प्रतिपादन करने वाला या एक धर्म मुखेन उस सत् रूप पदार्थ मे रहे हुए अनन्त धर्मों को एक साथ विषय करने वाला प्रमाण है—प्रमाण वह स्फार प्रकाश वाला दीपक है कि जिससे पूर्ण प्रकाशित हुई वस्तु का कोई भी अंश अज्ञात नहीं रह पाता है। यद्यपि जैन दार्शनिको ने पदार्थ के मौलिक रूप को जानने के लिये दो साधनो का उपदेश[2] दिया है, परन्तु उनमे मे प्रथम साधन द्वारा ही ऐसा है जो स्याद्वाद सिद्धान्त की शिखर पर पूर्णकलश की तरह

१. "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्"-तत्वा० सू० अ० ५

२ "प्रमाण नयैरधिगम" तत्वा० सू० अ० १

शेष पृष्ठ १४० का

के लिए जैन संस्कृति की देन है। प्रत्येक जैन व्यक्ति अनासक्तभाव से सम्पत्ति का सचय करता है तथा समय आने पर वर्गगत एव धर्मगत भेद भावों की भूल कर मानवता की रक्षा के लिए सर्वस्व समर्पित कर देता है। चक्रवर्ती भरत तथा राजर्षि जनक ऐसे ही परिग्रह-प्रमाणव्रती थे जिन्होने अपार सम्पत्ति के बीच रहते हुए भी उससे अणमात्र भी ममत्व नही रखा। प्रत्येक जैन गृहस्थ देवदर्शन के साथ ही अपनी ली गई मर्यादा का स्मरण तथा अनुसरण करने की प्रतिज्ञा करता है साथ ही अधिक वस्तुओ को निःसकोच दूसरो को प्रदान करता है। उसकी यह भावना सच्चे समाजवादी होने को प्रमाणित करती है।

क्षेम सर्वप्रजाना प्रभवतु बलवान-धार्मिको भूमिपाल
काले काले च सम्यक वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्।।
दुर्भिक्ष चौरमारी क्षणमपि जगतां मास्मभूज्जीवलोके।
जैनेन्द्र धर्मचक्र प्रभवतु सततं सर्वसौख्य प्रदायी।।

●●

रह कर उसकी शोभा में चार-चाद लगा देता है। इसलिये "सकलादेश प्रमाणाधीनः" ऐसा कह कर जैन दार्शनिकों ने प्रमाण का अभिनन्दन किया है। प्रमाण वस्तु को अखण्ड रूप से ग्रहण करता है। इसके द्वारा अपने अक मे बैठायी हुई वस्तु के किसी भी धर्म मे ऐसी पक्षपातमय स्थिति उत्पन्न नही की जाती है कि यही धर्म हमे प्यारा है और इसका यह धर्म हमे इस समय प्यारा नही है। इसकी दृष्टि मे सभी धर्मो का वस्तु के उपर युगपत् अखण्ड साम्राज्य रहता है। जिस प्रकार अहमिन्द्रा मे कोई किसी की दृष्टि मे हीन—या उच्च नही होता प्रत्युत सबका एकसा आधिपत्य होता है उसी प्रकार प्रमाण की दृष्टि मे भी वस्तुगत समस्त धर्मो मे मुख्य गौण की स्थिति नही होती। सभी धर्मों का वस्तु के ऊपर एक सा आधिपत्य होता है।

यह प्रमाण वाक्य किसी एक धर्म के ग्रहण द्वारा समस्त पदार्थगत धर्मो को युगपत् किस पद्धति से अपना विषय बनाता है इसे स्पष्टरूप से समझाने के लिये शास्त्रकारो ने काल, आत्मभूत, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, ससर्ग और शब्द "इन आठ द्वारो का-प्रकारो का-उपायो का प्रदर्शन किया है। इनके द्वारा उन्होने यह समझाया है कि इन[3] काल आदि की अपेक्षा वस्तु मे अभिन्न रूप से रहने वाले सम्पूर्ण धर्मो मे एव धर्म और धर्मो मे अभेद भाव की प्रधानता रख कर अथवा इन काल आदि की अपेक्षा लेकर भिन्न-भिन्न भी धर्म और धर्मो मे अभेद का उपचार मान कर सम्पूर्ण धर्म और धर्मो का एक ही साथ जो कथन किया जाता है, उस समय यह सकलादेश होता है। इस सकलादेश के प्रभाव से ही कालआदि की अभेद दृष्टि अथवा अभेदोपचार की अपेक्षा वस्तु के समस्त धर्मो का एक साथ ज्ञान होता है। वस्तु गत धर्म उसके गुण होते है। इसीलिये गुणो के समुदाय[4] को द्रव्य कहते है। गुणो को छोड कर द्रव्य कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही माना गया।

द्रव्य का कथन गुणवाचक शब्द के माध्यम से ही होता है इसलिये अस्तित्व आदि अनेक गुणो के समुदाय रूप द्रव्य का, निरशरूप पूर्णरूप से अभेदवृत्ति (द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा समस्त धर्म अभिन्न है और अभेदोपचार (पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा समस्त धर्मो मे भिन्नता है फिर भी उनमे एकता का आरोप किया जाता है) को लेकर एक गुण के कहने द्वारा ही कथन हो जाता है, यही सकलादेश है और यही प्रमाण का प्रमेय है।

जब "स्याज्जीवादिवस्तु सदेव" जीवादिक वस्तुए कथंचित् किसी अपेक्षा-सत् ही है। ऐसा कहा जाता है तो इस प्रकार के कथन मे यद्यपि जीव के एक अस्तित्व गुण का ही कथन किया गया है अन्य उस के उसमे रहे हुए और अनन्त गुणो का नही। पर इस कथन को सकलादेश-वस्तुगत अनन्त धर्मो का कहने वाला इसलिये माना जायगा कि वक्ता का अभिप्राय यहा काल आदि आठ प्रकार के माध्यम से उस एक प्रतिपादित हुए अस्तित्व

---

३ "कलादिभिरभेदेनाभेदोपचारेण च द्रव्यार्पितेन सकलस्यवस्तुनः कथनादिति ब्रूम" -अष्टसहस्री
"कालात्मरूपसबधा ससर्गोपक्रिये तथा ।। गुणिदेशार्थ शब्दाश्चेत्यष्टौ कालादयः स्मृता"

४. "तस्माद्गुणसमुदायो द्रव्य स्यात् पूर्व सूरिभि. प्रोक्तम्" पचाध्यायी।

गुण के साथ वस्तु मे रहे हुए अन्य अविवक्षित-नास्तित्व-अवक्तव्य आदि अनेक गुणो की अभेद-वृत्ति एव अभेद का उपचार लेकर परस्पर मे अभिन्नता की ओर है। तात्पर्य इसका इस प्रकार है—जीवादिक वस्तुओ मे जिस समय अस्तित्व गुण वर्तमान है उसी समय उसमें और भी अनन्त गुण मौजूद है। ऐसा तो है नही कि जिस समय अस्तित्व गुण मौजूद हो उस समय अन्य अशेष-गुण उनमे मौजूद न हो। जब पुत्र ऐसा कहता है कि "यह मेरा पिता है" तो पितृत्व धर्म की उपस्थिति मे और जो पतित्व भागिनेयत्व, पितृव्यत्व, आदि धर्म है वे भी उसमे उस समय रहे हुए है। नय की दृष्टि मे ही वस्तुगत अन्य अविवक्षित धर्म गौणता की कोटि मे प्रक्षिप्त हो जाते है और प्रमाण की दृष्टि मे ये ही सब धर्म एक गुण के प्रतिपादन द्वारा सबके सब उसी समय ग्रहीत कर लिये जाते है।[५] इस तरह काल की अपेक्षा लेकर एक विवक्षित हुए धर्म के साथ अन्य अविवक्षित धर्मो की अभेदवृत्ति[६] बन जाती है। अस्तित्व गुण जिस प्रकार जीव का स्वभाव है उसी प्रकार और भी शेष धर्म उसके स्वभावरूप है। आत्मस्वरूप है, यह आत्मरूप की अपेक्षा से उस विवक्षित धर्म के साथ अन्य अविवक्षित गुणो की अभेदवृत्ति है। जिस प्रकार जीवादिक वस्तुए विवक्षित हुए अस्तित्व धर्म की आधारभूत है, उसी प्रकार वे और भी धर्मो की जो उसमे रहे हुए है आधारभूत है। इस तरह यह आधार को लेकर उस अस्तित्व के साथ अन्य धर्मो की अभेदवृत्ति है। जीवादि द्रव्य धर्मो को ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार मानो मे से एक किसी-किसी धर्म की मुख्यता से समान धर्मो के ग्रहण करने मे प्रमाण सप्त भगी घटित हो जाती है। शका—भग सात ही होते है इसका कारण क्या है?

उत्तर—जानने वाले के प्रश्न सात होते है

प्रश्न—सात प्रकार के प्रश्न होने मे कारण क्या है?

उत्तर—सात प्रकार की जिज्ञासा।

प्रश्न—सात प्रकार की जिज्ञासा क्यों होती है?

उत्तर—क्योंकि सात प्रकार के सशय होते हैं।

प्रश्न—सात ही प्रकार के संशय होने मे क्या कारण है?

उत्तर—सात प्रकार के सशय होने का कारण उसके विषयभूत सात प्रकार के वस्तुधर्मो का होना है।

---

५ "प्रमाणप्रतिपन्नानन्त धर्मात्मक वस्तुन कालादिभिरभेदवृत्ति-प्रधान्यादभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वच सकलादेश स्याद्वादरत्नाकार-स्याद्वादमजरी।

६ "तत्र स्याज्जीवादिवस्तु अस्त्येव इत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्काला शेषा अनन्तधर्मो वस्तुन्येक त्रेति तेषां कालेनाभेद वृत्ति। यदेवास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूप तदेवान्यायनन्त गुणानामपीति आत्मरूपेणाभेदवृत्ति., य एवाधाराऽर्थो द्रव्याख्यो ऽस्तित्वस्य स एवान्यपर्याणामित्यर्थेनाभेदवृत्ति, य एवाविष्वग्भाव. कथचित् तादात्म्यलक्षण: सबधो ऽस्तित्वस्य स एव शेष विशेषाणामिति संबधेना भेदवृत्ति, य एव चोपकरो ऽस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरण स एव शेषैरपि गुणैरित्युपकारेणाभेदवृत्ति, य एवगुणिन संबधी देश: क्षेत्र लक्षणो ऽस्तित्वस्य स एवान्य गुणानामिति गुणि देशेनाभेद वृत्ति इत्यादि–स्याद्वाद मंजरी पृ० २८४।

सात प्रकार के वस्तुधर्म इस प्रकार से हैं:

(१) कथंचित् सत्व

(२) कथंचित् असत्व

(३) कथंचित् क्रमार्पित सत्वासत्व,

(४) कथंचित् सहार्पित अवक्तव्य

(५) कथंचित् सत्वविशिष्ट अवक्तव्य

(६) कथंचित् असत्व विशिष्ट अवक्तव्य

(७) कथंचित् क्रमार्पित उभय विशिष्ट अवक्तव्य

इन सात प्रकार के वस्तुगत धर्मों को लेकर सात प्रकार का जो संशय उद्भूत होता है वह इस प्रकार से होता है कितने के वादियों की ऐसी धारणा है कि वहां सत्व धर्म होगा वहां असत्व कैसे रह सकता है। इस तरह की मान्यता में तो न सत्व धर्म के ही रहने का निर्णय हो सकता है। और न असत्व धर्म के ही रहने का निर्णय हो सकता है। अतः इनके एकत्र मिलकर रहने में संशय का होना स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार से आगे के भंगों में-धर्मों में-समझ लेना चाहिये। अतः इन सात प्रकार के संशयों को दूर करने के लिये सात प्रकार के वचन प्रयोग रूप सात भंग होते हैं। इन भंगों द्वारा अमुक-अमुक अपेक्षा लेकर उन उन धर्मों का जीवादिवस्तुओं में संस्थापन किया जाता है।

नयज्ञान का विषय

प्रमाण वस्तु को पूर्णरूप से ग्रहण करता है और नय प्रमाण गृहीत पदार्थ के एक धर्म को अपना विषय बनाता है। जैनाचार्यों ने नय के सम्बन्ध में उनके भेद प्रभेदों की प्ररूपणा करके उसके विषय क्षेत्र को विशेष रूप से स्पष्ट किया है। संसार का जितना भी व्यवहार चलता है वह इसी नय वाद के आधीन है। सुनय और दुर्नय रूप में इस पूर्ण-नयवाद को विभक्त किया गया है। जो नय किसी एक धर्म का किसी विवक्षा वश उसे प्रधान करके कथन करता है और वस्तु गत अन्य धर्मों का खण्डन नहीं करता है वह सुनय है और इससे विपरीत जो नय है वह दुर्नय है। दुर्नय का दूसरा नाम नयाभास भी है।

सुनय और दुर्नय में भी "और" ही का अन्तर है। जब वक्ता का अभिप्राय किसी एक धर्म को वस्तु में ही लगाकर प्रकट करता है--उसका कथन करता है जैसे यह पिता ही है तो ऐसा वह अभिप्राय दुर्नय की कोटि में आ जाता है। और जब ऐसा कहा जाता है कि यह पिता भी है तो इस कथन को सुनय का स्थान दिया जाता है दुर्नय अन्य धर्म का निराकरण कर अपने मन्तव्य को ही पुष्ट करता है और सुनय अपने मन्तव्य का पोषण करता हुआ भी उस वस्तुगत अन्य धर्मों का निराकरण नहीं करता है। इसी बात को "अर्पितानर्पित सिद्धे" इस सूत्र द्वारा सूत्रकार उमास्वामी ने स्पष्ट किया है। मुख्य गौण रूप से प्रत्येक धर्म की स्थापना वस्तु में नय ही करता है प्रमाण ज्ञान नहीं।

शंका . छद्मस्थ जीवों के ज्ञान वस्तु को पूर्ण रूप से नहीं जान पाते अतः प्रमाण ज्ञान से वे उसके पूर्ण रूप को कैसे जान पायेंगे। यदि जान लेते हैं तो उन्हें सर्वज्ञ की उपाधि से विभूषित कर देना चाहिये।

उत्तर प्रमाण ज्ञान से समग्र वस्तुगत धर्मों को जानने का अभिप्राय ऐसा है कि जितना भी उन्होंने जाना है यदि उनकी दृष्टि समग्र को ग्रहण करने की है तो वह दृष्टि प्रमाण ज्ञान है और यदि वस्तुगत एक धर्म

को ग्रहण करने की ओर है तो वह दृष्टि अंशग्राहीनय रूप है ।

शका प्रमाण सप्तभगी मे और नय सप्तभगी मे जो स्यात् शब्द का प्रयोग होता है सो नयसप्त भगी मे तो यह उचित है क्योकि वहा यह शब्द प्रतिपादित हुए उस धर्म की मुख्यता बतलाता है और शेष अविवक्षित धर्मों की गौणता । प्रमाण सप्त भगी मे तो यह बात नही । क्योकि विवक्षित एक धर्म के द्वारा अन्य अविवक्षित हुए धर्म गृहीत ही हो जाते है हैं अतः इसका प्रयोग यहा निरर्थक ही प्रतीत होता है क्योकि यहा किसी भी धर्म की मुख्यगौण विवक्षा नही है ।

उत्तर पहिले हमे यह समझ लेना चाहिये कि वाक्य के साथ जोडा गया यह "स्यात्" किस अर्थ का कथन करने वाला है—स्यात् शब्द अव्यय-निपात—रूप है और यह किसी अपेक्षा, कोई एक दृष्टि, कोई एक धर्म की विवक्षा इस अर्थ का द्योतक या कथक है । यह शायद, भ्रमवाद, अनिश्चयवाद, सम्भ—ववाद आदि का कथक नही है । 'स्यात्' शब्द से यह ज्ञान हो जाता है कि वस्तु केवल उस विवक्षित धर्म वाली ही नही है किन्तु इससे अतिरिक्त और भी धर्म इसमें विद्यमान है । परन्तु वर्तमान मे इस धर्म की विवक्षावश मुख्यता हो रही है । एतावता अन्य अशेष विद्यमान धर्मों का इसमे अभाव नही है । विवक्षित धर्म यदि यह समझता हो कि मैं ही इस समय इस वस्तु मे मुख्य रूप से विवक्षित हुआ हू । अत मेरा ही सर्वदा इस पर एकच्छत्र राज्य रहेगा सो "स्यात्" शब्द उसकी इस सर्वहरा प्रवृत्ति को चुनौती देता है कि यह तेरा मन्तव्य क्षणिक है क्योकि यहां तो अन्य अनन्त धर्मों का भी साम्राज्य है । मैं इसी बात को द्योतित करने या कहने के लिये बैठा हुआ हू । मेरा सम्बन्ध विवक्षित धर्म से नहीं है । क्योकि उसका उल्लेख तो उस वस्तु मे उस प्रयुक्त शब्द के द्वारा हो ही रहा है । मेरा संबन्ध तो इस वस्तु मे अविव—क्षित अन्य अशेष धर्मों से है । जब अन्य धर्म की विवक्षा होगी तब तुम अविवक्षित की कोटि मे पहुचा दिये जाओगे । इस तरह यह 'स्यात्' शब्द विवक्षित धर्म की सर्व-हरा प्रवृति को शमित करता है और वस्तु पर सर्वदा के उसके एकाधिपत्य को निय-मित करता है ।

शका . यह स्यात् शब्द अनेकान्त का द्योतक या वाचक है सो इसका क्या हृद्य है ?

उत्तर जिस प्रकार अधकार मे स्थित घटादिक पदार्थों का दीपक प्रकाशक होता है उसी प्रकार यह शब्द अस्ति आदि पदो द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त का द्योतक-प्रकाशक होता है यह कहता है कि वस्तु मे अनेका-न्तात्मकता स्वाभाविक है । अप्राकृतिक नही । घटादि रूप वस्तु का परिवार बहुत बडा है । वह इतना ही नही है कि जितना वह विवक्षित शब्द द्वारा प्रकट किया जा रहा है ।

वाचक पक्ष जब "स्यात्" शब्द अनेकान्त का कथन परक होता है यह विवक्षित धर्म का कथन करता हुआ अविवक्षित धर्मों की रक्षा करता है ।

शंका · जब स्यात् शब्दार्थ कथचित् शब्द सदादि पदो द्वारा कथित अर्थ का द्योतन ही कर देता है तो फिर वाक्य मे इसके प्रयोग की

आवश्यकता ही क्या है। इससे तो उल्टा वाक्य में पुनरूक्ति दोष का ही सद्भाव प्रकट होता है। इसी तरह जब यह अनेकान्त का कथक होता है तो फिर वाक्य में सदादि पदों के प्रयोग की भी क्या जरूरत है। क्योकि इसी से सदादि-पदो द्वारा वाच्यार्थ का प्रतिपादन हो ही जाता है।

उत्तर . शंका यद्यपि ठीक है। परन्तु इस विचार से वह वाक्य मे प्रयुक्त न किया जाय तो मिथ्यैकान्त की शका का व्यवच्छेद नही हो सकता। अत उसके-व्यवच्छेद निराकरण के लिए उसका प्रयोग किया जाता है। प्रमाण वाक्य मे यदि प्रतिपात्त स्याद्वादशैली से अभिज्ञ है—अपरिचित है तो उसकी अपेक्षा उस वाक्य मे स्यात्पद के प्रयोग की कोई विशेष जरूरत भी नही है। यह द्योतक पक्ष के सम्बन्ध मे स्पष्टीकरण है।

वाचक पक्ष में स्पष्टीकरण इस प्रकार से है

यद्यपि स्यात्पद के प्रयोग से अनेकान्त का बोध हो जाता है परन्तु वह बोध सामान्यरूप से ही होता है। विशेष रूप से नही। अत विशेष रूप से विशेष अर्थ का बोध कराने के लिए सदादिक पदो का ही उच्चारण करना पडेगा। सामान्य शब्द की शक्ति तो सामान्य का ही बोध कराने वाली होगी। विशेष नही। इसलिए विशेष के बोधार्थ विशेष सदादिक पदो के प्रयोग की आवश्यकता होगी ही जैसे "वृक्षो न्यग्रोध" यहा पर सामान्य के अन्तर्गत होने पर भी विशेष रूप से न्यग्रोधका बोध कराने के लिऐ "न्यग्रोध" पद का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग होता है। नयज्ञान समुद्र बिन्दु की तरह प्रमाणैक-देश कहा गया है। जिस प्रकार समुद्र की बिन्दु न समुद्र कही जाती है और न असमुद्र ही किन्तु वह समुद्र का एक देश कहलाती है। इसी प्रकार नयज्ञान भी प्रमाणैक देश कहा गया है। नय सक्षेप मे शब्दनय अर्थनय और ज्ञानमय इस प्रकार से तीन और विशेष रूप से नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजु, सूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत ये सात कहे गये हैं। इनका विशेष वर्णन जैन ग्रन्थो से जाना जा सकता है।

●●●

१०

मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों की द्रष्टि में भेद-विज्ञान

☐डा० (श्रीमती) पुष्पलता जैन, नागपुर

स्व-पर का विवेक भेद विज्ञान कहलाता है। उसका प्रकाश आदि काल से लगे हुए जीव के कर्म और मोह के नष्ट हो जाने पर होता है। सम्यक् दृष्टि ही भेद-विज्ञानी होता है। उसे भेद-विज्ञान सासारिक पदार्थों से ऐसे पृथक् कर देता है जैसे अग्नि स्वर्ण कटिट्का आदि से भिन्न कर देती है।[1] रूपचन्द इसी को सुप्रभात कहते है– "प्रभु मो को सुप्रभात भयो"। वह मिथ्या भ्रम, मोह, निद्रा, क्रोधादिक कषाय, कामविकार आदि नष्ट होने पर प्राप्त होता है। यही मोक्ष का कारण है।[2]

भेद विज्ञान होने पर चेतन को स्वानुभव होने लगता है। अनयपक्ष के स्थान पर अनेकान्त की किरण प्रस्फुटित हो जाती है, आनन्द कन्द अमन्द मूर्ति मे मन रमण करने लगता है।[3] इसलिए भेदविज्ञान को "हिये की आखे" कहा गया है। जिसके प्राप्त होने पर अमृतरस बरसने लगता है और परमार्थ स्पष्ट दिखाई देने लगता है।[4] जैसे कोई व्यक्ति धोबी के घर जाकर दूसरे के कपड़े पहन लेता है और यदि इस बीच उन कपडो का स्वामी आकर कहता है कि ये कपडे मेरे है तो वह मनुष्य अपने वस्त्र का चिन्ह देखकर त्याग बुद्धि करता है, उसी प्रकार यह कर्म सयोगी जीव परिग्रह के ममत्व से विभाव मे रहता है अर्थात् शरीरादि को अपना मानता है। परन्तु भेदविज्ञान होने पर जब स्व-पर का विवेक हो जाता है तो वह रागादि भावो से भिन्न अपने स्व-स्वभाव को ग्रहण करता है।[5]

जिस प्रकार आरा काष्ठ के दो खण्ड कर देता है, अथवा जिस प्रकार राजहंस क्षीर-नीर का पृथक-करण कर देता है उसी प्रकार भेद-विज्ञान अपनी भेदक शक्ति जीव और पुद्गल को जुदा जुदा करता

१. नाटक समयसार, जीवद्वार, २३
२. हिन्दी पद संग्रह पृ० ३६
३ वही पृ० ३६–३७
४. वही बनारसीदास, पृ० ५६
५. नाटक समयसार-जीवद्वार ३२

है। पश्चात् यह भेद-विज्ञान उन्नति करते करते अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और परमावधि ज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है और इस रीति से वृद्धि करके पूर्ण स्वरूप का प्रकाश अर्थात् केवलज्ञान स्वरूप हो जाता है जिसमे लोक-अलोक के सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिबिबित होते है।

जैसे करवत एक काठ बीच खण्ड करै,
जैसे राजहंस निरवारै दूध जलकौं।
तैसे भेदग्यान निज भेदक सकति सेती,
भिन्न भिन्न करै चिदानन्द पुदगल को॥[६]

शुद्ध, स्वतन्त्र, एकरूप, निराबाध भेदविज्ञान रूप तीक्ष्ण करौत अन्त करण मे प्रवेश कर स्वभाव-विभाव और जड-चेतन को पृथक पृथक कर देता है। यह भेद विज्ञान जिनके हृदय मे उत्पन्न होता है उन्हे शरीर आदि पर वस्तु का आश्रय नही सुहाता। वे आत्मानुभव करके ही प्रसन्न होते है और परमात्मा का स्वरूप पहचानते है।[७] इसलिए भेद विज्ञान को सवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण माना गया है।[८] भेद-विज्ञान के बिना शुभ-अशुभ की सारी क्रियायें भगवद्भक्ति, बाह्य तप आदि सब कुछ निरर्थक है।[९]

भेद विज्ञानी अपनी ज्ञानशक्ति से द्रव्यकर्म-भावकर्म को नष्ट कर मोहान्धकार को दूर कर केवलज्ञान की ज्योति प्राप्त करता है। कर्म और नौकर्म से न छिप सकने योग्य अनन्त शक्ति प्रगट होती है जिससे वह सीधा मोक्ष प्राप्त करता —

जैसे कोऊ मनुष्य अजान महा बलवान,
खोदि मूल वृच्छ को उखारै गहि बाहू सौ।
तैसे मतिमान दर्वकर्म भावकर्म त्यागि,
रहै अतीत मति ग्यान की दसाहू सो।
यही क्रिया अनुसार मिटै मोह अंधकार,
जगै जोति केवल प्रधान सविताहू सौ।
चुकैन सकतीसौ लुकै न पुद्गल माही,
धुकै मोख थलकौ रुकै न फिर काहू सौं॥[१०]

भेद-विज्ञान को ही आत्मोपलब्धि कहा गया है। इसी से चिदानन्द अपने सहज स्वभाव को प्राप्त कर लेता है। पीताम्बर ने ज्ञानबावनी मे इसी तथ्य को भावात्मक ढग से बहुत स्पष्ट किया है। बनारसीदास ने इसी को काम नाशिनी, पुण्यपापतापहरनी, रामरमणी विवेकसहचरनी, सहजरूपा, जग माता रूप सुमति देवी कहा है।[१२]

---

६. वही अजीव द्वार १४ पृ० ६४

७ वही संवरद्वार, ३ पृ० १२३

८. वही सवरद्वार, ६ पृ० १२५

९. वही निर्जरा द्वार ६, पृ० १३५

१०. वही, पृ० २१०

११ बनारसीविलास ज्ञान बावनी पृ० ७२-९०

१२. वही, नवदुर्गाविधान, पृ० ७ पृ० १६६-७०

भैय्या भगवतीदास ने "जैसो शिवखेत तेसौ देह मे विराजमान, ऐम लखि सुमति स्वभाव मे प्रगति है।[13] कहकर "ज्ञान बिना बेर बेर क्रिया करी केर फेर, कियो कोऊ कारज न आतम जतन को कहा है।[14] कवि का चेतन जब अनादिकाल से लगे मोहादिक को नष्ट कर अनन्तज्ञान शक्ति को पा जाता है तो कह उठता है :

"देखो मेरी सखीये आज चेतन घर आवै।
काल अनादि फिर्‌यो परवश ही अब निज सुधहि चितावै ।।[15]

भेद विज्ञान रूपी तरुवर जैसे सम्यक्त्व रूपी धरती पर ऊगता है तो उसमे सम्यग्दर्शन की मजबूत शाखाये आ जाती है, चरित्र का दल लहलहा जाता है, गुण की मजरी लग जाती है, यश स्वभावत: चारो दिशाओ मे फैल जाता है। दया वत्सलता, सुजनता, आत्मनिन्दा, समता, भक्ति, विराग, धर्मराग, त्याग, धैर्य, हर्ष, प्रवीणता आदि अनेक गुणमंजरी मे गूथे रहते है।[16] भूधरदास को भेदविज्ञान हो जाने पर आश्चर्य होता है कि हर आत्मा मे जब अनन्तज्ञानादिक शक्तिया है तो ससारी जीव को यह बात समझ मे क्यो नही आती। इसलिए वे कहते है

पानी बिन मीन प्यासी, मोहे रह रह आवै हासी रे ।।[17]

द्यानतराय आत्मा को सबोधते हुए स्वय आत्म रमण की ओर झुक जाते है और उन्हे आत्मविश्वास हो जाता है कि "अब हम अमर भये न मरेंगे"। भेद विज्ञान के द्वारा उनका स्वपर विवेक जाग्रत हो जाता है और आत्मानुभूतिपूर्वक चिन्तन करते हैं। अब उन्हे धर्म चक्षुओ की भी आवश्यकता नही। अब तो मात्र आत्मा की अनन्त-गुणशक्ति की ओर हमारा ध्यान है। सभी वैभाविक भाव नष्ट हो चुके है और आत्मानुभव करके ससार दुःख से छूटे जा रहे हैं

हम लागे आतमराम सौं ।
बिनाशीक पुद्‌गल की छाया, कौन रमे धन-धाम सौ ।।
समता सुख घट मे परगास्यो, कौन काज है काम सौ ।
दुविधाभाव जलांजुलि दीनों, मेल भयौ निज स्वास सौ ।
भेद ज्ञान करि निज पर देख्यौ, कौन विलोकै चाम सौ ।।
उर्रै पर्रै की बात न भावै, लौ लागी गुण-ग्राम सौ ।।
विकल्प भाव रक सब भाजे, झरि चेतन अभिराम सौ ।
'द्यानत' आतम अनुभव करि कै, छूटे भव-दुख धाम सौ ।[18]

कवि छत्रपति ने भी भेदविज्ञान के माहात्म्य का सुन्दर वर्णन किया है।[19] ●●●

---

१३ ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, पृ० ३४
१४ वही, शत अष्टोत्तरी, पृ० ६७
१५. वही, परमार्थ पद पंक्ति, १४, पृ० ११४
१६. वही, गुणमजरी, २-६ पृ० १२६
१७. हिन्दी पद सग्रह पृ०
१८. अध्यात्म पदावली ४७, पृ० ३४६
१६. मनमोदन पद ७६, पृ० ३६

११

जैन धर्म में मूर्ति-पूजा

□श्री नीरज जैन सतना

जैन मान्यता के अनुसार अरहन्त तीर्थंकरो और सिद्ध भगवानो की मूर्तिया स्थापित करने, उनके मन्दिर निर्माण कराने, और उनकी पूजा करने की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। इनके वर्णन मे मनुष्यो द्वारा निर्मित, स्थापित और प्रतिष्ठित अनेक जिन बिम्बो और जिनालायो का उल्लेख तो प्राचीन काल से मिलता ही है, असख्यात अकृत्रिम जिन बिम्बो और जिनालयो का भी उल्लेख तिलोयपण्णति और त्रैलोक्यसार आदि ग्रन्थो मे पाया जाता है। ये सभी अनादि-निधन अकृत्रिम रचनाये नन्दीश्वर आदि द्वीपो मे तथा देवो के आवासो मे होने के कारण ऊर्द्ध, मध्य, और पाताल इन तीनो लोको मे पाई जाती है। भरत क्षेत्र मे ऐसी किसी भी अकृत्रिम रचना का उल्लेख नही है।

पौराणिक उल्लेख

जैन धर्म मे मूर्ति पूजा की परम्परा को सिद्ध करने वाले हजारो उल्लेख जैन शास्त्रो मे भरे पडे है। इस हुडावसर्पिणी काल मे चौथे काल के प्रारम्भ से ही तीर्थंकरो, कुलकरो, शलाकापुरुषो अन्य अनेक महा पुरुषो के जीवन वृत्त हमारे पुराणो म गाए गये है, जिनमे यथास्थान जिनेन्द्र की बन्दना, पूजा आदि का उल्लेख प्रचुरता से मिलता है। प्रथम चक्रवर्ती सम्राट भरत द्वारा भूत भविष्यत् और वर्तमान काल सम्बन्धी तीन चौबीसी जिन प्रतिमाओ की स्थापना और पूजा का उल्लेख आदि पुराण मे है। भरत ने गृहस्थाश्रम का उपदेश देते हुऐ अनेक अवसरो पर अर्हन्तो और सिद्धो की पूजा का भी उपदेश दिया है।

रविषेणाचार्य के पद्मपुराण मे भी भगवान राम के जीवन चरित्र से सम्बद्ध अनेक स्थलो पर जिनालयो और जिनबिम्बो की चर्चा आती है। बनवास के समय मार्ग मे प्रथम रात्रि विश्राम राम ने एक जिन मन्दिर मे ही किया था। लका मे रावण के महल मे भी भगवान शान्ति-जिनेन्द्र का सुन्दर और भव्य जिनालय था जैसा उल्लेख है। रावण ने बहुरूपिणी विद्या की सिद्धि इसी मन्दिर मे बैठ कर की थी और रावण को मार कर भगवान राम ने जब लका मे प्रवेश किया तो इसी मन्दिर मे उन्होंने जिन पूजा की थी।

सीता ने पुष्पक विमान से नीचे गिरने का अशुभ स्वप्न देख कर अनिष्ट की शाति के लिये मन्दिरो मे जिनेन्द्र भगवान का पूजन किया। गर्भिणी सीता को जिन मन्दिरो की बन्दना का दोहला उत्पन्न हुआ और राम ने उसकी पूर्ति की। मन्दिरो को सजाया गया और राम ने सीता के साथ इन मन्दिरो के दर्शन किये। प्रजाजनो मे अपवाद प्रचारित होने पर राम ने सीता को बनवास के लिये भेजते समय भी जिन मन्दिरो के दर्शन कराने का ही बहाना लिया था। पद्मपुराण मे

इन घटनाओं का विस्तृत वर्णन आचार्य रविषेण ने किया है।[1] यह भी उल्लेख आता है कि एक बार हनुमान मेरु पर्वत की वन्दना के लिये अकृत्रिम जिन चैत्यालयों की वन्दना करके जब वे भरत क्षेत्र को वापस लौट रहे थे तब आकाश मे विलीन होती हुई उल्का को देख कर ही वह ससार से विरक्त हुए।[2] मूर्ति स्थापना और पूजा का महत्व बताते हुए रविषेणाचार्य ने लिखा है—

"जो जिन भगवान की आकृति के अनुरूप जिन बिम्ब बनवाता है, तथा जिनेन्द्र भगवान की पूजा और स्तुति करता है उसके लिये कुछ भी दुर्लभ नही है"।[3]

आचार्य रविषेण सातवी शताब्दी के विद्वान थे। सातवी ही शताब्दी मे रचित एक अन्य ग्रन्थ 'परमात्म प्रकाश' मे कहा गया है कि—

"तूने न तो साधुओं को दान दिया, न जिनेन्द्र भगवान की पूजा की और न पच परमेष्ठी को नमस्कार ही किया, फिर तुझे मोक्ष का लाभ कैसे हो…………?[4]

इसी शताब्दी मे रचित जटासिहनंदि के 'वरांग चरित' (सर्ग २२) मे जिन पूजा के महत्व के साथ जिनबिम्ब और जिनालय निर्माण का भी बड़ा महत्व बताया है। आचार्य अमितगति ने जिनेन्द्र की अंगुष्ठ प्रमाण प्रतिमा पधराने वाले को भी अविनाशी लक्ष्मी की प्राप्ति का पात्र कहा है। आचार्य पद्मनदि ने तो उससे भी आगे बढ़कर बिल्व पत्र के आकार के मन्दिर मे जौ के दाने के बराबर मूर्ति की शान्तिपूर्वक स्थापना करने वाले को ऐसे पुण्य का पात्र कहा है जिसका वर्णन करने मे सरस्वती भी असमर्थ है।

श्रीमान् पडित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री सिद्धाताचार्य ने उपासकाध्ययन की प्रस्तावना मे[5] इस विषय का विशद विवेचन करते हुये लिखा है कि "यह सहज रूप मे कहा जा सकता है कि मूर्ति पूजन की परम्परा जैन धर्म मे बहुत पुराने समय से चली आ रही थी, और उत्तर काल मे तो जिन प्रतिमा और जिनालयों का निर्माण बहुतायत से होने लगा। जब भारत पर मुसलमानो के आक्रमण होने लगे और मन्दिर तथा मूर्तिया तोडी जाने लगीं तो उसकी प्रतिक्रिया के रूप मे भारत मे मन्दिरों और मूर्तियो के निर्माण पर पहिले से ही अधिक जोर दिया जाने लगा। ग्यारहवी शताब्दी के बाद का युग तो इन प्रवृत्तियो के चरमोत्कर्ष का युग रहा। इसी युग मे प्रतिष्ठा पाठो आदि की रचना हुई और पूजा साहित्य का भी विशेष रूप से सृजन हुआ।

सोमदेव सूरि ने अपने उपासकाध्ययन में तो जैन मूर्ति पूजा का बडा ही सागोपाग विधि-विधान

---

१. पद्म पुराण पर्व ९५, ९६ एव ९७।
२. आचार्य रविषेण, पद्मपुराण पर्व ११२
३. जिनबिम्ब जिनाकार जिनपूजा जिनस्तुतिम्।
   य: करोति जनस्तस्य न किञ्चि दुलर्भ भवत् (पद्मपुराण पर्व १४ श्लोक २१३)
४. दाण ण दिण्णऊ मुनिवरहु, णवि पुज्जिउ जिणणाहु, पचण वदिउ परमगुरु, किमु होसइ सिवलाहु।
   (परमात्म प्रकश १६८)
५. ज्ञानपीठ से प्रकाशित उपासकाध्ययन प्रस्तावना पृष्ठ ४८-४९-५०

वर्णन किया है। अन्य ग्रन्थों से भी पूजा के भेद, पूजा की विधि और पूजा के फल की जो विवेचना की गई है वह जैन धर्म मे मूर्ति पूजा के महात्म्य को सहज ही सिद्ध करती है।

ऊपर के इन उद्धरणो से यह अनुमान लगाना ठीक न होगा कि जैन साहित्य मे पूजा का समावेश इसी काल से हुआ होगा। वास्तव मे प्रथम शताब्दी से ही जब से ग्रन्थ रचना का प्रारम्भ हुआ, सभी आचार्यों और ग्रन्थकारो ने जिन बिम्ब और जिनालयो की स्थापना तथा उनकी नियमपूर्वक पूजा का उपदेश दिया है। प्रथम शताब्दी के पूज्य आचार्य भगवान कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थो मे अरहत, सिद्ध, चैत्य और प्रवचन भक्ति का निर्देश किया है[६] तथा देवता साधु और गुरु की पूजा का भी निर्देश किया है।[७]

दूसरी शताब्दी के प्रसिद्ध तार्किक विद्वान् आचार्य सम्भन्तभद्र ने तो विशेष रूप से भक्ति साहित्य का रचना भी की है। उनकी स्तुतिविद्या, देवागमस्तोत्र आदि ग्रन्थ जिन पूजा की महत्ता का ही उद्घोष करते है। इतना ही नही उन्होने स्वय अपने भक्ति बल से, स्वयम्भू स्तोत्र का पाठ करते हुए, अत्यन्त चमत्कार पूर्वक आठवे तीर्थ कर चन्द्रप्रभु भगवान की प्रतिमा का आवाहन किया था। समन्तभद्राचार्य स्वामी ने श्रावक धर्म का उपदेश देते हुए अर्हन्त देव के चरणो की प्रतिदिन आदर पूर्वक पूजा करने का स्पष्ट उपदेश किया है।[८]

इस प्रकार हम देखते है कि प्रारम्भ से ही, प्रायः सभी आचार्यों और ग्रन्थकर्त्ताओं ने जिन बिम्बो और जिनालयो की स्थापना तथा पूजा का उपदेश यथा स्थान दिया है अत. पौराणिक तथा ऐतिहासिक रूप से भी पूजा की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है।

अब हम इस विषय पर, हमारे देश मे उपलब्ध सामग्री के आधार पर, इस दृष्टिकोण से विचार करेंगे कि जिन बिम्बो और जिनालयो का अस्तित्व हमारे यहा कब से मिलना प्रारम्भ होता है तथा समय-समय पर उनमे किस प्रकार के परिवर्तन हुए और कैसे वे अपनी वर्तमान परम्परा तक पहुंचे है।

कलिंग के अग्रजिन और सम्राट खारवेल

भगवान महावीर के समय मे ही कलिग मे जैन स्तूपो तथा मूर्तियो का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। आज भी कलिग से उपलब्ध प्राचीनतम शिल्पीकोष जैन है। आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की एक प्रसिद्ध प्रतिमा राज्य के इष्ट देव की तरह पूजी जाती थी तथा उसे कलिग कहते थे। महावीर के जन्म के पूर्व भी कलिग जनपद मे

---

६. पचास्तिकाय गाथा-१६६।

७. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार १ —६६

८. देवाधिदेवचरणे परिचरण सर्वदु.खनिर्हरणम। कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुया दादृतो नित्यम ।। आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक ११६।

उक्त कलिंग जिन की प्रतिष्ठा थी। कलिंग नगर के निकट कुमारी पर्वत पर भगवान महावीर का समवशरण आया था। इस पावन घटना की स्मृति मे उक्त स्थान पर स्तूप आदि स्मारक बनाये गये थे और मुनियो के निवास के लिये गुफाये भी निर्मित हुई थी, जो सम्राट खारवेल के समय के बहुत पूर्व से वहा विद्यमान थी। प्रो० बनर्जी का भी यही मत है।[९]

यहीं कलिंग जिन 'अग्रजिन' के नाम से भी प्रसिद्ध थे। वीर निर्वाण सवत् १०३ (४२४ ई० पूव) मे मगध नरेश नदिवर्धन कलिग पर आक्रमण करके राजधानी मे प्रतिष्ठित इस भव्य मूर्ति को अपने साथ उठा ले गया था। कालान्तर मे सम्राट् खारवेल ने अपने राज्य के बारहवे वर्ष मे मगध को जीत कर इस मूर्ति को बडे समारोह पूर्व वापस ले जाकर यथा स्थान पुर्नस्थापित किया था। कलिग सम्राट खारवेल की इस पराक्रम पूर्व विजय का उल्लेख खण्डगिरी की हाथीगुफा मे प्राकृत के एक शिलालेख मे किया गया है। इस घटना से अनेक महत्व पूर्ण बाते सिद्ध होती है। एक तो यह कि नन्दकाल, अर्थात् ईसा पूर्व पाचवी चौथी शताब्दी मे, जैन मूर्तियो का निर्माण कराकर उनकी पूजा प्रतिष्ठा किये जाने की परम्परा विद्यमान थी। दूसर यह कि उस समय कलिग देश मे एक प्रसिद्ध जैन मन्दिर व मूर्ति थी जो इस प्रदेश भर मे लोक पूजित थी। तीसरे यह कि नन्द सम्राट, जो इस जैन मूर्ति को अपहरण करके ले गया और उसे अपने यहा सुरक्षित रखा, अवश्य ही जैन धर्मावलम्बी रहा होगा व उस लोक पूजित जिन बिम्ब के लिये उसने अपने यहा भी जिनालय बनवाया होगा। चौथे यह कि कलिंग की जनता व राजवश मे उस जिन प्रतिमा के लिये बराबर दो तीन सौ वर्ष तक ऐसी अटूट श्रद्धा बनी रही कि अवसर मिलते ही कलिग सम्राट ने उसे वापस लाकर अपने यहा पुनर्स्थापित करने का महान् कार्य किया। इस प्रकार जैन धर्म मे मूर्ति पूजा का इतिहास सम्मत उल्लेख हमे ईसा पूर्व सातवी आठवी शताब्दी मे निर्विवाद रूप से प्राप्त होता है।[१०]

मथुरा ककाली टीला

तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के काल को यदि हम वर्तमान मान्यता के अनुरूप भारतीय मूर्तिकला का प्रारम्भ काल माने तो हमे ज्ञात होता है कि भारतीय मूर्तिकला के उद्भव और विकास की इस यात्रा मे जैन कलाकारो का उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण योगदान प्रारम्भ से ही रहा है और भारतीय मूर्तिकला की कोई ऐसी विधा नही है, कोई ऐसा प्रकार नही है तथा कोई ऐसा काल नही है जिसका समर्थ एव सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व जैन कला मे प्राप्त न होता हो।

इस काल की जो जैन मूर्तिया व शिल्पावशेष प्राप्त हुए है उनमे मथुरा के ककाली टीला से प्राप्त सामग्री अपनी प्राचीनता तथा अन्य कलागत विशेषताओ के लिए सारे ससार मे प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। यहा प्राप्त शिलालेखो के आधार पर स्मिथ ने अपने ग्रन्थ मे लिखा है कि "मथुरा का यह देव निर्मित स्तूप भारत मे वास्तुकला का सर्वाधिक प्राचीन उदाहरण है। इससे प्राचीन कोई भी मानव निर्मित उदाहरण समूचे भारत मे कही भी

९. डा० ज्योति प्रसाद जैन—भारतीय इतिहास . एक दृष्टि पृष्ठ १८१
१०. डा० हीरालाल जैन भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान पृष्ठ ३०७

नहीं पाये गये।

जैन गुफाएं

जैन स्तूपों के निर्माण के थोड़े ही काल उपरात की बनी अनेक जैन गुफाएं हमारे देश मे प्राप्त होती है। गया के समीप बाराबर तथा नागार्जुनी पहाडियो पर तीन जैन गुफाओं का निर्माण सम्राट् अशोक के राज्य काल मे हो चुका था।

यद्यपि इन गुफाओ को आजीवको को दान किये जाने का उल्लेख है परन्तु आजीवक सम्प्रदाय का उद्भव जैन संघ मे ही हुआ और उसका विलीनीकरण भी जैन सघ मे ही हुआ अत इन गुफाओ के जैन गुफा चैत्य होने मे सन्देह की कोई गुंजाइश नही है।[११] इन मौर्य कालीन गुफाओ के पश्चात सर्वाधिक उल्लेखनीय खण्डगिरि उदयगिरि की वे गुफाएं हैं जिनका उत्खनन उडीसा मे कटक के समीप ईसा पर्व दूसरी शताब्दी मे सम्राट खारवेल द्वारा कराया गया। ये सभी गुफाए सुन्दर और विशाल जिन-प्रतिमाओ से सुसज्जित है और तात्कालिक मूर्ति पूजा की परम्परा का जीवित प्रमाण है।

जैन गुफाओं की इस शृंखला मे जूनागढ़ (काठियावाड) के बाबा प्यारा मठ के समीप श्री धरसेन आचार्य की चन्द्रगुफा तथा उसी स्थान के पास ढग की गुफाएं भी जैन मूर्तियो से युक्त है। इनका निर्माण भी ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी मे हुआ था।

गुप्त काल मे चन्द्र गुप्त द्वितीय के उल्लेख सहित गुफा स० १०६ (४२३ ईस्वी) मे मध्य प्रदेश मे, विदिशा के पास उदयगिरि मे भगवान पारसनाथ की भव्य मूर्ति से युक्त गुफा का निर्माण हुआ। उस्मानाबाद के पास की गुफाएं तथा तेरापुर के समीप पर्वतपुर की गुफाए भी जैन मूर्तियो से युक्त हैं।

दक्षिण भारत मे बदामी की जैन गुफा का निर्माण भी सातवी शताब्दी का माना जाता है। आठवी शताब्दी मे राष्ट्रकूट के अमोघवर्ष ने दिगम्बर दीक्षा लेकर इसी गुफा मे तपश्चरण किया था। गुफा मे एक ओर बाहुबली तथा दूसरी ओर पारसनाथ की मूर्तिया बनी है। इसी प्रकार अइहोल की गुफाओ मे भी जैन मूर्तिया है। ऐलोरा मे तो पांच जैन गुफाएं हैं जिनमे इन्द्र सभा नाम की दो मजिली गुफा तो अत्यन्त सुन्दर और कलात्मक है। ऐलोरा की इन गुफाओ मे विशाल तीर्थकर प्रतिमाओ के अतिरिक्त बाहुबलि, इन्द्र-इन्द्राणी, चक्रेश्वरी पद्मावती आदि अनेक अन्य मूर्तियों का उत्खनन भी बडी सुरुचि और संयोजना पूर्वक हुआ है। मध्यकालीन गुफाओ मे इन्द्र सभा अपनी अनेक विशिष्टताओ के कारण अद्वितीय मानी जाती है। दक्षिण मे अकार्य तकायी आदि अनेक गुफाएं और भी है। गुफा-तक्षण कला के ह्रास के काल मे निर्मित ग्वालियर की गुफाए इस शृंखला की अन्तिम उपलब्धि है।

मन्दिर और मूर्तियां

गुप्त काल को कला और सस्कृति के विकास मे इस देश का स्वर्ण युग कहा जाता है। उसके प्रारम्भ (चौथी शताब्दी ईस्वी) से ही बराबर जैन मन्दिरो और मूर्तियो का निर्माण प्राय सारे देश मे प्रचुरता से होना पाया जाता है।

---

११. डा० हीरालाल जैन : भारतीय सस्कृति मे जैन धर्म का योगदान पृ० ३०७।

कुषाण काल और मौर्य काल मे, अथवा यो कहे कि ईसा पूर्व के निर्माण मे तीर्थंकर प्रतिमाओ मे चिन्ह या लान्छन बनाने की पद्धति नही थी। शासन यक्ष तथा यक्षिणियो का अकन भी तब तक मूर्ति के साथ नही किया जाता था। गुप्त काल से मूर्तियो मे चिन्ह बनना प्रारम्भ हुआ और पूर्व मध्य काल (छठवी सातवी शताब्दी) से तो यह अनिवार्य परम्परा ही हो गई। शासन देवियो को भी तीर्थ-कर के पादमूल मे इसी काल से स्थान मिलना प्रारम्भ हुआ।

गुप्त काल मे देवगढ, सीरा पहाड, नचना, राजघाट-वाराणसी और मन्दसोर आदि मे जैन मन्दिरो और मूर्तियो का निर्माण हुआ। इस काल की दर्जनो एक से एक सुन्दर और मनोज्ञ प्रतिमाए हमारे देश के अनेक सग्रहालयो मे सुरक्षित है।

जैन मूर्ति निर्माण और पूजन प्रतिष्ठा की यह परम्परा तब से आज तक जिस उल्लेखनीय कला-त्मकता और निर्माण की विशेषता के साथ प्रवर्त-मान है वह तो देश के उपलब्ध पुरातत्व से सहज ही स्पष्ट है। श्रवणबेलगोला मे गोम्मटेश्वर भगवान बाहुबलि की जगत् प्रसिद्ध प्रतिमा इस परम्परा का एक अद्वितीय और शानदार उदाहरण है। कारकल आदि मे भी बाहुबलि की बडी बडी प्रतिमाएं है। उत्तर भारत मे आहार, थूबोन जी, खजुराहो और बजरगगढ की शान्तिनाथ प्रतिमाओ की गणना भी इन्ही मे करना पडेगा। पद्मासन विराजमान मूर्तियो मे कुण्डलपुर, चान्दनपुर महावीर, तेवर, देवगढ तथा राजस्थान की सुन्दर सगमरमर की मूर्तिया उल्लेखनीय है। इन सब के साथ यथेष्ठ परिकर सज्जा और कथन उपकथन आदि से सम्बन्धित अकन भी प्राय हर जगह देखने को मिलते है।

जैन मन्दिरो के निर्माण की शृ खला भी हमारे देश मे पिछले पन्द्रह सौ वर्षो मे अनवरत चली आ रही है। देवगढ के विविधता पूर्ण मन्दिर, खजुराहो के उत्कृष्ट कलायुक्त विशाल जिनालय तथा आबू-देलवाडा, रनकपुर आदि के विशाल और विशिष्ट मन्दिर इस बात के प्रतीक है कि जैन सस्कृति मे मूर्ति पूजन और मन्दिर निर्माण की परम्परा एक प्रमुख और प्राणवान परम्परा रही है। जब से हमारा इतिहास पाया जाता है, या यो कहे कि जब से हमारा अस्तित्व पाया जाता है, तभी से मूर्ति पूजा की यह परम्परा हमारी धार्मिक आस्था और आस्तिक्य भावना की अभिव्यक्ति का बडा सहज माध्यम बन कर हमारे प्राणो से जुडी रही है।

12

Characteristics of Jaina Mysticism

Dr. (Miss) Shanti Jain

The religious history of mankind draw our attention to those great per. sonalities for whom the attainment of supiritual values constituted the essential meaning of life. Though these personalities where born in different environments, yet they exhibit a remarkable similarity of spiritual exnerience, Such personalities are known as mystics and the phenomenon is known as mysticism In Jaina mystical literature various expressions of mystical experience or mystical vision are invariably found. words like Svasamaya, Suddhopayoga, Suddhabhavas, Svarupasatta, Niscaya-naya, Antaratman, Paramatman. Tattva-nubhava, Ahimsa and so on are indicative of mystical expression in Jainism In view of this the question whether mysticism is possible in Jainisms seems to be insignificant get us now turn to the marked characteristics of Jaina mysticism.

In point of fact, mystical cansciousness entails certain expressions by virtue of which its presence may easily be recognised. In other words, these characteristics may serve as the criteria of Jaina mysticism. Though to recognize mystical states is not as easy as may be thought, Jaine mystics have endeavoured to present some such characteristics as may give an idea cf the presence of this mystical phenomenon. In view of its obstruseness there is every likeli-hood of its being misunderstood. Only those who are mystically minded and are prone to mystical way of life can ascertain the presence of mystiscal experience. Mr. Stace rightly says that "the impossibility of communitating mystical experience to one who has not had such an experience is like the impossibility of communicating the nature of colour to a man born Mind. This is the reason why the spiritually seeing man, the mystic cannot communicate what he has experienced to the non-mystic"[1], It may be said that these mystical experiences do not possess objectivity of gross type, but it dose not meen that they are purely subject ve in the narrow sense of the words. In fact

1. Mysticism and Philosophy, P 283

they are subjective, yet they are very much objective. Hence in Jaina spiritual literature certain characteristics are invariably found. These characteristics consist of spiritual knowledge, spiritual joy, spiritual steadfastness, intuition, ineffability, activistic attitude, moral elevation, freedom from fear, permanancy and so on. We may say that these are the articulate expressions of mystical life

(i) **Spiritual Knowledge.**

First, self knowledge or spiritual nowledge is a characterizing feature of transcendental life. 'Know thyself' is an often quoted maxim Knowledoe of the Atman is the supreme knowledge. The Samayasara pronounces that the self with spiritual knowledge knows his ture nature and he lacking in the knowledge, blinded by his own nescience is unable to perceive his ture nature.[2] In other words the self with spiritual knowledge by contemplating upon the impure nature of the self becomes himself impure.[3] Moreover, knowledge is the self, there connot be (any) knowledge a part form the self[4] The self who knows the ture nature of reality becomes Jitamoha or conqueror of delusion who by subjugating the delusion realises that the self is intrinsically of the nature of knowledge[5] Therefore, the realization of the self as the knower by nature leads towards the eschewment of the sence of mineness[6] Further, it is pointed out that the soul is co-extensive with knowledge, knowledge is said to be co-extensive with tha objects of knowledge, the object of knowledge comprises the physical and non-physical universe therefore knowledge is omnipresent[7] The knower of the self become an omniscient and the omniscient neigther accepts ner abandons, nor transforms the external objectivity, he sees all round and knows everything completely[8] Moreover, the knower of the self knows simultaneously the whole range of variegated and unequal objectivity possible in all places and present in three tenses[9] Hence, in the omniscient the knowledge reaches the very verge of objectivity and the vision extends over the physical and super-physical universe[10] Thus, knoledge and epiritual

2. Samayasara, 185.
3 Samayasara, 186.
4 Pravacanasara,—I 27
5 Samayasara, 32.
6 Pravacanasara II 109
7. Ibid I 23
8. Ibid I 32
9. Pravacanasara I, 15
10. Ibid I. 61

life are not two different phenomena. They are inseparable.

(ii) **Spiritual Joy** -

Secondly, spiritual knowledge is accompanied with spiritual joy. The Pravacanasara tells us that the self who has destroyed the knot of delusion (Moha), who has overthrown attachment and aversion and is indifferent to pleasure and pain attains eternal happiness[11] This eternal happiness born of the self, is supersensuous, incomparable, infinite anb indestructible[12] Spiritual knowledge and hapiness are one and the same thing Therefore, spiritual knowledge wich is spreads perfect and pure which over infints things is called real happiness[13] It may be noted that that happiness deriv d through sense organs is dependent, amenable to disturbances, terminable, and is the cause of bondage[14] In fact spiritual joy is beyond the reach of senses or it is supersensuous happiness, which a mystic enjoys in the hours of transcendental experience[15] The Jnanarnava, therefore beautifully expreses the same thing while pronouncing that in the State of spiritual joy the mystics have the eternal and everlasting bliss and possessing an attitude of equanimity they really shed the karmas[16] Hence, the great mystic yogindu sums up the whole matter when he tells us that the self realiz ing personalities who are detached from the sense of attach ment and aversion who are busy with introspection of the pure self possess the serenity of mind aud are really the happiest beings in this world[17]

(iii) **Spiritual steadfastness :**

Thirdly spiritual steadfastness is also a feature of transcendental life The aspirant is firmly established in the knowledge of the self He dose not speak while speaking, does not move while moving and does not see while seeing[18] Though empirically it seeme to be a paradoxical statement, its implications are solely mystical The mystic is a unique being and transcendentally he is free from all volitional activity And therefore, mystic's worldly activities are free from volitional attitude. His activity is only spiritual knowledge and in that knowledge of the self he is steadfast Since he is beyond attachment and consequently is apprehending the nature of reality, all his doubts are resolved[19]

---

11. Pravacansara II 103
12. Ibid I. 13,
13 Ibid I 59
14 Ibid I. 76.
15. Ibid II. 106
16 Jnanarnava, 24 : 18,
17. Parmatmaprakasa II. 43
18. Istopadesa 41
19. Pravacanasara I-14 II 105.

Hence speaking in the language of the mystic we may say that with the emergence of the Atmanic experience and steadfastness in it, the conquest over the senses, mind and passions, become automatic. The mystic is steadfact in his true nature.

(iv) **Intuitive insight**

Fourthly intuitive insight is a characterizing mark of mystical exeprience, the intuitive insight is the Pratyaksa Jnana or direct and immediate apprehension of realty This Pratyaksa knowledge perceives (all) the nonconcrete things among the concrete and those that are beyond the scope of senses, those that are hi l den and all other than are related to substances and also that are not 20 Moreover, the mystic who possesses self knowledge, directly visualizes all objects and their modifcations, he does even comprehend them through sense perception[21] To be more clear we may say that nothing is indirect to him who is himself omniscient that who is all round rich in the qualities of all the organs of senses though himself beyod the senses[22] Hence the intuitive insight of self khowledge is able to penetrate into the innermost core of phenomenal and noumenal realities

The intuitive insight is also term d as Yogi perception. Haribhadra pronounces that Zogic perception will take cognizence of even such things as are beyond the perception of non-yogi[23] Thus Yogic perception pierces through the veils of reality directly and immediately Prof Ranade rightly says that "mysticism denotes that attitude of mind which involves a direct immediate intuitive apprehension of God"[24] Montague points out that "the theory that truth can be attained by a super rational and super sensuous faculty of intuition is mysticism"[25] thus, mystical experience involves the full operation of the intuit ve faculty which subsums under it the operations of intellect, will and feeling and is not contradictory to them All things are visualized simultaneously and therefore, the Siddhas and Arhats are the masters of this intuitive insight

(v) **Ineffability**

Fifthly, the mystic experience or transcendental experience is ineffable or it is inarticulate and unverifiable by empirical methodology. In other words, the spiritual things are beyond the categories of verifability th ough the senses The

20 Pravacanasara I 54
21. Ibid I . 21
22. Pravacanasara I : 22
23. Yogabindu, 50. P. 15
24 Pathway to God in Hindi Lit. Preface P. 2
25. The ways of knowing, P. 54
26. Pathway to God in Hindi I it. Preface pp. 3.4

mystic while reflecting upon the nature of the self and solely concentrating on it enjoys, the ineffable experience of transcendental life[27] Similarly plotinus tells us that the vison is a unque experience, it is not to be told not to be written[28] william James rightly points out that the Subject of it (mystic experience) immediately says that it defies expression, that no adequate report of its contents can be given in words. It follows from this that its quality must be directly experienced, it cannot be imparted or transferred to others"[29] Hence mystic experience is essentially an ineffable experience. It is the experience par-excellence, which transcends the limitations of linguistic formulations This experience has nothing to do with the out spoken language, because the mystic experience is indesirable and unutterable through words. The immediacy of the experience is confronted with this inadequacy of reporting the spiritual matters to the others who are spiritually blind The nature of this experience is supra dialacctical, supar logical supra rational and supra-conceptional Mr WT. Stace is perfectly right when he says that "one of the best known facts about mystics is that they feel that language is inadequate or even wholly useless, as a means of commun cating their experience or their insights to others. They says that what they experience is unutterable or Ineffable. According to Plotinus the vision beffles talling"[30] Moreover, the same author again points out that "mystical experience during the experience, is wholly unconceptualizable and therefore wholly unspeakable and must be so you cannot have a concept of anything within the undifferentiated unity bacause there are no separate items to be conceptualised"

(vi) Activistic Attitude :

Sixthly, activity is also a marked characteri-stic of transcendental life Passivity is no more a goods and likable thing for mystic. Or, spiritual life is fully an active life. The quiet and contemplating spirit is active in spiritual matters therefore it has always been true that mystics are the sleepless ones. The Yogi or a mystic sleeps where worldly business is concerned and he has been always awake in the business of transcendental experience and similarly, he who is awake in worldly matters sleeps in the business of the self[32]. The pure self is endeavouring to remove the obstacles to mystical life. The joy unbounded, the knowledge infinite, the intuitive insight and the power everlasting are the results of most active

27 Tattvanushasana, 170 P 156
28 Plotinus in the Idight of Vehant i Thesis P. 313
29. Varieties of religious experience, P. 371
30. Myst is and Philosophy, P 277
31. Mysticism and Philosop y, P 297
32. Moksapahuda, P 31 Samadhi Sataka, 78 P. 86 Parmatma prahasa II, 46

life of a mystic. The lazy and lethargic person cannot attain such perfection in every aspect of life. Miss Underhill has rightly pointed out that true mysticism is active and practical, not passive and the critical. It is an organ c life process a something which the whole self does; not something an opinion[33] We may say that spiritual perfection is an arduous task in the human life, how can it be pronounced as passive ? Assiduity in spiritual pursuits is wholly indispenaable. The mystics have not turned their backs from the betterment of the worldly people. They are ever ready for the spiritual mission to which they are whole heartedly devoted. Therefore, the mystic's heart is set upon the transcenental self on the one hand and on the other he is endeavouring for the overall uplitgrment of the society. The Tirthamkaras set the examples of this activistic attitude towrds mystical life. Mr. William James seems to be partially right when he characterizes the mystical life with passivity. Outworldly the mystics appear to us as passive being, but for their own welfare and for the welfare of the people they are fully active. To be more clear we may say that seeming inactivity is not an essential feature of spirituality. They are most active beings trying hard for the betterment of the society.

(vii) **moral Elevation**

Sevently, moral elevation is another distinguishing feature of Jaina mysticism Mystics are the upholders of all that is good and perfect, and simultaneously they are the upolders of moral and spiritual values. They follow a full-fledged moral life or we may say that they teach an eternal ethical code which is beyond the spatis temporal limitations. We find in them a perfection of moral virtues Supreme forbearance modesty, straight forwardaness, 'truthfulness, purity, self restraint, austerity, renunciation non-attachment and celibacy are constitutive of mystics, moral life. It is inconceivable that the mystic who has attained supremacy on account of the realization of perfact Ahinsa may in the least pursue an ignoble life of Hinsa. a life of vice He is no doubt beyond the category of virtue and vice Punya and Papa (good and evil Subha and Asubha psychical states, yet he may be pronounced to be the most virtuous soul in the world. Dr. Radhakrishnan sums up the whole matter while saying that the great sin is the sin of disbelief in the potential powers of the soul. To know onself and not to be untrue to it, is the essence of the goods life''[34]

(iii) **Freedom from fear :**

Eightly, the transcendental life is free from fear. Mystical state is free

33. Mysticism, P. 81
34. Idealist View of life, P. 118

state. It is free from every type of foreign thing ether than the spirit. The Samayasara tells us that the souls with right belief free themselves from doubt and therefore they are free from fear. The seven types of fears are not found in mystic Thus fear relating to this life, fear leating to future life. fear of being without protection, fear of the disclosure of what is kept in secret, fear of pain, fear of accident, and fear of death are not seen in a mystic.[35] Hence, the mystical life is a life of fearlessness.

(ix) **Holiness** :

Ninethly, spirituality with intuitive insight, ineffability moral eleavation is also associated with holiness, The mystics belong not to an ordinary world but to the world of holiness. They are the prefect incarnation of holiness and secredness The mystics are the holy beings and are rejoicing the breath of holiness. Or the holy mystics transcend the categories of good and evil, right and wrong etc. The emergence of holiness is a concomittant phenomenon in the mystic's sacred life They radiate the rays of holiness to the other worldly beings.

(x) **Permanacy** :

Tenthly, the transcendental experience is not a temporary phase in mystic's life. Rather it is a permanent state of transcendental self. Though, it is worthy to note in the stages of spiritual development i e the Gunasthanas, we come across the transient states of illumination, yet after the stages of Sayogakevalin and Ayogakevelin, the self is in the State of permanent peace. joy and bliss Thus this view "that mystical states cannot be sustained for long,"[36] has an half truth we may say that the self in the illuminative stage casually enjoys the spiritual bliss, but Arhata and the Siddhas are the inhabitants of the enternal and infinite spiritual world Therefore, the essential characteristic of jaina mysticism rather than traniency

(xi) **Social Characteristics** ·

Finally. the transcendental life is associated with some of the social characteteristics Though it appears to be a paradox at a first glance, because mystic is a man of solitude, he adopts an introvertive and quietistic attitude to life. He observes silence and likes solitariness[37] Then, how it may be possible to characterize him with social attributes ? The reply is the Tirthamkaras set an example of doing an ample good to society. Mystics heart is full of compassion and generosity for all the creatures of this

35 Samayasara, 228

36. Varieties of Religions Experience, p. 572

37. Istopodesa 40

universe. He is the most benevolent being in the world It is said that the mystics evince a feeling of friendliness towards those who ares uperior to oneseg in perfection, that of combassion towards those who are superior to onself in perfection, that of compassion to wards those who are in a state of suffering and that of neutrality towards those who are incorrigible [38] Shri Subhacandra proclaimo that the mystical life is so much effective that even furious animals become modest and humble, the cruel tigers give up their cruelty and become free from the feeling of enmity. This change in feelings is an natural as the rains from the clouods which extinguishes the fire in the forest In other words the company of mystic who possesseso equanimity, removes the ferocity from the hearts of the animals Moreover, the same idea is exquisitely expressed in the one verse by the same author when he says that in the presence of a mystic the tigress loves the youngone of a dear, the cow caresses the cat, the cat fondles the youngone of the swan and peahen plays with the youngone of the snake[39] Here, we see that all types of enmity is brushed aside In a similar veino. Hardhadra tells us that on account of spiritual life one finds onself in possession of firmness patience, faith, friendliness (for all beings), popularity (in the eyes of the worldly ones), intuitive awareness of the nature of things, freodom from obsessions contentment, forbearance, gentlemanly conduct, honour received from otheros and the supreme bliss of calmness.[40]

●●●

38 Yogasataka, 79 p. 88
39. Jnanarnava, 24 : 21–22
40. Yogabinqu, 52–54 p. 16

Books

1, Mysticism philosophy by W. T. Stace. 'Macmillan & Company, London).
2. Samayasara of Kundakunda (Bhartiya Jana Pitha Kasi)
3. Pravachana Sara of Kundakunda (Raya Chandra Jaina Shastra Mala Bomby).
4. Jnanarnava of Subha Chandra, Raya Chandra Jaina Shastra Mala Bombay).
5. Parmatma Prakash of Yogindu (Raya Chendra Jaina Shasta Mala Bomby).
6. Istopodesa of Punjyapada (Raya Chandra Jaina Shastra Mala Bomby).
7 Yoga bindu of Hari Bhadra (L. D. Institute Inof dology, Ahmedabad).
8 Pathway to god in Hindi Literature by R. D. rana (Adhyatma Vidya Mandir Allahabad).
9. Way of knowing by (P. Montague (Macmillan Company New-York).
10. Tatvanusasana of Naga Kumar Muni (Veer Seva Mandir Delhi).
11. Plotoinus in the light of Vedanta (Thesis) dy Theresa Gabriel (The University of Rajasthan, Jaipur).
12. Varieties of Religious Experience by William James (The modern Library New York).
13. Moksa Pahuda of Kundakunda, under the titls of Asta Pahuda (Patani Digamabara Jaina Grantha Mala, Marotha).
14. Samadhisataks of Pujyapada. (Veer seva Mandir, Delhi).
15. Mysticism by vnderhill (Methnen & Comyany, London).
16, Tattavarthasutra under the title of sarvarthasiddhi (Bhartiya Juana Pitha Kasi).
17. Yoga Sataka of Hari Bhadra (L. D. Institute of Indology, Ahemdabad).

१३

ध्यान द्वारा आत्म सिद्धि

श्री रतनचन्द्र जैन रत्नेश
एम. ए., एम एड, लामटा

प्रत्येक धर्म ध्यान का विशेष महत्व है। किसी न किसी रूप मे ध्यान की महिमा सब धर्मों मे गाई गई है। कठोपनिषद् की प्रसिद्ध श्रुति है:—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू
स्तस्मान् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष—
दावृत्तचक्षुरमृत्वमिच्छन्॥"

अर्थात् मनुष्य स्वभाव से ही बहिर्मुख होता है। वह आत्मदर्शन मे साधारणत. प्रवृत्त नही होता। कोई धीर–वीर व्यक्ति ही ऐसा होता है जो इन्द्रियो के बाह्य विषयों से अलग, अन्तरात्मा के दर्शन (ध्यान) मे दत्तचित्त होता है।

ऐसा साधक ही विभिन्न सीमागत धरातलो से ऊपर ऊठकर स्वय का अनुभव करता है।

जैनधर्म में भी मोक्ष (मुक्ति हेतु ध्यान की प्रेरणा की गई है) आचार्य रामसेन अपने 'तत्वानुशासन' (ध्यानशास्त्र) नामक ग्रन्थ मे कहते है।

"स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्माद्वाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यस्दन्तु ध्यान सुधियः सदाऽप्यपास्याऽऽ-
लस्यम॥३३॥"

दोनो प्रकार का (निश्चय एवं व्यवहार) मोक्ष-मार्ग ध्यान से सधता है। अतः मुमुक्षुओ को आलस्य त्यागकर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

डाक्टर मगलदेव [1] शास्त्री के अनुसार "सब धर्मों मे निश्चय ही अध्यात्म की विशेषता यह रही है कि उसका नेतृत्व लौकिक स्वार्थ सिद्धि से असम्पृक्त तथा विश्व-कल्याण को चाहने वाले ऐसे मुनिजनो के हाथ मे रहा है जो आतरिक शत्रुओ पर विजय प्राप्ति का व्रत धारण किए हुए थे) यह बात अन्य धर्मों मे देखने मे नही आती। यही कारण है कि अन्तर्दृष्टि और आत्म-समीक्षण का जितना अधिक विचार जैन धर्म के अध्यात्म ग्रन्थो मे मिलता है उतनी मात्रा मे कदाचित् अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता।

स्वर्गीय पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार 'युगवीर' (सम्पादक एवं व्याख्याकार 'तत्वानुशासन') के

१. भूमिका तत्वानुशासन पृ० १८।

शब्दो मे—"विषय कषाय की ज्वालाए सदा आत्म-हृदय को झुलसती और अशान्त बनाये रखती है। जो भव्यात्मा अपने शुद्ध स्वरूप का आभास पाकर उन ज्वालाओ से ऊपर उठता और अन्य सब चिन्ताओ को छोडकर उस शुद्ध स्वरूप के चिंतन मे ही अपने को एकाग्र करता है वह योगी अपने इस योग-बल से, पूर्व के बँधे हुए दृढ कर्म बन्धनो को ढीले, त्रुटित एव भस्मीभूत करता हुआ नये कर्मों के आत्मप्रदेशो मे प्रवेश को भी रोकता है और इस तरह स्वात्मोपलब्धि रूप-सिद्धि के पथ पर अग्रसर होता है। उसे अपनी उस ध्यानावस्था मे बाह्य पदार्थ-जन्य सुख दुःख भी महसूस नही होता और न मोह-माया तथा अहकार-ममकार ही सता पाते है। वह अन्तर्दृष्टि द्वारा कर्म गणो को योगानल मे भस्म और उनके स्थान पर स्वात्मगुणो को विकसित होता हुआ देखकर, जिस अतीन्द्रिय आनन्द एव स्वाधीन सुख को प्राप्त होता है उसके आगे ससार के सभी सुख नगण्य हैं। ऐसा अध्यात्म निष्ठ रागद्वेष-विहीन योगी शुद्धात्मा के ध्यान की विशुद्ध किरणो अथवा निर्दोष विचार-तरगो से विश्व को व्याप्त कर उसके कल्याण मे, बिना किसी इच्छा तक प्रयत्न के स्वत. सहायक होता है।[२]"

ध्यान का लक्षण और उसका फल

आचार्य रामसेन ने ध्यान के बारे मे कहा है-
"एकाग्र चिन्तारोधो यः परिस्पन्देन वर्जितः।
तद्ध्यान निर्जरा हेतु सवरस्य च कारणम् ।।"

माचार्य उमास्वामी ने भी कहा है-।।५६।।

"एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्"

अर्थात् चिन्ता का निरोध ही ध्यान है और ध्यान निर्जरा तथा संवर का कारण है।

२. तत्वानुशासन के भाष्य की भूमिका।

आचार्य पूज्यपाद के अनुसार निश्चल अग्नि-शिखा के समान अवभासमास ज्ञान ही ध्यान है। अर्थात् ध्यान और ज्ञान अलग-अलग नही हैं।

'ध्यानशतक' मे भी ज्ञान की एकाग्र अवस्था को ही ध्यान कहा गया है—

"ज थिरमज्झवसाण त झाण ज चलतय चित्त।
त होज्ज भावना वा अणुपेहा वा अहव चिंता ।।"

आत्मा और ज्ञान मे क्या सम्बन्ध है ? इस बारे समयसार कलशा मे कहा गया है—
"आत्मा ज्ञान स्वयं ज्ञान, ज्ञानादन्यत्करोतिकिं ?"

आत्मा का ध्यान ही ध्यान है—

तत्वानुशासन मे निश्चनय से आत्मा को ही ध्यान कहा गया है—
"स्वात्मान स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यत
षटकारकमयस्माद् ध्यानमात्मैव निश्चयात् ।।७४।।"

"चूकि आत्मा स्वय को, स्वय मे, स्वय के द्वारा, स्वय के लिए, स्वय के ही हेतु से ध्याता है अत कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ऐसे षटकारक रूप परिणत हुआ आत्मा ही निश्चय नय की दृष्टि से ध्यानस्वरूप है।"

ध्यान की सामग्री—

ध्यान के लिए आवश्यक वस्तुओ के बारे मे कहा गया है—
"सग त्याग कषायाना निग्रहो व्रतधारणम्।
मनोऽक्षाणा जयश्चेति सामग्री ध्यान जन्मनि ।।"

'परिग्रहो का त्याग, कषायो का निग्रह-नियत्रण, व्रतो का धारण, मन और इन्द्रियो को

जीतना—यह सब ध्यान की उत्पत्ति-निष्पत्ति मे सहायभूत सामग्री है'

परिग्रह-त्याग, कषाय निग्रह व्रतधारण तो संभव होता है पर मन एव इन्द्रियो पर नियंत्रण कठिन है—अत ज्ञान और वैराग्य के द्वारा इन्द्रिय रूपी घोड़ो को वश मे करना चाहिए। कहा भी है—

"ज्ञान वैराग्यरज्जुभ्या नित्यमुत्पथवर्तिन'
जिर्नाचन्तेन शक्यन्ते धर्तुमिन्द्रिय-वाजिन ।।७७।।"

आत्म द्रव्य ही ध्येय—

ससार मे विभिन्न द्रव्य है परन्तु आत्म द्रव्य ही ध्येय है। आत्मा सत्, चित् एव आनन्द स्वरूप है।

"सति हि ज्ञातरि ज्ञेय ध्येता प्रतिपद्यते
ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतम स्मृत ।।"

'ज्ञाता के होने पर ही ज्ञेय ध्येयता को प्राप्त होता है इसलिए ज्ञान स्वरूप यह आत्मा ही ध्येयतम-सर्वाधिक ध्येय है। इसी की उपासना या ध्यान करना चाहिए'

आत्म द्रव्य के ध्यान में पचपरमेष्ठी प्रधान है-

आत्मा के ध्यान मे वस्तुतः (व्यवहार से) पच परमेष्ठी ही ध्यान किये जाने योग्य है। इनमे अरहत, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी सकल (शरीर सहित) है और सिद्ध परमेष्ठी निष्कल (शरीर रहित) हैं तथा स्वामी है।

"तत्रापि तत्वत पच ध्यातव्याः परमेष्ठिन ।
चत्वारः सकलास्तेषु सिद्ध स्वामी तु निष्कल ।।

सिद्धात्मक ध्येय का स्वरूप

सिद्धो का स्वरूप एवं उनके ध्येय का स्वरूप निम्न प्रकार है—

"अनन्त दर्शनज्ञानसम्यक्त्वादि गुणात्मकम् ।
स्वोपात्तऽनन्तर-त्यक्-शरीराऽऽकार धारिणम् ।।
साकार च निराकारममूर्तमजरमरम् ।
जिनबिम्बमिव स्वच्छ स्फटिक-प्रतिबिम्बितम् ।।
लोकाग्र शिखराऽऽरूढमुद्ध-सुखसम्पदम् ।
सिद्धात्मान निराबाध ध्यायेन्निर्धूतकल्मषम् ।।

"अनन्त दर्शन, ज्ञान एवं सम्यक्त्व आदि गुणों से परिपूर्ण, स्वगृहीत और पश्चात् परित्यक्त ऐसे (चरम) शरीर के आकार का धारक है, साकार और निराकार दोनो रूप है, अमूर्त है, अजर है, अमर है, स्वच्छ स्फटिक मे प्रतिबिम्बित जिनबिम्ब के समान है, लोक के अग्रशिखर पर आरूढ है, सुख सम्पदा से परिपूर्ण है, बाधाओ से रहित और कर्म-कलक से विमुक्त है—ऐसा स्वरूप है सिद्धात्मा का, सिद्धो का। ऐसे सिद्धो को ध्याता ध्यावे—अपने ध्यान का विषय बनावे।

पंच-परमेष्ठी का ध्यान स्वयं की आत्मा का ध्यान है

एकाग्रता से पच परमेष्ठी का ध्यान स्वय का ध्यान है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार मे कहा है—

"जो जाणदि अरहंत दव्वत्त-गुणत्त-पज्जयत्तेहि ।
सो जाणदि अप्पाण मोहो खलु जादि तस्य लअो ।।

"जो अरहन्त को द्रव्य, गुण और पर्याय से जानता है, वह अपनी आत्मा को जानता है और उसका मोह क्षीण हो जाता है।"

वर्तमान समय में भी ध्यान सम्भव है

कुछ लोगो का यह कथन है कि इस पचमकाल

में ध्यान सम्भव नही है। यह कथन ठीक नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है—

'भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाण हवेइ णाणिस्स।
त अप्पसहावठ्ठिये ण हु मराणई सो अण्णाणी॥'

अर्थात इस भरत क्षेत्र एव इस दु:षम पचमकाल मे ज्ञानी के धर्म ध्यान होता है और वह आत्मस्वभाव मे स्थित—आत्मभावना मे तत्पर होता है—जो इसे नही मानता वह अज्ञानी है। आचार्य देवसेन भी अपने 'तत्वसार' मे ऐसा कहने वालो को 'शका काक्षा मे फँसे हुए, विषयो मे आसक्त और सन्मार्ग से प्रभ्रष्ट' बताते है।

ध्यान के भेद

ध्यान चार प्रकार का होता है—१-आर्त्त-ध्यान २-रौद्रध्यान ३-धर्मध्यान और ४-शुक्ल-ध्यान। इनमे से प्रथम दो ध्यान तो कुध्यान है अत: मुमुक्षुओ को त्यागने योग्य है। धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान उपादेय है।

इस काल मे सहनन की हीनता, श्रुतज्ञान की अनुपलब्धि और उपशम एव क्षपक श्रेणियो मे चढने की क्षमता का अभाव आदि के कारण शुक्ल ध्यान इस काल मे सम्भव नही होता। धर्मध्यान ही सम्भव है। इसीलिए इस काल मे शुक्ल ध्यान का निषेध है, धर्म ध्यान का नही। कहा भी गया है—

"अत्रेदानी निषेधन्ति शुक्लध्यानजिनोत्तमा।
धर्म्यध्यानं पुन. प्राहु: श्रेणिभ्या प्राग्विवर्त्तिनाम्॥
(तत्वानुशासन पृ० ८२)

इसी प्रकार के कथन महापुराण एव तत्त्वार्थ-वार्तिक में भी हैं। इससे स्पष्ट है कि इस पंचमकाल मे शुक्ल ध्यान सम्भव नही है परन्तु धर्मध्यान सम्भव है जो कि परम्परा से शुक्लध्यान एवं आत्म-सिद्धि का साधक है।

ध्यान अभ्यास सम्भव है

जैसे अभ्यास से महाशास्त्र का अध्ययन सम्भव होता है उसी प्रकार अभ्यास से भी एकाग्रता, स्थिरता, सिद्धि या ध्यान की प्राप्ति सम्भव होती है। कहा भी है—

यथाभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महानपि।
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभतेऽभ्यासंन्त्यवर्तिनाम॥

ध्याता को परिकर्म पूर्वक ध्यान करना चाहिए

परिकर्म का अर्थ सस्कार, उपकरण, सामग्री आदि होता है—इन बाह्य कारणो से ध्यान की स्थिरता बनती है। अत. स्थान, काम, आसन आदि का चुनाव अच्छा होना चाहिए। खाली घर, गुफा, साफ स्थान मे सुविधानुसार समय पर सुखासन, अन्य कोई आसन या कायोंत्सर्ग मुद्रा से ध्यान मे रत होना चाहिए।

नय दृष्टि से ध्यान के भेद

जैन परम्परा मे ध्यान नय दृष्टि से दो प्रकार का है १—निश्चय ध्यान-आत्मा स्वरूप के अवलम्बन द्वारा, २—व्यवहार ध्यान—पर के अवलम्बन द्वारा

निश्चय-ध्यान मे साधक स्वय की आत्मा का ध्यान करता है। इसमे वह किसी पर वस्तु (अरहत, सिद्ध आदि) का अवलम्बन नही लेता। यह

३ पं० जुगलकिशोर मुख्तार, तत्वानुशासन टीका, पृ० ६६

निश्चय ध्यान बड़ा दुर्लभ होता है और स्थायी नही रह पाता । किंचित् यदाकदा ही यह सम्भव होता है । व्यवहार ध्यान से ही कभी कभी इसकी झलक एक पल के लिए प्राप्त हो पाती है । छठवे एव सातवे गुणस्थान के बीच झूलते हुए मुनिराज ही इसका आस्वादन कर पाते हैं । कुछ सद्गृहस्थ भी इसकी अनुभूति भाग्यवशात् कभी कर लेते है । व्यवहार ध्यान ही निश्चय ध्यान का राजमार्ग है· "पहले व्यवहारनयाश्रित भिन्न (आलम्बन) ध्यान के अभ्यास को बढाया जाय । तत्पश्चात् निश्चय-नयाश्रित अभिन्न (निरालम्बन) ध्यान के द्वारा अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप मे लीन हुआ जाय ।[3]

व्यवहार-ध्यान मे किसी भी मन्त्र आदि का आलम्बन लिया जाता है । अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु-इनका आलम्बन लिया जाता है । व्यवहार ध्यान से ही निश्चय ध्यान की परम्परा आगे बढ़ती है । अर्हन्तदेव के ध्यान का फल तत्वानुसार मे निम्नप्रकार कहा गया है-

"वीतरागोऽप्यय देवो ध्यायमानो मुमुक्षिभि ।
स्वर्गाऽपवर्ग-फलद शक्ति स्तस्य हि तादृशी ।।"

वीतराग होने पर भी अर्हन्तदेव मुमुक्षुओ को स्वर्ग तथा मोक्ष प्रदान करने मे सहायक होते हैं ।

इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानादि से सम्पन्न आचार्य, उपाध्याय एव साधु ध्यान के योग्य है ।

इसी प्रकार अकार से लेकर हकार पर्यन्त जो मन्त्ररूप अक्षर हैं वे अपने अपने मण्डल को प्राप्त हुए परम शक्तिशाली ध्येय हैं । जैसे 'अमन्त्रमक्षर नास्ति नास्ति मूलमनौषध' अर्थात् ऐसा कोई अक्षर नही है जो कि मन्त्र के काम नही आता और ऐसी कोई मूल नही जो कि औषधि के रूप मे काम में न आती हो । केवल 'योजकस्तत्र दुर्लभः' इनकी संयोजना करने वाले ही दुर्लभ होते है ।

महामन्त्र णमोकार, असिआउसा-सयुक्ताक्षार ॐ, ह्री, श्रीं, क्ली, अह का ध्यान करने से आत्म सिद्धि प्राप्त होती है ।

परमेष्ठियो के ध्यान मे सब कुछ ध्यात होता है । फिर उससे कुछ और पृथक ध्यान की आवश्यकता नही होती, कहा भी है—

"संक्षेपेण यदत्रोक्त विस्तरात्परमागमे ।
तत्सर्व ध्यातमेव स्याद् ध्यानेषु परमेष्ठिमु ।।"

हृदय, ध्यान का स्थल है

हृदय-कमल के पत्रो पर असिआ उसा की स्थापना करना चाहिए । ये पच परमेष्ठी के वाचक शब्द है ।

हृत्पकजे चतुष्पत्रे ज्योतिष्मन्ति प्रदक्षिणम् ।
अ-सि-आ-उ साऽक्षराणि ध्येयानि परमेष्ठिनाम् ।।

ध्येयों के प्रकार

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से ध्येय चार प्रकार के होते है । इनका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

"वाचस्य वाचकं नाम प्रतिमा स्थापना मता ।
गुण पर्ययवद् द्रव्य भाव स्याद्गुणोपर्ययो ।।"

वाच्य का वाचक 'नाम' कहलाता है। प्रतिमा को 'स्थापना' कहते है और गुण-पर्याययुक्त 'द्रव्य' कहलाता है तथा गुण और पर्याय दोनों 'भाव' कहलाता है।

नाम ध्येय मे मन्त्र एव नाम आते हैं। स्थापना ध्येय मे भगवान् की कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाएं आती है। द्रव्य ध्येय मे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप द्रव्य (तत्व) का ध्यान आता है। द्रव्य के छ भेद होते हे। (पुद्गल, नभ, धर्म, अधर्म काल आत्मा) इनमे आत्मा द्रव्य ध्येय है। अन्य द्रव्यो को जानकर उनकी प्रतीति करना चाहिए। द्रव्य की पर्यायो (अर्थ एव व्यजन) तथा गुण (मूर्त्तिक और अमूर्त्तिक) को जानकर उनका यथास्थिति चिन्तन करना भावध्येय है।

प्रमुख ध्येय प्रकार

प्रमुख रूप से ध्येय के दो ही प्रकार है—द्रव्य ध्येय और भावध्येय।

द्रव्यध्येय को पिडस्थ-ध्येय भी कहा जाता है। यहा ध्यान मे स्थिरता के परिपुष्ट हो जाने पर ध्येय का स्वरूप, ध्यय के सनिकट न होते हुए भी स्पष्ट रूप से आलेखित (प्रतिबिम्बित) जैसा प्रतिभासित होता है।

भावध्येय मे ध्याता, ध्येय के समान ही अपने आपको बनाने का प्रयत्न करता है। वह ध्यान के बल पर अपने शरीर को शून्य बनाकर ध्येय स्वरूप मे आविष्ट प्रविष्ट हो जाने से अपने को तत्सदृश बना लेता है। उस समय वह उस प्रकार की संवित्ति से भेद विकल्प को नष्ट करता हुआ परमात्मा, गरुण अथवा कामदेव हो जाता है। तत्वानुशासन मे कहा गया है—

"यदा ध्यान-बालाद्ध्याता शून्यीकृत स्वविग्रहम्।
ध्येय स्वरूपाविष्टत्वात्ताहम् सम्पद्यते स्वयम्॥
यदा तथाविध ध्यान-संवित्ति-ध्वस्त-कल्पन।
स एव परमात्मा स्याद्वैनतेयश्च मन्मथः॥"

समरसी भाव और समाधि का स्वरूप

ध्येय और ध्यात का एकीकरण समरसीभाव कहलाता है। यही एकीकरण ही समाधि है जोकि दोनो लोको के फल को देने वाली है।

"सोऽय समरसीभावसादेकीकरण स्मृतम्।
एतदेव समाधि स्याल्लोक-द्वय-फल-प्रद.॥"

द्विविधि ध्येय का वास्तविक अर्थ

द्रव्य ध्येय या भावध्येय वह सब प्रकार मात्र है। वास्तव मे ध्येय का स्वरूप जानकर, श्रद्धा करके और उसमे मध्यस्थता वीतरागता धारण करने वाले को-अपने ध्यान का विषय बनाना चाहिए। इस माध्यस्थ-भाव के अनेक नाम है। समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, नि स्पृहता, वितृष्ण्य (तृष्णा का अभाव) प्रशम और शान्ति ये सब इसी माध्यस्थ भाव के ही विभिन्न नाम हे। इनको धारण करके ही वास्तव मे ध्यान होता है। इनके बिना ध्यान, ध्यान नही बनता। इसी वीतरागता से निश्चय ध्यान बनता है। इसी वीतरागता का ध्यान वीत-राग बनने का अभ्यास करते हुए करना चाहिए।

निश्चय ध्यान के इच्छुक व्यक्ति को परामर्श

जो निश्चय ध्यान करने का इच्छुक है उसे स्व और पर को यथास्थिति जानकर, श्रद्धान कर-उस रूप आचरण करना चाहिए, अर्थात् पर को निरर्थक जानकर छोड़े और केवल स्व को ही देखे-जाने स्व के ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप को ही पकड़े।

"दिध्यासु स्वं पर ज्ञात्वाश्रद्धाय च यथास्थित।
विहयाऽन्यदनर्थित्वात् स्वमेवाऽवैतु पश्यतु॥"

स्व और पर के ज्ञान हेतु श्रुत (आगम) ज्ञान आवश्यक है। आगमन को तीसरा नेत्र कहा गया है। अतः पहले श्रुत द्वारा अपने आत्मा मे आत्म सस्कार को आरोपित करना चाहिए। श्रुत (आगम) मे आत्मा को जिस यथार्थ प्रकार का बताया गया है। उस प्रकार भावनाओ के द्वारा हमे आत्मा को संस्कारित करना चाहिए। इसके पश्चात् इस सस्कारित आत्मा मे एकाग्रता (तल्लीनता) प्राप्त करना चाहिए।

श्रोती भावना —

आगम मे जिस प्रकार आत्मा को बताया गया है, उसे श्रोती-भावना कहते है। इस श्रोती भावना का स्वरूप निम्न प्रकार है—

—"मै चेतन हू, असख्य प्रदेशी हूँ मूर्तिरहित, अमूर्तिक हूँ, सिद्धसमान, शुद्धात्मा हूँ और ज्ञान-दर्शन लक्षण से युक्त हूँ।"

शरीर अन्य है, मै अन्य हूँ, मै चेतन हू, शरीर अचेतन है, शरीर नाशवान है, मै अक्षय हूँ।

मै अन्य नही हू, मै अन्य का नही हूं। अन्य मेरा नही है। मैं, मै ही हू, अन्य अन्य का है।

अचेतन मेरा नही होता, मै अचेतन का नही होता। मैं ज्ञान-स्वरूप हू, मेरा कोई नही है और न मै किसी दूसरे का हू।

इस ससार में मेरा शरीर के साथ जो स्व-स्वामि सम्बन्ध हुआ है और दोनो मे जो एकत्व का भ्रम है, वह पर के निमित्त से है, स्वरूप से नही।

"योऽत्र स्व-स्वामि सम्बन्धो ममाऽभूद्वपुषा सह
यस्त्वेकत्व भ्रमस्सोऽपि परस्मान्न स्वरूपत

इस श्रोती भावना मे आत्मा अपने मे स्थित हुआ, अपने द्वारा, अपने आपको इस रूप मे देखता है कि अन्य पदार्थों से उसे रुचि नही रहती उनसे स्वत विरक्ति हो जाती है।

इस प्रकार, इस भावना मे लीन होकर आत्मा अन्य शरीरादिक मे अपने आपको भिन्न निश्चित करके स्वय मे ही लीन हो जाता है और अन्य किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करता। यह ध्यान की प्रमुख सीढी है।

चिन्ता का अभाव तुच्छ नही यह स्वसवेदन रूप है —

चिन्ताऽभावो न जैनाना तुच्छो मिथ्या दृशामिव।
दृग्बोध साम्य रूपस्य स्वस्य सवेदनं हि स ।।

चिन्ता का अभाव जैन मत मे वैशेषिक दर्शन के समान तुच्छ अभाव नही है। बल्कि यह अभाव वस्तुत दर्शन, ज्ञान और समता रूप आत्मा के सवेदन रूप है।

जैन दर्शन मे अभाव को भी वस्तु धर्म माना है जो कि वस्तु-व्यवस्था के अग रूप है। यदि एक वस्तु मे दूसरी वस्तु का अभाव स्वीकार न किया जाय तो किसी भी वस्तु की कोई व्यवस्था नही बनती। इस दृष्टि से अभाव सर्वथा असत् रूप या तुच्छ नही है, जिससे चिन्ता के अभाव रूप होने से ध्यान को ही असत् कह दिया जाय। वह अन्य चिन्ताओ के अभाव की दृष्टि से असत् होते हुए भी स्वात्म-चिन्तात्मक-स्वसवेदन की दृष्टि से असत् नही है, और इसलिए तुच्छ नही है। ध्यान के लक्षण मे प्रयुक्त 'निरोध' अथवा 'रोध' शब्द का अर्थ करने पर उसका यही आशय है, न कि सर्वक्ष चिन्ता के अभाव रूप, ध्यान का ही अभाव।[४]

४. पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार' वही पृ० १५१

स्वसंवेदन का लक्षण

साधक जब अपने आत्मा का स्वयं के द्वारा अनुभव करता है–वेद्यपना और वेदकपना यही स्व सवेदन है। यही आत्मा का दर्शन रूप अनुभव है।

समस्त कर्मज भावों से सदा भिन्न अपने निर्मल ज्ञान स्वभाव एव उदासीन (वीतराग) आत्मा को. आत्मा के द्वारा ही देखना चाहिए।

'कर्मजेभ्य. समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहम्।
ज्ञम्वभावमुदासीन पश्येदात्मानमात्माना ।।'

आत्मा कब दिखलाई पड़ता है ?

इन्द्रियज्ञान तथा मन के द्वारा आत्मा दृश्य नही होता। इन्द्रियो और मन का व्यापार रुकने पर ही स्वसवित्ति द्वारा आत्मा दर्शन होता हैं।

इस ज्ञान स्वरूप आत्मा को न देखने वाला योगी नही हो सकता और आत्म ज्ञान के बिना सब निस्सार है। बल्कि वह ध्यान, मूर्छा-वाला मोह ही सिद्ध होता है—

'समाधिस्थेन यद्यात्मा बोसा नाऽनुभूयते ।
तदा न तस्य तद्ध्यान मूर्छावन्मोह एव स. ।।"

आत्मानुभव का फल

ज्ञान स्वरूप आत्मा का अनुभव करके योगी उस परम एकाग्रता और स्वाधीन स्थायी आनन्द का अनुभव करता है जोकि वचन के अगोचर है। यह ध्यान मुक्ति का एक मात्र रास्ता है।

"ध्यानाऽभ्यास प्रकर्षेण त्रुटयन्मोहस्य योगिन
चरमाङ्गस्य मुक्ति स्यात्तदैवाऽन्यस्य च क्रमात् ।।

अर्थात् ध्यान से ही मोह नष्ट होता है। इससे चरम शरीरी तो उसी भव से मोक्ष जाते है और अन्य लोगो की क्रमश मुक्ति होती है।

"तक्ष ह्यचरमाऽङ्गस्य ध्यानमभ्यस्यत: सदा ।
निर्जरा संवरश्च स्यात्सकलाऽशुभ कर्मणाम् ।।
आस्त्रवन्ति च पुण्यानि प्रचुराणि प्रतिक्षणम् ।
यैर्महर्द्धिर्भवत्येष त्रिदश. कल्पवासिषु ।।"

"ध्यान का अभ्यास करने वाले अचरमाङ्ग योगी के सदा अशुभ कर्मो की निर्जरा होती है और (अशुभ कर्मास्रव के निरोध स्वरूप) संवर होता है। साथ ही साथ उसके प्रतिक्षण पुण्यकर्म का आश्रव प्रचुर मात्रा मे होता है। इससे यह योगी कल्पवासी देवो मे महा ऋद्धिधारक देव होता है।"

इसके पश्चात् पुन: मनुष्य होकर वह चक्रवर्ती आदि की सम्पदा प्राप्त करके और उन्हे स्वय छोड कर, निर्ग्रन्थ हो—चार प्रकार के शुक्ल ध्यान को ध्याकर और आठो कर्मो का नाश करके अक्षय मोक्ष पद की प्राप्ति करता है।

कर्मो के बन्धनो को विध्वंस करके—

ऊर्ध्वगमन का स्वभाव होने के कारण-मुक्त आत्मा एक क्षण (समय) मे ही लोक-शिखर के अग्र भाग मे पहुच जाता है और अन्त समय तक वहाँ अक्षय सुख को भोगता है जन्म मरण के चक्कर से वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है। इस प्रकार ध्यान स्थायी-सुख को प्राप्त कराने का एक मात्र साधन है। यही आत्मसिद्धि का राजमार्ग है।

इस प्रकार ध्यान के द्वारा वह उस सार पदार्थ (मोक्ष) को प्राप्त करता है। अत ध्यान आत्मसिद्धि अथवा मोक्ष का श्रेष्ठतम साधन है। ध्यान के बिना मोक्ष का प्राप्ति सभव नही है। इसी कारण यह सब कहा गया है—

सारश्चतुष्टयेऽप्यस्मिन्मोक्ष. स ध्यानपूर्वक. ।
इति मत्वा मया किंचिद्ध्यानमेव प्रपंचितम् ।२५२।
(तत्वानुशासन)

14

Analytical Treatment Of Transfinite Numbers In Dhavala

□L. C. Jain

In the authors article (1967)[1] certain set theoretic approaches of Virsena's life-long work "DHAVALA"[2] (circa ninth century) commentary of "SHATKHANDAGAMA" were related in briefo In the present article only a few pages of **DHAVALA** are exposed in simple modern mathematical operational symbols. The units of set measures are classified as simple measure and number measure about which dteails are available else where.[4] Herern and what follows the symbols and notataons of number measure will be adhernd to as already adopted, unles otherwise stated.[5]

1. Logarithmic Treatment

At the out set it may be noted that in DHAVLA, the mathematical details are given in sentences without any notations practically. The sets treated therein are finite, transfinite, ordered, well-ordered, plain and mixed. One may call those sets mixed which have been formed as a result of mixing well-orderd set or sets with plain or ordered set or sets.[6] There seems no

1 Cf JSM.
2. Cf DT.
3. For its preliminary mathematical details, Cf. MD.
4. Cf. JSM. ND, BCM TPG etc.
5. Cf. JSM.
6. Cf. AST for details; Cf as for symbolic repreaentations.

distinction between the sets and their cardinal or ordinal numbers so far as their mathematical manipulations are concerned, because they are implied so at different places. It thus appears that the school made use of the Arciom of choice freely [7]

Virasena, in the following[8] has attempled to prove that $\overline{Iij}|^3$ is imfinite times less than the cordinal of the set J of all living beings in the whole universe (LOKA) [9]

He proceeds as follows[10] :

log Ipj + 1 + log log Ipj log log Iij ....(1 101)

[2 log Ipj] [Ipj] − log Iij ....(1.102)

because

$$Iij\ [Iyj]^2 = \left[(Ipj)^{Ipj}\right]^2$$

Further

log Iij=A [Iyj] ....(1 103)

or

$$\log Iij - \frac{[Ipj]^2}{A} \text{ ....(1.104)}$$

because of (1 102) and Ipj)- Aau + 1

Now

log Iij > log Ipj ....(1.105)

7 Cf. RAC for details.

8 Cf DT, p 21 et seg

9 Cf RY, pp. 138, 248 for definition etc.

10 Unless otherwise stated the symol for logarithm ie. log will stand for logariltion to the base two, ie for $\log_2$. This is the operational symbol for bisection

or Ardhaccheda. Similarly $\log_2 \log_2$ stands for Vargasataka, or Ardhaccheda of Ardhaccheda.

and

$$\log \mathrm{III} + \log\log \mathrm{III} = \log\log \overline{\mathrm{III}}|^{1} \quad \ldots\ldots(1.106)$$

$$\mathrm{III}\,(\log \mathrm{III}) = \log \overline{\mathrm{III}}|^{1} \quad \ldots\ldots(1.107)$$

Therefore

$$\log \overline{\mathrm{III}}|^{1} = \mathrm{I}\,[\mathrm{III}] \quad \ldots\ldots(1.108)$$

Similarly

$$\log \overline{\mathrm{III}}|^{1} = \frac{[\mathrm{III}]^{2}}{\mathrm{I}} \quad \ldots\ldots(1.109)$$

Further

$$\log \overline{\mathrm{III}}|^{1} + \log\log \mathrm{III}|^{1} = \log\log \mathrm{III}|^{2} \quad \ldots\ldots(1.110)$$

Also

$$[\log \mathrm{III}|^{1}]\,[\overline{\mathrm{III}}|^{1}] = \log \mathrm{III}|^{2} \quad \ldots\ldots(1.111)$$

Therefore

$$\log \overline{\mathrm{III}}|^{2} = \mathrm{I}\,[\overline{\mathrm{III}}|^{1}] \quad \ldots\ldots(1.112)$$

Similary

$$\log \overline{\mathrm{III}}|^{2} = \frac{[\mathrm{III}|^{1}]^{2}}{\mathrm{I}} \quad \ldots\ldots(1.113)$$

It is known that

$$\log \overline{\mathrm{III}}|^{2} + \log\log \mathrm{III}|^{2} = \log\log \mathrm{III}|^{3} \quad \ldots\ldots(1.114)$$

Now

$$\log\log \overline{\mathrm{III}}|^{3} < [\overline{\mathrm{III}}|^{2}]^{2}$$

because according to (1.111) and (1.114)

$$\log\log \overline{\mathrm{III}}|^{3} = \log \mathrm{III}|^{2} + \log\log \overline{\mathrm{III}}|^{2}$$

$$= [\mathrm{III}]^{\mathrm{III}+1} \log \mathrm{III} + [\mathrm{III}+1] \log \mathrm{III}$$

$$+ \log\log \mathrm{III} \quad \ldots\ldots(1.115)$$

Thus the log log $\mathrm{III}|^{3}$ has not reached even a single square-place (Varga-Sthana) above $\overline{\mathrm{III}}|^{1}$ from this the auther concluds

"तेरो देमि दोण्ह रासीरा वग्गसलागाश्रो सरिसाश्रो"

$\log \log [\overline{\text{Iij}}|^{1}]^{2} = \log \log \log \log \overline{\text{Iij}}|^{3}$ .... (1.116)

The L.H.S. of (1.116) is also stated as

$\log \log [\overline{\text{Iij}}|^{1}]^{2} = 1 + \log \log \overline{\text{Iij}}|^{1}$

$= 1 + A' \text{ Ipj} + \log \text{Ipj} + 1 + \log \log \text{SPS}$

$= A \text{ Ipj}$ .... (1.117)

Now Virasena applies the method of reductio-ad-absurdum.

If we take it for granted that

$\log \log \overline{\text{Iij}}|^{3} = \log \log (J)$

in which care

$\overline{\text{Iij}}|^{3} = J$

Which is not so, becauose according to Parikarma,

$\log \log (J) = [\{(\text{Iij})^{2}\}^{2}]^{2}$..... ....

.... (1.118)

the square indices being raised Iim times

Where as

$\log \log \overline{\text{Iij}}|^{3} \quad [\{(\text{Iij})^{2}\}^{2}]^{2}$.................. ...

.... (1 119)

The indices on R.H S. being raised Iim times

As a matter of fact

$\log \log \overline{\text{Iij}}|^{3} = [\text{Iij}]^{2^{(A \text{ Ipj})}}$ .... (1.120)

Virasena proceeds to submit proof for (1.120) as follows :

It is known that

$\log \log \text{Iij} > \log \text{Ipj}$ .... (1.121)

because

$\text{Iij} = \left[(\text{Ipj})^{\text{Ipj}}\right]^{2}$

$\therefore \log \text{Iij} = 2 \text{ Ipj} \log \text{Ipj}$

$\therefore \log \text{Iij} > \text{Iyj}$ proing (1.121)

Again

$\log \log \overline{Iij}|^3 < [\overline{Iij}|^1]^2$

by virtue of (1.115)

Therefore

$\log \log \log \log \overline{Iij}|^3 < \log \log \left\{ (Iij)^{(Iij)} \right\}^2$

$< \log 2\ Iij + \log \log Iij$

$< [Iij]^2$ ....(1 122)

Now

$\log \log \log \log \overline{Iij}|^2 < 1 + \log Iij + \log \log Iij$

$\therefore \log \log \log \log \overline{Iij}^3 - \log \log Iij < 1 + \log Iij$

$< 1 + 2\ Ipj \log Ipj$

........................(1.122a)

At the same time

$\log \log \overline{Iij}|^3 > \overline{Iij}|^1$ by virtue of (1 115)

$\therefore \log \log \log \log \overline{Iij}|^3 > \log [Iig \log Iig]$

$> \log Iij + \log \log Iij$

Or

$\log \log \log \log \overline{Iij}|^3 - \log Iij > \log \log Iij$

$> 2Ipj \log Ipj$ ....

................(1·122b)

Now if in (1·122a) and (1 122b)

A is substituted in place of 2 log Ipj

Then

$\log \log \log \log \overline{Iij}|^3 - \log \log Iij = A\ Ipj$

................1·123)

Again, from (1·120)

$\log \log \log \log \overline{Iij}|^3 = \log \left[2^{A\ (Ipj)} \log Iij \right]$

$= A\ Ipj \log^2 + \log \log Iij$

∴ log log log log $\overline{I_{ij}}|^3$–log log Iij A Ipi
....(1·124)

Which is the same as (1·123)

Thus the proof is evident from the relations (1·118) and (1·120)

It may be remarked that the proof will be changed if the term $\overline{I_{ij}}|^3$ is taken in the form $I_{ij}|_3$ which stands for third vargita samvargita Rasi in Tiloya Pannatti.[11]

2.

ANALYSIS OF FLUENT[12] MEASURE

Dravya (Fluent) is that which always flows through its Gunas (Controls) and paryayas (Events) Guna always remains in whole of Dravya in all its Paryayas. Paryaya is an accurrence every Samaya (Instant) in a Guna of a Dravya.

The knowledge of fluentmeasure (Dravya-Pramananugama) is the second Anuyogadvara in which measure of a particular set of living beings is described relative to fluent, Time, Quarter and Becoming (Bhava).

The present treatment will be limited only to the measure of the set of souls who have Mythic or false view, i.e., the Mithya-drishti-Jiva-Rasi.

should be replaeed by $\overline{\quad}|_3$ One may note that
$\overline{a}|_a$ stands for $\overline{a}|_1$

further $\overline{\overline{a}|_1}|^{\overline{a}|_1}$ stands for $\overline{a}|_2$

Similarly $\overline{\overline{a}|_2}|^{\overline{a}}$ stands for $\overline{a}|_3$

The original verses related in satkhandagama are ;

---

11. Cf. TPG pp. 58-60, where $\overline{\quad}|^3$
12 Cf Ry pp 8, 129-134, 162-163 for details.

(1) How many are the Mythic view souls relative to Fluent-measure, in general ? (They) are Infinite.[13]

(2) Relative to time (the Mythic view souls) are not exhausted by Infinite-Infinite Hypo-serpentine and. Hyper-Serpentine (periods).[14]

(3) Relative to quarter (the My thic view souls) are Infinite-Infinite Universes (lokas)[15]

(4) The knowledge of the (above) three (measures) is the Becoming measure.[16]

Now we proceed to expose tne details given by Virasena.

FLUENT-MEASURE

This measure has been shown by Virasena to be equivalent to lim, where the number is said to be between the following terms : [17]

$$\left[\left\{(\text{lıj})_2\right\}^2\right]^{2\cdots\cdots} < \text{lim} < \left[\left\{(\text{lıu})\, y^2\right\}^{y^2}\right]^{y^2\cdots\cdots} \qquad \cdots\cdots(2\ 101)$$

Where the proeess of squaring and extracting square roots is an infinitum

---

13. ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया ? अणंता ॥2॥
    Cf. DT, verse 2.
14. अणंताणंताहि ओसप्पिणि-उस्साप्पिणीहि ण अवहिरंति कालेण ॥3॥
    Cf. DT, verse 3
15 खेत्तेण अणंताणंता लोगा ॥4॥
    Cf DT, verse 4.
16. तिण्हं पि अधिगमो भाव पमाण ॥5॥
    Cf. DT, verse 5.
17. Cf DT, p. 10.

In what follows, the set of the Mythic-view souls will be denoted by the symbol Jमि

TIME-MEASURE

Relative to time Jमि is such that it cannot be exhausted by the set of Samays (Instants) contained ih the past time. We shall denote this set of instants in the past by Kभू It is clear that this set is ordered and has for its order type w* Its elements are given as { ....1, 3, 2, 1 }

By application of the method of one-to-one corresopndence,[18] Virasena compares the above two sets and shows

$$\text{Kभू} < \text{Jमि} \quad .... \quad (2\cdot102)$$

This result is confirmed by comparing the above sets with the sixteen types of sets related in mixed comparability[19] Comparability means Alpa-bahutva.

Virasena derives that

$$\text{Jमि} = \text{Kभू} \left[\frac{\text{Jमि}}{\bar{1}}\right] - \frac{(1\frac{6}{8}\ \text{month})\ \text{Kभू}}{(\text{S. S. Kआ} + 1)} + \text{Iyi}\ (\text{Kव}), \quad ....(2\ 103)$$

Where I is infinite, S is summable (samkhyata), $1\frac{6}{8}$ month denote the set of instants, Kव stends for one present instant. K आ is the set of instants contained in a single Avalika which consists of Ayj instants Here[20] I must stand for infinite, less than Iim, and it is then evident that Jमि >Kभू Then result shows that Jमि is not exhausted inspite of the fact that relative to the liberated souls the set of souls of the non-liberated or word's souls is continually losing.

---

18 Cf. DT, p 28.

19. Cf. DT, pp. 30 et seq., for "सोलह राशि गत अल्पबहुत्व" ।

20. Cf. CT p. 31.

QURTER MEASURE

Relative to quarter, or Kshetra, the measure of the set Jघ is said to be Ii times the measure of the set L which is the set of space-points (Pradesas)[21] contained in Loka or universe beyond which is non-universe or empty space. Virasena follows the method of mapping of Jघ upon L, ie., by alloting to every space-point of the universe L an element of Jघ, and repeating the process Ii times

The Loka (universe) has 343 cublic Rajus of volume. A Raju is a unit of cosmological measure of the immense distances of the Loka. This length in a Euclidean flat space may be considered to be a straight line & the set of space-points contained in it may be denoted by R

The measure of space-points or Pradesas in R has been discussed by Virasena analytically[22]

Let the number of islands and oceans be n and the diameter of Jambudvipa be denoted in terms of the set of space-points contained in the stretch, Z In the discussion, it appears that the term "gunide" should be replaced by "bhanide", otherwise results obtained would be incorrect.

Thus according to one of the schools,

$$\left[2^{\{n+1+\log_2 z\}}\right]=R \quad \ldots\ldots (2\ 104)$$

or taking log both the sides,

$$n+1+\log z = \log R \quad \ldots (2\ 105)$$

According to the other school,

$$\left[2^{\{n+S+\text{Log } z\}}\right]=R\ldots \quad \ldots (2\ 106)$$

If one insists on having "gunide" $\log 2_2$ will have to be interpreted for "Chinnavisitthama" and thus

---

21. Pradesa is the space occupied by an ultimate particle of matter, known as Pudgale-Paramanu.

    Cf. RY, p 135 for details.

22. Cf DT, p 34 et seq. Cf. also TPG, pp. 99–102.

$$R = 2^{\{n+(1+S)+\log_2 z\} \log^2_2}$$

....(2.107)

Every occan has an even number as its label and every island would have an odd nnmber for its label. Thus the "Savyambhu ramana" ocean would have $n=2w$ for its lable. Its correspoding island would have $n-1$ or $2w-1$ for its lable. Now the diameter of the ocean is 2^{2-w1} lacs of yojanas[23], Hence the measure of a Raju in lacs of Yojanas would be

$$1+2\ [\ 2+2^2+2^3+\ \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots+2^{2-2w-1}]$$

.... (2.108)

Whose run is $2^{2w+1}-3$ . . ..(2.109).

This is the measure according to first school. Now we proceed to find the value of $\log_2 R$ from the above, remembering that ultimately $\log_2$ of a lac of yojana will have to be determined in terms of space-points.

This first middle point or bisection (ardhaccheda) of the Raju, the width of the mid-universe, would lie at the centre of the Jambu dvipa from where the distance of the out skirt of the "Svayambhu ramana' ocean would be

$$\tfrac{1}{2}+[2+2^2+2^3+\ldots\ldots\ +2^{2w-1}]$$

$$=2^{2w}-\tfrac{3}{2}\ \text{lace of Yojanas.}$$

... . (2 110)

The middle point of the above distance (2 110) would lie on or outside or the corresponding island because the distance of the outskirt of the "Svayambhu ramana" island from the centre of the Jambudvipa is.

$$\frac{1}{2}+\left[2+2^2+2^3+\ \ldots\ \ .+2^{2^{w-2}}\right]$$

lacs of Yojanas, or, $2^{2w-1}-\frac{3}{2}$ lacs of Yojanas.

.. ..(2·111)

23. Cf. TPG, pp. 18-23 for Raju and Yojana.

Dividing (2·110) by 2 we have

$$2^{2^{w-1}} - \frac{3}{4} \text{ lacs of Yojanas}$$

....(2·112)

As

$$2^{2^{w-1}} - \frac{3}{4} > 2^{2^{w-1}} - \frac{3}{2}$$

.... .. (2·113)

hence the second mid-section of the Raju will fall on the "Svayambyu ramana" ocean

Similary the third mid-section or ardhaccheda will lie on the corresponding island, because the distance of the centre of the ocean preceding the Svayambhuramana" island from its own.
outskirt as

$$\frac{1}{2} + \left[2 + 2^2 + 2^3 + \quad \ldots\ldots \quad + 2^{2^{w-3}}\right]$$

$$= 2^{2^{w-2}} - \frac{3}{2} \text{ lacs of Yojanas,}$$

.. .. (2·114)

Whereas the half of amount given in
(2·112) is

$$2^{2^{w-2}} - \frac{3}{2^3}$$

. . ..(2·115)

And

$$2^{2^{w-2}} - \frac{3}{2^3} > 2^{2^{w-2}} - \frac{3}{2}$$

. ... (2·116)

Similar it is obvious that

$$2^{2^{w-3}} - \frac{3}{2^4} > 2^{2^{w-3}} - \frac{3}{2}$$

. . ..

. ..

and in general

$$2^{2^{w-(x-1)}} - \frac{3}{2^x} > 2^{2^{w-(x-1)}} - \frac{3}{2}$$

............(2·117)

Where x is the number of cuts or sections.

If we start from the "Svayambhu ramanan' ocean, then the Order-number of the "Lavana" ocean would be (2w–1). As the firs cut lies on the centre of the Jambudvipa, the value of x is 2w. Substi tuting this value of x in (2.117), we have.

$$2^{2w-(2w-1)} - \frac{3}{2^{2w}} > 2^{2w-(2w-1)} - \frac{3}{2}$$

Or

$$2 - \frac{3}{2^{2w}} > 2 - \frac{3}{2} \quad \ldots\ldots\ldots (2.118)$$

The result shows that the 2w th cut lies on the "lavana" ocean.

This cut or section lies at a distance of $\left(\frac{1}{2} + \frac{3}{2^w}\right)$ lacs of Yojanas inside the "Lavana" ocean from its out skirt.

Now on calculating the (2w+1) th cut, one gets

$1 - \frac{3}{2(2w+1)}$ lacs of Yojanas which is greater than the radius of Jambudvipa. Thus the (2w+1) th cut also lies inside th "Lavana" ocean. This shows that two cuts lie inside the "Lavana' ocean The next cut lies at a distance of $1\frac{1}{2} + \frac{3}{2(2w+1)}$) lacs of Yojana inwards, from the outskirt of the ocean It my be noted that n or 2w is some Asamkhyata number, therefor in the limit. $\frac{3}{2(2w+1)}$ my b ignored.

Thus after getting (2w+1) cuta of the Raju, $1 - \frac{3}{2\,3w+1}$ lacs of Yojanas of distance is left. The remaining argument may be see from the test.

R has also been defined as follows

$$\left[(\text{प्रं})^3\right]^{\left\{\frac{\log_2 \text{प}}{A}\right\}} = \text{श्रे} = 7R$$

(2 119)[24]

Where प्र is the set of space-points in the specified finer width प is the set of instants contained in Palyopama period of time, and श्रे is the world-line or Jaga-sreni which is a set of space-point contained in a length of seven Rajus.

BECOMING-MEASURE—

The knowledge of the three foregoing measures is the Becoming measure or *Bhave-pramana* Virasena, *perhaps on the basis of tradit-ional* knowledge, has described this in an analytical form in details through the methods of cut (khandita), division (bhaita), spread (viralana) reduction (aphrita), measure (pramana), reason (karana), explanation (niruktı), and extra-creation (vikalpa)[25]

The method of vikalpa (abstraction or extracreation) is classified as adhastana vikalpa (lower-abstraction) and uparima vikalpa (higher abstraction) wher the use of the concepts of dharas (sequences) play roles, as muell as use is made of the logarithnrs to different bas

An example regarding logarithms is the equation

$$\frac{(J)^2}{\left\{\log_n\left(\frac{J^2}{J\text{मि}}\right)\right\}} = J\ \text{मि}$$

(2 121)

3 APPENDIX

The following copy of a table from Artha Samdrishti chapter of Todaramala illustrate the symbolic expressions about measures of various types of sets relative to Fluent, Quarter, Time and Becoming measures

24 Cf TPG, p. 22

25. Cf DT, p, 40 et seq

नाम	जीव	पुग्दल	धर्म	अधर्म	लोकाकाश	मुख्य काल	व्यवहार काल	अलोकाकाश
द्रव्यमान	१६	१६ ख	१	१	१	≡	१६ ख ख	१६ ख ख ख
क्षेत्रमान	≡ ख	≡ ख ख	≡	≡	≡	≡	≡ ख ख ख	≡ ख ख ख ख
कालमान	अ ख	अ ख ख	क a	क a	क a	क a	अ ख ख ख	अ ख ख ख ख
भावमान	के ख ख ख ख	के ख ख ख	ओ a	ओ a	ओ a	ओ a	के ख ख	के ख

Here १६ is the set of all souls, ख is infinity, १ is unity, ≡ is the volume of universe or Loka as a set of space-points, अ or अ is the set of instants in the past, क is the set of instants in Kalpa (creation) period of time, ओ or ओ is the set of Avadhi (clairvoyance), a for asamkhyata, and के is the set of indivisible-corresponding-sections of the knowledge of Cmniscience.

26. Cf. AS, p. 177

The first row may be rather translated as, name, Soul, Matter, Medium of motion, Medium of Rest, Universe, real time, practica' time, non-universe (empty space), the words carrying some shade of the meaning attached to them.

The first column may be similarly translated as name, fluent-measure, quarter-measure, time-measure and becoming-measure.

REFERENCES

AS : "ARTHA SAMDRISHTI" of todaramala, Gandhi Hari Bhai Deokaran jain Granthamala, Calcutta. (date of publication not mentioned) Note : This chapter is on Jiva Kanda and Karma-Kanda of Gommatasara (pp. 1-308) There is one more chapter on "ARTHA SAMDRISHTI" on Labdhi-sara and Kshapan-asara by the author under the same publications (pp. 1-207). The work was completed by the author in A. D. 1771 We shall denote the later chapter by ASL.

AST · "ABSTRCCT SET THEORY" by A. A. Fraenkel, Amsterdom (1953)

BCM · "The Jain School of Mathematics" B B Datta, Bul. Cal Math. Soc, vol XXI, 1929, pp 115-145.

DT "DHAVALA TIKA samanvitah SHATKHANDAGMA'1, by Virasenacarya, book 3, edited by Hiralal Jain, Amaroti (1941)

JSM "On the Jain School of Mathematice", L. C Jain, Chotelal Smriti Grantha, Calcutta (1667), pp. 265-292

MD . Mathematics of Dhavala", A. N. Singh, Shat khandagama, vol IV, Amarasoti, (1942), V-XXI

RAC The Role of the Axiom of choice in the development of the Abstract Theory of Sets", doctoral thesis by W. L. Zlot,
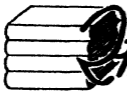
Columbia University 1957, Library of congress numbur Mic 57-2164.

RY : "REALITY" by S. A Jain, (English translation of Shri Pujyapadas 'SARVARTHASIDDHI'), Calcutta (1960)

TPG : "Tiloya Pannthi Ka Ganita", L.C Jain, reprinted from introduction to 'JAMBUDIVAPANNATTI SAMGAHO', Sholapur (1958), pp 1-104

खण्ड 3

१५

पुष्पदन्त और सूरदास का कृष्णलीला चित्रण एक तुलनात्मक अध्ययन

□ डा० देवेन्द्रकुमार जैन

महाकवि पुष्पदन्त और सूरदास का समय, दार्शनिक मान्यतायें, भाषा और यहा तक काव्य वस्तु भी विभिन्न है, फिर भी दोनों के कृष्ण-लीला वर्णन मे मूलभूत समानताएं है। पुष्पदन्त अपभ्रंश के कवि है, जबकि सूरदास ब्रज भाषा के। एक का समय (१० वी सदी का मध्य बिन्दु) देशी राज्यो के बीच सत्ता सघर्ष का समय था, जबकि दूसरे का (१६ वी सदी का उत्तरार्ध) मुगल सत्ता के उत्कर्ष का। एक ने अपने महापुराण की गिनी-चुनी सन्धियो मे कृष्ण का वर्णन किया है, जबकि दूसरे ने सूर सागर मे कृष्ण की समूची लीलाओ का गान किया है। श्रीमद् भागवत पर आधारित होते हुए भी सूर दसवे स्कन्ध मे इन लीलाओं को इतना विस्तार कर डालते हैं कि वह एक स्वतन्त्र काव्य-सर्जना बन गई है।

'सूर सागर' मे वर्णित कृष्ण लीलाओ के परम्परागत स्रोत के सम्बन्ध मे अभी तक धारणा यह है कि विद्यापति पदावली और गीत गोवन्द से सूर ने प्रेरणा ग्रहण की। आचार्य शुक्ल का कहना है कि सूर के लीलागान की कोई पूर्व-परम्परा (चाहे वह मौखिक ही क्यो न हो) थी। पुष्पदन्त के महापुराण मे वर्णित लीलाओं को देखकर सन्देह नहीं रह जाता कि ई० सदी दसवी मे कृष्ण की बाल और यौवन लीलाएं अपने नये सन्दर्भ में न केवल लोकप्रिय थी, वरन् उन्हें भाषा काव्य में प्रवेश मिल चुका था। मोटे तौर पर, पुष्पदन्त कृष्ण की लीलाओं के साथ उनकी देवी (पौराणिक) लीलाओं का भी वर्णन करते हैं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सूर। यह नही कहा जा सकता कि प्रेरणा सूर ने पुष्पदन्त से सीधे ग्रहण की। फिर भी यह तो कहा जा सकता है कि दोनो के लीला वर्णन मे कुछ न कुछ मूल समानता है और यदि यह कि पुष्पदन्त ने परम्परागत जैन कृष्ण नेमि पुराण मे जो कुछ नई बातें जोडी वह लोकप्रियता के कारण। महापुराण की दो सन्धियो (८५-८६) मे कृष्ण लीलाओं का ही मुख्य रूप वर्णन है। शेष सन्धियों में (८७-८८) मे जरासन्ध और तीर्थकर नेमिनाथ के प्रसंग में श्री कृष्ण का चरित्र आता है।

पुष्पदन्त के अनुसार श्रीकृष्ण का जन्म सामान्य समय से पहले, अर्थात् ७ वें माह मे होता है और वह भी माता-पिता की बन्दी अवस्था मे। यही कारण है कि मारने की इच्छा रखने वाला कंस उनके जन्म की बात नही जान पाता। वसुदेव नवजात बालक को गोद मे उठाते है। बलराम उस पर छत्र की छाया करते हैं और एक देव, बैल

बनकर अपने सीगों मे प्रकाश करता है। उन्हें डर है कि कही शत्रु को इसका पता न लग जाय। धीरे-धीरे वे तीनो चलते हैं बालक के अंगूठे के छू जाने से गोपुर का द्वार खुल जाता है। उग्रसेन यह जानना चाहते है कि यह बालक कौन है? परन्तु उन्हे यह बताकर की यह बालक उन्हें सुख देगा, वे आगे बढ जाते हैं अब मन्द-मन्द लहरानी यमुना नदी उनके सामने हैं, कृष्ण की जैसे नीराजना करती हुई। कवि अपनी भावना, यमुना पर आरोपित कर वर्णन करता है —

'गरूयरतु' तोउ रत्तबरू।
ण परिहई चुय- कुसुमहिं कब्बरू ।।
बिणरि-थरण मिहरई णं दावइ।
विष्म मेहिं णं ससऊ भावहि ।।
फिणिमणि--किरणहि ण उज्जोयइ।
कमलच्छिहि णं कण्हु पलोयइ ।।
मिसिणिपत्तथालेहि सुणिम्मल।
उच्चाइय णं खल कग-तन्दुल ।।
खलखलति ण मगलु घोसई।
ण माहवहु पक्खु सा पोसई ।।
णउ का सुवि सामण्णहु अण्णहु।
अवसँ तू पइ जवण सवण्णहु ।।
बिहि भाईहिं थक्कउ तीरिणिजलु।
णं धरणारि विहतउ कज्जलु ।।

यमुना नदी कृष्ण के प्रति इतनी भक्ति-विभोर हो जाय कि गेरू मे रगे जल के कपडे पहन ले, गिरे हुए फूलो का जूडा बना ले, स्नान करती हुई किन्नरियों के स्तनों मे अपना वात्सल्य दिखाए, लहरो के विलास मे विभ्रम पैदा कर दे, नागराज की मणि किरणो से आलोक बिखेर दे, कमल की आखो से देखे, कमलिनी के पत्तों पर जलकणो के चावलो से आरती उतारे और कृष्ण को मार्ग देने के लिए स्वय दो टुकडों मे बंट जाय।

सूर ने कृष्ण-जन्म की घटना को पौराणिक सन्दर्भ मे लिया है। वहा कृष्ण योगमाया से देवकी के घर मे आते है और जन्म के बाद वसुदेव से कह देते है कि वह उन्हे गोकुल पहुंचा दे।

"अहो वसुदेव जाहु लै गोकुल
तुम हो परम सभागे।"

वसुदेव गोद मे ले जाते है और शेप नाग उन पर अपने फनो मे छाया करता है। वह सीधे नन्द के घर पहुच कर कन्या से विनिमय कर मथुरा वापस आ जाते है। बचन के अनुसार वह कन्या कस को सौंप दी जाती है। पुष्पदन्त ने इस प्रसग को एक दम बदल दिया है। उसके मूल मे तत्कालीन लोक-विश्वास सक्रिय है। उनके अनुसार यमुना पार करते ही बलराम को नन्द मिलते हैं। उनके साथ में नवजात कन्या है पूछने पर वह बताते है कि उनकी पत्नी यशोदा ने लडके की मनौती की थी परन्तु हुई लडकी। वह उसे वापिस करने जा रहे है। देवी लडका देगी तो ठीक नही तो उसकी लडकी उसे वापिस। बलराम अवसर का लाभ उठाते हुए कहते है—लो, यह लडका। यह देवी ने तुम्हे भेजा है और लडकी मुझे दो। वह लडकी लेकर चले जाते है। यहा भी लडकी कंस को दे दी जाती है। कस उसके नाक-कान काटकर तल घर मे डाल देता है। कन्या बाद मे साध्वी बन जाती है लेकिन वह कृष्ण जन्म की सूचना नही देती जबकि सूर सागर मे जैसे ही कंस कन्या को पछाडता है, वह कृष्ण जन्म की सूचना दे देती है। महापुराण मे कस को कृष्ण-जन्म का पता वरूण ज्योतिषी से बहुत बाद मे चलता है। इसमे संदेह नहीं कि महापुराण और सूरसागर मे कृष्ण जन्म की आलौकिक पृष्ठभूमि और परिस्थितिया समान

रूप से वर्णित है परन्तु उसके कारण अलग-अलग है।

"महापुराण" मे कृष्ण की बाल लीलाओ के दो भाग है : मानवी लीलाए, देवी लीलाएं, बाल-पन की लीलाएं जैसे धूलधूसरित बालक का गोपियों का हृदय चुराना, मथानी पकड लेना, मन्दिर तोड लेना, अर्धवेलिया दही बिखेर देना, गोपियो का पकड़ना और मथानी तोडने के बदले आलिगन मागना या दिन भर आगन की कैद।

कृष्ण शरीर की श्याम छाया से गोपी का सफेद वस्त्र काला होना, उसे छीनने के प्रयास मे सहेलियो हमी का पात्र बनना, कभी भैंस का पाडा पकडना, और कभी गाय का बछड़ा। यशोदा का (गु जाभे दुय-रइअपयोगे) मू गो की गेद बताकर उसे छुडाना बालक का मक्खन खाना और उसे पास पाकर गोपियो का घर के काम मे मन न लगना।

भद्दइ नियडि बिर धरयम्मु ण।
लम्माइ बारिहि ।। (८१।१६)

पुष्पदन्त ने जिसे प्रयोग कहा है, सूरदास ने बाल-विनोद के वर्णन मे ऐसे कई प्रयोगो का उल्लेख किया है।

घी के वर्तन मे अपना प्रतिबिम्ब देखकर कृष्ण उसे बुलाते है। यह देखकर नन्द यशोदा आपस में हसते है :

"घयभायणि अवलोइवि भावइ।
णिय पडि बिम्बू बिट्ठ बोल्लावइ।
हसइ णदु लेप्पिणु अवरू डइ।
तहु उरयलु परमेसरू मन्डइ।
इसी तथ्य को शब्दो मे देखिये.
"माखनखात हंसत किलकत हरि
स्वच्छ घट देख्यो।
निज प्रतिबिम्ब निरखि रिस मानत
जानत आन परेख्यो।।"

दूसरी लीलाएं देवी लीलाए जिनमे से कृष्ण का अलौकिक व्यक्तित्व उभर कर आता है। "सूर सागर" मे चू कि कृष्ण जन्म की खबर कस को बालिका से लग जाती है अत. उसमे ये घटनाए प्रारम्भ से ही होने लगती है। महापुराण मे कस को कृष्ण के जन्म की बात उस समय ज्ञात होती है जब उनका पुण्य प्रताप बढ़ चुका होता है। कस दुस्वप्न देखता है। उसका फल देखने पर उसका ज्योतिष वरुण उसे कृष्ण जन्म की सूचना देता है। वह पूतना को भेजता है, कृष्ण उसका रक्त मास चूस लेते है। वह भाग खडी होती है फिर नही आती है। एक दूसरे दिन बालक जब अपनी स्वाभाविक क्रीडा मे लीन रहता हैं तब शकटाकार बना कर देवी आती है और मुंह की खाती है। मा ऊखल से बालक को बाध कर यमुना किनारे चली जाती है। बालक उसके पीछे लगता है, एक राक्षस वृक्ष फेकता है जो उसकी बाहुओ से टकराकर नष्ट हो जाता है।

एक गधी और अश्व आते हैं, दोनो पराजित होते है। पनिहारिने यशोदा को सब बाते बताती है। वह घबडाकर आती है और हाथ फेरकर देखती है कि कही बालक को चोट तो नही है ? उसका बन्धन खोल देती है। बालक अरिष्ट को पछाडता है और उसकी कीर्ति सारी गोकुल बस्ती मे फैल जाती है। मा को जब मालूम होता है तो वह कुढती है. सोचती है कि कोख से बालक नही-राक्षस पैदा हुआ है। लोग तमाशा देखते हैं और मेरा लाल अकेला ही संकट से भिड़ जाता है। वह उसे नद-गोठ ले जाती है। कृष्ण को मथुरा बुलाने

के लिये कम अपनी कन्या के स्वयवर का ढोंग रचता है। जरासघ के पुत्रो के साथ कृष्ण भी हो लेते है। वर्षा मे गोर्वधन उठाने से उनकी कीर्ति दूर-दूर तक फैल जाती है। भानु सुभानु के साथ कृष्ण मथुरा जाते हैं। वे स्वयवर की तीनो बातें कर देते है। कस उन्हे मारने दौडता है। बलराम सब बात नन्द को बताते है। नद वहा से हटकर नद गोठ की स्थापना करता है। कस वहा भी पीछा नही छोड़ता। इन्दीवर चयन और चाणूर-वध के बाद वह कंस का काम तमाम करता है। आकाश के फूलों की वर्षा होती है। एक उद्धारकर्त्ता के रूप मे उनकी सब और प्रशसा होती है।

सूर सागर मे ये घटनाए न केवल विस्तार मे आती है, अपितु इससे कुछ अधिक घटनाए आती हैं। उदाहरण के लिये उसमे कनछेदन आदि संस्कार, बालक की दैनिक चर्या, बालहठ आदि बातें विस्तार से आती है। इसके दो कारण है, एक तो सूर सागर में स्थान अधिक है। दूसरे कवि अपनी प्रभु भक्ति की रसात्मक अनुभूति के लिए उन्हे विस्तार देता है।

पुष्पदत ने बाल लीलाओं का ही प्रत्यक्ष वर्णन किया है। यौवन लीलाओ का वर्णन उन्होंने जान बूझकर नही किया। लेकिन इन लीलाओ की जानकारी उन्हे थी। पुष्पदन्त राक्षस द्वारा दो वृक्षों के गिराये जाने की बात तो करते हैं, पर वे हिन्दू पुराणो की उस मान्यता का उल्लेख नहीं करते, जिसके अनुसार उलूखल वाली घटना का सम्बन्ध कुबेर के बेटे, यमलार्जुन के उद्धार से है। सूरसागर मे यशोदा पुष्पदत की तरह बाहर नहीं जाती, घर मे ही रहती, कृष्ण चुपके से निकल जाते है। इसी प्रकार पुष्पदत बाल विनोदो के उपरात घटित होने वाली शृंगार लीलाओं के वर्णन के विषय मे मौन हैं। कुछ हिन्दू पुराणों में वर्णित देवी घटनाओं का वर्णन भी इसमे नही है। लेकिन कस द्वारा "कालिया दह" से कमल लाकर देने की घटना का वर्णन दोनो करते हैं। कस का यह आदेश सुनकर दोनों की प्रतिक्रिया एक सी होती है। पुष्पदत के नद की प्रतिक्रिया यह है :

"ता णदु कवइ–सिरकमलु धुवइ
जहिं दीप सरणु तहिं ढुक्कु नरणु
जहिं राउ हणइ अण्णाऊ कुणइ
किं घरइ अण्णु तहिं विगमगणु
हउ काइ करमि लइ जामि भरमि।

इसी घटना का आभास सूर की यशोदा को अपशकुनो से होता है। वह चौंक जाती है। वह और नद करे तो करें क्या? कभी घर के भीतर है और कभी बाहर।

"खन भीतर खन आगन ठाड़े,
खन बाहर देखत है जाइ।"

महापुराण के वर्णन-क्रम से सूरसागर के वर्णन-क्रम मे मुख्य महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि एक मे कृष्ण जरासघ के पुत्र भानु-सुभानु के अनुचर बनकर जाते है, जहा कम की कन्या के स्वयवर की तीनो शर्तों (नागशमन, शंख और धनुष) को पूरा कर देते है। कश अपने शत्रु को पहिचान लेता है और उसके ससैन्य वध की योजना बनाता है। बलराम यह बात नद को बताते हैं। नंद सुरक्षा की दृष्टि से दूसरी बस्ती बताते हैं–"नदगोकुल" कंस पीछा नही छोड़ता। वह यमुना के कमल लाने का आदेश भेजता है। इसकी नंद पर गहरी प्रतिक्रिया होती है। कृष्ण न केवल कमल तोड़कर लाते है, प्रत्युत हाथी और चाणूर के का भी काम तमाम कर देते हैं। आकाश से कुसुम वृष्टि के बीच

श्रीकृष्ण का अपने कुल के उद्धारक के रूप में अभिनन्दन किया जाता है। उग्रसेन को मथुरा के राज्य पर स्थापित कर वह थौरीपुर जाने का निश्चय करते हैं। "सूरसागर" मे कस, कृष्ण को लेने के लिए अक्रूर को भेजता है। कृष्ण के साथ केवल नद जाते है—यशोदा और दूसरी गोपियां नही जाती है। देवकार्य (कस वध) होने के बाद भी, जब कृष्ण वृन्दावन नही जाते तो नन्द लौट आते हैं। कृष्ण के बिना उनकी इस वापसी पर यशोदा और गोपियो पर गहरी प्रतिक्रिया होती है। बाद मे कृष्ण कुशल सदेश देने के लिए उद्धव को भेजते है। उद्धव मे निर्गुण साधना का उपदेश सुनकर गोपियों को गहरा आघात लगता है। वे उसका कड़ा विरोध विरोध करती है और इस प्रकार प्रेमभक्ति के समर्थन मे उपालम्भ प्रधान एक नया आख्यान चल पड़ता है। उद्धव, कुब्जा और राधा उसके प्रमुख पात्र या कोण है। पुष्पदत के कृष्ण काव्य मे उनका अभाव है। उनके अनुसार कृष्ण के साथ ग्वाल बाल सहित नन्द यशोदा भी मथुरा मे जाते हैं। थौरीपुर जाने के पहले वे सब की कामनाएँ पूरी कर बिदाई देते हैं। वह स्वीकारते है कि नन्द यशोदा का उन पर बहुत बड़ा उपकार है कि वे उसे भूल नही सकते—

"इय गोवीयण वयणई सुणतु
कीलइ परमेसरू दर हसतु
सभासियऊ मेल्लिवि गव्वनाऊ
इह जन्महु महु तुहु तायताउ
परिपालिउ थण थणणेण जाइ
कीसरमि न खणु भि जसोइमाइ
कइवय दियहिइ तुहु जाहि ताम
पडिवक्ख कुलक्खऊ करभि जाय।"

इस प्रकार, गोपीजनों की बातें सुनते और कुछ हसते हुए परमेसरु क्रीडा करते रहे। बाद में गर्वभाव छोड कर उन्होंने कहा—"इस जन्म में आप मेरे तात हैं। मैं यशोदा माता को एक क्षण के लिए भी नही भूल सकता, जिसने स्तन का दूध पिलाकर मुझे पाला है। कुछ दिनो के लिए आप लोग चले जाय, तब तक मैं शत्रुओ का नाश कर लू।

कृष्ण की कृतज्ञता के इस स्वर की अनुगंज सूर सागर मे कहा सुनाई देती है, जब उद्धव को संदेश देते हुए कृष्ण कहत हैं

"ऊधो मोहि ब्रज विसरत नाही
प्रात समय माता जसुमति
अरू नद देखि सुख पावत
माखन रोटी दही सजायो
अति हित साथ खवावत।"
"अनगन भाति करी बहुलीला
जसुदा नद निवाही"

ऊपर कहा जा चुका है कि गोपियो की बातें सुनकर कृष्ण कुछ मुसकाते रहे। आखिर ये वचन क्या थे। वास्तव मे इन वचनो के बहाने पुष्पदन्त ने अपने कौशल से कृष्ण की सयोग लीलाओ की झलक दे दी है। मथुरा मे ही कुछ दिनों तक कृष्ण के साथ रति क्रीडा (रइ कीलिरेहि) करने वाली गोपिया उनमे कहती है—

कइ वय दियहहिं रइ कीलिरीहिं।
कोल्लावाउ पहु गोवालिणीहिं॥
पंगुत्तउ पइं माहव सुहिल्लु।
कालिदि–तीरि मेरउ कहिल्लु।
एवहिं महुरा–कासिणिहि रत्तु।
महुं उप्परि दोसहि अथिर चित्तु।
कवि भणइ दहिउ मथति याहु।
तुहु मइं चरियउ उम्मतियाइ।

लवणीय बित्त्‌ करू तुज्झलग्गु ।
कवि भणइ पलोयइ भज्भु भग्गु ।
तुहु णिसि णारायण सुयहिं णाहिं ।
आलिंगिउ अवरहि गोवियाहिं ।
सो सुयरहि किण पउण्णकु ।
सकेय कुडं गुडीडण रिउ ।

धत्ता कावि भणइ वासन्तु उद्ध रिवि खीरभिगारउ ।
किं वीसरियउ अज्जु ज मइ सित्त्‌ भडारउ ।।
(८६।१०)

हे माधव ! तुमने यमुना के किनारे मेरे कटि-वस्त्र का अपहरण किया था और अब मथुरा की स्त्रियो पर तुम अनुरक्त हो, हम से तुम्हारा मन फट गया है । कोई कहती है—

दही मथते मैने तुम्हे पकड लिया था और तुम्हारा मक्खन लिपटा हाथ मुझे लग गया था ।
कोई कहती—

तुम मेरा मार्ग देखो, रात तुम सो नही सके, दूसरी गोपियो ने तुम्हारा आलिगन किया है । तुम्हारा रतिसुख से मन नही भरा और तुम सकेत विटप के पास जाने को उत्सुक हो ।
कोई कहती—

क्या तुम भूल गए, जब मैंने दूध के फूटे बर्तन से तुम्हारा अभिषेक किया था ।

यह वचन स्वयं बताते है कि पुष्पदन्त को कृष्ण की सयोग लीला कहानी का पूरा और गहरा परिचय था । इतना ही नही—उन्होने कृष्ण को एक जगह राधिका रमण-अर्थात् राधा का प्रिय कहकर (८८।१४) राधा से उनके सम्बन्ध का भी बोध करा दिया है । इन सूत्रो को जोड देने से कृष्ण की गोपियो और विशेष रूप से राधा के साथ प्रणय लीलाओं का चित्र हमारे सामने खिच जाता है और भारतीय साहित्य मे वर्णित पूर्व सूर-लीलाओं का लिखित प्रामाणिक सूत्र मिल जाता है—

तणक्य बलय-विहुसिय-कस
वण-कणियारि कुसुम-रय-पिजरू ।
ससुसिर वेणु-सद्द-मोहिय—जणु
धरणि—घाउ—मण्डिय तणु ।
कूर—णिवन्धण—वेढ़िय—कन्दलु
कन्दल—पोसिय—महिसी—दलु ।

धत्ता—
गुंजा-हल-जडिय-दंडय-विहत्थु संचिल्लउ ।
महिवह-तणु-रूहेण आसण्णु पढुक्कु बोल्लिउ ।
(८५।१६)

और यह कहा जा सकता है कि अपनी दार्शनिक और पौराणिक भिन्नताओ के होते हुए भी—दोनो कम के सन्दर्भ मे कृष्ण जन्म की पूर्व पृष्ठ भूमि स्वीकार करते है । दोनो मानते है कि कृष्ण का जन्म असाधारण परिस्थितियो मे हुआ, उनका अधिकाश जीवन लोक धर्म और राजनैतिक समाज व्यवस्था के सिद्धान्तो की स्थापना मे हुआ । कृष्ण का प्रारंभिक व्यक्तित्व चाहे जो रहा हो परन्तु मानवलीलाओ के मिश्रण से उनका व्यक्तित्व मनुष्य की बाल और यौवन लीलाओ की अभिव्यक्ति का प्रतीक बन गया और इस प्रकार उनके व्यक्तित्व की अन्तिम परिणति सामान्य लोक जीवन की सुख दु खमय घटनाओं से जुड जाती है । वात्सल्य और शृंगार का ऐसा नायक कि जो सबके हृदय को छू सके, जो सब मे रम सके, और सबको रमा सके, विश्व साहित्य मे दूसरा नही मिल सकता । जैन दार्शनिक दृष्टि से कृष्ण की ये लीलाए राग मूलक अथवा प्रवृत्ति मूलक मानी जायेगी परन्तु हिन्दू दर्शन के अनुसार कृष्ण अवतार होने से इनमे व्यक्तिगत रूप से लिप्त

१६

मध्यकाल के राजस्थानी जैन काव्यों का वर्गीकरण

डा० देव कोठारी

जैन साहित्य के निर्माण एव सुरक्षा की दृष्टि से राजस्थान प्रदेश का वातावरण सर्वाधिक अनुकूल रहा है। यहां के जैन शास्त्र भण्डारो मे प्राकृत अपभ्रंश, संस्कृत, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषाओं मे लिपिबद्ध रूपात्मक तथा विषयात्मक विपुल हस्तलिखित साहित्य इसका पुष्ट एवं प्रबल प्रमाण है।

किन्तु मध्यकाल मे यहा जितना अधिक जैन सर्जित हुआ, उतना अन्य किसी शताब्दी मे नही हुआ। उस विपुल साहित्य मे भी राजस्थानी भाषा मे जैन काव्यो की रचना अत्यधिक परिमाण मे हुई। वास्तव मे यह काल राजस्थानी जैन काव्य के निर्माण का स्वर्णकाल था। राजस्थानी के अधिकतर उत्कृष्ट जैन कवि इसी काल मे हुए तो काव्य सौष्ठव की दृष्टि से भी सर्वश्रेष्ठ राजस्थानी जैन काव्य इसी अवधि मे लिखे गये। इस काल के राजस्थानी के प्रसिद्ध जैन कवियो मे हेमरत्नसूरी, उपाध्याय जयसोम, सारग, उपाध्याय गुणविनय, महोपाध्याय समयसुन्दर पुण्यकीर्ति, भुवनकीर्ति, जिनोदयसूरि, जिनराजसूरि, केशराज, जटमल, महोपाध्याय लब्धोदय, सहजकीर्ति, श्रीसार, कनककीर्ति, उपाध्याय कुशलधीर, जिनसमुद्रसूरि, त्रीकममुनि, जयरग, लक्ष्मीवल्लभ, उपाध्याय लाभवर्द्धन, समयप्रमोद, कनकसुन्दर, महिमसुन्दर, लावण्यकीर्ति, जिनरंगसूरि, कांतिविजय, जयसोम तपागच्छी,य महिमोदय, धर्ममन्दिर, कनकनिधान, लोहट, खेतल, धनानन्द आदि प्रमुख है। इनकी राजस्थानी जैन काव्य रचनायें सैकडो की सख्या मे विविध जैन और जैनेतर ग्रन्थ भण्डारो मे सुरक्षित हैं। ये रचना प्रबन्ध और मुक्तक दो रूपो मे पाई जाती है—

प्रबन्ध काव्य

राजस्थानी के जैन प्रबन्ध काव्यो मे महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनो सम्मिलित है। इन काव्यो के नामकरण काव्य की नायक-नायिका अथवा कथा वस्तु मे जैन धर्म के मुख्य चर्चित सिद्धात के अनुसार या काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति के आधार पर हुआ है। ये जैन प्रबन्ध काव्य रस, चौपाई, बेलि, फागु, चर्चरी, चरित, सन्धि, धवल, बारहमासा, विवाहलो, प्रवाड़ा, प्रबन्ध आदि काव्य-रूपो मे सर्जित है।

किन्तु मध्यकाल मे 'रास' काव्य के स्वरूप और शैली मे व्यापक परिवर्तन हो गया। लोकगीतो की देशियों तथा दोहो का प्रयोग इस अवधि के रासो काव्य में अधिक हुआ। किसी-किसी रास मे चौपाई छन्द का प्रयोग भी किया गया, फलस्वरूप रासो को चतुष्पदी या चौपाई सज्ञा से भी अभिहित किया जाने लगा। कुछ ऐसी रचनाए भी उपलब्ध होती है, जिनमे चौपाई छन्द का प्रयोग नही किया गया है, फिर भी उनका नामकरण 'चौपाई' के नाम से किया गया है। ऐसी रचनाए आगे चल

कर चरित काव्यादि के लिये रूढ हो गई। परिणाम यह हुआ कि रास व चौपाई मे कुछ विशेष अन्तर नहीं रह गया और एक ही प्रकार की रचना को किसी ने रास तो किसी ने चौपाई के नाम से संबोधित किया।

इसी प्रकार 'सन्धि' शब्द अपभ्रंश काव्यों मे अध्याय अथवा सर्ग के लिये प्रयुक्त होता था किन्तु आलोच्यकाल मे जब अपभ्रंश मे सृजन कार्य अत्यन्त सीमित हो गया तो सन्धि शब्द राजस्थानी जैन काव्यो मे प्रबन्ध काव्य के लिये रूढ हो गया। इस काल मे फागु, विवाहलो, चर्चरी, प्रवाड आदि सज्ञक रचनाओ का निर्माण कम हुआ परन्तु रासो व चौपाई की तरह वेलि नामान्त रचनाएं काफी सख्या में लिखी गई। इस अवधि में पाये जाने वाले प्रबन्ध काव्यो का विषयानुसार वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है —

(क) धार्मिक व पौराणिक प्रबन्ध काव्य।

(ख) ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्य

(ग) उपदेशात्मक प्रबन्ध काव्य

(घ) कथात्मक प्रबन्ध काव्य

(ङ०) प्रेमव्य जनामूलक प्रबन्ध काव्य

धार्मिक व पौराणिक प्रबन्ध काव्य

इस वर्गीकरण के अन्तर्गत धार्मिक व पौराणिक आख्यानों से सम्बन्धित प्रबन्धकाव्य आते है। अधिकांश प्रबन्ध काव्य रामायण महाभारत एव अन्य कथानको से सम्बन्धित है। इनकी कथावस्तु जैन धर्म की मान्यता के अनुरूप गुम्फित है। उदाहरणार्थ कतिपय ऐसे प्रबन्ध काव्य इस प्रकार है।

नाम कृति	कर्ता	रचनाकाल
१. अञ्जना सुन्दरी रास[1]	उपाध्याय गुणविनय	वि० सं० १६६२
२. नल दमयन्ती प्रबन्ध[2]	,, ,,	वि० सं० १६६५
३. सीताराम चौपाई[3]	महोपाध्याय समयसुन्दर	वि० स० १६७७
४. रामयशो रसायणरास[4]	केशराज	वि० स० १६८३
५. हरिचन्द राम (चोपाई)[5]	महोपाध्याय सहजकीर्ति	वि० स० १६६७
६. द्रोपदी चौपाई[6]	विनय मेरू	वि० स० १६६८
७ रूकमणी चरित[7]	जिनसमुद्रसूरि	—

१. बडा उपाश्रम, बीकानेर हस्तलिखित प्रति. ग्रन्थाक १०३१
२ जैन गूर्जर कविओ, भाग–३ खण्ड १, पृ० ८३२
६ अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, ग्रन्थाक ४४०१
४. जैन गूर्जर कविओ; भाग–३ खण्ड-१ पृ० १०१५
५. अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, ग्रन्थाक ३७००
६, परम्परा (त्रैमासिक) भाग १५–१६, पृ० ८१
७. राजस्थानी (त्रैमासिक) भाग २, पृ० ४७

८. मोह विवेक रास[८]	धर्म मन्दिर	वि० स० १७४१
६. परमात्म प्रकाश चौपाई[९]	" "	वि० सं० १७४२

एतिहासिक प्रबन्ध काव्य

ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्य जैन धर्म के प्रभावक आचार्यों व जैन सघ के प्रमुख श्रावकों से सम्बन्धित है। इनमे से ऐसे प्रभावक आचार्यों व श्रावको के प्रमुख कार्यों का अकन किया गया है, ताकि भावी पीढ़ी उनसे प्रेरणा ग्रहण कर सके, ऐसे कुछ प्रबन्ध काव्य निम्न है—

१. कर्मचन्द वंशावलीरास[१०]	उपाध्यायगुण विनय	वि० स० १६५६
२. जिनचन्द्रसूरि निर्वाण रास[११]	समय प्रमोद	वि० स० १६७०
३. संघपति सोमजो निर्वाणवेलि[१२]	समय सुन्दर	वि० स० १६७० के बाद
४. विजयसेन सूरि निर्वाण स्वा[१३]	गुणविजय	वि० स० १६८३
५. सुजस वेलि[१४]	कातिविजय	वि० स० १७४४ के लगभग

उपदेशात्मक प्रबन्ध काव्य

जैन धर्म की मान्यताओ व सिद्धान्तो को उपदेशात्मक तरीके से इन प्रबन्ध काव्यो मे प्रस्तुत किया गया है। कतिपय ऐसे प्रबन्ध काव्य निम्नलिखित है—

१. बारह व्रत रास[१५]	उप० गुणविनय	वि० स० १६५५
२. चार कषाय वेलि[१६]	विद्याकीर्ति	वि० स० १६७० के लगभग
३. बृहद्गर्भ वेलि[१७]	रत्नाकरगणि	वि० स० १६८०
४. पचगति वेलि[१८]	हर्षकीर्त्ति	वि० स० १६८०
५ बारह भावना वेलि[१९]	जयसोम	वि० स० १७०३

---

८. हस्तलिखित ग्रन्थो की सूची (जोधपुर), भाग १, पृ० २१६
९. जैन गूर्जर कविग्रो, भाग–२, पृ० २४०
१०. वही, भाग–३, खण्ड १, पृ० ८३० ११ वही, पृ० ८६८
१२. समयसुन्दर कृति कुसुमाजली, पृ० ४१५– १७
१३. जैन गूर्जर कविग्रो, भाग–१, पृ० ५२१ १४. वही, भाग-६, खण्ड–२, पृ० १२०६
१५. जैन गूर्जर कविग्रो, भाग ६, खण्ड १, पृ० ८२६
१६. ग्रभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर ग्रन्थाक ८६२६
१७. ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वड़ोदा, ग्रन्थाक १६१६०
१८. दिगम्बर जैन मन्दिर ठोलिया, जयपुर,
१९. ग्रभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, ग्रन्थाक ८५८६

६. धर्मबुद्धि पापबुद्धि चौपाई[२०]	लाभवर्द्धन	वि० सं० १७४२

कथात्मक प्रबन्ध काव्य

कथात्मक प्रबन्ध काव्य जैन धर्म के तीर्थंकरो की जीवन कथाओ से सम्बन्धित है। प्रसंगानुसार तीर्थंकरो के जीवन व पूर्वभव की अन्य कथाओ का उल्लेख भी इनमे किया गया है। उदाहरण स्वरूप कुछ कथानक प्रबन्ध काव्य निम्न है—

१ वर्द्धमान जिन वेलि[२१]	सकलचन्द	वि० स० १६४३–६०
२ पार्श्वनाथ गुण वेलि[२२]	जिनराजसूरि	वि० सं० १६८६
३. पार्श्वनाथ रास[२३]	जिनसमुद्रसूरि	वि० स० १७१३
४. गुणसागर पृथ्वीबेलि[२४]	गुणसागर	वि० स० १७२४
४. आदिनाथ वेलि[५]	भट्टारक धर्मचन्द	वि० सं० १७३०

प्रेमव्यंजनामूलक प्रबन्धकाव्य

इस श्रेणि के प्रबन्ध काव्यो के कथानक प्रेमव्यंजनामूलक है। नायक-नायिका की प्रेमाभिव्यक्ति और एक-दूसरे को प्राप्त करने के प्रयास मे आने वाले संघर्षों का मुख्य रूप से इनमे चित्रण किया गया है। अन्त मे नायक नायिका के आत्मोद्धार का उल्लेख भी हुआ है। कथानक अधिकाशत जैन धर्म की लौकिक व पौराणिक कथाओ से सम्बन्धित है। अन्य प्रेम कथानको मे युक्त काव्य भी मिलते हैं। उदाहरण इस प्रकार है।

१ मृगावती रास[२६]	समय सुन्दर	वि० स० १६६८
२ सिहलसुत चौपाई[२७]	,,	वि० स० १६७२
३ पुण्यसार चौपाई[२८]	,,	वि० सं० १६७३

---

२० राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, ग्रन्थाक ४०५६

२१ लालभाई दलपत भाई भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद के कस्तूरभाई मणिभाई के सग्रह मे सुरक्षित, ग्रन्थाक ११३१

२२ जैन गुर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड १, पृ० १०४६

२३ परम्परा (चैमासिक), भाग १५, १६ पृ० ८५

२४ डा० नरेन्द्र भानावत, राजस्थानी वेलि साहित्य, पृ० ३४०

२५ वही, पृ० २३४–३५

२६ डा० रामगोपाल गोयल-राजस्थानी प्रेमाख्यान परम्परा और प्रगति, पृ० ४८

२७ भवरलाल नाहटा-समयसुन्दर रास पचक, पृ० १-२४

२८ वही, पृ० १२०–१४८

४. लीलावती चौपाई[२६]	हेमरत्न	वि० स० १६७३
५. पद्मिनी चरित चौपाई[३०]	लब्धोदय	वि० स० १६८०
६. गोराबादल चौपाई[३१]	जटमल	वि० स० १६८०
७. प्रेमविलास प्रेमलता चौपाई[३२]	जटमल	वि० स० १६६३
८. लीलावती चौपाई[३३]	लाभवर्द्धन	वि० स० १७४२

मुक्तक काव्य

राजस्थानी जैन प्रबन्ध काव्यों की तरह राजस्थानी जैन मुक्तक काव्य भी मध्यकाल में संख्या, रूप एवं विषय-वैविध्य की दृष्टि से अपरिमित प्राप्त होते है। प्राय समस्त मुक्तक काव्यों का मूलस्वर धर्म व नैतिक जीवन के उत्थान के साथ-साथ आत्म कल्याण की अटूट भावना है। फलस्वरूप यह काव्य शान्त रसात्मक भक्ति का अग बन गया है। औपदेशिक प्रवृत्ति भी इनमे उपलब्ध होती है। किन्तु उसका स्वर भी भक्ति प्रधान ही है। इस कारण इन मुक्तक काव्यों को कण्ठस्थ करने की सामान्य प्रवृत्ति जैन समाज मे रही है। मन्दिरो मे पूजा, उत्सव एव अन्य मागलिक अवसरों पर तन्मयता के साथ तथा भाव विभोर होकर विभिन्न देशियों मे गाना इनकी मुख्य विशेषता है। इनमे रचनाकाल का उल्लेख अत्यल्प पाया जाता है। अत. इन रचनाओ का निर्माण कारण कवि-समय ही मानना उपयुक्त रहता है।

रचनात्मक वर्गीकरण

मध्यकाल मे रचित राजस्थानी जैन मुक्तक काव्य बारह प्रकार के विभिन्न काव्य-रूपों मे उपलब्ध होता है, यथा—

(१) सख्यामूलक मुक्तक काव्य

ये वे मुक्तक काव्य है, जिसके नाम पद्यो की सख्या सूचक होते है। अर्थात् जिनका नामकरण उस रचना की कुल पद्य सख्या की ओर सकेत करता हुआ होता है, जैसे—

पचक, अष्टक, नवरसा, वीसी, इक्कीसी, चौबीसी, पच्चीसा, इकतीसी, बत्तीसी, छत्तीसी, चालीसी, पच्चासा, बावनी, सत्तरी, पिचहत्तरी, छिहत्तरी, शतक (सईक), सतसई, हजारा, मातृका, कक्का आदि।

छन्दमूलक मुक्तक काव्य

विशिष्ट छन्दो मे लिखे गये मुक्तक काव्य छन्दमूलक मुक्तक काव्य की श्रेणी मे आते है। ऐसे काव्य, छन्द के नाम से ही अभिहित किये जाते है। उदाहरणार्थ-निसाणी, गजल, छन्द, छप्पय, कुण्डलिया, लावणी, दोहा, गीत, ढाल, ढालिया

---

२६ राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर ग्रन्थाक ३५००

३०. भवरलाल नाहटा-पद्मिनी चरित चौपाई, पृ० १-१०८

३१. वही, पृ० १८२–२०८

३२. जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड १, पृ० ४०१३

३३. अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, ग्रन्थाक ४०१३

आदि । इसमे ढाल व ढालिया जैन कवियो का प्रिय विशिष्ट छन्द है ।

(३) वन्दनामूलक मुक्तक काव्य

जिन राजस्थानी जैन मुक्तक काव्यो के द्वारा परमात्मा, तीर्थंकर अर्हत्, साधु, मूर्ति, देवी-देवता आदि की स्तुति या वन्दना की जाती है, वे रूप इस में सम्मिलित किये जा सकते है-यथा-स्तुति, स्तव, स्तवन स्तोत्र, थुई, पूजा, वन्दना, नमस्कार, पारणा, गहूली, कलश, प्रभाती, माझी, अभिषेक, धुपद आदि ।

(४) बुद्धिपरीक्षा मूलक मुक्तक काव्य

इस प्रकार के राजस्थानी जैन मुक्तक काव्यो को विभिन्न प्रकार से बुद्धि की परीक्षा, विकास या मनोरजन करने के उद्देश्य से लिखा जाता है, जैसे-हीयाली (पहेलिका), गूढा, समस्या, सिलोका आदि)

(५ उपदेशमूलक मुक्तक काव्य

इस प्रकार का मुक्तक काव्य समाज मे लोगो को उपदेश देकर सही आचरण करने की प्रेरणा देने के उद्देश्य मे लिखा जाता है, उदाहरणार्थ उपदेशी, सीख, बोल, थोकडा सज्ञक रचनाए इसी श्रेणी मे आती है ।

(६) संवादमूलक मुक्तक काव्य

ऐसी रचनाओ मे दो वस्तुओ के मध्य चाहे विवाद हो अथवा न हो, इसको गौण मानते हुए एक वस्तु का दूसरी वस्तु से गुण, अवगुण, महत्त्व और हीनता का सवादात्मक काव्य रूप में वर्णन होता है । सवाद, वाद, झगडो आदि सज्ञक रचनाए इसी श्रेणी मे आती है ।

(७) मंगलमूलक मुक्तक काव्य

मांगलिक अवसरो पर गाई जाने वाली रचनाए इसी काव्य रूप के अन्तर्गत आती है । बधावा या बधावणा के रूप मे ये उपलब्ध होती है ।

(८) तीर्थयात्रा मूलक मुक्तक काव्य

धार्मिक तीर्थों, उनकी यात्राओं, संघ-वर्णनो आदि से सम्बन्धित काव्य इस रूप के अन्तर्गत सम्मिलित किया जा सकता है, यथा-तीर्थमाला, चैत्य परिपाटी, चैत्य परिवाडी, सघ वर्णन ।

(९) मालामूलक मुक्तक काव्य

जिन राजस्थानी जैन मुक्तक रचनाओ के के शीर्षक के साथ 'माला' शब्द जुडा हो, उन्हे इस काव्य रूप के अन्तर्गत रखा जा सकता है । नाम माला, रागमाला, रूपकमाला, माला, मालिका, तीर्थमाला, मुनिमालिका आदि सज्ञक रचनाए इसी प्रकार की है ।

(१०) संगीतमूलक मुक्तक काव्य

जिन राजस्थानी जैन मुक्तक काव्यों को तालियो की ताल देते हुए तथा सगीत की लय के साथ पांवो का ठेका देते हुए, रास की तरह गोलाकार घूमते हुए गाया जाता है, उन्हें इस श्रेणी मे सम्मिलित किया जाता है । हीच व हमचडी ऐसी रचनाए है ।

(११) स्वाध्याय मूलक मुक्तक काव्य

इस प्रकार का मुक्तक काव्य स्वाध्याय, मनन व अनुशीलन से सम्बन्धित है, यथा-स्वाध्याय, सज्झाय, कुलक आदि रचनाएं ।

(१२) अन्य मुक्तक काव्य

अन्य किसी श्रेणी मे नही आने वाले काव्यों-रूपो को इस वर्गीकरण के अन्तर्गत रखा गया है जैसे—प्रवहण, वाहण, गीत आदि ।

विषयनुसार वर्गीकरण

मध्यकाल मे पाये जाने वाले उपर्युक्त समस्त राजस्थानी जैन मुक्तक काव्य-रूपो का वर्ण्य-विषय विविध प्रकार के है। अतः विषय विविधता की दृष्टि से जैन मुक्तक काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१ धार्मिक व सैद्धान्तिक मुक्तक काव्य
२. उपदेशात्मक मुक्तक काव्य
३ ऋतु व तिथि सम्बन्धी मुक्तक काव्य
४. स्तुति प्रधान मुक्तक काव्य
५ तीर्थ व यात्रा प्रधान मुक्तक काव्य
६ ऐतिहासिक मुक्तक काव्य
७ बुद्धि परीक्षा प्रधान मुक्तक काव्य
८. वर्णनात्मक मुक्तक काव्य
९. प्रकीर्णक मुक्तक काव्य

धार्मिक व सैद्धान्तिक मुक्तक काव्य

जिन मुक्तक काव्यों मे धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति और सैद्धान्तिक विश्लेषण को प्राथमिकता दी गई है, उन राजस्थानी जैन मुक्तक काव्यो को इस वर्गीकरण के अन्तर्गत रखा गया है। ऐसे कुछ काव्य निम्न है—

१. बारह भावना गीतम्[३४] — समयसुन्दर
२ श्रावक बारह व्रत कुलकम्[३५] — समयसुन्दर
३. सिद्धान्त श्रद्धा सज्झाय[३६] — समयसुन्दर
४ चौदह गुणस्थाणक[३७] स्तवण — धर्मवर्द्धण
५. अट्ठावीस लब्धि स्तवन[३८] — धर्मवर्द्धण
६. पंच इन्द्रिय री सज्झाय[३९] — जिनहर्ष
७. सामायक बत्तीस दोष सज्झाय[४०] — जिनहर्ष
८ नववाड सज्झाय[४१] — जिनहर्ष

२-स्तुति प्रधान मुक्तक काव्य

इस वर्गीकरण के अन्तर्गत उन मुक्तक काव्यों को लिया गया है जिनमे तीर्थंकर, विरहमान, ऐरावत क्षेत्र, तीर्थ, पौराणिक चरित्र, गुरू, एवं साधु आदि की वन्दना, स्तुति के माध्यम से चौबीसी, बीसी व स्तवन के द्वारा की गई है। उदाहरणार्थ कुछ स्तुति प्रधान काव्य इस प्रकार है—

---

३४. नाहटा-समयसुन्दर कृति कुसुमाजली, पृ० ४५६
३५. वही, पृ० ४६४
३६. वही, पृ० ४७७
३७ नाहटा–धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली, पृ० २७८
३८. वही, पृ० २८६
३९. नाहटा-जिनहर्ष, ग्रन्थावली, पृ० ४६६
४०. वही, पृ० ३८१
४१, वही, पृ० ४९८

१. चौबीसी[४२] समयसुन्दर
२ नाकोडा पार्श्वनाथ स्तवन[४३] समयसुन्दर
३. संखेश्वर पार्श्वनाथ स्तवन[४४] समयसुन्दर
४. बीस विरहमान जिणगीत[४५] जिनराज सूरि
५. वासुपूज्य स्तवन[४६] श्री सार

३–उपदेशात्मक मक्तक काव्य

इस विभाजन मे वे मुक्तक सम्मिलित किये गये है, जिनमे उपदेशात्मक प्रवृत्ति प्रमुख रूप से प्रकट हुई है और उस प्रवृत्ति के माध्यम मे मानव को आत्म कल्याण की ओर प्रवृत्ति किया गया है। लोभ, मोह, कर्म, स्वार्थ, व्यसन, पाप, निन्दा, झूठ, अहकार, नश्वरता, चोरी, वासना, मन, पुण्य, क्षमा, आत्मा, जीव, शील आदि विषयो को उपदेशात्मक मुक्तक काव्य मे स्थान दिया गया है। कतिपय उपदेशात्मक मुक्तक काव्य निम्न हे—

१. लोभ निवाकरण गीतम्[४७] समयसुन्दर
२ जीव व्यापारी गीतम्[४८] समयसुन्दर
३ सप्त व्यसन त्याग सज्झाय[४९] धर्मवर्द्धण
४ तम्बाकु त्याग सज्झाय[५०] धर्मवर्द्धण
५ कर्मबत्तीसी[५१] जिनराजसूरि
६ शील बत्तीसी[५२] जिनराजसूरि
७. स्वार्थ बत्तीसी[५३] श्रीसार
८. उपदश सत्तरी[५४] श्रीसार
९. मोह छत्तीसी[५५] पुण्यकीर्ति

४–तीर्थ व यात्रा प्रधान मुक्तक काव्य

उस श्रेणी मे उन मुक्तक काव्यो को लिया गया है, जिनमे जैन तीर्थो एव उनकी यात्राओ का वर्णन किया गया है। ऐसे कुछ मुक्तक काव्य इस प्रकार है—

---

४२ नाहटा–समयसुन्दर कृति कुसुमाजली, पृ० १–१५
४३. वही, पृ० १६६–६५
४४. वही, पृ० १६२–३५
४५ वही। जैन गूर्जर कविओ, भाग १, पृ० ५१८
४६. प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, बीकानेर ग्रन्थाक ३८३७
४७. नाहटा–समयसुन्दर कृति कुसुमाजली, पृ० ४३१
४८. वही, पृ० ४३८
४९. नाहटा–धर्मवर्द्धण ग्रन्थावली, पृ० ७६
५०. वही, पृ० ७८
५१. नाहटा–जिणराजसूरि कृति कुसुमाजली, पृ० ११२–१३
५२. वही, पृ० ११६-१६
५३ अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, ग्रन्थाक १८६६
५४. राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, बीकानेर, ग्रन्थाक ६४५६ (१५४)
५५. राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, ग्रन्थाक २११६०

१. बीकानेर चैत्य परिपाटी[५६] धर्मवर्द्धन
२. जैसलमेर चैत्य प्रवाडी[५७] सहजकीर्ति
३. तीर्थयात्रा निरूपक गीतम्[५८] जिनराज सूरि
४. गिरनार तीर्थयात्रा स्तवन[५९] जिनरजासूरि
५. तीरथभास[६०] समयसुन्दर
६ अष्टापद तीरथभास[६१] समयसुन्दर

५-ऋतु व तिथि सम्बन्धी मुक्तक काव्य

ऋतु व तिथि विषयक मुक्तक काव्यो मे विभिन्न ऋतुओ, तिथियो एव पर्वो का वर्णन किया गया है। ऐसे कुछ मुक्तक काव्य निम्नलिखित है—

१. ज्ञानपचमी बृहत्स्तवन[६२] समयसुन्दर
२ मोन एकादशी स्तवन[६३] समयसुन्दर
३. सीत उष्ण वर्षा वर्णन[६४] धर्मवर्द्धन
४. पनरह तिथि रा सवैया[६५] जिनहर्ष
५. बरसात रा दूहा[६६] जिनहर्ष

६-ऐतिहासिक मुक्तक काव्य

इस प्रकार के मुक्तक काव्य इतिहास पुरुषों, ऐतिहासिक स्थानो एव घटनाओं से सम्बन्धित है। जैन और जैनेतर इतिहास विषयक दोनों प्रकार के ऐसे मुक्तक काव्य उपलब्ध होते है, यथा—

१ अनूपसिंघ रा सवैया[६७] धर्मवर्द्धन
२. गीत राउल अमरसिंघ रो[६८] धर्मवर्द्धण
३. कवित्त जसवन्तसिंघ रो[६९] धर्मवर्द्धण
४. कवित्त दुरगादास रो[७०] धर्मवर्द्धण
५ गुर्वावली गीतम्[७१] समयसुन्दर

७-बुद्धि परीक्षा प्रधान मुक्तक काव्य

जैसा कि नाम से स्पष्ट है इस प्रकार के मुक्तक काव्यो का विषय मानव बुद्धि की परीक्षा करना है। हियाली, गूढा, प्रहेलिकाएं, समस्या आदि इसी श्रेणी के मुक्तक काव्य है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

---

५६ नाहटा-धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली, पृ० २१८
५७. जैन गूर्जर कविओ, भाग-३, खण्ड १, पृ० १०२२
५८. नाहटा-जिनराज सूरि कृति कुसुमाजली, पृ० ६०
५९ वही, पृ० ४२
६०. नाहटा-समयसुन्दर कृति कुसुमाजली, पृ० ६०
६१ वही, पृ० ६१-६३
६३. नाहटा-समयसुन्दर कृति कुसुमाजली, पृ० २३६
६४. नाहटा-धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली, पृ० १०१
६५. नाहटा-जिनहर्ष ग्रन्थावली, पृ० ४०३
६६. वही, पृ० ४२२
६७. नाहटा-धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली, पृ० २४२
६८, वही, पृ० १४५
६९ वही, पृ० १४६
७०, वही, पृ० १४७
७१. नाहटा-समयसुन्दर कृति कुसुमांजली, पृ० ३४८

१. हियाली गीतम्[७२] समयसुन्दर
१. नेमिनाथ गूढ़ा गीतम्[७३] समयसुन्दर
३. हियाली (थापणा, मन, जीभ मु इयति आदि)[७४] धर्मवर्द्धण
४ समस्या[७५] धर्मवर्द्धण
५. प्रहेलिकाए[७६] जिनहर्ष

८–वर्णनात्मक मुक्तक काव्य

इस वर्गीकरण के अन्तर्गत उन मुक्तक काव्यो को सम्मिलित किया गया गया है, जिनमे किसी नगर, स्थान, वस्तु घटना आदि का यथा तथ्य उल्लेख वर्णनात्मक शैली मे किया गया है। कतिपय ऐसे काव्य निम्न है—

१. सत्यासिया दुष्काल वर्णन–समयसुन्दर छत्तीसी[७७]
२ दुष्काल वर्णन[७८] धर्मवर्द्धण
३ स्त्री-कुस्त्री वर्णन[७९] धर्मवर्द्धण
४. दीपक वर्णन[८०] धर्मवर्द्धण
५. लाहोर गजल[८१] जटमल
६ चित्तौड़ गजल[८२] खेतल

९–प्रकीर्णक मुक्तक काव्य

वे मुक्तक काव्य जिन्हे उपर्युक्त किसी वर्गीकरण मे सम्मिलित नही किये जा सके हैं, उन्हें इस वर्गीकरण के अन्तर्गत रखे गये है। यथा—

१. सप्ताक्षरी कवित्त[८३] धर्मर्द्धन
२, नारी कुजर सवैया[८४] धर्मर्द्धन
३. राग करण समय कवित[८५] जिनहर्ष
४. प्रेमपत्री रा दूहा[८६] जिनहर्ष

---

७२ नाहटा–समयसुन्दर कृति कुसुमाजली, पृ० ४६१–६२
७३. वही, पृ० १२८
७४. नाहटा–धर्मवर्द्धण ग्रन्थावली, पृ० १११–१३
७५ वही, पृ० १२१–३४
७६ नाहटा–जिनहर्ष ग्रन्थावली, पृ० ४१६
७७. नाहटा–समयसुन्दर कृत कुसुमाजली, पृ० ५०१–१४
७८ नाहटा–धर्मर्द्धन ग्रन्थावली, पृ० १०२
७९. वही, पृ० १०३
८०. वही, पृ० ९८
८१. राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, बीकानेर, पृ० ६५६८ (८)
८२. जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड २, पृ० १३६८
८३. नाहट–धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली, पृ० ३०७
८४. वही, पृ० ३१०
८५. नाहटा–जिनहर्ष ग्रन्थावली, पृ० ४०७
८६. वही, पृ० ३०८

५. सुन्दरी स्त्री [८७] जिनहर्ष
६ यौवन [८८] जिनहर्ष

मध्यकाल के राजस्थानी जैन काव्य के उपर्युक्त वर्गीकरण से स्पष्ट है कि इस अवधि मे राजस्थानी जैन काव्य कितना समृद्ध एव विशाल परिणाम मे उपलब्ध है। इस समस्त काव्य की भाषा सरल सुबोध राजस्थानी है जिस पर तत्कालीन लोक भाषा का प्रभाव भी स्पष्टतः परिलक्षित है। जहा कहीं पर भी भाषा मे क्लिष्टता आई है वह मात्र प्रसग की अनिवार्यता के कारण ही है। कला पक्ष एवं भाव पक्ष की समृद्धि इनकी अन्य विशेषता है और उस दृष्टि से इस कारण के काव्य का स्वतत्र अनुसंधानात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

●●●

८७ वही, पृ० ४२५
८८. वही, पृ० ४२५-२६

(शेष पृष्ठ १९४ का)

नहीं है और लीलाओ के वर्णन का दार्शनिक उद्देश्य व्यक्ति चेतना को रागात्मक धरातल पर समष्टि चेतनाओं की प्रतीति कराता है। इस व्यापकता की अनुमति मे मनुष्य अह की व्यक्तिगत क्षुद्रताओ को तिरोहित कर देता है।

भक्त कवियित्री चम्पादेवी-एक अध्ययन

☐ श्रीमती सुशीलादेवी बाकलीवाल एम. ए.

चम्पादेवी एक प्रसिद्ध कवियित्री थी। स्त्री समाज की वह उन इनी गिनी महिलाओं में से हैं जिन्होंने साहित्य निर्माण में रूचि ली एवं जीवन के अन्तिम वर्षों में अपने आपको भक्ति रस में डुबो दिया। भक्ति में भाव विह्वल होकर अन्तरात्मा से जो भाव निकले, वे स्वमेयव पदों के रूप में परिवर्तित हो गये। "चम्पा शतक" यद्यपि इसकी एक मात्र कृति है लेकिन वह अकेली ही चिरकाल तक कवियित्री के यशोगान के लिये पर्याप्त है। "चम्पाशतक" हिन्दी पद साहित्य की उत्कृष्ट कृति है जिसमें भक्तिरस से ओत-प्रोत १०१ पदों का संग्रह है। १९ वी शताब्दी में ये प्रथम महिलाकवि थी जिन्होंने अपने जीवन के सध्याकाल में साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण किया और थोड़े समय ही में अपनी प्रतिभा से हिन्दी भक्ति साहित्य को अलकृत किया। भक्त कवियित्रियो मे मीराबाई एव जडावबाई के पश्चात चम्पादेवी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिन्होंने भक्ति के भावों से ओत-प्रोत होकर हिन्दी साहित्य की रचना की एवं अपने को अर्हद् भक्ति मे समर्पित कर दिया।

चम्पादेवी देहली निवासी श्री सुन्दरलाल जैन टोग्या की धर्म पत्नी थी। आपके पिता अलीगढ निवासी श्री मोहनलाल पाटनी थे। आपके दो बड़े भाई थे। सन् १९१३ के करीब आपका जन्म हुआ। आपके जीवन पर आपके बड़े भाई श्री प्यारेलाल का विशेष प्रभाव पड़ा। परिणाम स्वरूप आपकी रूचि स्वाध्याय की ओर बढने लगी। छोटी अवस्था मे ही आपका विवाह हो गया। आपके पिता श्री सुन्दरलाल जवाहरात के कुशल व्यापारी थे। पिता एव पति दोनों ही घरो मे आपका पूर्ण समादर था किन्तु ३० वर्ष की अवस्था मे ही आपके पति मृत्यु के कराल गाल में प्रवेश कर गये। आपके सन्तान भी नहीं थी। एक ओर पति का वियोग तथा दूसरी और सन्तान का अभाव दोनों ही दुःख आपको झेलने पडे। संसार के नश्वर क्षणों से विरक्त होकर आपने अपना अधिकतर समय स्वाध्याय में लगाया। ६६ वर्ष की उम्र मे आप भयंकर रूप से बीमार हुई, औषधि लेने पर भी रोग दूर न हुआ। अन्त मे भौतिक ससार से विरक्त होकर आपने अर्हद्-भक्ति को ही एक मात्र सहारा माना और उसमें तल्लीन होने पर निम्न पद आपके मुख से स्वत. निकल पड़ा:—

पडी मझधार मेरी नैया, उबारोगे तो क्या होगा,
तरण-तारण जगतपति हो, जु तारोगे तो क्या होगा।
यहा कोई है नही मेरा, मेरे रक्षपाल तुम्ही हो,
बही जाती मेरी किश्ती, निहारोगे तो क्या होगा।।

भाव विह्वल हो कवियित्री अपनी सुधबुध एव अपना अस्तित्व खो बैठी। धीरे धीरे भक्ति की धारा नदी के रूप मे परिवर्तित हो गई और एक के बाद दूसरे पद का निर्माण होता चला गया।

तेरे दर्शन से हे स्वामी, लखा है रूप मैं मेरा,
तजूं कब राग धन तन, वे सब मेरे विजाती है।

अर्हंद् भक्ति की कृपा से उनका रोग शांत हो गया। ७० वर्ष की अवस्था मे उनका देहान्त हो गया।

चम्पाशतक मे यद्यपि अधिकाश पद भक्ति परक है किन्तु कुछ पद आध्यात्मिक, सामाजिक एव उपदेश परक भी मिलते है। अनेक राग एव रागनियो मे निर्मित इन पदो मे कवयित्री ने जो भाव भरे है उससे उनकी विद्वत्ता, सिद्धान्तभिज्ञता एव अध्यात्मिकता के दर्शन होते है। आपके पदो को हम भक्तिपरक, शिक्षा परक और अध्यात्म परक इन तीन भागो मे विभाजित कर सकते है।

आपके भक्तिपरक पदो मे कवयित्री के भक्त हृदय की स्पष्ट झलक निहित है। उनकी अन्तर्वेदना पद के प्रत्येक वाक्य से ध्वनित होती है। इन पदो का परायण करने से ऐसा प्रतीत होता है मानो उनमे हृदयगत भावो को गूंथ कर सामने रख दिया हो। आपकी कविताओ से परमात्मा की शांत मुद्रा के दर्शन होते है जिससे विपत्तिया स्वत दूर होने लगती है। सभी पद वासना से मन को हटाकर अपने आत्म स्वरूप मे लग जाने की प्रेरणा देते है। मानव विराट शक्तिशाली होता हुआ भी दीन, गरीब एव अल्पबुद्धि वाला है इसलिये दु खो से घबराकर उनसे वह छुटकारा पाना चाहता है। कवयित्री की धारणा है कि कर्म मोह का प्याला मिला कर उसे पूर्णत अज्ञानी बना देते हैं किन्तु अर्हंद् भक्ति ही एक ऐसा अमोघ मन्त्र है जिससे आत्मा का कल्याण सम्भव है और इसी भावावेश मे गा उठती है.—

"करम म्हारो काई करसी,
जो म्हारे परमेष्ठी आधार।"

आपको परत्मामा के समान ही गुरू में भी अटल विश्वास था। सच्चे गुरू वीतरागी होते है भक्ति ही मोक्षमार्ग मे सहायक होती है। गुरू ही उसे उचित मार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं। अतः गुरू कैसे हो ? यह उन्होने इस प्रकार बताया है—

जिन्हो का ध्येय आतम है, लगी है लौ जहां जिसकी,
नही कुछ खबर बाहर की
सुरति खगी जिनमे लगी जिनकी
इसी चित्त ध्यान केवल ते, चिदानन्द ज्योति जागी है,
मिलेगे कब गुरू हमको, को सांचे वीतरागी है।।

अध्यात्म परक पदो मे भी कवयित्री ने अध्यात्म की जो गंगा बहायी है वह अपने आप मे पूर्ण है। वह आत्मा को सम्बोधित करके जगत के सभी विकल्पो को त्याग कर अपने आत्म सुख को वरण करने के लिये कहता है। आत्मा परमात्मा एक है। परमात्मा सिद्धावस्था को प्राप्त हो गये है किन्तु आत्मा अभी शरीर बन्धन से मुक्त नही हुई, बस यहा दोनो मे भेद है। आपको आत्मध्यान की तीव्र अभिलाषा है। इसीलिये आप कहती है —

"मैं कब निज आतम को ध्याऊं,
पर परिणति तजि, निज परिणति गही,
ऐसी निज निधि कब पाऊं,
इतने से ही उनको सन्तोष नही होता।
"समकित बिन गोता खाओगे,
दर्शन बिन गोता खाओगे।"

कवयित्री ने अपने कर्म के पल भी गहरी आस्था प्रकट की है। जैसा कर्म वैसा ही फल—
"कारण कौन प्रभु मोहि समझावो,
एक मात ने दो सुत जाये, रग रूप में भेद लखायो"
एक पाठशाला पढे दोऊ मिलि,

एक भया योगी, एक व्यसन लुभायो।

शिक्षात्मक पदो में कवियित्री ने मानव को ऐसे ज्ञान का मन्त्र बताया जिसमे उसका कल्याण हो सके.—

(१) बार-बार इम भ्रमण कियो,
बहुत कठिन-कठिन यहा आयो रे,
फिर यह दाव मिले नही भोदू,
यह सतगुरु फरमायो रे।

(२) चेतन कुमति घर मति जाय.
तोकू सुमति रही समझाय।
हिंसा झूठ चोर धन लाया,
पर नारी पर मन भायो।
अरे यह महा दुख दाय,
चेतन कुमति घर मति जाय।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आपकी कविता संग्रह अपने आपमे स्वतः पूर्ण है। पदो में तत्कालीन समाज में फैली हुई बुराइयो की ओर भी व्यग किया है। शतक की भाषा शुद्ध हिन्दी है किन्तु कहीं-कही ब्रजभाषा का पुट भी दिखाई देता है। उनका यह प्रयास हिन्दी भाषा के प्रति अगाध निष्ठा का घोतक है। प्रस्तुत शतक की भाषा अत्यधिक प्राजल एवं मधुर है। अत: चम्पाशतक सभी दृष्टियों से भक्ति साहित्य की एक उत्तम कृति है जिसके सतत् अध्ययन एव मनन से मानव मात्र को शाति मिल सकती है।

चम्पाशतक—सम्पादक डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
प्रकाशक--साहित्य शोध विभाग, महावीर भवन, जयपुर

१८

अपभ्रंश के जैन प्रेमाख्यान काव्य

डा० त्रिलोचन पाण्डेय, जबलपुर

विगत शताब्दी के अन्तिम चरण मे हिन्दी साहित्य के इतिहासकारो ने कुछ प्रेमाख्यानो की ओर संकेत किया था किन्तु इनकी ओर वास्तविक ध्यान 'पदमावत्' के उस संस्करण से आकर्षित हुआ जिसमे डा० ग्रियर्सन तथा प० सुधाकर द्विवेदी ने प्रस्तुत किया था। तब से आज तक पिछले ७०-८० वर्षों मे इस काव्य धारा पर अनेक विद्वानो ने विचार किया है और सन्त-काव्य, राम-काव्य, कृष्ण-काव्य आदि की भाति इसकी भी प्रतिष्ठा हो चुकी है। इनका अध्ययन करते समय आज मुख्य रूप से दो प्रश्न उठते है—क्या इनका मूल स्रोत भारतीय माना जाय जैसा कि प० परशुराम चतुर्वेदी, प० रामपूजन तिवारी आदि विद्वानों ने लक्षित किया है? अथवा इन्हे फारसी काव्य-परम्परा मे स्थान दिया जाए जैसा पहले प० रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता थी। हम एक तीसरा प्रश्न रख सकते है—इनमे जन साधारण मे प्रचलित लोक कथाओं का आधार किस उद्देश्य के लिए किस सीमा तक ग्रहण किया गया है।

उपर्युक्त तीनो प्रश्नों का समाधान खोजने के लिए हमे उन जैन आख्यानो का विश्लेषण करना होगा जिनकी परम्परा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई हिन्दी में चली आई है। हिन्दी मे इस समय दो प्रकार के प्रेमाख्यान स्वीकृत हैं—सूफी प्रेमाख्यान और असूफी (हिन्दू) प्रेमाख्यान। इनके अतिरिक्त प्रेमाख्यानों की एक तीसरी काव्य धारा है जैन प्रेमाख्यानो की जिसके बिना प्रेमाख्यानो का वास्तविक रूप ज्ञात नही हो सकेगा। एक प्रकार से यदि देखा जाए तो असूफी प्रेमाख्यानो मे आधे से अधिक जैन प्रेमाख्यान ही दिखाई देगे। ढोला मारू, मृगा-हसावली, उषाअनिरूद्ध, स्थूलिभद्र, नेमिनाथ, विद्या विलास आदि के वृत्तो को अनेक जैन कवियो ने ग्रहण किया है जो विशुद्ध भारतीय परिवेश को लेकर चले है। प्राकृत और अपभ्रंश मे इनका प्राचीन स्वरूप देखना आवश्यक है। अपभ्रंश के प्रेमाख्यान विशेष रूप से महत्त्व रखते है।

अपभ्रंश के आख्यानो मे 'णायकुमार चरिउ', 'भविस्सयत्त कहा', 'करकड चरिउ', प्रकाशित हो चुके हैं जिनमे प्रेम, अपहरण, यात्रा विवाह, युद्ध, उदारता आदि के वर्णन यथा स्थान मिलते है। इनके अतिरिक्त कुछ आख्यानो का सकेत खोज रिपोर्ट से मिलता है। इस प्रकार अपभ्रंश के लगभग २५ ग्रन्थ उल्लेखनीय है :—

१ णायकुमार चरिउ	पुष्पदन्त	१० वी शताब्दी
२. विलासवई कहा	साधारण	११ ,,
३. सुदंसण चरिउ	नयनन्दि	,, ,,
४ जम्बूसामी चरिउ	वीरकवि	,, ,,
५. करकण्डु चरिउ	कनकामर	,, ,,
६. पउमसिरी चरिउ	धाहिल	१२ वी ,,

७. भविस्सयत्त चरिउ-श्रीधर „ „
८. सुलोचना चरिउ देवेसन गणि „ „
९. अजना सुन्दरी कथा-अभयतिलक गणि „ „
१०. कथा कोष श्री चन्द्र „ „
११. सणकुमार चरिउ — हरिभद्र सूरि „ „
१२. पुज्जुण्ण चरिउ — सिंह कवि „ „
१३. सुकुमाल चरिउ — बिबुध श्रीधर „ „
१४. जिणयत्त कहा — लाखू „ „
१५. भविस्सयत्त कहा — धनपाल धक्कड „ „
१६. धणकुमार चरिउ — रइधू „ „
१७. बाराग चरिउ — तेजपाल „ „
१८. सिरिवाल चरिउ — नरसेन १६ वी „
१९. अमरसेन चरिउ — माणिक्क राज „ „
२०. नागकुमार चरित „ „ „
२१. ससिलेहा चरिउ — भगवती दास १६ वी „
२२. सुभद्रा चरित — अभय तिलक गणि
२३. मदन पराजय — हरिदेव
२४. सतवसण कहा — — —
२४. मदन रेखा रचित — — —

इनके अतिरिक्त 'मिहेसर चरिउ,' 'सुकोसल चरिउ' 'पुण्णासव कहा कोसो' 'अणाथमिका कहा' शीर्षक रचनाए मिली हैं किन्तु अज्ञात रहने के कारण अभी इनके तत्वो का विवेचन नही हुआ है। यह आवश्यक नही कि प्रत्येक 'चरिउ' नाम धारी ग्रन्थ प्रेमाख्यान भी हो। कथा सघटन, काव्य-सूचियो और वातावरण निर्माण आदि की दृष्टियों से इन रचनाओ मे जो समानताएं मिलती है वे इन्हे किसी निश्चित परिपाटी पर रचित सिद्ध करती है। असूफी और सूफी प्रेमाख्यानो की कई रूढियो इनमे विद्यमान है अत परवर्ती आख्यानो के लिए इन्होने आदर्श निर्धारित किए है।

१. उपर्युक्त अपभ्रंश रचनाओं की सघटनात्मक विशेषताएं जान लेना हमारे लिए उपयोगी होगा। वर्णन शैली की दृष्टि से हम देखते हैं कि काव्य के मगलाचरण मे जिनवर महावीर की वन्दना के पश्चात् कवि अपनी परम्परा, आश्रयदाता, नगर-वासियो आदि की चर्चा करता है। मुख्य कथा किसी निस्सतान नृपति से आरम्भ होती है जो अलौकिक शक्तियो के आशिर्वाद से संतान प्राप्त करता है। ज्योतिषी आकर उसके अनागत जीवन की भविष्य वाणी करते है। युवक होते ही कथा-नामक अपना राज्य छोड कर किसी सुन्दरी की खोज मे निकल पडता है या निष्कासित होता है, उसकी यात्राए आश्चर्य से भरी रहती है। फिर कई राजकुमारियो से विवाह करते हुए अतुल धन-राशि लेकर वह अपने राज्य मे वापस लौट आता है। आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए अनन्तर किसी जैन मुनि का उपदेश सुन कर वह परम पद का अभिलाषी हो जाता है। ग्रन्थ की समाप्ति पर कवि श्रोता,ओ के प्रति पुण्यफल की मगल कामना अवश्य करता है।

२ उपर्युक्त अपभ्रंश आख्यानो का विभाजन सधियो मे हुआ है। प्रत्येक सधि कई कडवको मे विभक्त है और कडवको के छन्दो मे पज्झटिका अडिल्ल, पादाकुलक आदि मुख्य है। छन्द के अन्त मे घत्ता प्राय एक संधि पर्यन्त एक जैसा रहता है। रस वर्णना मे शृगार, वीर की प्रधानता ह जिनका पर्यवसान शान्त रस मे होता है। अद्भुत, हास्य, रौद्र के उदाहरण प्रसगानुकूल मिलेगा। भाव, अनुभवो का विशद चित्रण है और स्त्री पुरुषो के स्वाभाविक उद्‌गार दर्शनीय हैं। यथा स्थान नख-शिख वर्णन, विरह वर्णन, षट्रितु वर्णन भी मिलेगे जो संस्कृत काव्य की शास्त्रीय शैली की ओर अधिक झुके हुए हैं।

३. अलंकार प्राय: सादृश्य मूलक हैं। उत्प्रेक्षा, रूपक और उपमा अलकार अधिक हैं। इनका विधान भी शास्त्रीय शैली का है। अप्रस्तुत विधान आकर्षक है किन्तु उसमे कोई नवीनता नही। अन्य अलंकारो में अतिशयोक्ति, विरोधाभास, श्लेष और यमक प्रधान हैं जो रचयिताओ की चमत्कार प्रवृत्ति के परिचायक है।

४ अपभ्रंश आख्यानो की भाषा मुक्तक रचनाओं की भाषा से भिन्न पड़ती है। वाक्य-विन्यास, पदरचना, क्रियारूप परिनिष्ठित स्वरूप का परिचय देते है यद्यपि शब्द भण्डार तद्भव अधिक है। कवियो के सम्मुख प्राकृत—अपभ्रंश रचनाओ का आदर्श रहा है। भाषा मे प्रवाह एवं सहजता अवश्य है किन्तु वह एक साचे में ढली है। ध्वन्यात्मक शब्द युग्मो की जिस आवृत्ति के लिए अपभ्रंश प्रसिद्ध है, वह इनपे स्थान स्थान पर लक्षित होगी। सूक्तियो और लोकोक्तियो के प्रयोग ने इसे समृद्ध किया है और फिर भी इन प्रयोगो ने उसे बोलचाल का स्वरूप प्रदान नही किया।

५. सांस्कृतिक चित्रण की दृष्टि से ये काव्य महत्वपूर्ण है। लगभग पाच सौ वर्षों के दीर्घकाल मे फैले हुए ये आख्यान तत्कालीन सामाजिक जीवन, नगरवासियो के रहन सहन, रीतियो, प्रथाओ, लोकाचारो, अनुष्ठानो और लोक विश्वासो की विशाल सामग्री जुटा देते है। यह सामग्री इतिहास ग्रन्थों मे कही उल्लिखित नही। बडे-बडे नगरो, उद्यानो, जलाशयो तथा रनिवासो के वर्णन यदि समाज के उच्च स्तरो का परिचय कराते है तो खानपान, मनोरजन, उत्सव विलास, विवाह, वर्णव्यवस्था, पारिवारिक सम्बन्धो आदि के चित्रणों से *मध्यम वर्ग का भी परिचय मिलता है*। जन साधारण का जीवन सरल था, फिर भी राजाओं, सामन्तों तथा सेठों का अधिक वर्णन हुआ है। व्यापारी जिस प्रकार की यात्राएं करते थे और जिस प्रकार की सामग्रियां खोज कर लाया करते थे, वह वैभव विलास का विशेष रूप से द्योतक है। नायकों के देशान्तर वर्णन अन्य द्वीपवासियों पर प्रकाश डालते हैं। सिंहल द्वीप की यात्राएं इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

६. इन आख्यानो की विषयवस्तु लोक कथाओं का अनुसरण करती है। यह इन्हें देखने से ही ज्ञात है। प्राय: सभी कथानक उन महत्वपूर्ण व्यक्तियों पर केन्द्रित है जो धर्म साधना मे विश्रुत हो चुके थे। ऐतिहासिक यात्रा या घटनाओ का उल्लेख केवल चरित्र को व्यापकता प्रदान करने के लिए किया गया है अन्यथा काल्पनिक वृत्तो की अधिकता उन्हें सामान्य जन जीवन से ऊपर उठा देती है। जैन पुराणो के महापुरुष इन आख्यानो की आधार भूमि बने है। जिनकी अलौकिक या आश्चर्यकारी घट-नाओ के अकन मे जैन कवियो ने काल्पनिक तत्त्वो का ही उपयोग किया है। अत ये आख्यान अव-दानो की कोटि के है।

७. इनमे लोक तत्त्वो का भी व्यापक प्रयोग हुआ है। काल्पनिक कथानक स्वय अपने में लोक तत्त्व है। इसके अतिरिक्त तीन ओर विशेषताएं मिलेंगी जो लोक तत्त्वो की है। ये है—रोमांचक वातावरण की सृष्टि, लोक विश्वासो की प्रचुरता और प्रेम मार्ग मे विघ्न बाधाओं व उनके निरा-करण का विधान, रोमाचक वातावरण के लिए अलौकिक प्राणियो मे गधर्व, विद्याधर, व्यंतर, राक्षस आदि उपस्थित होकर भूमिका तैयार करते हैं। जादुई शक्तियां पात्रों को ही नहीं, अपने पाठकों को भी रहस्यपूर्ण प्रदेशो मे खीच ले जाती हैं, श्मशान भूमि, पाताल लोक, किन्नर लोक, भयंकर वनस्थली आदि अद्भुत वातावरण की सृष्टि करते हैं। स्वप्न विचार, शकुन विचार, कर्मफल, भाग्य-

वादिता भविष्य फल के प्रति सर्वत्र आस्था प्रकट की गई है। मुनि गण पूर्व जन्म की घटनाओं का स्मरण कराते हुए कर्म विपाक की चर्चा करते हैं। निस्संतान राजाओ के यहा भावी शासक का चुनाव विशेष पद्धति से हुआ है।

८. आख्यानो मे वर्णित ये लोक विश्वास कुछ कथाभिप्रायो को जन्म देते है जो फिर अपनी लोकप्रियता के कारण परवर्ती भारतीय साहित्य में बहुत प्रयुक्त होते रहे, प्रेम मार्ग मे असाधारण बाधाए आना और असाधारण रूप से ही उनका निराकरण इसी प्रकार का एक प्रसिद्ध कथाभिप्राय है जिसका उद्देश्य नायक नायिका की परीक्षा लेना है। इसमे नायक को कोई रोमाञ्चकारी कार्य सम्पन्न करके अपनी वीरता व श्रेष्ठता का परिचय देना पडता है। प्राय. दैवी शक्तिया उन्हे लक्ष्य सिद्धि मे सफल बनाती है।

९. जहा तक प्रेम निरूपण की स्थिति है, हम देखते है कि रूपाकर्षण नामक नायिकाओ को परस्पर मिलाने मे विशेष 'सहायक हुआ है, नायक नायिकाएं दोनो ही अतीव सुन्दर, विद्या सम्पन्न है, नायिका का सौंदर्य चित्रण निखशिख के आधार पर है। मन्त्री पुत्र या कोई अन्तरग सखा, या कोई पक्षी नायक का पथ प्रदर्शन करते है और प्रेम सन्देशो का गुप्त आदान प्रदान होता है। अनुराग का आकर्षण प्रबल है क्योकि उसके शमन द्वारा ही प्रेम का वास्तविक रूप निखरता 'है। किन्तु जैन कवियो का प्रेम निरूपण केवल निरूपण के लिए नही है, उनका उद्देश्य तो किसी व्रत, अनुष्ठान या मन्त्र का परिणाम दिखाना है। वे चाहते थे कि समाज मे कथाओ के माध्यम से नैतिकता बनी रहे और विशृंखलता उत्पन्न न हो, अभी तक यह समझा जाता रहा कि जन कवि कोरे उपदेशक थे। उन्होंने कबीर जायसी की भाति ही लोक कथाओ को काव्य का माध्यम बनाया और सामाजिक परंपराओं की आधारण बनाये रखने में लौकिक कथाओं के सहारे पर्याप्त योग दिया। अतः प्रेमाख्यान शब्द को व्यापक रूप मे ग्रहण करना चाहिए।

उपर्युक्त विशेषताएं सभी अपभ्रंश के आख्यानो में मिलती है। यहा 'करकण्डुचरिउ' के आधार पर इन्हे पृथक पृथक निर्देष्ट किया जा सकता हैं। इस प्रेमाख्यान की कथा सक्षेप मे इस प्रकार है:—

चम्पापुरी के घोडीवाहन राजा एक बार कुसुम पुर जाकर वहा पद्मावती नामक युवती पर मुग्ध हो गए जो एक माली के सरक्षकत्व मे रहती हुई वस्तुतः कौशाबी नरेश वस्तुपाल की पुत्री थी, जन्म के समय अनिष्ट कार्य होने के फलस्वरूप वह जल मे प्रवाहित कर दी गई थी। घोडी वाहन ने उसे रानी बना लिया। पदमावती को एक बार वर्षा काल मे नररूप धारण करके पति के साथ हाथी पर सवार होकर नगर परिभ्रमण करने का दोहद हुआ। यह प्रबन्ध कर दिया गया किन्तु दुष्ट हाथी राजा रानी को लेकर बीहड बन की ओर भाग निकला। राजा तो एक वृक्ष की डाल पकड कर बच गया किन्तु रानी को लेकर वह हाथी एक जलाशय मे घुस पडा। वह वहा से कूद कर रानी बीहड बन मे चली गई। उसके आगमन से बनस्थली हरी भरी हो गई। यह देख कर बनमाली ने उसे धर्म की बहिन मान लिया किन्तु ईर्ष्यालु मालिन के कारण उसे श्मशान भूमि शरण लेनी पडी। वहां उसके पुत्र ने जन्म लिया। उस पुत्र को एक मातग, पूर्व जन्म का विद्याधर उडा ले गया। बालक को पढाया लिखाया और हाथ मे खुजली होने से वह बालक करकण्डु कहलाया। कालोपरान्त जब एक दिन दन्तीपुर का राजा मरा तो हाथी के मंगल कलश द्वारा करकडु ही वहा का राजा चुना गया, गिरिनगर की राजकन्या मदनावली के साथ उसका बिवाह हो गया।

एक बार करकुंड की सभा में आकर चम्पा के राजदूत ने अपने राजा का प्रमुत्व स्वीकार करने को कहा जिस पर क्रुद्ध होकर उसने चम्पा नरेश पर चढाई कर दी। घोर युद्ध के बाद माता पदमावती ने पिता पुत्र का सम्मिलन कराया। घोडीवाहन उसी को राजपाट सौप कर स्वय विरक्त हो गया। मन्त्री के कहने पर करकुड ने दक्षिणपवर्ती राजाओं पर चढाई की। मार्ग मे तेरापुर नामक स्थान पर उसने पार्श्वनाथ भगवान का दर्शन किया, उसने वहां दो गुफाएं और बनाई। इसी बीच एक विद्याधर उसकी प्रेमिका मदनावली को ले भागा। करकुंड उसके वियोग मे विह्वल हो गया किन्तु पूर्व जन्मा एक बन्धु के समझाने पर कि पुन. उनका मिलन होगा, वह आगे बढा। यह आश्वासन देने के लिये उसे नरवाहनदत्त का आख्यान सुनाया गया। सिहलद्वीप जाकर उसने राजकन्या रतिवेगा का पाणीग्रहण किया। जल मार्ग से लौटते समय एक भीमकाय मत्स्य ने नौका उलट दी। जल मे कूद कर उसने मत्स्य को मार डाला पर अपनी नौका पर नही लौट सका। मन्त्री किसी प्रकार उस बेडे को किनारे पर ले आया। शोक पूर्ण रतिवेगा दूसरे किनारे जा लगी और देवी-पूजन करने लगी। देवी ने उसे अरिदमन का आख्यान सुनाया।

करकुंड का अपहरण कोई विद्याधरी कर ले गई। उससे विवाह करके करकुड पुन. रतिवेगा के पास आया और चोल, चेर, पाड्य के नरेशो को उसने पराजित किया। उन राजाओ के मुकटो पर जिन प्रतिमा के दर्शन करने के कारण, जिन्हे वह रौद चुका था, उसे पश्चाताप हुआ। तेरापुर स्थान मे पुन. लौट आने पर उसे मदनावली मिल गई। चम्पापुरी मे आकर वह सुख से रहने लगा। एक दिन वह उपवन मे शीलगुप्त मुनिराज का दर्शन करने गया। उनके धर्मोपदेश से उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ। उसने मुनिराज से तीन प्रश्न किए- उसे कुंडु क्यो हुई ? उसके माता पिता का वियोग क्यों हुआ ? उसकी प्रिय मदनावली का अपहरण क्यों किया गया ? मुनिजी ने इन प्रश्नों का समाधान करने के लिए उसके तीन पूर्वभवो के वर्णन सुनाए। इन्हें सुनकर करकंडु अपने पुत्र वसुपाल को राजपाट सौप कर विरक्त हो गया।

'करकुंड चरिउ' के लेखक मुनि कनकामर ने ग्रन्थ के आरम्भ में जिनेद्रदेव का स्मरण किया है जो परमात्मा पद मे लीन है और मृत्यु भय से रहित हैं। वे संयमरूपी सरोवर के राजहंस हैं, उत्तम गुणो से सम्पन्न हैं तथा आत्मरस के अगाध समुद्र है। कवि अपनी विनय प्रदर्शित करते हुए कहता है—

"वायरणु ण जाणामि जई विछदू।
सुअ जलहि तरेव्वइं जइवि मदु॥
जइ कहवण परसइ ललिय वाणि।
जइ बुहयण लोयहो तणिय काणी॥
जइ कविगण सेव हु मइं ण कीय,
जइ जडमण सगइ मलिण कीय॥

अर्थात् न तो मैं व्याकरण जानता हूं और न छद शास्त्र। शास्त्र रूपी समुद्र के पार पहुंचने मे मन्दबुद्धि हूं। मेरी वाणी मे लालित्य का प्रसार नही होता। बुद्धिमानो के सम्मुख लज्जा उत्पन्न होती है। मैंने कविजनो की सेवा भी नही की, मूर्खों की सगति से ही मेरी मति मलिन हुई है। तदुपरान्त कवि अपने पूर्ववर्ती कवियो स्वयभू आदि का उल्लेख करते हुए कथानायक करकुंडु के चरित्र वर्णन मे प्रवृत्त होता है। फिर उसने जम्बूद्वीप स्थित विशाल नगरी चम्पा का भव्य वर्णन किया है जहां रेशमी पताकाए उड़ती है, स्थान स्थान पर रक्त कमल बिखरे हुए हैं।

कथानक दस संधियों में विभक्त है। संधि के अन्त मे कथा के उपशीर्षक दिए गए है, पज्झटिका मुख्य छद है। प्रत्येक संधि में छद बदलते है। तीसरी संधि मे मदनावली का चित्रपट देखने से करकुंडु के मन मे जहा प्रेम का जागरण होता है वह रूपाकर्षण है। इसकी परिणिति विवाह में होती है। सातवी संधि मे रतिवेगा का पाणिग्रहण करते समय रतिभाव दर्शनीय है। वीर रस के प्रकाशक मुख्यस्थल दो है; तीसरी संधि में चम्पा नरेश की सेना के साथ युद्ध तथा आठवी संधि मे द्रविड राजाओं के साथ करकंडु का युद्ध, भयानक वीभत्स रसो की दृष्टि से श्मशानभूमि का चित्रण दर्शनीय है जहा चोर व्यापारी शूलों मे भिदे हुए थे। मास लोभी राक्षस फे-फे करते थे और अग्नि ज्वाला मे जलते हुए जीवो से रणभूमि व्याप्त थी। अन्य भावो की अभिव्यक्ति भी हुई है। पद्मावती और मालिन की ईर्ष्या, पदमावती का पुत्र करकडु की आशीर्वाद इसके अच्छे उदाहरण है। जैसे बनमाली की पत्नी कुसुमदत्ता पदमावती को देख कर अपने मन में विचार करती है

एह णारि विमिट्ठी तें तहि दिट्ठी कि णारि कि विज्जाहरीय। गम णाय पियारी महि लह सारी चम्पय गोरी गुण भरिम ।। तमु रूव रिद्धि एह अइ विहाइ, णह रूवइ रवि ससि णाइं। मारउ सरिस इच्छतियाए, इह सारिउ जघउ कमलियाए ।।

अर्थात् यह असाधारण सुन्दरी कोई किन्नरी है या विद्याधरी, जो नेत्र दर्शना है, और गुणवान कदली इसकी जंघाओ का अनुकरण करती है, ऐरावत हाथी जिसके समक्ष नत मस्तक होकर मेरुशिखर को को चला गया है। फिर वह सोचती है यदि इसके सौन्दर्य ने मेरे पति को विचलित कर दिया तो वह मुझे निकाल देगा। इसलिए वह दोष लगा कर रानी को ही घर से बाहर निकाल देती है।

अलकारों में रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि के जो उदाहरण है, वे शास्त्रीयता के सांचे में ढले है। भाषा परिनिष्ठत अपभ्रंश की विशेषताओं से मुक्त है। करकंडु को देखने के लिए नगर नारियो का जो समूह उमडता है, उस समय भाषा का प्रवाह दर्शनीय है-कोई रमणी उत्कंठित होकर चली, तो कोई विह्वल द्वार पर ही खड़ी रह गई। कोई दौड पडी, किसी को अपने वस्त्राभूषणो की सुधि ही नहीं रही। कोई अधरों मे काजल देने लगी, कोई करतल में नूपुर धारण करने लगी। कोई बिल्ली को ही सन्तान समझ कर गोद मे उठाने लगी (संधि-३)। ऐसे वर्णनो द्वारा वस्तुस्थिति का बिंब ग्रहण कराया जाता है।

सास्कृतिक दृष्टि से न केवल 'करकंड चरिउ' महत्वपूर्ण है बल्कि सभी अपभ्रंश आख्यानो का इस दृष्टि से विशेष स्थान है। यदि सभी आख्यानो का सांस्कृतिक विवेचन किया जाए तो दसवी शताब्दी से लेकर सोलहवी शताब्दी तक उत्तर भारत का एक जीता जागता चित्र सामने आ जाएगा। चम्पानगरी की समृद्धि उसके उच्च प्रसाद शिखरो से जानी जा सकती है जो मानो अपनी सैकडो भुजाओ से स्वर्ग छूते थे। वह पचरग मणियो की किरणो से देदीप्य मान थी। राजा धाडी वाहन दीन दुखियो का परम आश्रय था। उसके मुख कमल मे सरस्वती शोभायमान थी और हृदय मे लक्ष्मी। जैन धर्म का प्रसार दक्षिण भारत तक हो चुका था। चोल, चेर, पाण्डय राजाओं ने ने करकडु ने उनके मुकुटो पर पैर रखा तो उन पर जिन प्रतिमा बनी थी, उसे पश्चाताप हुआ। लोक प्रथाओ, पूजा-अनुष्ठानो, व्रत कथाओं, खानपान मनोरंजन के विविध उपायो का उल्लेख पर्याप्त हुआ है। मंगल हाथी के द्वारा करकंडु को राजा चुना जाना, अपशकुन होने के कारण जन्मते ही पदमावती को नदी में प्रवाहित कर देना, रतिवेगा से

विवाह करते समय मोतियों से तोरण सजाया जाना स्वर्ण निर्मित चौरियां लटकाना, मनोहारी निर्मल वेदिया बनाना, ये सभी प्रसंग आचारो व अनुष्ठानों के निर्देशक है। रतिवेगा देवी की उपासना लाल वस्त्रो से करती है। आज भी लोकपरम्परा मे देवी पूजा के लिए लालवस्त्रो का ही विधान मिलता है।

कही रणनीति का परिचय होता है। रथ रथो से, हाथी हाथियों से घोडे घोडो से पुरुष पुरुषो से लडते थे जैसे करकडु के द्रविड राजाओं के साथ युद्ध मे वर्णित है। पद स्मरण करते हुए सात पग आगे बढता है, फिर आनन्द भेरी बजवा कर दक्षिण कांक्षी लोगों को एकत्र करता है। मुनिवर के उपदेश जैन धर्म के विशिष्ट सिद्धान्तो की व्याख्या करते हैं। आदर सत्कार की यह प्रणाली अन्य काव्यो मे भी मिलेगी।

इस आख्यान की वस्तु उत्पाहत नही है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' के अनुसार जैन पुराणो मे और बौद्धो के 'कुम्भकार जातक' मे यह वृत्तात मिलता है। जैन परम्परा मे करकण्डु को कलिग देश का राजा कहा गया है। इसकी अवांतर कथाये भी भिन्न स्रोतो से ली गई है। कुछ तत्त्व, जस अशुभ शिशु का जल प्रवाह कराना, महाभारत म मिलते है। यदुवशी पृथ्या कन्यावस्था मे सूर्य का आवाहन करने से गर्भवती हो गई और प्रसव के उपरान्त उसने पुत्र को जल मे छोड़ दिया जो महा प्रतापी कर्ण हुआ। कुछ कथाए प्राचीन साहित्य मे परिचित है जैसे रानी पदमावती के दोहद का वर्णन अपने पूव रूप में 'णायाधम्मकहाओ' में दिखाई देता है। महाराजा श्रेणिक की देवी धारिणी को वैसा ही दोहद होता है। रानी, राजा को साथ ले कर मन्द मन्द जल वृष्टि के बीच नगर का भ्रमण करती है। नरवाहनदत्त की कथा 'कथा सरित्सागर' से ली गई है। शुक की कथा, जो अरिदमन के कथानक में आई है, 'कथासरित्सागर' मे सुमना राजा की कथा से तुलनीय है। 'कादम्बरी' मे जिस प्रकार पण्डित तोता राजा को उपदेश देता है, यहा भी वह पैर उठा कर राजा का अभिनन्दन करता है। ये सभी कथासूत्र लोक जीवन से ग्रहण किए गए हैं जिन्हें कवि आकर्षक बना देता है। करकण्डु का कथानक अवदान की श्रेणी में आएगा।

लोकतत्त्व की दृष्टि से दूसरी सधि मे मातंग विद्याधर द्वारा करकण्डु की शिक्षा के लिए कही गई कथा पठनीय है जिसमे मन्त्रशक्ति का प्रभाव बताया गया है। मदनावली के हरण से दुखी हो जाने वाले करकण्डु को तेरापुर मे एक विद्याधर जो कथा सुनाता है, उसमे अलौकिक शक्ति के द्वारा न केवल मदन मञ्जूषा के हरण का उल्लेख है बल्कि ऋषिकन्या के श्राप से प्रेमी विद्याधर का शुक बन जाना भी वर्णित है। शाप द्वारा रूप परिवर्तन लोक कथाओ की प्रसिद्ध रूढ़ि है जो यहा प्रयुक्त हुई है। छठी संधि मे मदनामर एक ऋषि कन्या का स्पर्श कर लेता है जिसके श्राप से वह शुक हो जाता है। प्रार्थना करने पर ऋषि कन्या श्राप की अवधि घटा कर कहती है–नरवाहन दत्त का रति विभ्रमा से परिणय हो जाने पर वह पुन मनुष्य हो जाएगा।

शुभ शकुन का एक कथा सातवी संधि मे है जहा कोई क्षत्रिय कुमार ब्राह्मण से कह सुन कर उसके शकुन का फल स्वय ले लेता है। वह लडते हुए साप और मेढक का अपने शरीर का मांस देता है और वे दोनो मनुष्य रूप धारण कर उसके साथ हो लेते हैं। दसवी सधि मे ऐसी ही एक अलौकिक कथा मुनिराज शील गुप्त पदमावती को सुनाते हैं जिसमे उज्जैन नरेश की पुत्री किसी ब्राह्मण पुत्र का जन्म लेती है जो राक्षसी को वश मे कर लेने के उपरान्त कभी शेरनी का दूध लाता है तो कभी बोलता हुआ पानी। मुनिवर ने जहां पूर्व भवो का वर्णन करके करकण्डु के प्रश्नो का समाधान किया

हैं उसमे भी अनेक अभिप्राय है। प्रेम मार्ग की कठिनाइया, कठिन परीक्षाए, नायक की सफलता आदि तत्त्व इसमे यथा स्थान मिलेंगे।

जहां तक प्रेम व्यजना का प्रश्न है, हम देखते हैं रूपाकर्षण ही करकण्डु को मदनावली तथा रतिवेगा की ओर आकर्षित करना है। फिर भी कवि का उद्देश्य उसके चारित्रिक गौरव का चित्रण करना रहा है। नायक स्वय तो अद्वितीय सुन्दर है ही उसे देखने के लिए दन्तीपुर की नगर वधुएं व्याकुल हो उठती है। मदनावली अद्भुत सुन्दरी है। सिंहल की राजकन्या रतिवेगा भी अलौकिक सुन्दरी है। मन्त्री सर्वत्र राजा की उद्देश्य पूर्ति मे सहायक होते है। पूजा पाठ का विशेष माहात्म्य रतिवेगा के प्रसग मे ज्ञात होता है। ध्यान लगाने पर देवी प्रकट होकर उसे पति-प्राप्ति का वरदान देती है और स्वय करकण्डु के पराक्रम का उल्लेख करती है। यह सूचना देती है कि उसने अन्य सात सौ कन्याए विवाही हैं।

इस प्रकार 'करकण्ड चरिउ' की उपर्युक्त विशेषताए न्यूनाधिक रूप से सभी जैन प्रेमाख्यानो मे दिखाई देगी। ये प्रेमाख्यान भाव चित्रण, वातावरण निर्माण, पात्र एव रूढ़ि सयोजन आदि की दृष्टि से सस्कृत प्राकृत आख्यानो की ही परम्परा मे है और उसी प्रकार कान्ता सम्मत उपदेश देने के लिए लिखे गये हैं। विशुद्ध मनोरजन इनका लक्ष्य कभी नही रहा। एक तथ्य और प्रकाशित होता है कि इन कथाओ के रचना विधान मे शास्त्रीय परम्परा तथा लोक परम्परा दोनो का पालन किया गया है।

हिन्दी साहित्य को ध्यान मे रखते हुए अपभ्रंश के इन जैन-प्रेमाख्यानो का महत्त्व दो दृष्टियो से सर्वाधिक है। एक ओर इन्होने कथा शैली, उपमान योजना, छन्द विधान वातावरण आदि दृष्टियों से हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानों का मार्ग प्रशस्त किया है तो दूसरी ओर एकाधिक जैन कवियों को मिलते-जुलते जैन कथानकों के आधार पर हिन्दी मे रचना करने की प्रेरणा दी है।

सूफी काव्यों की जो मसनवी पद्धति कही जाती है अर्थात् कथारम्भ मे अल्लाह की वन्दना, पैगम्बर व खलीफाओं का स्मरण, गुरू परम्परा, शाहे वक्त की चर्चा आदि, ये सब प्रवृत्तियां अपभ्रंश के उपर्युक्त आख्यानो मे पूरी मिल जाती है। नायिकाओं के नाम पर ग्रन्थ का जैसा नामकरण सूफियों ने किया 'पदमावत', 'मिरगावती', 'मधुमालती' आदि वह अपभ्रंश रचनाओ 'विलासवती', 'शशिलेखा', 'मदन लेखा' की ही परम्परा मे स्वीकृत होनी चाहिए। राजाओ का सिंहल कुमारी से विवाह, समुद्र यात्रा और जहाज टूटना भारतीय आख्यान साहित्य की चिर परिचित काव्य रूढिया है जो इन्ही अपभ्रंश आख्यानो से होकर कुतबन, जायसी, मझन जैसे कवियो द्वारा अपनाई गई है। शुक का विलक्षण और पण्डित होना भी भारतीय तत्त्व है। वह सर्वत्र मार्गदर्शक है और प्रेम सदेशो का प्रिय वाहक है। चित्रदर्शन से प्रेम की उत्पत्ति इन सभी प्रेमाख्यानो मे एक सी है। नायक नायिकाओ के जीवन मे अलौकिक शक्तिया सहायक होती हे वे चाहे व्यन्तर या विद्याधर हो अथवा कोई देवी देवता हो। देवी शक्तियो का रूपान्तरण लोक कथाओ मे साधारण सी बात है। शिवजी प्रसन्न होकर सर्वत्र वरदान देते है और गौरापार्वती उनसे भी अधिक दयालु हैं।

इन वस्तुगत विशेषताओ के अतिरिक्त बारह महिनो का वर्णन, वृक्षो-फल फूलो का नाम परिगणन जो अपभ्रंश आख्यानो मे है, उसे सूफी कवियो ने भी अपनाया है, सरोवर मे स्नान करना, मन्दिर मे शिव पार्वती का पूजन करना ऐसे काव्यों की अनिवार्य रूढिया थी जिन्हे सूफी कवियों ने प्रचुरता से

अपनाया। छन्दो की दृष्टि से सूफियों द्वारा प्रयुक्त दोहा चौपाई छन्द अपभ्रंश की ही देन है। नाथ पंथियो का प्रभाव भी दोनो काव्य परम्पराओ पर एक जैसा है। अत अपभ्रंश के इन प्रेमाख्यानो का अधिकाधिक अध्ययन सूफी प्रेमाख्यानों की विचार धारा तथा शैली विधान को समझने मे विशेष सहायक होगा।

दूसरी ओर हिन्दी साहित्य मे आदि काल से लेकर रीतिकाल के अन्त तक जैन कवियो द्वारा अनेक प्रेमाख्यान लिखे गए जिनका थोडा सकेत आरम्भ मे किया गया है। 'नेमिनाथ फागु', 'ढोला मारु रा दूहा', 'मलय सुन्दरी कथा', हसराज वच्छराज चउपई, 'विद्याविलास चउपई' 'थूलिभद्द कोसा प्रेम विलास' 'मिरगावती रास' 'प्रेम विलास, प्रेमलता' आदि कई ऐसे प्रेमाख्यान है जो हिन्दुओ द्वारा रचित कहे जाते हैं। इन हिन्दुओं मे अधिकतर जैन कवि थे। सूफी काव्यो से ये जैन काव्य जिन विशेषताओ मे दूर पडते है, वे विशेषताऐं हमें अपभ्रंश के जैन प्रेमाख्यानो मे उपलब्ध होती है।

इस प्रकार अपभ्रंश के जैन प्रेमाख्यानो के साथ हिन्दी की तीन प्रेमाख्यान परम्पराओं का सम्बन्ध जुडता है—सूफी काव्य परम्परा, जैन काव्य परम्परा और अन्य कवियो द्वारा रचित प्रेमाख्यान काव्य परम्परा। आश्चर्य की बात है कि ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय की ओर अभी लोगों का बहुत कम ध्यान गया है और अपभ्रंश के ये आख्यान काव्य राजस्थान के विविध ग्रन्थ भण्डारो मे अज्ञात या अल्पज्ञात ही पडे हुए है। इनके समुचित सम्पादन एव प्रकाशन के उपरान्त ही सस्कृत से लेकर आधुनिक भाषाओ तक के भारतीय प्रेमाख्यानो को ठीक ठीक समझा जा सकेगा।

सुख–दुख

नहीं चाहता है कोई भी हत हो जाना
हर प्राणी को प्रिय है जीवन।
सभी चाहते जीवन में सुख
दुख कोई भी नही चाहता।।

—अर्हत्

जैन गूर्जर कवियों की हिन्दी सेवा

डा. हरीश गजानन शुक्ल

गुजरात जैन धर्म, संस्कृति एवं साहित्य का प्रमुख केन्द्र रहा है। इस प्रदेश में जैन धर्म का अस्तित्व तो इतिहासातीत काल से मिलता है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के प्रधान गणधर पुंडरीक ने शत्रुंजयपर्वत से (गुजरात) निर्वाण से लाभ किया था।[1] २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ (कृष्ण के पैतृक भाई) का तो यह प्रधान विहार क्षेत्र था। जूनागढ़ के महाराजा उग्रसेन की राजकुमारी राजुल से नेमिनाथ के विवाह की तैयारी करने, भौतिक देह और संसारी भोगों से विरक्त हो गिरनार पर्वत पर समाधि लेने तथा तीर्थंकर मुनिसुव्रत के आश्रम का भृगुकच्छ में होने के उल्लेख मिलते हैं।[2] १३ वीं शती में वनराज चावडा, सोलंकी राजा, शिलादित्य और वस्तुपाल तथा तेजपाल जैसे मंत्रियों ने जैन धर्म और साहित्य को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। जैन धर्म का यह उत्कृष्ट काल था। मुसलमान बादशाह भी इस धर्म के प्रति काफी सहिष्णु रहे। सम्राट अकबर को प्रतिबोध देने गये जैनाचार्य हीरविजयसूरि, जिनचन्द्र तथा उपाध्याय भानुचन्द्र, गुजरात से ही आगरा गए थे।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों को साथ-साथ फलने-फूलने का सुअवसर देने का श्रेय गुजरात को ही है। गुजरात श्वेताम्बरों का तो प्रधान केन्द्र रहा ही है, किन्तु ईडर, नागौर, सूरत, बारडोली, घोघा आदि कई स्थानों में दिगम्बर भट्टारकों की भी गादियां प्रस्थापित हुई थीं। और उनका जबरदस्त प्रभाव रहा।

इस प्रान्त में जैन धर्म के चिरस्थायी प्रभाव के फलस्वरूप ही जैन-साधुओं, विद्वानों एवं गृहस्थ कवियों ने इसे सांस्कृतिक एवं साहित्यिक अमूल्य भेंटों से अलंकृत किया। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में गुजराती और हिन्दी भाषा और साहित्य की इन कवियों के हाथों महत्ती सेवा हुई है। इन भाषाओं के विकासक्रम के अध्ययन के लिए यही जैन-ग्रंथ आज आधारभूत हैं। इस भाषा अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी और गुजराती का उद्भव एक ही स्रोत से हुआ है। पं० नाथूराम प्रेमजी के इस अभिप्राय से भी यह बात स्पष्ट है—'ऐसा जान पड़ता है कि

१, जैन सिद्धांत भास्कर, प्रो० ज्योतिप्रसाद जैन का लेख, पृ० ४८ भाग २० किरण-१ जून, १९५३.

२, मध्यकालीन गुजराती साहित्य, मुंशी, पृ० ७२.

प्राकृत का जब अपभ्रंश होना प्रारम्भ हुआ, और फिर उसमे भी विशेष परिवर्तन होने लगा, तब उसका एक रूप गुजराती के साचे मे ढलने लगा और एक हिन्दी के साचे मे। यही कारण है जो हम ई० १६ वी शताब्दी से जितने ही पहले की हिन्दी और गुजराती देखते हैं, दोनों मे उतना ही साहश्य दिखलाई पड़ता है। यहा तक कि १३ वीं और १४ वी शताब्दी की हिन्दी और गुजराती में एकता का भ्रम होने लगता है।[3] इसी भाषा साम्य के कारण वि० १७ वी शताब्दी के कवि मालदेव के 'भोजप्रबन्ध' और 'पुरन्दर कुमार चउपई', जो वास्तव मे हिन्दी ग्रन्थ है, गुजराती ग्रन्थ माने जाते रहे।[4]

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि १६ वी-१७ वी शती तक भारत के पश्चिमी भू-भाग मे बसने वाले जैन कवि अपभ्रंश मिश्रित प्राय एक सी भाषा का प्रयोग करते रहे। हा, प्रदेश विशेष की भाषा का उन पर प्रभाव अवश्य था। हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी का विकास शौरसैनी के नागर अपभ्रंश से हुआ।[5] यही धारणा है कि १३ वी-१७ वी शती तक इन तीनो भाषाओं मे साधारण प्रान्तीय भेद को छोडकर विशेष अन्तर नही दिखता। श्री मो० द० देसाई ने इस भाषा को प्राचीन हिन्दी और प्राचीन गुजराती कहा है...." विक्रम की सातवी से ग्यारहवी शती तक अपभ्रंश की प्रधानता रही, फिर वह जूनी हिन्दी और जूनी गुजराती मे परिणत हो गई।[6] गुजराती के प्रसिद्ध वैयाकरणी श्री कमलाशकर प्राणशकर त्रिवेदी ने गुजराती को हिन्दी का पुराना प्रान्तिक रूप मानते हुए कहा है—" स्वरूप मे गुजराती हिन्दी की अपेक्षा प्राचीन है। वह उस भाषा का प्रान्तिक रूप है। चालुक्य राजपूत इसे काठियावाड के प्रायद्वीप मे ले गये और वहा दूसरी हिन्दी बोलियो से अलग पड जाने से यह धीरे-धीरे स्वतंत्र भाषा बनी। इस प्रकार हिन्दी मे जो पुराने रूप लुप्त हो गये है वे भी इसमे कायम है।[7]

श्री मोतीलाल मेनारिया ने शार्गधर, असाइत, श्रीधर, शालिभद्रसूरि, विजय सेनसूरि विनयचन्द्रसूरि आदि गुजराती कवियो की भी गणना राजस्थानी कवियो मे की है।[8] इन्ही कवियो और उनकी कृतियो की गणना हिन्दी साहित्य के इतिहासकारो ने हिन्दी में की है और उनकी भाषा को प्राचीन हिन्दी अथवा अपभ्रंश कहा है। मिश्र बन्धुओं ने अपने ग्रंथ 'मिश्रबन्धु विनोद' भाग १ मे धर्मसूरि, विजयसेनसूरी विजयचन्द्रसूरि, जिनपद्मसूरि और सोमसुन्दरसूरि आदि जैन-गूर्जर कवियो का उल्लेख किया है।

---

३. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, सप्तम् हि० सा०स० कार्य विवरण भाग-२, पृ० ३
४ वही पृ० ४४-४५.
५. हिन्दी भाषा का इतिहास, धीरेन्द्र वर्मा.
६ जैन-गूर्जर कविओं, भाग-१, पृ० १०
७. गुजराती भाषानु बृहद् व्याकरण, प्रथम सस्करण, पृ २१
८. राजस्थानी भाषा और साहित्य, मोतीलाल मेनारिया.

इस प्रकार एक ही सामान्य साहित्य को हिन्दी, राजस्थानी अथवा गुजराती सिद्ध करने के प्रयत्न बराबर होते रहे है। राजनैतिक कारणो से हिन्दी तथा राजस्थानी से गुजराती के अलग हो जाने और उसके स्वतन्त्र रूप से विकसित हो जाने के पश्चात् गुजराती कवियो का हिन्दी के प्रति परम्परागत प्रेम बना रहा। यही कारण है कि वे स्वभाषा के साथ-साथ हिन्दी मे भी रचनाए करते रहे। हिन्दी की यह दीर्घकालीन परम्परा उसकी सर्वप्रियता और सर्वदेशिकता सूचित करती है।

यहा तक कि इस परम्परा के निर्वाह हेतु अथवा अपने हिन्दी प्रेम को अभिव्यक्त करने के लिए, गुजराती कवियो ने अपने गुजराती ग्रन्थो मे भी हिन्दी अवतरण उद्धृत किये है। उदाहरणार्थ नयसुन्दर ने 'रूपचन्द कुवरदास', 'नलदमयन्तीरास', 'गिरनार उद्धाररास', 'सुरसुन्दरीरासे', ऋषभदास के 'कुमारपालरास', हीरविजयसूरिरास, 'हितशिक्षा-रास' तथा समयसुन्दर के 'नलदमयतीरास' आदि द्रष्टव्य है। ऋषभदास की कृतियो से पता चलता है कि उस समय व्यापार के लिए भारत मे आने वाले विदेशी-अग्रेज आदि मुगलसम्राटो से उर्दू या हिन्दी मे व्यवहार करते थे।

जनभाषा मे धर्मप्रचार तथा साहित्य सृजन जैन कवियो का उल्लेखनीय कार्य रहा है। इन कवियो का विहार राजस्थान एव गुजरात मे अधिक रहा। गुजरात मे हिन्दी भाषा के प्रभाव और प्रचार ने इन्हे आकर्षित किया। फलत हिन्दी भाषा मे इनके रचित छोटे-बडे ग्रन्थ १५ वी शती से आज तक अच्छे परिमाण मे प्राप्त होते रहे है। इन्होने अपनी कृतियो मे भारतीय साहित्य की अजस्त्र धारा बहायी तथा आध्यात्मिक प्रवचनो, गीतकाव्यो तथा मुक्तक द्वारा जन-जीवन के नैतिक धरातल को सदैव ऊंचा उठाने का प्रयत्न किया है। ये जैन सन्त विविध भाषाओ के ज्ञाता होते हुए भी इन्हे भाषा विशेष से कभी मोह नही रहा। सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती आदि सभी भाषाए इनकी अपनी थी, प्रान्तवाद के झगडों मे ये कभी नही उतरे। साहित्य रचना का वृहद् उद्देश्य-आत्मोन्नति और जनकल्याण केन्द्र मे रखकर अपनी आत्मानुरति से जन-मन को ये परिप्लावित करते रहे।

ज्ञानानद, यशोविजय, आनदघन, विनयविजय, जिनराजसूरि, समयसुन्दर, लक्ष्मीवल्लभ, जिनहर्ष, श्रीमद्देवचन्द्र, किसनदास आदि ऐसे ही श्रेष्ठ कवि हैं जिनके अन्तर के अनेको की वेगवती धारा धर्म सम्प्रदाय आदि बाह्य मर्यादाओ की अवहेलना कर अपने प्रकृत सास्कृतिक रूप का परिचय देता हुई बह निकली है। इसी वृहद् उद्देश्य को लेकर गुजरात के दिगम्बर जैन कवि भी अवतरित हुए। राजस्थान का बागड प्रदेश (विशेषत डूगरपुर, सागवाड) गुजरात प्रान्त से लगा हुआ है)। अत. गुजरात मे होने वाले भट्टारको का राजस्थान से भी निकट का सम्पर्क रहा। गुजरात के इन भट्टारको के मुख्य केन्द्र नवसारी, सूरत, भडौच, जाबूसर, घोघा तथा उत्तर गुजरात मे ईडर आदि थे। सौराष्ट्र मे गिरनार और शत्रुंजय की यात्रा के लिए भी इनका आगमन बराबर होता था।[६] इन भट्टारको का भी साहित्य विशेषत राजस्थान के विभिन्न जैन भण्डारो मे (रिखबदेव, डूगरपुर, सागवाडा एवं उदयपुर) विपुल परिमाण मे उपलब्ध है। इन भट्टारक सतो ने तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का स्वप्न ८ वी

---

६. भट्टारक सम्प्रदाय, विद्याधर जोरहापुरकर, पृ० ६,७.

शताब्दी से पूर्व ही देखना प्रारम्भ कर दिया था। मुनि रामसिंह का 'दोहा पाहुड' हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य कृति है जिसकी तुलना मे भाषा साहित्य की बहुत कम कृतिया आ सकेंगी। महाकवि तुलसीदास को तो १७ वी शताब्दी मे भी हिन्दी भाषा मे 'राम चरित मानस' लिखने में झिझक हो रही थी किन्तु इन जैन सतों ने उनके ८०० वर्ष पहले ही साहस के साथ प्राचीन हिन्दी रचनाएं लिखना प्रारम्भ कर दिया था।[10] गूर्जर भट्टारक कवियो की भी हिन्दी रचनाएं १५ वी शती से प्राप्त होती है। १५ वी शती के ऐसे गूर्जर भट्टारकों मे भट्टारक सकलकीर्ति और ब्रह्मजिनदास उल्लेखनीय है। ये सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। फिर भी इन्होंने लोकभाषा के माध्यम से राजस्थान और गुजरात मे जैन साहित्य और सस्कृत के निर्माण मे अपूर्व योग दिया। ये अणहिलपुर पट्टण के निवासी थे।[11] इनके शिष्य ब्रह्मजिनदास भी पाटण निवासी हूंबड जाति के श्रावक थे।[12] इन्होने ६० से भी अधिक रचनाए लिखकर हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि की। इन रचनाओ मे रामसीतारास, श्रीपालरास, यशोधररास, भविष्यदत्तरास, परमहसरास, हरिवशपुराण, आदिनाथपुराण आदि विशेष उल्लेखनीय है। इनकी भाषा शैली की दृष्टि से इनके 'परमहसरास' से एक उदाहरण दृष्टव्य है—

पाषाण भाट्टि जिम होई,
गोरस भाट्टि जिमि घृत होई।
तिल सारे तेल बसे जिमिभग,
तिम शरीर आत्मा अभंग॥
काष्ठ भाट्टि आगिनि जिमि होई,
कुसुम परिमल भाट्टि नेटट।
नीर जलद सीत जिमि नीर,
तेम आत्मा बसं जगत सरीर॥

१६ वी शती के भट्टारक कवियो में आचार्य सोमकीर्ति, भट्टारक, ज्ञानभूषण तथा भट्टारक विजयकीर्ति विशेष उल्लेखनीय है। आचार्य सोमकीर्ति का सम्बन्ध काष्ठासघ की नन्दीतट शाखा से था। इनका विहार विशेषत राजस्थान और गुजरात मे रहा। इनकी रचनाओ मे 'यशोधर रास' विशेष महत्व की रचना है, जिस पर गुजराती प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। भट्टारक ज्ञानभूषण मूल गुजरात के निवासी थे और सागवाडा की भट्टारक गादी पर आसीन हुए थे।[13] इनकी हिन्दी कृतिया आदिश्वरफाग, 'जलागणरास' 'पोसहरास' षटकर्मरस तथा नागद्रारास है। आदिश्वररास इनकी एक चरित्र प्रधान सुन्दर रचना है। भट्टारक विजयकीर्ति इन्ही के शिष्य और उत्तराधिकारी थे जो अपनी सास्कृतिक सेवाओ द्वारा गुजरात और राजस्थान की जनता की गहरी आस्था प्राप्त कर सके थे।

सत्रहवी और अठारहवी शती के भट्टारको मे शुभचन्द्र, ब्रह्मजयसागर, रतनकीर्ति, कुमुदचन्द्र, चन्द्रकीर्ति, वीरचन्द, सकलभूषण, रत्नचन्द्र आदि अच्छे कवि हो गये है। गुजरात के इन भट्टारकों और उनके शिष्यो ने हिन्दी कविता की महत्ती

१०. राजस्थान के जंन सत-व्यक्तित्व एव कृतित्व, डा. कस्तूरचद कासलीवाल, प्रस्तावना

११. वही, पृ० १

१२. वही, पृ २३

१३. राजस्थान के जैन सत-व्यक्तित्व एव कृतित्व, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ ५०.

सेवा की है। ये भट्टारक सम्प्रदाय शिक्षा और साहित्य के जीवन्त केन्द्र थे।

कच्छ (गुजरात) के महाराव लखपतसिंहजी ने अपनी राजधानी भुज मे अठारहवी शताब्दी मे ब्रज-भाषा के प्रचार एव साहित्य सृजन हेतु एक पाठ-शाला की स्थापना की थी। दूलेराय कारणीजीं ने अपने ग्रन्थ 'कच्छनासंतों अनेकविश्रो' मे लिखा है—कवि श्री लखपतसिहजी ने इस सस्था की स्थापना करके समस्त देश पर एक महान उपकार किया है। जहा कवि होने का प्रमाण-पत्र प्राप्त किया जा सके, ऐसी एक भी सस्था भारतवर्ष मे कही नहीं थी। इस संस्था की स्थापना करके महा-राव ने समस्त देश की एक बडी कमी दूर करदी। इस सस्था से निकलने वाले कवियो ने सौराष्ट्र और राजस्थान के अनेक प्रदेशो मे अपना नाम प्रख्यात कर इस संस्था को यशस्वी बनाया है।

इस विद्यालय मे भारत भर के विद्यार्थी आते थे और उन्हे राज्य की ओर से खाने-पीने तथा आवास की पूर्ण व्यवस्था मिलती थी। यहाँ के प्रथम अध्यापक के रूप मे जैन यति एव कवि कनक-कुशल और उनके शिष्य कु वरकुशल तथा लक्ष्मी कुशल, ज्ञानकुशल, कीर्तिकुशल गगकुशल आदि की हिन्दी सेवाओ को भुलाया नही जा सकता। हिन्दी के शिक्षण और सर्जन दोनो ही क्षेत्रों मे इनका असाधारण कृतित्व राष्ट्रभाषा के के इतिहास मे अमर रहेगा। महाराव लखपतसिह स्वय भी एक अच्छे कवि थे।

नाहटा जी के उल्लेख के अनुसार—'करीब डेढ सौ वर्षों तक ब्रजभाषा के प्रचार व शिक्षण का जो कार्य इस विद्यालय द्वारा हुआ वह हिन्दी साहित्य के इतिहास मे विशेष रूप से उल्लेखनीय है।'[१४] यह विद्यालय छन्द और काव्यों के अध्ययन-अध्यापन का एक अच्छा केन्द्र था। यदि कनककुशल की परम्परा मे यह करीब २०० वर्ष तक चलता रहा। अहिन्दी भाषी विद्वानो द्वारा ब्रजभाषा में काव्यरचना की परम्परा महत्त्वपूर्ण है ही परन्तु ब्रजभाषा पाठ-शाला की प्रस्थापना और नि शुल्क शिक्षा देने की यह बात विशेष महत्त्व की है। इस दृष्टि से गुर्जर विद्वानों का यह ब्रजभाषा प्रचार का कार्य नि सदेह अनूठा है।

जिनकी मातृभाषा हिन्दी नही, उन लोगों ने भी कितनी शताब्दियो तक हिन्दी मे रचना करने की परम्परा सजीव रखी है। इससे स्पष्ट है, प्रारम्भ से ही हिन्दी एक व्यापक भाषा के रूप मे विकसित होती रही है। यह अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की और संस्कृति की वाहक भाषा रही है। हिन्दी भाषी प्रदेश का निकटवर्ती प्रदेश होने के कारण भी गुजरात में हिन्दी भाषा का प्रचार अधिक रहा है।

गूर्जर जैन कवियो का हिन्दी मे साहित्य रचना के प्रति परम्परागत मोह रहा है। प्रान्तीयता को लेकर भाषा के झगडे इनमे कभी नही उठे, उठे भी तो लोकभाषा को लेकर ही। हिन्दी मे लोकभाषा और लोकजीवन के सभी गुण विद्यमान थे। अत गूर्जर जैन कवियो ने भी इसे सहर्ष अपनाया। इनकी हिन्दी भाषा मे, शिक्षा और प्रान्तीय प्रभाओ के कारण थोडा अन्तर अवश्य आया किन्तु भाषा के एक सामान्य रूप अथवा उसकी एकरूपता मे कोई विकृति नही आने पाई। गाधीजी ने हिन्दी के जिस रूप की कल्पना की थी, जैन गूर्जर कवियो की रचनाओं मे वह उपलब्ध है। हा, साधु सम्प्रदायो मे पले कवियो की भाषा संस्कृतनिष्ठ रही है।

---

१४. आचार्य विजय वल्लभसूरि स्मारक ग्रन्थ, श्री अगरचन्द नाहटा का लेख, पृ० ६७।

इस प्रकार जैन-गूर्जर कवियो ने १५ वी शती से आज तक प्राचीन हिन्दी या प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी, डिंगल, ब्रज, अवधी, खडी बोली, उर्दू आदि भाषाओ मे अनेक गौरवग्रन्थो की रचना की है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी, इन अहिन्दीभाषी जैन कवियों पर बलात् थोपी या लादी नही गई थी, उन्होंने उसे स्वयं ही श्रद्धा और प्रेम से अपनाया था और अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था।

जैसा कि इन कवियो की रचनाओ पर आरोप लगाया जाता रहा है कि इनकी रचनाये धार्मिक सकोर्णता से ग्रस्त है अत साहित्यिक मूल्य कम है। वस्तुतः धर्म और आध्यात्मिकता तो इनकी मूल प्रेरणा रही है, इनमे मात्र नीरसता और शुष्कता का पिष्टपेशन नही, काव्यरस का चरम परिपाक भी है। श्वेताम्बर और दिगम्बर विद्वानो ने इस कृत्तियो के माध्यम से अनेक विषयो पर अनेक रूपो मे प्रकाश डाला है। ये सब विषय मात्र धार्मिक ही नही, लोकोपकारक भी है। इन कवियो ने उपदेश को हृदयगम कराने की नवीन पद्धति का अनुसरण किया है। इन्होने काव्यरस और अध्यात्मरस का कबीर, सूर, तुलसी की तरह ही समन्वय किया है।

हिन्दी को अपनी वाणी का माध्यम बनाकर इन जैन-गूर्जर संत कवियो ने भक्ति, वैराग्य एव ज्ञान का उपदेश देकर काव्य, इतिहास और धर्म साधना की जो त्रिवेणी बहाई है—उनमें आज भी हम उनकी शतशत भावोर्मियों का स्पदन अनुभव कर सकते हैं। इनकी भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। इन्होने कई छन्द विविधराग–रागिनियो मे प्रयुक्त किये। ये अलंकारो मे मर्यादाशील बने रहे। अलकारो के कारण कही स्वाभाविकता समाप्त नही हुई। इनके काव्य मे काव्यरूपो की विविधता और मौलिकता के भी दर्शन होते हैं। विभिन्न राग-रागिनियो मे निबद्ध इन कवियो की कविता काव्य संगीत एव भक्ति का मधुर संयोग बनकर आती है।

उपसहारतः गुजरात के इन जैन सतो की वाणी भी भारत व्यापी सत परम्परा की एक अविच्छेद कडी प्रतीत होती है। साथ ही इन कवियो की देन मात्र भाषा के क्षेत्र मे ही महत्त्वपूर्ण नही, बल्कि विचारो मे समन्वयवादी, धर्म मे उदार, सस्कृति के क्षेत्र मे व्यापक तथा साहित्य के क्षेत्र मे विविध काव्यरूपो, उदात्त भावनाओ एव कल्पनाओ से परिपूर्ण है।

जैन गजल साहित्य : एक परिचयात्मक आलेख

□डा० भगवतीलाल शर्मा

नूतन काव्य-विधाओं का प्रवर्तन और प्रचलित काव्य-रूपों का परिवर्तन-प्रयोग जैन कवि-सन्तों की अपनी अन्यतम विशिष्टता रही है। ऐसी ही उनकी प्रतिभा की उद्भासक देन है उनके द्वारा रचित यात्रा-परक गजल साहित्य। जैन-संतो की यात्रा-गंगा सदैव प्रवहमान रही है। इस यात्रा गंगा मे जो भी उनका पडाव रहा, वह इस गजल साहित्य मे प्रयाग बन गया है।

गजल अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है स्त्री से बात करना।[1] अत. अच्छी गज़ल वही समझी जाती है जिसमे इश्को-मुहब्बत की बाते सच्चाई और असर के साथ लिखी जाय।[2] गजल के अन्य शाब्दिक अर्थ हैं घटा, घटे की आवाज, प्रेम की कविता, फारसी या उर्दू का एक छद।[3] जैन-कवियो द्वारा रचित गजल साहित्य परिवर्तित वर्ण्यविषय और इस छद की गेयता दोनो लिए हुए हैं। "लोक-प्रचलित इस गजल साहित्य का उर्दू काव्य की गजल से न तो बाह्य रूप मे कोई साम्य है और न वर्ण्य विषय मे ही।[4]

छंद और संगीत के निर्माण-तत्त्व समान है। संगीत की शैली पर निर्मित गजल भी ऐसा ही छद है। अपने अभिष्ट की अभिव्यक्ति हेतु इस परि-वर्तित छन्द-स्वरूप को अपनाकर जैन-कवियो ने अन्य भाषा के छन्दो के प्रति अपनी हृदय-विशालता और संगीत प्रेम का परिचय दिया तथा काव्य की एक विशेष विद्या का वह वट-वृक्ष लगाया जो अनुभूति और अभिव्यक्ति का हर दृष्टि से अनूठा है।

इस गजल साहित्य मे हमे पंजाब, बंगाल, राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश आदि के विस्तृत भू-खण्ड के लाहोर, बीकानेर, जोधपुर, गिरनार, भावनगर, उदयपुर, कापरडा, सूरत, खंभात, बडोदा, पाटण, डीसा, पोरबन्दर, मुर्शिदाबाद,

---

१. उर्दू साहित्य का इतिहास: एहतिशाम हुसैन पृ० ३५५,

२ हिन्दी साहित्य कोश प्रथम भाग संपा डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि, पृ० २२५.

३ अवधी कोश रामाज्ञा द्विवेदी "समीर": पृ० ६४.

४ हिन्दी साहित्य के शृंगार-युग में संगीत काव्य: डा० हेम भटनागर पृ० २५६

इन्दौर, मंगलोर आदि नगर विशेषों का चित्रात्मक वर्णन प्राप्त होता है ।[५]

इस काव्य-विद्या को विशेष छन्द के ढग पर गाये जाने के कारण ही गजल नाम दिया गया है । चार-चार वर्णों पर यति लिये हुए इसमे आठ वर्णों की एक पक्ति होती है । अधिक वर्ण हुए तो ताल की चार मात्राओ मे उन्हें समाहित कर दिया जाता है । प्रत्येक पक्ति के बीच मे कि, क, के शब्दो को रखकर दूसरी पक्ति को उसी लय और ताल में पकड लेना इसका विशेष ढग है ।

विशेष काव्य-विद्या की दृष्टि से ही नही, इस यात्रा-प्रधान साहित्य की सास्कृतिक महत्ता भी है । तत्कालीन नगर-व्यवस्था, रचना, उसकी प्राकृतिक छवि, खान-पान, वेश-भूषा, रीति-रिवाज, व्यापारिक-समृद्धि, उद्योग-धन्धे, विदेशो से व्यापारिक सम्पर्क आदि का सकेत हमे इनमे मिलता है । सास्कृतिक दृष्टि से समृद्ध इन काव्यों मे तद्युगीन शासक और शासन-व्यवस्था इत्यादि का इतिवृत्त प्रस्तुत कर इन गजलो को ऐतिहासिक दृष्टि से भी समृद्ध और सम्पन्न बनाने का प्रयास किया गया है । काव्य, इतिहास और सस्कृति-तीनो ही दृष्टियो से यह गजल साहित्य अनूठा है । अतिशयोक्ति नही होगी यदि इन्हे इनमे वर्णित नगरो का तत्कालीन 'गाइड' कहा जाय ।

अभिव्यक्ति पक्ष भी इन गजलो का समृद्ध है । गजलो मे उस समय साधारण भाषा का ही प्रयोग किया गया है जिससे इनमे अनूठी स्वाभाविकता और सरलता-सरसता का सचार हो गया है । काव्यो में प्रचलित जन-भाषा के प्रयोग यो ही बहुत कम मिलते हैं । इन गजलों मे १८ वीं, १९ वी, २० वी विक्रम शती की जन-जिह्वा भी मिलेगी जिसका अपना भाषा वैज्ञानिक मूल्य है । इन गजलो मे गजल, रेखता के अतिरिक्त दोहा, सोरठा, पद्धरी, हाटकी, हणफाल, कवित्त, छप्पय, लावणी, मोतीदाम आदि छदो के प्रयोग से पर्याप्त छंद-वैविध्य भी विद्यमान है । भाषा प्रसाद और माधुर्य गुणोपेत है जिसमे वयण-सगाई, अनुप्रास, रूपक, उपमा, स्वभावोक्ति, उत्प्रेक्षा आदि अलकारों को भी यत्र-तत्र प्रयुक्त किया गया है । इनसे वर्णन और भी आकर्षक बन गये है । इनमे मंगलाचरण भरत वाक्य, कलश कवित्त रखने आदि की काव्य-रूढ़िया भी मिलेगी ।

यह गजल साहित्य मात्रा में भी अल्प नहीं है । २०-२५ छन्दो की लघु रचनाओं लेकर २००-२५० छन्दो तक की रचनायें बहुतायत से उपलब्ध होती है जो भिन्न-भिन्न कवियो की वर्णन क्षमता की द्योतक हैं । इसका अल्पाश पद्म श्री मुनि जिन-विजय, श्री अगरचन्द नाहटा, श्री मुनि कान्तिसागर आदि द्वारा प्रकाश मे भी लाया गया है ।

आगे कतिपय प्रमुख गजलो का परिचयात्मक आलेख प्रस्तुत किया जाता है—

---

५. जैनेतर कवियो का आबू (चेलो) दुगोली गाव (अर्जुन), उदयपुर (भोज) आदि पर लिखा गया गजल साहित्य भी उपलब्ध होता है । ब्रज भाषा मे कवि नन्ददास की रचना 'वियोग बोली गजल' भी मिली है ।

१. आगरा गजल:

इसके रचयिता लक्ष्मीचन्द है और इसकी रचना सं० १७८० आषाढ शुक्ला त्रयोदशी को हुई।[६] गजल मे ६४ पद्य हैं जिनमे आगरा की उत्पत्ति और इतिहास-कथन कवि का उद्देश्य रहा है —

सरसती माता सुभावनी क, देहो दास कु जानी क।
अकबराबाद की टुक आज, उतपति कहत है कविराज ॥१॥

कवि ने नगर के सौन्दर्य मे अभिभूत हो गजलान्त मे अपनी मनोकामना इस तरह अभिव्यक्त की है—

अकबराबाद है ऐसा क, लाखयं इन्द्रपुर तैसा क।
सब गुन सहर हे भरपूर, देखत जात है दुख दूर ॥६१॥

जब लग गगन ग्ररू इदाक, पृथवी सूरगनचदाक।
सुवसो तब लगं पुर एह, महर आगरा गुन गेह ॥६२॥

२. इंदौर वर्णन.

इसका रचयिता अज्ञात है। दोहा, पद्धरी आदि विभिन्न छन्दो मे इसके अज्ञात रचियता ने इन्दौर वर्णन प्रस्तुत किया है —

दोहा . सकल गुणं करि सोहतो, सकल देश सिरदार।
अति इन्दौर उद्योत है। सब जाणत ससार ॥१॥

छद पद्धड़ी . सब सिरं सहर इन्दौर साच, वर्णवु गुनह तिनके जु वाच।
जिण नगर मांहि घनवाण जाण, वलि बुद्धि सुद्धि बलवत बखाण ॥

छन्दों की भाषा अत्यन्त सरल है और इनमे 'वयण-सगाई' 'शब्दालकार' का सफल निर्वाह हुआ है।

३ उदयपुर गजल:

यह खरतरगच्छीय जैन कवि खेतल की ८० पद्यो की रचना है जो उन्होने राणा अमर-सिंह के राज्यकाल मे सं० १७५७ के मार्गशीर्ष मे रची—

खरतर जती कवि खेताक, आखै मौज सु एताक।
राणा अमर कायम राज, लायक सुन जस मुख लाज ॥७८॥

सवत सतरं सतावना, मिगसर मास धुर पख धन्न।
कीन्ही गजल कौतुक काज, लायक सुणतसु मुखलाज ॥८०॥

इसमे सर्वप्रथम मेवाड के राज्यवश के इष्टदेव श्री एकलिगजी का स्मरण किया गया है और तत्पश्चात् वहा के प्राकृतिक-सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। गजल मे राणा अमरसिहजी का यश वर्णन भी कवि ने किया है—

जपूं आदि इकलिगजी, नाथ दुवारं नाथ
गुण उदयापुर गावता, सता करा सनाथ ॥१॥
सघन अब गिरिवर सघन, सिखर रमै सुर राय।
राठ सेन सुप्रसन रही, प्रथम नमता पाय ॥२॥
वाड़ी, तलाब, गिर, बाग, बन, चक्रवर्ति ढलते चमर।
अन भग जग कीरत अमर, अमरसिह जुग-जुग अमर ॥७६॥

---

६. सवत सतरं मं असी बया क, आषाढ मास चित वसियाक। सुदि पख तेरमी तारीख, कीनी गजल धुए बारीक ॥६३॥
अपनी बुद्धि के सारू क, कीनी गजल ए वारू क।
लखमी करत है अरदास, नित प्रति कीजिए सुविलास ॥ ॥६४॥

२. कापड़रा गजल

जोधपुर-बिलाडा मार्ग पर स्थित कापरडा जैन-समाज का प्रसिद्ध तीर्थ है। इसी श्रद्धा-स्थल को वर्ण्य बनाकर तपागच्छीय यति गुलाब विजय ने ३१ पद्यो की यह लघु-रचना संवत् १८७२ की चैत्र कृष्णा तृतीया को रची।[७] उस समय कापरडा मे राठौड खुशालसिंह का राज्य था और नगर की धन-धान्य सम्पन्नता देखते ही बनती थी--

माम नृपति महाराज आज अधिक यश गाजै।
कापरडे कमधज खुशालसिंह नित राजै ।।३१।।

ज्ञानी ध्यानी बहुगुणी, पाखंड रहे न कोय।
इण खडे जनपुर अधिक, रग रली घर होय ।।४।।

गिरनार गजलः

यह खतरगच्छीय यति कल्याण की रचना है—

खरतर जती है सुप्रमाग, कवि यु कहत है
कल्याण ।।५४।।

कवि ने सर्व प्रथम मगलाचरण प्रस्तुत करते हुए तत्कालीन नरेश का परिचय भी दिया है—

वर दे माता वागेसरी, गजल कहु गुण खाग।
जबर जग है जीर्ण गढ, वाचा ताम वखाण ।।१।।
महबत खान महीपति, रघु विराजै राज।
गय थट्ट हय थट्ट गाजता, सब ही सारै साज ।।२।।

तत्पश्चात् कवि ने वहा के देवालयो आदि का अनुपम चित्र खीचा है—

दिन दिन होत है दैकार,
गिरवर गाजते गिरनार।
दामोदर कुण्ड है सुखदाय
करतां स्नान पातक जाय ।।१।।

देवल ऊच है धज दण्ड,
नीचे खूब खेनी कुन्ड।
भवेसर नाथ सांचू देव,
भारत लोक जाकी सेव ।।२।।

कवि ने वहां के अनुपम नारी समाज का संकेत देते हुए सं० १८३८ माह वदि-२ को अपनी रचना समाप्त की—

असी नारिया अलेख,
उपमा कही ऐमी देख।
संवत अढार अडतीसैक,
महा वदि बीज कै दिवसैक ।।५१।।

गिरनार जूनागढ़ वर्णन

यह तपागच्छीय कवि मनरूप विजय की कृति है। कृति मे इसका रचनाकाल तो ज्ञात नही होता, परन्तु कवि की अन्य कृतियो को दृष्टि मे रखते हुए यह रचना स. १८६० के आसपास की होनी चाहिये। कवि ने सौराष्ट्र स्थित इस तीर्थ स्थल को देखने का निमन्त्रण देते हुए आना यह अपना यह वर्णन समाप्त किया है—

जूनोगढ जग येष्ट, श्रेष्ट वानी तिहा सो है।
दल सव्वल दईवान, मन्त्र जन देखत मोहै ।।
श्रावक जिहा सुखकार, पार जिनका कुन पावै।
धरम करन धनवान, गुणह बढ बडे जु गावै ।।

---

७ संवत अठारह जाणुंक, बरस बहुत्तर आणुक। चैत्र मास है चगा, वद पख तीज दिन रगा ।।२९।।
तपागच्छ यति है गुलाब, किया इस गजल का जाब। जिसने कहिमै कैसीक, आंखिया देखी ऐसी क ।।३०।।

तिण देश तीर्थ शत्रुञ्ज शिखर,
बले गिरनार बखाणियै ।
मनरूप विजय कवि कहै मरद,
अवस सोरठ चित आणिये ।।१।।

(७) चित्तौड़ गजल :

यह कवि खेतल का कृतित्व है और इसकी छद स० ५६ है। इसका रचना काल स० १७४८ श्रावण वदि १२ है।[८] वर्णन मे कवि की दृष्टि धर्म-निरपेक्ष एवं व्यापक रही है—

गढ चित्तौड है बंका कि, मानु समद मे लका कि ।
विडइ पूरत लहलवती, अरुगभीर तीर रहति कि।।२।
अला दैति अल्लावदिन, बधी पुल बडी पदवीन ।
गैबी पीर है गाजी कि, अकबर अवलियौ राजी कि।।३।।

(८) जैसलमेर गजल :

यह गजल कल्याण कवि की है जो उन्होने स० १८२२ के बैसाख के शुक्ल पक्ष मे बनाई—

वरणे चौतरफ वाखाण,
पांचु कोश की परिमाण ।
सवत अठारसै बावीस,
सुद बैसाख सुभ दीसे क ।।१२८।।
भाषा गज़ल की भाखी क,
अपणी उकत परि आखी क ।
वाचत पढ़त जण वाखांण,
कीजै प्रभु नित कल्याण ।।१२९।।

उस समय महारावल वैरीसाल का शासन-काल था—

वैरीसाल तिहां वका क,
शाहि को करे अर शका क ।।५।।

गजल काफी लम्बी है और उसमे १२९ पद्य है।

(९) जोधपुर वर्णन गज़ल :

इस गजल के रचनाकार तपागच्छीय यति गुलाब विजय थे। गज़ल का रचना समय स.१९०१ पौष कृष्ण १० है—

पोसह मास वलि वदि पक्ष,
दसमी तिथह भृगु परतक्ष ।
खमजो सुकवि चित्तहि लाय,
बालक रीत कीनी धाय ।।१०२।।

गजल की भाषा सरल होने से सुग्राह्य है—

जोधहि नगर है कैसाक,
भानु इन्द्रपुर जैसाक ।
कहियै सोभ तिन केतीक,
अपनी बुध है जेतीक ।।१।।

(१०) जोधपुर नगर वर्णन गज़ल

इस गजल के रचयिता हेम कवि है। ये तपागच्छीय नेम विजय के शिष्य थे। यह गजल इन्होने स० १८६६ कार्तिक सुदि १५ को रची—

---

८. खरतर जती कवि खेताक, आखै मौज मु एताक ।।५४।।
सवत सतरैसै अडताल, सावण मास ऋतु बरमाल। वदि पख वाखी तेरी कि, कीनी गजल पढ़ियो ठीकि ।।५५।।

वली अठार छासठ वर्ष,
हिकमत करी काती हर्ष ।
निपट ही पूर्णिमा तिथ नीक,
ठावी गजल कीनी ठीक ॥४६॥

छन्दो मे दोहा, गज़ल कवित्त इत्यादि प्रयुक्त हुए हैं और कुल छंद संख्या ४६ है। वर्णन का एक कवित्त द्रष्टव्य है—

योधनयर जग जाण, इन्द्रपुर ही सम ओपत ।
बाजत वज्ज छत्तीस, नित्य उच्छव कर नरपति ।
राज ऋद्ध बड़ रीत, प्रीत नर नार रू पेखो ।
अही मूर चद अडिग, दुनी वाड़ नर थे देखो ।
वाह जी वाह ओपम वडिम,
मनुष्य घणा मुख माण री ।
कवि दिट्ठ जिसड़ी कही,
जग शोभा जोधाण री ॥४७॥

(११) जोधपुर वर्णन गज़ल :

त्रुटित प्रति होने के कारण इसके रचयिता अज्ञात है और इसका रचना काल भी।[९] वैसे महाराज मानसिंह के समय मे इसकी रचना हुई थी—

राज करे राठौड़ वर, श्री मानसिंह महाराज ।
अटल आण वरतं अखड, इसड़ो अवर न आज ॥४॥

महाराज मानसिह का समय स० १८३९ से सं० १९०० है।[१०] कवि ने मगलाचरण प्रस्तुत कर वर्णन किया है–

सारद गणपति शिरनवु, निश्चै इक चित्त होय ।
गढ जोधाणो वर्णवुं, मोटी बुद्धि द्यो मोय॥२॥

सब ही गढ़ा शिरोमणि, अति ही ऊंचो जाण ।
अनड़ पहाड़ा ऊपरे, जालम गढ़ जोधाण ॥२॥

(१२) झीगोर गज़ल :

इसके कवि जटमल हैं। आप नाहर गोत्रीय जैन श्रावक थे। इस गज़ल में कवि का वर्ण्य झीगोर नगर की एक नारी रही है—

झीगोर कोटां खूब देखी नारी एक सुनार की ।
मन लाइ साहिब आप सिरजी पत सिरजणहार की ।
मुख चद मुंह निसाण चाढे नैन घासी सार की ।
अलि मस्ति आछी नाजि नखरा कली जान अनार की।

(१३) डीसा गज़ल :

यह खतरगच्छीय जैन यति देव हर्ष की[११] १२१ पद्यों की रचना है जिसमे डीसा का बडा सुन्दर वर्णन प्रस्तुत हुआ है—

बीन उपदेश कथीर जुं, पहिर खुशी नही होय ।
हीरा मणि माणक सही, लीला कवि जन लोय ॥२॥
धर नीली धाण धार मे, गुणीयल नर शुभ गाम ।
नग फण रस कस नीपजं, धवल नवल सुख धाम ॥३॥

(१४) नागौर वर्णन गज़ल :

यह गज़ल कवि मनरूप ने महाराज मानसिंह के समय मे सं० १८६२ मे रची जिसका कवि ने इस तरह उल्लेख किया—

महोपति मानसिंह महाराज, सबही भूप का सिरताज ।
उग बल प्रबल अरियण खेस, डडही भरे दस ही देस ॥२॥

---

९. राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज : द्वितीय भाग संपा. श्री अगरचन्द नाहटा : पृ० १०५ ।

१०. परम्परा : भाग १५–१६ : पृ० ३४१–३४६.

११. पुण्य सुजस कोधी प्रगट, जिहा सिद्ध अंबा माता धणी ।
कवि देवहर्ष मुख थी कहै, दीयै सुजस लीला धणी ॥१२१॥

गजल के अन्त का कवित्त इस प्रकार है—

गजल सुणी जे गुणी भली तिनके मन भावें ।
सुणें राव राजान, उमग तिनके चित आवें ।
पंडित गुणै प्रवीण, हरख उपजै हिय उलट सें ।
अवर सुणें नर नार, बढे चित्त माया विल सें ।
नग रतन सहर नागोर है, कहो कीरत केती करां ।
कूड नही जाण तिलमात कथ, निरख दाद देज्यो नरां ।।८३।।

(१५) पाटण गजल

इसके कर्त्ता खतरगच्छीय देव हर्ष है।[१२] इस कृति की पद्य संख्या १४५ है। इसे कवि ने स० १८५६ के फागुन मास मे बनाया।[१३] रचना की बानगी इस प्रकार है—

धर नीलो मदिर धवल, अक्षय लाछि अलक्ष्य ।
सर्व लोक सुखिया वसैं, खूबी कहै खलख्य ।।४।।
रथ पायक हय गय घणा, दिन दिन चढते दाव ।
गायक वाल गाजे गुहिर, राज करै हिन्दू राव ।।५।।

(१६) पाली नगर वर्णन

कवित, ढालादि मे यह किसी अज्ञात जैन कवि की रचना है। इसमे कृत्ति का रचना-काल भी नही दिया गया है। नगर वर्णन का आदि-अन्त इस प्रकार है—

आदि—

पाली नगर सुहामणो, देख्यां आवें दाय ।
वर्णन ताको अब वदूं, सामरा करत सहाय ।।१।।

अन्त—

आण वहै जिननी सदा रे, प्रमुदित मन ससनेह ।
नाम जपै श्री पूज्य नो रे, ज्यूं बाबैया मेह ।।

(१७) पूरब देश वर्णन

इसके रचयिता ज्ञानसार हैं। आप खरतर गच्छीय रत्नराज गणि के शिष्य एव मस्त योगी एवं राज्य मान्य विद्वान थे। इस वर्णन मे १३३ पद्य है और कवि की अन्य रचनाओ को दृष्टि मे रख कर इसका रचनाकाल स० १८५६ और स० १८८१ के बीच माना जा सकता है। रचना का आदि-अन्त अधोलिखित है—

आदि—

केई मैं देख्या देश विशेषा
नतिरे अब का सब ही मे ।
जिह रूप न रेखा नारी पुरुषा,
फिर फिर देख्या नगरी मे ।।

जिहा काणी चुचरी अधरी बधरी,
लगुरी पगुरी हवै काई ।
पूरब मति जाज्यो, पच्छि जाज्यो,
दक्षिण उत्तर है भाई ।।१।।

अन्त—

घणु घणु क्या कहूं, कह्यौ मै कवित कोई ।
सब दीठौ सब लहै, देश द ठो नही जाई ।।

---

१२. पाटण जस कीधो प्रगट, जिहा पचामर त्रिभुवन धणी ।
कवि देवहर्ष मुख थी रटै, कुशल रग लीछा घणी ।।१।।

१३. सवत अठार उगणसठ वरस, फागण वाणी सु दिखी सरस ।।१४४।।

जाणी जेती बात, तिती मे प्रगट कहाणी ।
भूठी कथ नही कथी, कही है साच कहाणी ।।
पिण रहिस हूं इक बात रौ,
तन सुख चाहै देह धर ।
नारण घरी अरू क्या पहर,
रहे नही सो सुघड़ नर ।।१।।

(१८) पोरबन्दर (सोरठ देश) वर्णन .

यह 'गिरनार जूनागढ वर्णन'-कार मनरूप कवि की रचना है । इस वर्णन के २६ पद्यो मे कवि ने पोरबन्दर का वर्णन इस प्रकार रखा है—

तिण देश पुरहविदर प्रसिद्ध,
वर्णंवू ताहि गुन सुन विवुद्ध ।
कीरति ताहि की सुनहुं कान,
अलकापुरी जू ओपम जु आन ।।१।।

(१९) बड़ोदरा गज़ल ·

इसके रचयिता कविराज बहादुर तपागच्छीय रत्न विजय के शिष्य दीप विजय है । इसकी रचना तिथि स० १८५२ मार्ग शीर्ष शुक्ला १ शनिवार है जो रचना के अन्तिम कलश सवैया मे इस प्रकार है—

पूरण किद्ध गजल अवल्ल
अढार सै बावन चित्त उल्लासे ।
थावर वार मृगशिर तिथि
प्रतिपद पक्ष उजा से ।।
उदयो तले थाट उदय सूरि पादह लक्ष्मी
सूरि जिम भान आकाशे ।
प्रमेय रत्न समान वरनन सवक
दीप विजय इम भासे ।।

(२०) बीकानेर गज़ल :

यति उदयचन्द्र विरचित इस गज़ल की रचना महाराज सुजाण के समय स० १७६५ के चैत्र मास मे हुई । कृति का अन्तिम भूलणा छद इस प्रकार है—

सवत सतर पैसठ रे मास,
चैत्र मे गज़ल पूरी कीनी ।
माता शारदा के सुपसाइ सुं रे,
मुझे खूब करण की मति दीनी ।।
बीकानेर सहिर अजब है च्यारूं,
चक मे ताकी प्रसिद्धि दीनी ।
उदैचन्द आनन्द सु युं कहै रे,
चतुर माणस के चितमाहि लीनी ।।
चावो च्यारे चक मे नवखण्ड मेरे,
प्रसिद्ध बघो बीकानेर बाइ ।
छत्रपति सुजाण सा जुग जुग जीवो,
ताके राज्य मे बाजते नौबत थाइ ।।
मनसुं खूब वणाई कै रे सू सुणाइ
के लोक सुवास पाई ।
कवि चन्द आणद सुं यु कहै रे
ध्रू धू ध्रू धू धूं खूब गजल गाई ।।

(२१) बीकानेर गजल

इसके कवि लालचन्द है । गजल मे १६१ पद्य है । कवि ने नगर म होंने वाले व्यापारादि का वर्णन इन शब्दो म किया है—

मोती किलंगी मालाक, वागे जरकसी बालाक ।
लाखूं हु डिया ल्यावे क,
जनसा माल ले जावे क ।।६२।।

गजल की रचना समय स० १८३८ ज्येष्ठ सुदि ७ रविवार है—

समत अढार अडतीस मे, बीकानेर मभार ।
जेठ सुकल सप्तम दिने, साचो सूरजवार ।।१६०।।
लालचन्द की लील सु, कही खेत धर हेत ।
पढै गुणे जे प्रेम धर, जे पामै लछ जैत ।।१६१।।

(२२) बंगाला (मुर्शिदाबाद) की गजल :

दोहा, गजल, रेखता आदि मे यति निहाल ने इस गजल का निर्माण किया है—

गजल बगाला देश की भाषित जती निहाल ।
मूरख के मन ना बसै। पडित होत खुस्याल ।।

इसका रचना-समय सं० १७८२-१७६५ के मध्य है।[१४] दो एक छन्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

गजल अवल देश बगाला कि,
नदियां बहुत है नाला कि ।
संकडी गली है वहा जोर,
जगल खूब घिरे चहुं ओर ।।
नवलख कामरू इक द्वार,
दस्तक बिना नही पैसार ।
बाए हाथ बहती गग,
दक्षिण ओर परबत तुंग ।।

रेखता

यारो देश बंगाला खूब है रै जिहां
बहत भागीरथी आप गगा ।
जिहा सिखरसमेत पर नाथ पारस
प्रभु झाडखंडी महादेव चंगा ।।
नगर पचेट मे रघुनाथ का बडा
न्हाण है गगा सागर सुमंगा ।
देश उडीसा जगन्नाथ अरू वा कुंड
के न्हात सुध होत अंगा ।।

(२३) भावनगर वर्णन गजल :

यह ३२ पद्यों की लघु रचना है जिसके रचयिता भक्ति विजय हैं और इसे उन्होंने सं० १८६६ कार्तिक पूर्णिमा को बनाया—

संवत अठार छासठ साच बलि
तिहां मास कार्तिक वाच ।
पूनम सकल को दिन देख,
बदी है गजल भाव विशेष ।।३१।।
तप गच्छ धणी तालावंत,
विजैजिनेन्द्र सूरि शोभंत ।
सेवक भक्ति विजय कर सेव,
पढी है गजल पूज पच देव ।।३२

(२४) भावनगर वर्णन :

यह तपागच्छीय नेमविजय के शिष्य हेम की रचना है। इसकी रचना भी स० १८६६ की कार्तिक पूर्णिमा को हुई।[१५] इसमे २५ छंद है जिनमें दोहा, त्रोटक इत्यादि व्यव्ह त हुए है। वर्णन का एक त्रोटक छन्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जाता है—

गहिरो अत देश गुज्जरयं,
निज धम अह्याजु नारी नरयं ।
धणी ऋद्धि वृद्धि जिये घर मे,
धरे चित्त सुवत्त दया धरमे ।।
पडित नेम गुरू के पसाव,
मन शिष्य हेम उज्जल सुभाव ।
सुनकै जु रीझ है नर सयान,
वाह जू वाह वदइ महीवान ।।२४।।

(२५) मंगलोर (सोरठ) वर्णन

इसके कवि जोढण हैं। यह १४ छन्दों की लघु रचना है जिसमे कवि ने दोहा, पद्धरी, छप्पय आदि छदों मे सौराष्ट्र के मागलोर नगर का वर्णन किया

१४. राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज : द्वितीय भाग . संपा. श्री अगरचन्द नाहटा· पृ० १५२।

१५. संवत अठारह छासठै, पूनम कातिक पेख।
भावनगर का गुण भला, बरण्या कवि विशेष ।।

है । वर्णन का एक पद्धरी छंद उदाहरणार्थ रखा जाता है—

मगलोर सहर मोटे मंडाण,
ज्योत जगत माहि कैलास जाण ।

पहलो जु कोट अत ही प्रचंड,
नहीं इसौ अवरन वहीं गु खण्ड ।।

कवि ने वर्णन के अन्तिम छप्पय मे अपने गुरू एवं गच्छ इत्यादि की सूचना इस प्रकार दी है—

तरूण तेज गच्छ तपै, विजय जिनेन्द्र सूरीश्वर ।
ज्ञानवत गम्भीर, नमै सहू को नारी नर ।।

योग अष्ठ विध जाण वाण अमृत सत वदियत ।
संग सकल मिल सदा, निज उच्छव करते नित ।।

देश परदेश माहे दीपत,
जीपन अष्ट कर्मह अरी ।

कीरत सत गच्छ पति तणी,
कव जोद्धण सैरह करी ।।१४।।

(२६) **मरोट गजल**

इसके रचयिता यति दुर्गादास है । इस गजल को उन्होने दीपचन्द के आग्रह पर स० १७६५ पोष कृष्णा ५ को बनाया—

सम्मत सतरै पैंमठै, पोह वदी पाचम्म ।
श्री गुर सरसती सानिधै गजल
करी गुण रम्य ।।१।।

आग्रह दीपचन्द उल्हास,
कहता जती यूं दुरगादास ।

सुण है दीजियो स्याबास,
गजल खूब कीनी रास ।।

२७. **मेडता वर्णन गजल** :

यह मेडता वर्णन कवि मनरूप ने किया है । आप तपागच्छीय भक्तिविजय के शिष्य थे—

सब ही गच्छ मे सिरताज,
राजत अटल तप गच्छ राज ।
भक्ति ही विजय गुण भारीक,
जाकु खबर घर सारीक ।।४७।।

इस गजल में ४८ पद्य हैं और इसकी रचना स० १८६५ कार्तिक शुक्ला १५ को हुई ।

सम्वत् अठारह पैंसट साच,
वलि सुद मास कार्तिक वाच ।
पखही सुकल पुनम पैरव,
दाखी गजल कवि जन देख ।।४६।।

वर्णन बडा ही सरस बन पडा है—

सबही में सहर जु, सिरह पुरह मेदनी पिछानौ ।
इनका गुन अनपार, जाहि म रहस म जानौ ।।

भाव भक्ति जिन भेद, जठे श्रावक सुखकारी ।
दयावंत दातार निपुण, धर्म मे नर नारी ।।

जिन धर्म मरम जाणण जिके,
हित कर मानव हेर तो ।
सुरपुरी माहि इन्द्रपुर सरस,
पिण मरूधर मांहि मेड़तो ।।१।।

(२८) **मेदनीपुर महिमा छन्द**

मेदनीपुर मेडता का ही अन्य नाम है । इस रचना के रचयिता तपागच्छीय विजयजिनेन्द्र सूरि के शिष्य भक्ति विजय है । यह महिमा छन्द उन्होने स० १८६६ कार्तिक शुक्ला १५ को रचा—

सवत् अठार छासट्ट वर्ष,
इद मास कार्तिक आन हर्ष ।
पूनम जु प्रथम कुजवार पेख,
वड तप गच्छ दिपत विशेष ।।३७।।
विजैजिनेन्द्र सूरि भरपुरि राज,
कर तेज धर्म के केई काज ।
कवि कहत भक्त कर विम्हु जोड,
मेड़तो सदा मुरधरा मौड़ ।।३८ ।।

इसमे ३६ पद्य है जिनमे से निम्नांकित पद्धरि छंद अवलोकनार्थ दिया जाता है—

> द्रिग दिट्ठ मिट्ठ मरुधरा देश,
> वलि शहर मेडता है विशेष ।
> बड कवि करत तिनके बखान,
> मानव जू सत यह सतमान ।।१।।

इसके छन्दो मे राजस्थानी के शब्दालकार 'वयग-सगाई' का भी सुन्दर निर्वाह किया गया है। दृष्टान्त स्वरूप अधोलिखित छन्द के चारो चरणो मे इसका निर्वाह द्रष्टव्य है—

> नाभि नन्द नित नित नमु, शान्त नेम सुख कार ।
> पारस श्री वर्द्धमान प्रति, धर्म ध्यान चित्त धार ।।

(२९) लाहोर गजल

इसके रचयिता नाहर गोत्रीय जैन श्रावक जटमल है जो मूलतः लाहोर निवासी थे। [16] कवि ने गजल के ५६ पद्यो मे शहर की बसावट, रावि नदी की शोभा, फलो की बहार आदि का सुन्दर वर्णन किया है।

> देख्या सहिर जब लाहौर,
> विसरे सहिर सगले और ।
> रावी नदी नीचे वहै,
> नावा खूब ढाली रहै ।।१।।
> बोले बत्तरा, बग तीर,
> निरमल बहै आछा नीर ।
> बसतो सहिर है चौगास,
> बारह कोश गिरदी वास ।।२।।
> है जिहां जाइ गुल रग,
> लाल गुलाब बहुत सुरंग ।
> चिपल, राइबेल, चबेल, मरुआ,
> मौगरा, गुल, केल ।।५४।।
> कितेइक नागणी के फूल,
> कणेयर, कवल, मालति मूल ।
> शोभा नगर की अनेक,
> जटमल कहै केती एक ।।५५।।

(३०) सांडेरा छन्द

पूर्व प्रति उपलब्ध न होने के कारण इसके रचयिता और रचना-काल अज्ञात है। 'छन्द' मे दोहा और हाटकी इत्यादि प्रयुक्त हुए है। छन्द हाटकी उदाहरण-स्वरूप दिया जाता है—

> सकल देश मा सिर देश,
> अनोपम गुणवन्त गोढाण ।
> वसहे भल्ला सहिर अवल्ला,
> साडेरा शुभ ठाम ।।
> प्रबल प्रतापी दिनकर सरिखो,
> पाल राज प्रमाण ।
> एसो साडेरा नगर सवाई,
> परगट पुण्य प्रमाण ।।१।।

(३१) सिद्धाचल गजल

यह खरतरगच्छीय यति कल्याण की रचना है जो उन्होने स० १८६४ की भाद्र शुक्ला १४ को किसी दौलत के हितार्थ बनायी। [17] गजल मे दोहा, हिरणफाल आदि ६६ छन्द है। छन्द हिरणफाल का उदाहरण दिया जा रहा है—

---

१६ लहानूर सुहावना देख्या होत अनन्द । कवि जटमल वर्णन करि होत सुखकन्द ।।५६।।

१७ सवत अठार चौसहैक, भाद सुद चउदसी ठेक । कीनी गजल दौलत हेत, चित मे धार अखर समेत ।।६८।।

गुणवंत पाहु के गहगीर,
पूरत हरत तन की पीर ।
भूषण वाब है भल्नीक,
वड घन घटा है बल्लीक ।।१।।

(३२) **सूरत गजल :**

इसके रचयिता तपागच्छीय यति दीप विजय है । गजल मे ८३ छन्द है । इसकी रचना स० १८७७ मार्ग शीर्ष-२ को हुई—

सतोतर सतवों अठार,
मिगसर मास द्वितीयासार ।
वरण्या दीप श्री कविराज,
सुरत सेहर को साम्राज ।।८२।।

'सब सेहारा सिरताज, सूरत सेहर नगीनो' का वर्णन कवि ने यह लिख कर किया है—

सूरत शहर है सुथानाक, बिदर दीपता दानाक ।
अलका भूमि पै आईक, कोट कोट सै पड खाईक
।।१।।
पूरे लोक से पूरेक, अमर वास कु धुरेक ।
शोभा देत है कमठाण, अटूटा पहुंचती असमान
।।२।।

(३३) **सोजत वर्णन गजल :**

इसके कवि तपागच्छीय पं० भक्ति विजय के शिष्य मनरूप है । यह गजल उन्होंने मरुधर नरेश महाराजा मानसिह के समय स० १८६३ कार्तिक शुक्ला १५ को बनायी —

भनु जिहा मानसिंह भूपत्ति,
राग छत्तीस सुगा है रत्त ।
वाका तेज का वाखान,
रटने सदा राव कौ रान ।।२।।
संवत अठार तेसठह याच,
वलि सुद मास कार्तिक वाच ।
पूनम तिथ के दिन पेख,
दरस ही वजाल कीनी देख ।।६१।।
(छप्पय)

गज़ल मे ६३ पद्य है । इसका अन्तिम कलश कवित्त इस तरह है —

गजल कही गुणवत भला, कवि तिण मन भावे ।
रीझै राव ही राण सुणै, नर अवर सरावै ।।
सवन वल अवहु बेद भेद, वाचे सु वखाणै ।
चारण भाट ही चतुर जिके, गुण बोहोला जाणै ।।
सोझाली नयर करनी मुकव, जे जे ठौड हुंती जीती ।
कवि मनरूप अरजह करे, गुन सब रीझौ गहो पती
।।६३।।

इन गजलो का वर्ण्य-विषय कोई प्रान्त नगर आदि ही नही रहा है, नगर की नारियो की छवि भी आध्यात्मिक रूपक के बहाने इनमे उतारी गई है । ऐसी एक दो उपलब्ध गजलो का परिचय दिया जाता है —

(३४) **नारी गजल :**

इसके रचयिता महिमा समुद्र है ।[१८] इस कथन से सिद्ध होता है कि इसकी रचना मुल्तान मे शाहजहा के समय मे हुई—

पतिसाही सहर मुलतान,
दिसे जरकां का थान ।
कायम राजा साहजहान,
उग्या जाणे सम्मी भाण ।।३४।।

---

१८. महिमा समुद्र मनि इल्लोल,
कीधा कछु कवि कल्लोल ।
सुणकर सुख पावइ छयल,
ही हीं हसइ मूरिख बयल ।।४०।।

इसमें सुनार जाति की किसी सुन्दरी का वर्णन है।[१६] कवि लिखता है—

देखि कामिनी इक खूब,
उनके अधिक इहे असलूब।
कहीयई कहसी तमु तारीफ,
देखइ मगन हो यह रीफ ॥१॥
जाणे अपछरा मसहूर,
चमकइ सूर नवसो नूर।
महके स्वास वास कपूर,
पइदावार सम्मी हूर ॥२॥

कवि ने कथन के भेद को समझने का इन शब्दों मे आग्रह किया है—

सुरता लहइ अइशो भेद,
विप्र कि जांणइ वेद।
मोती लाल विणसा,
जाणइ कोण किम तिसा ॥४१॥
इणकी यह है तारीफ,
जडिसइ नेह हरीफ हरीफ।
महिमा समुद्र कह विचार,
सुणता सदा सुख प्यार ॥४२॥

(३५) सुन्दरी गजल

इसके रचयिता जटमल नाहर हैं। इनकी झीगोर गजल मे भी नारी वर्णन ही प्रधान रहा है—यह हम पहिले लिख चुके हैं। प्रस्तुत गजल का भी यही वर्ण्य है जिसमे नारी-सौन्दर्य के साथ साथ उसके शील का भी वर्णन किया गया है—

सुंदर रूप गुण गाढीक,
देखो बाग मूं ठाढी कि।

सखिया वीस दस है साथ,
जाके रग राते हाथ ॥१॥

निरमल नीर सूं नाही क.
डंडीया लाल है लाही क।

ओढण सबे सालू लाल,
चल है मराल कैसी चाल ॥२॥

सुन्दरी तुझ है शाबास,
पुजउ सकल तेरी आश।

अपने कंत सूं रस रग,
कर तू वरस सहस अभंग ॥

राजस्थानी में लिखित जैन गजल साहित्य का यह परिचयात्मक आलेख है। काव्य-रूप, वर्ण्य-विषय और भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से इसका अध्ययन अन्वेषण महत्वपूर्ण है। हिन्दी मे यात्रात्मक साहित्य यो ही अल्प है। यह पद्यात्मक यात्रा साहित्य हिन्दी की श्री वृद्धि मे सहायक होगा। ●●●

१६. कामिण जात की सोन्नार, अइसी का न देखी नार।
ताकी सयल सोभा सार, कहतांम को न पावइ पार ॥३६॥

२१

जीवन्धर चम्पू : एक परिशीलन

डा० भागचन्द्र जैन

१ भूमिका

जैनाचार्यों का सस्कृत साहित्य विषयक अनुराग नितान्त अभिनन्दनीय है। उनकी अमूल्य कृतिया साहित्य की प्रत्येक विधा मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाये हुये है। हर कवि अथवा लेखक का सम्प्रदाय विशेष से स्वभावत सम्बद्ध रहा करता है। अत. समालोचक की दृष्टि पक्षपात की दूषित व्याधि से ग्रसित नही होनी चाहिये। जैन साहित्य के साथ दुर्भाग्य यही है कि पाश्चात्य विद्वानो और उनका अन्धानुकरण करने वाले प्रो० बलदेव उपाध्याय जैसे समीक्षक विद्वान् भी उसे मात्र साम्प्रदायिक साहित्य कहकर एक किनारे कर देते है। ऐसे विद्वान् यह भूल जाते हैं कि कालिदास, भारवि आदि महाकवि भी साम्प्रदायिक ही रहे है। फिर यह साम्प्रदायिकता की मुहर जैन महाकवियो के सिर पर ही क्यो थोपी गई ? वास्तविक तथ्य यह है कि जैन साहित्य का प्रचार प्रसार अपेक्षाकृत बहुत कम हो सका और जो भी हुआ, उसका अद्यावधि सही मूल्याकन नही किया जा सका।

२. जीवन्धर चम्पू और उसका लेखक

संस्कृत साहित्य मे चम्पू साहित्य का विशेष योगदान है। इसमे पाठक को गद्य और पद्य दोनो की संमिश्रित सरसता उपलब्ध हो जाती है। महाकवि हरिश्चन्द्र ने स्वयं लिखा है—

गद्यावलिः पद्यपरम्परा च
प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम्।
हर्ष प्रकर्ष तनुते मिलित्वा
द्राग्बाल्यतारुण्यवतीव कान्ता ॥

अर्थात् गद्य और पद्य दोनो पृथक्-पृथक् रूप से पाठक को आनन्द विभोर कर देते है फिर हमारा काव्य तो दोनो का समिश्रण है। वह निःसंदेह बाल्य और तारुण्य से युक्त कान्ता के समान आह्लाद उत्पन्न करेगा।

चम्पू परम्परा का अवलोकन करने से यह स्पष्ट है कि सर्व प्रथम त्रिविक्रम भट्ट (ई० ९१५) ने नल चम्पू और मदालसा चम्पू लिखे। इसके बाद

सोमदेव (ई० ९५९) ने यशस्तिलक चम्पू और हरिचन्द्र (लगभग १२ वी शती) ने जीवन्धर चम्पू[1] का निर्माण किया। तदनन्तर चम्पू परम्परा और अधिक विकसित हुई।

महाकवि हरिचन्द्र का काल निर्णय अभी तक एक समस्या ही बना हुआ है। उनके विषय मे कोई विशेष ज्ञातव्य सामग्री उपलब्ध नही। मात्र धर्मशर्माभ्युदय के अन्त मे दी गई प्रशस्ति इसके लिए सहायक बनी हुई है। इसके अनुसार कवि मोमकवंश के थे। उनके पिता कायस्थ जातीय अर्द्रदेव तथा माता रथ्या थी। भाई का नाम लक्ष्मण था। गुरु के प्रसाद से महाकवि को विद्या लाभ हुआ था– गुरू, प्रसादादमला बभूव सारस्वते स्रोतसि यस्य वाच –परन्तु गुरू का नाम यहा उल्लिखित नही। अत हरिचन्द्र का समय निश्चित नही किया जा सका। परन्तु उनकी रचनाओ का अन्त स्वरूप देखकर यह सीमा लगभग १२ वी शती निर्धारित की जा सकती है। कवि की रचनाये अभी तक दो ही उपलब्ध हुई हैं—जीवन्धर चम्पू और धर्मशर्माभ्युदय।

जीवन्धर चम्पू की कथा का आधार—

जीवन्धर स्वामी को जैन ग्रन्थो मे क्षुतकेवली कहा गया है। उनका चरित लगभग नवी शताब्दी से कवियो का आकर्षण केन्द्र बन चुका था। प्रस्तुत कथा के प्रमाण का भार यद्यपि कवि ने सुधर्म गणधर पर छोड दिया है (१ १०) परन्तु उसका आधार गुणभद्र का उत्तरपुराण (७५ १८८.६९१), तथा वादीभसिंह सूरि के क्षत्रचूडामणि एव गद्यचिन्तामणि ग्रन्थ है। उत्तर पुराण की पौराणात्मक कथा को जहा कवि ने चम्पू शैली मे गू था है वही वे कौतुकावह स्थलो के शिल्प निर्माण मे उत्तर पुराण व क्षत्रचूडामणि का अधिक अनुकरण नही कर सके।

जीवन्धर की कथा के आधार पर अनेक आचार्यों ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। सर्व प्रथम यह कथा गुणभद्र के उत्तर पुराण (७५.१८८ ६९१) मे उल्लिखित पायी जाती है। इसी प्रकार महाकवि पुष्पदन्त ने भी अपभ्र श भाषा के अपने महापुराण (सन्धि ९९) मे इसे अन्तर्गभित किया है। इसके बाद कवियो ने स्वतन्त्र ग्रन्थो का प्रणयन करने मे इसका उपयोग किया है। वादीभ सिंह सूरि की गद्यचिन्तामणि व क्षत्रचूडामणि, हरिचन्द्र का जीवन्धर चम्पू, शुभचन्द्र का जीवन्धर चरित, तिरुत्तक्कदेवा का जीवकचिन्तामणि (तमिल) रइधू का जीवन्धर चरित (अपभ्र श), भास्कर का जीवन्धरचरित (कन्नड), तेरकनाम्बि बोम्मरस का जीवन्धर सागत्य (कन्नड), कोटीश्वर का जीवन्धर षट्पदी (कन्नड) और ब्रह्मकवि का जीवन्धरचरित (कन्नड) अभी तक प्रकाश मे आ चुके है। सम्भव है, और भी ऐसे ग्रन्थ शास्त्र भण्डारो मे सुरक्षित असुरक्षित स्थिति मे पडे हुए किसी शोधक का मार्ग देख रहे हो।

३ कथानक

जैन कथा ग्रन्थो की रचना का मूल आधार कर्म सिद्धान्त का विवेचन रहा है। जीवन्धर का समूचा चरित इसी का दिग्दर्शक है जिसे कवि ने "नियतिनियत रूपा प्राणिना हि प्रवृत्ति" (७ ३)

---

१ सम्पादक व अनुवादक–श्री प० पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। प्रस्तुत निबन्ध मे इसी प्रकाशन का उपयोग किया गया है। गद्य भाग का सकेत पृष्ठ क्रमांक देकर पद्य भाग का सकेत लम्ब और पद्य क्रम लिखकर दिया गया है।

कहकर अभिव्यक्त किया है। कथानक काफी बडा है। फिर भी महाकवि ने उसे एकादश लम्बो मे पूरा कर दिया। यही कारण है कि कथानक के प्रवाह मे विरसता नही आ सकी।

प्रथम लम्ब—हेमाङ्गद देश मे राजपुरी नगरी थी। उसका राजा सत्यन्धर और महामन्त्री काष्ठाङ्गार था। विषयासक्त राजा द्वारा काष्ठाङ्गार को राज्य समर्पित किये जाने के बावजूद युद्ध मे कूदने को वह विवश हुआ और वहा मारा गया। गर्भिणी विजया के गर्भ की दैवयोग मे रक्षा हुई। गन्धोत्कट वैश्य द्वारा जीवन्धर का स्वपुत्रवत परिपालन हुआ।

द्वितीय लम्ब-जीवन्धर का विद्याध्ययन प्रारम्भ हुआ। काष्ठाङ्गार की क्रूरता ज्ञात होने पर उसके प्रति जीवन्धर अत्यन्त कुपित हो गया परन्तु गुरू ने दक्षिणा के रूप मे उमसे शात रहने की भिक्षा ली। कालकूट वनचर द्वारा गोपालो का गोधन हरा गया। काष्ठाङ्गार की सेना भी वनचर सेना से पराजित हुई। जीवन्धर ने उस वनचर सेना को हराकर गोधन वापिस लिया। इस वीरतापूर्ण कृत्य के परिणामस्वरूप नन्दाढ्य की पुत्री गोविन्दा के साथ स्वयं विवाह न कर अपन अभिन्न मित्र पद्मास्य का विवाह करा दिया।

तृतीय लम्ब-राजपुरी के श्रीदत्त वेश्य का धनार्जन निमित्त रत्नदीप (सिंहल) जाना। लौटते समय समुद्र मे जहाज का डूबना। काष्ठखण्ड के सहारे किसी प्रकार मृत्यु मुख से बच निकलना। धर-विद्याधर द्वारा उनका विजयार्द्ध पर्वत ले जाया जाना। गुरूडवेग की पुत्री गन्धर्वदत्ता का राजपुरी मे स्वयंबर किया जाना। वीणावादन मे जीवन्धर द्वारा गन्धर्वदत्ता की पराजय। जीवन्धर-गन्धर्वदत्ता का विवाह होना। काष्ठाङ्गार आदि राजाओ से जीवन्धर का युद्ध और उस युद्ध मे जीवन्धर की विजय होना।

चुर्तथ लम्ब-जीवन्धर द्वारा कुत्ते को णमोकार मन्त्र दिया जाना। फलस्वरूप उसका सुदर्शन यक्ष होना और जीवन्धर की यथा समय सहायता करना। गुणमाला और सुरमंजरी के चूर्णो की परीक्षा मे गुणमाला का विजयी घोषित किया जाना। मदोन्मत्त हाथी से उसका बचाया जाना। परिणामत जीवन्धर के साथ उसका पाणिग्रहण हो जाना।

पञ्चम लम्ब-काष्ठागार की सेना के साथ जीवन्धर का युद्ध। गन्धोत्कट की सलाह से काष्ठागार के प्रति आत्मसमर्पण फलत. जीवन्धर को मृत्युदण्ड दिया जाना। सुदर्शन यक्ष द्वारा बचाया जाना। दावानल से हाथियो का स्मरित यक्ष द्वारा उभारा जाना। तीर्थयात्रा के प्रसग मे जीवन्धर द्वारा पल्लवदेश की चन्द्राण नगरी मे धनपति की पुत्री पद्मा का विषयोचन। अन्त मे दोनो का विवाह बन्धन।

षष्ठ लम्ब-तीर्थ यात्रा के प्रसग मे ही किसी तपोवन सी मिथ्यान परिचयो को सदुपदेश। उसी वन मे निर्मित जिन मन्दिर के कपाट उद्घाटित होना। फलत. क्षेमनगरी के सुभद्र सेठ की पुत्री क्षेणकी के साथ जीवन्धर का विवाहा जाना।

सप्तम लम्ब-क्षेमपुरी से चलकर एक उपवन मे ठहरना जहा पर विद्याधरी के मोहित होने पर अनेक उपदेश देना। हेमामपुरी नगरी के उद्यान मे दृढ मित्र के राजकुमारों को धनुर्विद्या का प्रदर्शन तथा बाद मे उनका गुरु रूप मे धनुर्विद्या दान। कृतज्ञता के रूप मे कनकसला से विवाह रचना।

अष्टम लम्ब—नन्दालाल से यहा भेंट होना। गोपो के लिए किये गए युद्ध के समय पद्मास्य आदि मित्रो से भेट तथा साथ ही अर्ज मे विजया माता के दर्शन होना। यहा से राजपुरी वापिस होना और वहा सागरदत्त सेठ की पुत्री विमला के साथ विवाह करना।

नवम् लम्ब-मित्रों की व्यंग्यात्मक वाणी से प्रेषित होकर जीवन्धर द्वारा वृद्ध का रूप धारण किया जाना और सुरमञ्जरी के प्रासाद मे पहुंच कर किसी तरह स्वयं को प्रगट कर देना। फलत: वैवाहिक सम्बन्ध हो जाना।

दशम लम्ब-राजपुरी में ही गन्धोत्कट, सुनन्दा, गन्धर्वदत्ता गुणमाला आदि से मिलना। काष्ठांगार मे राज्य प्राप्ति के निमित्त आया गोविन्द से विचार-विमर्श करना। गोविन्द द्वारा लक्ष्मण का स्वयंम्वर किया जाना। वराह यन्त्र को भेजने मे जीवन्धर का विजयी होना। फलत: उनके साथ लक्ष्मण का विवाह हो जाना। काष्ठांगार के साथ जीवन्धर का भीषण युद्ध। काष्ठांगार की पराजय और मृत्यु। जीवन्धर द्वारा सारा राज्य स्वाधिकार मे लिया जाना।

एकादश लम्ब-जीवन्धर की राज कुशलता का परिचय। विजय माता की दीक्षा। जीवन्धर को उक्त आठों पत्नियों से आठ पुत्रों की प्राप्ति। तदनन्तर वन क्रीडा मे वानरी के हाथ से वनपाल द्वारा तालफल का छीना जाना देखकर विरक्ति पैदा हो जाना और महावीर स्वामी के समवशरण मे जाकर जिन दीक्षा लेकर मुक्ति प्राप्त करना।

४. आधिकारिक तथा प्रासंगिक वृत्त

कथावस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारीक प्रमुख और प्रासंगिक (गौण) कथा के फल भोक्ता के इतिवृत्त को आधिकारिक और उनके सहकारी वृत्तको प्रासंगिक कहा जाता है।[२] जीवन्धर चम्पू मे जीवन्धर की कथा तो आधिकारिक है और आर्यनन्दी की आत्मकथा श्रीदत्त कथा, चूर्णपरीक्षा, तीर्थयात्रा प्रसंग, आदि सभी प्रासंगिक कथाये हैं जिनमे कथा और कथा-नायक के चरित्र के विकास मे साहाय्य मिल सका। नाटकों की तरह कथानकों मे भी अर्थ प्रकृतिया, कार्यावस्थाये तथा सन्धियों का होना आवश्यक बताया है। बीज, बिन्दु पताका, प्रकरी व कार्य के पाच अर्थ प्रकृतिया हैं। आरम्भ, यत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति और फलागम ये पाच कार्यावस्थाये हैं। मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा उपसहृत ये पाच सन्धियां है। ये प्राय: सभी जीवन्धर चम्पू मे पाई जाती है।

५. कथानक का औचित्य

काव्य का कथानक अत्यन्त सजीव व स्वाभाविक होना चाहिए। उसमे ऐतिहासिक तथ्य के साथ व्यावहारिक दृष्टिकोण का भी सयोजन हो तो अच्छा है। काव्या मे कल्पनाओं का बाहुल्य तो रहता ही है पर वह भी किसी एक सीमा तक। यदि सत्य और विश्वास का द्वार बन्द हो गया तो कथानक की सफलता संदिग्ध हो जावेगी।

जीवन्धर चम्पू का कथानक इस सदर्भ मे अत्यन्त स्वाभाविक बन पड़ा है। जीवन्धर के समूचे जीवन के माध्यम से कर्म सिद्धान्त का प्रदर्शन किया गया है। कवि ने व्यावहारिकता का भी पर्याप्त ध्यान रखा है। मत्री काष्ठांगार पर राजा सत्यन्धर विश्वास कर लेते है और विषय भोगो में आपाद-

---

२. वस्तु च द्विधा। तत्राधि ारिकं मुख्यमंङ्ग प्रासंगिकं: विदु। अधिकार फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभु:। तन्निवर्त्य मभिव्यापि वृत स्यादाधिकारिकम्॥ दशरूपक, १।११-२,

मग्न रहने के कारण सारा राज्यभार भी उसी को समर्पित कर देते हैं। फलत सत्यन्धर को अपने प्राणो से हाथ धोना पडता है। इधर जीवन्धर और उनकी माता विजया बच जाती है। पुण्योदय से जीवन्धर का परिपालन गन्धोत्कट वैश्य करता है और विजया को दण्डक वन के आश्रम मे शरण मिल जाती है। आगे के जीवन मे एक ओर जीवन्धर और उनका परिवार सफलता पाता है जबकि दूसरी ओर सत्यन्धर और उनका परिजन सदैव विफलता तथा अनादर का शिकार होता है। सुकृत और दुष्कृत कार्यो का यही परिणाम है।

कथानक राजपुरी नगरी से प्रारम्भ होता है। पचम लम्ब मे तीर्थयात्रा के उद्देश्य से जीवन्धर देश भ्रमण करते है और "अष्टम लम्ब मे पुन वे राजपुरी वापिस आ जाते है। इसके बाद के सभी कार्य राजपुरी मे ही सम्पन्न होते है।

सम्पूर्ण कथानक को महाकवि हरिचन्द्र ने एक कुशल शिल्पकार जैसा निबद्ध किया है। रस, गुण और अलकार की त्रिपथगा सहृदय पाठक के हृदय को आकर्षित कर लेती है। प्राकृतिक दृश्यो की मनोहारी सुषमा, षड ऋतुओ की यथा समय प्रस्तुति, सयोग और वियोग श्रृगार का भावुक अभिलेखन, युद्ध स्थलो मे रोमाचकारी स्थल, आदि ऐसे प्रसग है जो पाठको के मन को आकर्षित कर लेते है।

कथानक को अनुकूल बनाने के लिए भी कवि ने भरपूर प्रयत्न किया है। जहा कही हास्य और सौन्दर्य के चित्रण, काष्ठागार की अवमानना दिखाने के लिए गोविन्द से स्वयम्बर कराना, काष्ठागार की उसमे उपस्थिति प्रदर्शन कर जीवन्धर द्वारा चन्द्रकयन्त्र का भेदन के माध्यम से उसका उपहास कराना, चन्द्रकयन्त्र भेदने के उपरोक्त अनेक लोगो की शकाओ का काव्यात्मक ढंग से विविध निराकरण कर जीवन्धर के पक्ष में विविध का संकेत करना आदि ऐसे स्थल हैं जिनमे कथानक का औचित्य सिद्ध होता है और पाठक का चित्त आगे बढ़ती हुई कथा की पूर्ण जानकारी के लिए दौडता रहता है।

६ पूर्व कवियों का प्रभाव

जीवन्धर चम्पू का महाकवि पूर्व कवियों से निश्चित ही प्रभावित जान पडता है। अपूर्व माला मन्येऽहं पूर्वाचार्य परम्पराम् (१ ८) लिखकर उन्होने स्वय इस बात को स्वीकारा है। प्राकृतिक चित्रण, रणस्थल वर्णन, स्वयम्बर की शोभा, नगर प्रवेश करने पर जीवन्धर का नगरवधुओ पर हुआ प्रभाव, आदि ऐसे स्थल है जहा पर कालिदास, भवभूति भाघ जैसे कवियो का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। वादीभसिह सूरि द्वारा विरचित गद्य चिन्तामणि एव क्षत्रचूडामणि के तो अनेक गद्य–पद्य भाव और भाषा दोनो मे समानता लिए हुए है। इस समानता के बावजूद कवि की उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक इतने हृदयहारी है कि पाठक के मन मे कभी खीझ पैदा नही होती।

रस और भाव की अभिव्यक्ति

रसानुभूति अथवा भावानुभूति काव्य ही का वर्णन है। स्थायी भाव, विभाव, अनुभावए व सञ्चारी भावो से यह चर्वण मिलता रहता है। रस संख्या के विषय मे आचार्यों म मत वैभिन्नय है। कुछ आचार्य शृगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, और अद्भुत इन आठ रसो को मानते है। इसलिए उनके अनुसार कुल रस दस हो जाते हैं।

महाकवि हरिचन्द्र ने रस सख्या के विषय मे अपना मत व्यक्त तो नही किया है पर इतना अवश्य कहा है कि उनका "जीवन्धर–चम्पू विलसित रसा सालंकारा" (११ ६०) है। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाकवि ने उक्त कृति

में प्राय: सभी मान्य रसों का समावेश किया है। जीवन्धर चम्पू के देखने से यह कथन और भी स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि वहा शृगार और वीर रस अंग और अंगीभाव से उपस्थित हुए प्रतीत होते है परन्तु अन्य रसो की भी न्यूनता नही।

जीवन्धर चम्पू मे शृंगार रस के सयोग और वियोग दोनो पक्षो का सुन्दर वर्णन हुआ है। जीवन्धर स्वामि के आठ विवाह हुए जिनमे कुछ स्वयम्बरजन्य है, कुछ पराक्रमजन्य है, कुछ गुणाकर्षणजन्य हैं और कुछ माता पिता द्वारा पूर्व नियोजित हैं। पूरी कथा मे सयोग और वियोग दोनो के मार्मिक प्रसग उपस्थित किये गये है। प्रथम सयोग होता है और तुरन्त ही जीवन्धर आगे बढ जाते है तो विप्रलम्भ प्रारम्भ हो जाता है। विप्रलम्भ के प्रसग मे चित्र लेखन और शुक द्वारा पत्र प्रेपण का भी सयोजन हुआ है। भारतीय प्रेम पद्धति मे नायिका का नायक मे अनुराग प्राय पहले दिखाया जाता है। चम्पू मे भी इस परम्परा का पर्याप्त अंश तक पालन किया गया है।

विजया का पुत्र के प्रति अनुराग आदि मे वात्सल्य रस, जीवन्धर आदि के वीरता प्रदर्शन मे वीर रस, सूरमजरी के प्रासाद मे वृद्ध वेषधारी जीवन्धर के पहुचने की अभिव्यक्ति मे अद्भुत रस, गुणमाला के पत्र मे और माता विजया के मिलन मे वियोग सिक्त करुण रस स्वयम्बरो मे जीवन्धर के विजयी होने पर काष्ठागार आदि अन्य राजाओ के उपहास मे हास्य रस, युद्ध क्षेत्र मे क्रोध भाव की व्यञ्जनाये रौद्र रस, वियोगावस्था मे अभिराम वस्तु मे जुगुप्सा का भाव व्यक्त करने मे वीभत्स रस और उन्मत्त हस्ती आदि के प्रसग मे भयानक रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। रस और भाव के रम्य संगम से कथानक मे एक नवीनता और उत्साह झलकता है।

वस्तु वर्णन

वस्तु वर्णन का कौशल इसी मे है कि पाठक नीरसता का अनुभव न करे। काव्य मे वर्णित प्राय सभी वर्णन किसी न किसी पात्र के आलम्बन बनाकर उपस्थित किये जाते है। प्रस्तुत मे अप्रस्तुत की और अप्रस्तुत मे प्रस्तुत की अभिव्यञ्जना तथा विविध उपमाओ, उत्प्रेक्षाओ, रूपको आदि अलकारो द्वारा विषय की प्रस्तुति वस्तु वर्णन की विशेषता है।

७ चरित्र चित्रण—

जीवन्धर चम्पू काव्य का धरातल जीवन्धर की यशोगाथाओ से ही मढा गया है। उनके गुण गौरव के वशीभूत होकर उत्तम कुलोत्पन्ना आठ कन्याओ ने उन्हे अपना जीवनाधार बनाया। इन्ही प्रसगो मे राजा सत्यन्धर उनका अमात्य काष्ठागार, गन्धोत्कट सेठ, नन्दगोप, पद्मास्य, गोविन्दा, श्रीदत्त, गरुडवेग, श्रीधरिणी, मथन, धनपति, तिलोत्तमा: देवान्त, सुभद्र, अनगतिलका, हृदमित्र, नलिना, सुमित्रा, सुभद्रा, श्रीदत्त बुद्धिसेण, देवदत्त, नयुल, विपुल, सागरदत्त आदि पात्रो का भी यथावसर चरित्र चित्रण हुआ। ये सभी पात्र प्रधान पात्र जीवन्धर की चरित्रगत विशेषताओ को प्रकाशित करन मे भरपूर सहायक हुए है।

जीवन्धर के चरित्र का उत्कर्ष दिखाने के लिए कवि ने परम्परानुसार प्रत्येक घटनाओं मे उनकी

---

३. गन्धर्वदत्ता, गुणमाला, पद्मा, क्षेमकी, कनक माला, विमला, सुरमजरी, लक्ष्मणादि आदि

विजय प्रदर्शित की है। उनके रूप, गुण और चरित्र की भूरी-भूरी प्रशंसा की है। जीवन्धर का चरित्र धीरोदात्त कोटि का है। कवि ने उन्हें कृत्यविदामग्रणी।[४] (पृ० १११)। कुरुकुलवर, पारीणपुण्यगुणाकर (१.११५) कुवलायाह्लाद सहायक, सन्तोषाम्बोधिवर्धक (पृ० ११६), निखिलगुणपयोधि (पृ० ११८), वृषाबन्ध आदि विशेषतायें का प्रयोग किया है। संगीत शास्त्र, आयुर्वेद शास्त्र, मन्त्र शास्त्र आदि सभी शास्त्रो मे भी पारंगत बनाया। महत्व और सुलभतायें दोनो गुण कवि ने जीवन्धर के जीवन क्षेत्र मे स्पष्ट किये है।[५] युद्ध कौशल के भी दृश्य एक नही अनेक मिलते है। जब जीवन्धर का अपनी माता से साक्षात्कार हुआ और माता ने राज्य प्राप्ति के विषय मे प्रश्न चिन्ह खडा किया तो जीवन्धर स्वय अपनी वीरता का आख्यान करते हैं और कहते है कि मेरे बाण सेना रूपी वनो से दावानल है और शत्रु राजाओ की स्त्रियो की मन्द हास्य रूपी सुगंधित दूधरी धारा के पान करने मे सर्व है।[६] इसी प्रकार मेरी कृपाण भी शत्रु लक्ष्मी को लाने के लिए श्रेष्ठ इनीश का काम करती है। इसी प्रसंग मे जीवन्धर कहते है कि रणाङ्गण मे जब मैं अपने धनुष को शब्दायमान करता हूँ तब बलाधिपति रणछोड भाग खडा होता है, धरापति तिरस्कृत हो जाता है। गुजरात का राजा जर्जर हो जाता है, विद्याधर भयभीत हो जाता है और कोङ्कण देश का स्वामी घायल हो जाता है।

८. सामाजिक संस्थान

जैन धर्म मे मूलत जाति को स्थान नही परंतु जिनसेन के सामाजिक वर्गीकरण ने जैन धर्म मे जाति व्यवस्था कर दी जिसका समर्थन सोमदेव जैसे धुरन्धर आचार्य ने यशस्तिलक चम्पू मे और अधिक स्पष्ट शब्दो मे करने का प्रयत्न किया। प्राय. सभी उत्तरकालीन आचार्यों ने इन आचार्यों का अनुकरण किया। हरिचन्द्र की कृतियो को देखने से लगता है कि इस वर्गीकरण को उन्होने भी स्वीकारा, भले ही उस पर पृथक रूप से कुछ नही लिखा हो। उन्होने समाजके चार वर्ग किये—ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शुद्र। ब्राह्मण सम्प्रदाय के विषय मे जीवन्धर चम्पू मे अधिक संदर्भ नही मिलते। उन्होने उसके ज्ञान हीन क्रियाकाण्ड तथा स्पृश्यास्पृश्य पर अवश्य आघात किया है। ये क्रियाकाण्ड प्राय ग्राम क्षेत्र के बाहर हुआ करते थे। उसमे स्पृश्य-अस्पृश्य का ध्यान अधिक रखा जाता था। किसी कुत्ते आदि के छू जाने पर तो ये क्रियाकाण्डी उसका स्नान किये बिना नही छोडते थे। ऐसी ही घटना का उल्लेख हरिचन्द्र ने किया है। कोई सारमेय (कुत्ता) यज्ञ करते हुए ब्राह्मणो का साकल्य छू गया। उसे उन्होने निर्दयी होकर इतना ताड़ित किया कि वह काल कवलित हो गया।

तत क्षप्ततन्तुभारभमाणे द्विजै र्हवि स्पर्शन जनितकोपनै-र्हन्यमानमन्तरुच्छलत दु खाम्बुधि घोषमिव प्राणमहीपालस्य प्रमाण-सूचक भिवाक्रन्द-

---

४ महत्त्वमात्र कनकाचलेऽपि लोष्टेऽपि सोलभ्यमिह प्रतीतम्। एतद्द्वयं कुमचिदप्रतीत कुरुप्रवीरे न्यवसत्प्रकाशम् ।।७.५।।

५. ८.५६

६. ८.५७

७ ८.५८

नारावमातन्वानमन्तरूज्वलित दुःसाग्नि ज्वालामिव शोणितधारामुद्गिरन्त क्षारमेयम्–पृ० ७६–८०

क्षत्रियवर्ग को अधिक महत्व दिया गया है। जीवन्धर स्वयं क्षत्रिय थे। काष्ठागारादि भी क्षत्रिय थे। प्राय' क्षत्रिय वर्ण राज्य का अधिकारी हुआ करता था। युद्ध द्वारा जनता व देश का सरक्षण करना उसका प्रमुख कर्त्तव्य था। वैश्य वर्ग शुद्ध व्यापारी वर्ग था। इसलिए योद्धावर्ग मे सम्मिलित नही किया गया। जीवन्धर ने स्वयम्बर मे वीणा-वादन द्वारा पराजित कर गन्धर्वदत्ता कोविवाहा। काष्ठागार को यह असह्य हो गया और कहने लगा कि वस्त्र तथा बर्तनो के क्रय-विक्रय करने मे दक्ष वैश्यसुत स्त्रीरत्न के योग्य कैसे हो सकता है ? (कुप्य क्रय विक्रय योग्यो वैश्यसुत कथं स्त्रीरत्न योग्य (पृ० ६६)। काष्ठागार के साथ हुए जीवन्धर के एक अन्य युद्ध के सन्दर्भ मे भी कवि ने वैश्यो के विषय मे क्षत्रिय वर्ग का विचार व्यक्त किया है। काष्ठागार कहता है कि अत्यन्त भीरू वैश्यपुत्र तुम कहाँ और धनुष शास्त्र के पारगामी हम लोग कहा। फिर भी तेरी युद्ध मे जो प्रवृत्ति हो रही है उसमे अपनी अनात्मज्ञता ही कारण समझो। हे वणिक् तुलादण्ड (तराजू) के पकडने मे तुम्हारा जो हस्तकौशल है उसे तू धनुष चलाने मे लगाना चाहता है।

क्व वैश्यपुत्रस्त्वमतीव भीरूर्वयं क्व चत्पागमपार–निष्ठा।

अथापि ते संयति सप्रवृत्ता वनात्मवेदित्व मर्वेहि हेतुम् ॥१० १११.

तुलादण्डधृतो वैश्य तव यत्कर कौशलम्।

विस्तारयसि तच्चापे धिक्चापलम हो तव ॥१०. ११२.

इससे स्पष्ट है कि उस समय वैश्य वर्ग मूलत: व्यापारी वर्ग था। वह जैन धर्म का परिचालक होने से अहिंसक था। शायद इसीलिए उसे योद्धा के रूप मे स्वीकार न किया जाता हो। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि जैन धर्मावलम्बी नृपति युद्ध से पीछे हटते हो। जैन इतिहास व साहित्य ऐसे उदाहरणो से अपूर हो जहा जैन धर्मावलम्बियो ने आवश्यकता पडने पर यथाशक्ति युद्ध किया और आत्मसम्मान तथा देश की रक्षा की। जीवन्धर चम्पू ने भी यही किया।

शुद्र वर्ग के विषय मे जीवन्धर चम्पू मे कुछ भी नही लिखा गया। कृषक वर्ग को इसमे सम्मिलित किया नही जा सकता। जीवन्धर चम्पू के सभी पत्र प्रथम तीन वर्गों से ही लिए गये है।

६ विवाह व्यवस्था

साहित्य मे विवाह के आठ प्रकार बताये गए हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाचन। इनमे जीवन्धर चम्पू मे ब्राह्म, प्राजापत्य और गान्धर्व विवाह प्रकार के प्रसंग उपलब्ध है। स्वयं प्रथा का भी उल्लेख है जिसमे पराजित पक्ष विजित पक्ष से कन्या हरण करने का प्रयत्न करता था।

ज्योतिषि साधारणत विशिष्ट कन्याओ के विषय मे भविष्यवाणी करते कि किस समय और किस स्थिति मे किस महापुरूष से कन्या का विवाह होगा। समुद्र सेठ की पुत्री क्षेमकी तथा सागदत्त की पुत्री बिमला का सम्बन्ध जीवन्धर के साथ ऐसी ही भविष्यवाणी पूर्वक हुआ। इनमे प्राय कन्या का पिता वर अथवा वर के पिता अथवा वर के सम्बिन्धियो के समक्ष प्रस्ताव रखता और स्वीकृत हो जाने पर विधि पूर्वक विवाह कर देता।

जीवन्धर चम्पू के कवि के अनुसार वर-वधु की अवस्था तथा रूप समान होना चाहिए—वधु-वरमिदं तुल्यवयो रूप परिस्कृतम्, (३.४६)। विवाह मे कही-कही दूति पति प्राप्त कराने मे अधिक सहायक होती थी—कुलोचिता बभूवेयं कुमार प्राप्ति दृति का (३. ३५)।

विवाह घटना के अनेक कारण होते हैं। कुछ ऐसे कारण जीवन्धर के चरित में भी देखे जा सकते है। उदाहरणार्थ—कभी कला विशेष मे कन्या पराजित होती और वह विजेता का स्वयंवरण करती। वीणावादन से पराजित होकर गन्धर्वदत्ता ने जीवन्धर का वरण किया। कभी भयानक आपत्ति से बचाने पर स्नेह सम्बन्ध हो जाता है। मदोन्मत हस्ती से बचाने पर गुणमाला के साथ और विष विमोचन करने पर पद्मा के साथ जीवन्धर का विवाह सम्बन्ध हुआ। जीवन्धर के प्रभाव से जिन मन्दिर के कपाट खुलने पर क्षेमकी के साथ, अस्त्र-शिक्षण की कृतज्ञतावश कनकमाला के साथ, कन्दुक के अघात से विमला के प्रति प्रेम और विवाह, वृद्ध का वेश धारण करने पर सुरमजरी का प्रभावित होना और पणिग्रहण करना आदि अनेक आकस्मिक कारण रहते जिनसे वर वधु प्रेम-सूत्र मे बध जाते।

इसके अतिरिक्त स्वयम्बर प्रथा प्रचलित थी ही। इनमे कन्या सभी के समक्ष अपने अनुकूल वर का चुनाव करती अथवा जिस कला मे कन्या स्वय दक्ष हो उसी में पराजित करने वाले से विवाह करती अथवा किसी यन्त्रादि भेदक के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करती। जीवन्धर ने वीणावादन से गन्धर्वदत्ता को पराजित कर विवाह किया और चन्द्रक-यन्त्र भेदकर गोविन्दा का स्वयवरण किया।

किसी योद्धा विशेष को कन्या देने मे कन्या का पिता गौरव अधिक समझता था। भीलों को पराजित करने पर नन्दगोप ने जीवन्धर के साथ अपनी कन्या गोविन्दा का परिणय किया। साथ ही सप्त स्वर्णयुत्तलिकायें भी भेट की (पृ० ५०)।

स्वयम्बर करने की अनुमति राजा से लेनी पड़ती और इस वृत्तान्त की घोषणा समस्त नगरों में करनी पड़ती। स्वयंम्वर मण्डप को अधिकाधिक सुसज्जित किया जाता। उसमे मरकत, पद्मरा आदि मणि लगाये जाते। कुकुंम रस का सिचन होता। सुरभित पुष्प विकीर्ण किये जाते। विभिन्न रगो के मुक्ता मण्डित बेलबूट बनाये जाते (पृ. ६३)। प्रत्येक राजकुमार के लिए पृथक-पृथक मच बनाया जाता। यदि किसी कला विशेष मे निपुणता प्रदर्शन पूर्वक स्वयम्वर होना हो तो उसके लिए भी एक मच होता था। कन्या को शिविका मे बैठाकर स्वयम्वर मण्डप मे लाया जाता, जहा कला प्रदर्शन पूर्वक स्वयंवरण होता। कन्या के लिए दूती इस कार्य मे सर्वाधिक सहयोगिनी बनती थी। राजाओ के वश, पराक्रम, राज्यादि, विपयक परिचय वही दिया करती थी। स्वयम्वर मे समागत प्राय. प्रत्येक राजा अथवा राजकुमार के साथ उसकी अपनी सेवा रहती थी। प्राय. समूचे साहित्य मे स्वयम्वर के बाद सघर्ष होता हुआ दिखाई देता है। इसीलिए शायद पूरी सैनिक सज्जा के साथ राजा स्वयम्वर मे भाग लिया करते होगे।

युद्ध मे विजयी होने के बाद कन्या का पिता शुभ मुहूर्त मे वर-वधु का विवाह करना निश्चित करता। तदर्थ एक सुन्दर और विशाल पट मण्डप (शाला) बनाया जाता। इसी पटमण्डप के बीच मागलिक द्रव्यो से सगत वेदिका बनायी जाती जहां पर विवाह सम्बन्धी समूचा मागलिक कार्य सम्पन्न किया जाता। इसके पूर्व वर-वधु का मागलिक अभिषेक किया जाता। तदूनुन्तर कन्या को प्रसाधन गृह मे ले जाते जहा पर उसकी सखिया उसे पूर्व दिशा की ओर मुंहकर बैठाती और अलकृत करती

(३.३९) सुगन्धित शरीर में मृदु शुभ्र वसन पहनाती, पैरों में नूपुर (५.४२), कमर में करधनी (पृ० १०४), हार (५.४३), नासामणि (५.४४) पहनाती, पयोधरों पर मकरी का चिन्ह बनाती (५.४५), मांग (सीमन्त) भरती, पुष्पमाला पहनाती (३.४२), ललाट पर वेंदी (ललाटिका) लगाती, आखों में कज्जल भरती, तथा कपोल भाग पर मकरी चिन्ह एवं कस्तूरी द्वारा पत्राकार रचना करती जिसे कवि ने कामदेव की पताका (मकर केतौ पताकेयम्) कहा है। केशपाश में पुष्प कानों मे ताटङ्क (कर्णफूल) लगाकर भी वधु को अलंकृत किया जाता।

इसके बाद वेदी के समीप पूर्व दिशा की ओर मुंहकर दोनों को पीठ (चौकी) पर बिठाया जाता। वेदिका के चारों ओर मणिमय दीपक जलाते, वाद्य बजते, मन्त्रवेत्ता मन्त्र-पाठन करते (पृ० १०५,३.४४-४५, ६.४८)। इसी बीच सिद्ध प्रतिमा की पूजन होती। प्रसन्नताव्यक्त करने की दृष्टि से वराङ्गनाओं के नृत्य-गान का भी प्रबन्ध किया जाता (भारसती पदनूपुरवांनुका मधुर गान चतुरवारा-ङ्गना नर्तन-विलसिते-पृ० ६६,) वन्दीजन विरूदगान करते। इसके बाद शुभ मुहूर्त मे कन्या का पिता स्वर्णकलश से वर के हाथ पर "दीर्घं भवन्तामिह जीविताम" कहकर जलधारा छोड़ता और बाद मे वर-वधु का पाणिग्रहण करता। (३.४८, पृ० १०५)।

मामा की लडकी के साथ विवाह करने की भी प्रथा थी। जीवन्धर की आठवीं पत्नी गोविन्दा उसके मामा की ही लडकी थी। यह प्रथा दक्षिण मे तो थी ही, उत्तर मे भी दिखाई देती है। गोविन्द राजा विदेह का अधिपति था। यह विदेह विहार अथवा उसके आसपास का ही भाग होना चाहिए। बहु विवाह प्रथा भी थी। यह जीवन्धर के आठ विवाहों से स्पष्ट है। प्रत्येक पत्नी के पृथक्-पृथक् प्रासाद रहा करते थे। प्रवास काल से पति के वापिस आने पर पत्नी स्वयं उससे मिलने नहीं जाती बल्कि पति का कर्त्तव्य रहता कि वह पत्नी से मिलने जाय। गन्धर्वदत्ता और गुणमाला के पास जीवन्धर स्वयं गये थे (१०. २-३)।

१०. नारी की स्थिति—

प्राचीन भारतीय संस्कृति मे नारी की स्थिति जहां हीन बतायी है वहां उन्हे नीतिदशा और विदुषी भी बताया गया है। हीन बताये जाने का मुख्य कारण धार्मिक दृष्टि रही है। नारी को सदा से संसार का कारण बताया गया है। जैनाचार्यों ने भी प्रायः इसी दृष्टिकोण से नारी की अवमानना की है। नारी की चोटी को सर्पिणी की उपमा शायद इसीलिए दी गई है (व्यालीनिभ वेणीना, पृ० ११८) इसी प्रकार स्त्री का स्वभाव सम्भ्रान्त माना गया है। गन्धोत्कट अपने मृतपुत्र को श्मशान मे जलाकर सत्यन्धर के पुत्र (जीवन्धर) को अपनी पत्नी के पास ले जाता है और कृत्रिमता से क्रोध पूर्वक कहता है कि अरी पगली। तूने परीक्षा किये बिना ही जीवित पुत्र को मरा हुआ क्यों कह दिया ?

> जीवन्तमग्र्यात्मजमद्य मत्तं बिना परीक्षां
> मृतक किमात्थ १.९३

अथवा ठीक ही है, जिनका चित्त स्वभावतः सम्भ्रान्त रहता है ऐसी स्त्रियां यदि जीवित कुमार को मृत समझने लगे तो इसमे क्या आश्चर्य।

> यद्वा सम्भ्रातचित्तानां वमितानां स्वभावतः।
> युक्तं न किं कुमारस्य मारान्तस्वप्रकल्पनम् ॥१ ९४.

विद्याधरी पात्र का नियोजन कर कवि ने यह भी बताया कि साधारण स्त्री अन्य पुरुष के साथ

किस प्रकार अपने पति को वंचित कर सम्बन्ध स्थापित करती। जीवन्धर के मुख से कवि ने नारियों की इस प्रकृति का सुन्दर चित्रण किया है। वे कहते है कि मृगनयनी स्त्रियों का चित्त वज्र से भी अधिक कठोर होता है, वचन का प्रचार पुष्प से भी अधिक मृदुल होता है, कृत्य अपने केश से भी अधिक वक्र (कुटिल) होते है। इसलिए विद्वान उनका विश्वास नहीं करते —

> वज्रात्कठोरतर मेणदृशां हि चित्त
> पुष्पादतीव मृदुलो वचन प्रचार।
> कृत्यं निजालक कुलादपि वक्ररूपं,
> तस्माद्बुधा मुनयना न हि विश्व सन्ति
> ॥७.३७॥

हरिचन्द्र और भी कहते है कि स्त्री का मुख कफ का भण्डार है परन्तु मूर्ख कवि उसे चन्द्रमा के समान बताते है। दोनो नेत्र मल से आपूर हैं, परन्तु मूर्ख कवि उन्हे विकसित नील कमल के समान सुशोभित कहते है. पयोधर मास के सघन पिण्ड है परन्तु मूर्ख कवि उन्हे हाथी का गण्ड स्थल मानते है, नितम्ब मण्डल रुधिर व अस्थियो का पुंज है परन्तु मूर्ख कवि उसे बालू का बड़ा भारी टीला बताते है। यह सब वस्तुत. राग का उद्रेक ही है। स्त्रियो मे यथार्थतः कोई सौन्दर्य नही परन्तु कवियो की प्रतिभा ने उनमे विविध सौन्दर्य देखा है—

> वक्त्रं श्लेस्म निकेतन मलमय नेमद्वय तत्कुचो
> मांसाकार घनो नितम्बफलक रक्तास्थिपुञ्जाततम्।
> शीतांशु विकचोत्पलं करियते कुम्भौ माह सैकत
> भातीत्येव मुशन्ति मुग्ध कव्यस्तद्रागविस्फूर्जितम्
> ॥७.३८.

कवि ने एक ओर जहां विद्याधरी के चरित्र के माध्यम से ऐसी स्त्रियो के स्वभाव का दिग्दर्शन किया है जो अपने पति को वंचित कर अन्य पुरुषों पर मुग्ध हो जाती हैं वहीं उसने ऐसी वानरी को भी चित्रण किया है जो अपने पति का सम्पर्क अन्य वानरी के साथ देखकर रुष्ट हो जाती है और तरूण वानर बड़ी दीनता के साथ उस वानरी को शान्त करने का प्रयत्न करता है, परन्तु उसमे सफल नहीं होता। मृतक की तरह जब वह अपने आपको दीनतापूर्वक जमीन मे लिटा देता है तो वानरी वानर को मृतक समझकर भय से काप उठती है और पास जाकर उसकी यह दशा दूर कर देती है। पतिव्रता स्त्रियो के स्वभाव की यह उद्भावना है। (११. १९-२०)।

विधवा स्त्री की स्थिति का भी भी कवि ने प्रसगवशात् चित्रण किया है। उसने बताया कि विधवा महिला केशो मे नवमालिका और शरीर मे हल्दी नही लगाती। वस्तुत पति विरहित स्त्री का भोगोपभोग सामग्री मे लीन रहना निन्दास्पद है

> प्रजावति विजानती सकलपद्धति त्वंकथ,
> विभर्षि नवमालिकां कचकुले हरिद्रा तनौ।
> न युक्तमिदमास्थित विगतभर्तृवामयुवां,
> वृथा खलु सुखासिका सकल लोक गर्हास्पदम्
> ॥८.१५.

११. शिक्षा और शिक्षालय—

शिक्षालय नगर के बाहर रमणीय स्थल मे बनाया जाता था। बच्चे की शिक्षा-दीक्षा पाचवे वर्ष मे प्रारम्भ होती थी। इसके लिए बच्चे को किसी आचार्यप्रवर के पास भेज दिया जाता था। सबसे प्रथम वर्णमाला को सिद्ध मातृ का (पृ० ३८) कहा गया है। एक गुरू के पास अनेक छात्र पढते थे। गुरू शिष्य का सम्बन्ध भी बड़ा ही मधुर रहता। उनका व्यवहार परस्पर में पिता-पुत्रवत् था। शिष्य अत्यन्त विनम्र और शिष्ट रहता था।

जीवन्धर चम्पू में गुरू की विशुद्धता पर भी बल दिया है (पृ० १४५)। शिक्षार्थी को आज जैसी कोई फीस नही देनी पडती थी। हा यदि आवश्यक हुआ तो शिक्षक गुरू दक्षिणा अवश्य स्वीकार कर लेता था। शिक्षक शिक्षार्थी को अधिकाधिक कलाओं का अभ्यास कराता और नैतिक शिक्षा भी साथ ही देता था। गुरू आर्यनन्दी ने जीवन्धर को क्रोध न कर शांति धारण करने की नैतिक शिक्षा दी।

न कार्यं क्रोधोऽयं श्रुतजलधिमग्नैक हृदयं,
न चैद्धयर्था शास्त्रे परिचय कलाचार विधुण।

निजे पार्गो दीपे लसति भुवि कूपे निपतिना,
फल-कि तेन स्यादिति गुरूरथोऽशिक्षयदमुम्
।।२.१६.

१२. मन्दिर और धर्म साधना केन्द्र—

मन्दिर व धर्म साधना केन्द्र प्राय शहर के बाहर पर्वत पर बनाया जाता। उसके प्रवेश द्वार पर बन्दनमाला लगी रहती। मन्दिर तक पहुंचने का मार्ग पुष्पों से सुसज्जित रहता। मन्दिर के अग्रभाग मे चम्पा तथा बाद मे अशोक मालती आदि पुष्पो के वृक्ष लगे रहते। मन्दिर के चारो ओर सुन्दर परिक्रमण रहता उसके बाद नयनाभिराम उद्यान बना रहता। उद्यान के एक ओर सरोवर रहता जिसमे से अनेक गुब्बारे निकाले जाते। मन्दिर के गृह भाग मे मूर्ति के पीछे भामण्डल, ऊपर तीन छत्र और बाजू मे भवर ढोलती हुई देवी की मूर्तिया रहती। समूचा मन्दिर शिखर पर लगी पताका से शोभायमान रहता। जैन मन्दिर की बनावट अकृत्रिम चैत्यालय जैसी रहती। नित्योत्सवो तथा पक्षोत्सवो की परम्परा निर्विघ्न चालू रखने के लिए उत्तम क्षेत्रादि जैसा प्राय का साधन भेंट किया जाता। और मन्दिर का स्वामित्व तपस्वियों के लिए दे देते। यहां भट्टारक प्रथा की ओर संकेत स्पष्ट दिखाई देता है।

जैनेतर साधना स्थल का भी वर्णन उपलब्ध होता है। तपोवन मे साधु सपरिवार रहते, वृक्षछाल पहनते, कमण्डलु रखते और काषायवस्त्र पहनते। तपोवन मे बालक मुंज मेघालेयं बिखेरते, कुआरियां वृक्ष क्यारियां भरतीं, साधु व्याघ्र चर्म पर बैठकर ध्यान करते, यही तपस्वियो की स्त्रिया नीवार पकाती और पुत्र गीला इंधन काटकर ले आते। तपोवन मे डाभ की शय्या का उपयोग होता था (१.६८)। इसे कवि ने मिथ्या तपस्वी चर्या कहा है (पृ० १०८)।

१३. कृषि और कृषक—

संस्कृत साहित्य का अधिकांश भाग सामंतवादी सस्कृति से ओत-प्रोत रहा है। (उसमें जन संस्कृति उपेक्षित सी नजर आती है, । महाकवि हरिचन्द्र का साहित्य इस कथन का अपवाद नही। जो कुछ भी जन-संस्कृति से सम्बन्धित उल्लेख वहा मिलते है– वे आनुसगिक ही कहे जा सकते है। कृषि और कृषक के सम्बन्ध में थोडे से उल्लेख मिलते है। उस समय खेत प्रायः नगर से बाहर हुआ करते थे। सारा खेत हल से ही जोता जाता था। कृषक साधारणतः मेघ पर ही आश्रित रहता था, पर आवश्यकता पडने पर कुओ और नहरों का भी भरपूर उपयोग किया जाता था। जीवन्धर चम्पू मे इस तरह की सिंचाई का वर्णन मिलता है। सिंचाई के बाद खेत हरे भरे हो जाते थे। खेतो की रक्षा किसान स्वयं करता था (१.१२१०)। इस काम मे उसकी लडकिया भी सहयोग करती थी। वे अल्हड गीतगाती हुई खेती की रक्षा किया करती थी। धर्मशर्माभ्युदय, १.५०)। खेत छोडकर जाने पर कृषक उसमें मानवाकार वस्त्राच्छादन खड़ा कर देता। जिसे आज विजुंअ(क्षेत्ररक्षक)कहा जा सकता है। इसका उद्देश्य

पक्षियों से कृषि की रक्षा करना है (पृ० ५)। हंसिये से पूरी फसल काटकर खलियानों में रखी जाती थी। (पृ० ६) खलियानों में रखे धान्य के ढेर इतने अधिक थे कि कवि को उन पर अनेक कल्पनायें करनी पडी (पृ० ५)। इन ऊंचे ढेरों को परेना (ऋतुतोभ) की सहायता से हाथियों और बैलों पर लाद कर घर लाते थे (१.३०)। बाद मे यही धान्य गाडियों से बाजार में ले जाकर बेचा जाता था।

किसान साधारणत अशिक्षित रहते थे। निर्धनता से उनकी कमर टूट रही थी। महाकवि ने एक कृषक का बडा सुन्दर चित्रण किया है। क्षेमकी से परिणय होने के बाद जीवन्धर स्वामी एक दिन घर से निकल गये और रातों रात वन तय करते रहे। बाद मे एकायक एक पथिक से भेंट हो गई। उसके हाथ मे परेना था, शरीर पर कम्बल था, कमर मे हंसिया और और कधे पर हल था। उसके सिर पर मैला कुचैला साफा था—

करधन ऋतुतोभ कम्बलछन्नदेह
कटितटगतदाभ स्कन्ध सम्बन्ध सीर।
वनभुवि पथि कश्चिन्नागमत्तस्त पार्श्वे,
नियति नियति रूपा प्राणिना हि प्रवृत्ति ॥७ ३

१४. उपवन

उपवन प्राय नगर के बाहर होते थे। जीवन्धर चम्पू में कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहा नगर के बीच भी उपवनो का होना बतलाया गया है। सभी उपवन प्राय समान होते थे। उपवन के अग्रभाग मे तिलक वृक्षो की पक्ति, बाद मे अशोक, मैनर, अक्ष (बहेडे), अम्र आदि की वृक्ष पक्तिया थी। ये वृक्ष सुसज्जित ढग से उपवन के चारो ओर लगे रहते थे और उपवन की मध्यवर्ती भूमि विविध पुष्पों से सजायी जाती। इन पुष्पों मे लालकमस्त और लकुच के पुष्प प्रमुख थे। ये पुष्प प्रायः क्यारियों में लगाये जाते थे और साथ ही कुछ लतायें भी उन पर आवेष्टित कर दी जाती थी (२.१३)। उपवन के एक ओर सरोवर या वाटिका रहती थी (पृ० १३०)। बीच मे कुछ मैदान होता था जहा बच्चे खेलते कूदते थे (२.६)। उपवन के चारो ओर बाडी लगायी जाती थी जिसे उपवन वृत्ति कहते थे। (पृ० १०४)।

१५. आमोद-प्रमोद के साधन

बच्चों के आमोद प्रमोद के साधनों में खिलोने थे। इन खिलौनो में राज हंस और मयूर मुख्य थे (पृ १२)। गेंद का प्रयोग प्रचुरता और रूचिकर था (४.३४)। कुवारिया और युवतियां भी अपने घर के प्रागरगं में बड़े चाव से कन्दुक क्रीड़ा करती थी।

शुक शावक का पालन भी एक आमोद-प्रमोद का साधन था। उसे दूध और केला खिलाया जाता (पृ० २५)। शुक शावक का उपयोग विरही युवतिया अपने प्रेमी के पास प्रेम पत्र भेजकर भी किया करती थी। ऐसे शुक को "क्रीड़ा शुक" की सज्ञा दी गई है (पृ० ८७.४.३३-३५)। चित्रकला का उपयोग भी प्रेम पत्र में चित्र बना कर किया जाता था। क्रीडा शुक का वर्णन प्राचीन साहित्यकारो का एक मनोरंजन विषय था।

१६. जैन सिद्धान्त वर्णन

जीवन्धर चम्पू में दर्शन की अपेक्षा काव्य अधिक मुखरित हुआ है। अनेक स्थल थे जहां पर कवि जैन सिद्धान्तो का वर्णन कर सकता था परन्तु उसने ऐसा नही किया। सम्भवत इसलिए कि कथा मे प्रवाह बना रहे। उपदेश की रूक्षता से कथा की गति प्रतिहत आ जाती है। फिर भी कवि ने इस ओर एक दम उपेक्षा नही की। अन्यत्र सक्षेप में उन्होंने जैन सिद्धान्तों को समझाने का प्रयत्न किया है।

जैनाचार्यों ने संसार की असारता के विषय में बहुत कुछ कहा है। युद्ध स्थल मे जाने के पूर्व सत्यधर ने विजया रानी को इसी आधार पर समझाने का प्रयत्न किया। उन्होने कहा कि यह सम्पत्ति बिजली के सामान है। शरीर चचल है, ऐश्वर्य जल के बबूले के समान है और जवानी पहाड़ी नदी के समान है। जहां संयोग है वहा वियोग अवश्य है यह दुख-सागर ज्ञान-पोत से पार किया जा सकता है। (१. ७८-८०)

वन क्रीड़ा करते हुए जीवन्धर ने एक वानर दम्पत्ति को देखा। वानर एक अन्य वानरी के साथ सम्पर्क देख कर वानरी रूष्ट हो गई। उसे प्रसन्न करने के लिए वानर ने एक पका कटहल वानरी को दिया। परन्तु शीघ्र ही वेमलता का भय दिखाकर वनपाल ने उस वानरी से वह फल छीन लिया। जीवन्धर के हृदय मे यह घटना चुभ गई। वे ससार की असारता और अपने कर्त्तव्य के विजय मे गभीर चिन्तन करने लगे। काम, राजभोग, परिवार आदि सभी मे उन्हे क्षण विनश्वरता दिखाई देने लगी। अन्त मे कहते हैं कि जो मनुष्य अविनाशी मोक्ष लक्ष्मी को छोडकर राज लक्ष्मी प्राप्त करते हैं वे ग्रीष्मकाल मे शीतल जल की धारा छोड कर मृग-मरीचिका का सेवन करते है। अत आत्महित मे प्रमाद करना उचित नही (७. २२-२६)।

इसी सप्तम लम्ब मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यग-चारित्र के लक्षण बता कर सम्यग्ज्ञान पूर्वक त्यागी-वृन्द के दो भेद किये-सागार और अनागार। एक देशव्रत धारण करना सागार व्यवस्था है। पांच अणुव्रतो का पालन करना तथा मद्य, मांस, मधु का त्याग करना ये अष्ट मूलगढ। दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थदण्डव्रत ये तीन शिक्षाव्रत है। आचार्य उमास्वामी का प्रभाव यहा दिखाई देता है। चार शिक्षाव्रतों मे सामयिक, प्रापेधोपवाष, अतिथि सविभाग और सल्लेखना सम्मिलित है। यहां महाकवि आचार्य कुन्दकुन्द से प्रभावित जान पड़ता है (७. ७.१६)।

उपसंहार—

इस प्रकार जीवन्धर चम्पू के उक्त परिशीलन से स्पष्ट है कि महाकवि हरिचन्द्र की वह एक अप्रतिम कृत्ति है। इसे हम धर्म कथा काव्य की श्रेणी मे प्रतिष्ठित कर सकते है। महाकवि का अभी तक कोई समग्र अध्ययन सामने नही आया। कोई शोधक गभीरता से इस विषय पर कार्य करे तो कितना अच्छा होगा। श्रद्धेय स्वर्गीय पडित चैनसुखदासजी ने सन् १९६० मे मुझे यह विषय सुझाया था। पर अनेक व्यवधान आ जाने के कारण हम उसे कार्यरूप मे परिणीत नही कर सके। आज इस लेख के माध्यम से विनम्र श्रद्धाजलि पूर्वक उनकी इच्छा को किसी सीमा तक पूरा करने का प्रयत्न किया है।

२२

महापंडित टोडरमल

□डा० हुकमचन्द भारिल्ल

डा० गौतम के शब्दों मे "जैन हिन्दी गद्यकारों मे टोडरमलजी का स्थान बहुत ऊंचा है। उन्होंने टीकाओं और स्वतन्त्र ग्रन्थो के रूप मे दोनों प्रकार से गद्य-निर्माण का विराट उद्योग किया है। टोडरमलजी की रचनाओ के सूक्ष्मानुशीलन से पता चलता है कि वे अध्यात्म और जैन धर्म के ही वेत्ता न थे, अपितु व्याकरण, दर्शन, साहित्य और सिद्धान्त के ज्ञाता थे। भाषा पर भी इनका अच्छा अधिकार था।[१]

ईसवी की अठारहवी शदी के अन्तिम दिनो मे राजस्थान का गुलाबी नगर जयपुर जैनियो की काशी बन रहा था। आचार्यकल्प पडित टोडरमलजी की अगाध विद्वता और प्रतिभा से प्रभावित होकर संपूर्ण भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों मे सचालित तत्त्वगोष्ठियो और आध्यात्मिक मण्डलियो मे चर्चित गूढतम शंकाये समाधानार्थ जयपुर भेजी जाती थी और जयपुर से पंडितजी द्वारा समाधान पाकर तत्त्व-जिज्ञासु समाज अपने को कृतार्थ मानता था। साधर्मी भाई ब्र० रायमल ने अपनी "जीवन-पत्रिका" मे तत्कालीन जयपुर की धार्मिक स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

"तहां निरन्तर हजारां पुरुष स्त्री देवलोक की सी नाई चैत्याले आय महापुण्य उपारजै, दीर्घकाल का संच्या पाप ताका क्षय करै। सो पचास भाई पूजा करने वारे पाईए, सौ पचास भाषा शास्त्र बाचने वारे पाईए, दस बीस संस्कृत बाचने वारे पाईए, सौ पचास जनें चरचा करने वारे पाईए और नित्यान का सभा के शास्त्र बांचने का व्याख्यान विषै पाचसै सात सै पुरुष तीन सै च्यारि सै स्त्रीजन, सब मिली हजार बारा सै पुरुष स्त्री शास्त्र का श्रवण करै बीस तीस बायां शास्त्राभ्यास करै, देश देश का प्रश्न इहा आवै तिनका समाधान होय उहा पहचे, इत्यादि अद्भुत महिमा चतुर्थकालवत या नग्र विषै जिनधर्म की प्रवर्ति पाईए है।"[२]

यद्यपि सरस्वती मां के वरद पुत्र का जीवन आध्यात्मिक साधनाओ से ओतप्रोत है, तथापि साहित्यिक व सामाजिक क्षेत्र मे भी उनका प्रदेय कम नही है। आचार्यकल्प पडित टोडरमलजी उन दार्शनिक साहित्यकारो एवं क्रान्तिकारियो में से हैं, जिन्होने आध्यात्मिक क्षेत्र मे आई हुई विकृतियो का सार्थक व समर्थ खण्डन ही नही किया, वरन्

१. हिन्दी गद्य का विकास : डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम, अनुसधान प्रकाशन, आचार्यनगर, कानपुर, पृ० १८८

२. पंडित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तत्व, परिशिष्ट, १ प्रकाशक पडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४ बापूनगर, जयपुर।

उन्हें जड़ से उखाड़ फेंका। उन्होने तत्कालीन प्रचलित साहित्य भाषा ब्रज मे दार्शनिक विषयों का विवेचक ऐसा गद्य प्रस्तुत किया जो उनके पूर्व विरल है।

पंडितजी का समय ईसवी का अठारहवी शदी का मध्यकाल है। वह सक्रान्तिकालीन युग था। उस समय राजनीति मे अस्थिरता, सम्प्रदायो मे तनाव, साहित्य मे शृ गार, धर्म के क्षेत्र मे रूढ़िवाद, आर्थिक जीवन मे विषमता एव सामाजिक जीवन मे आडम्बर–ये सब अपनी चरम सीमा पर थे। उन सब से पडितजी को सघर्ष करना था जो उन्होने डटकर किया और प्रणषो की बाजी लगाकर किया।

पडित टोडरमलजी गम्भीर प्रकृति के आध्यात्मिक महापुरुष थे। वे स्वभाव से सरल, ससार से उदास, धुन के धनी, निरभिमानी, विवेकी अध्ययनशील, प्रतिभावान, बाह्याडबर बिरोधी, दृढ श्रद्धानी, क्रान्तिकारी, सिद्धान्तो की कीमत पर कभी न झुकने वाले, आत्मानुभवी, लोकप्रिय प्रवचनकार, सिद्धान्तग्रन्थो के सफल टीकाकार एव परोपकारी महामानव थे।

वे विनम्र पर दृढश्रद्धानी विद्वान एव सरल स्वभावी थे। वे प्रामाणिक महापुरुष थे। तत्कालीन आध्यात्मिक समाज मे तत्वज्ञान सबन्धी प्रकरणो मे उनके कथन प्रमाण के तौर पर प्रस्तुत किए जाते थे। वे लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता थे। धार्मिक उत्सवो में जनता की अधिक से अधिक उपस्थिति के लिए उनके नाम का प्रयोग आकर्षण के रूप मे किया जाता था। गृहस्थ होने हुए भी उनकी वृत्ति साधुता की प्रतीक थी।

पडितजी के पिता का नाम जोगीदासजी एवं माता का नाम रम्भादेवी था। वे जाति से खण्डेलवाल थे और गोत्र था गोदीका, जिसे भौंसा व बड़जात्या भी कहते हैं। उनके वशज ढोलाका भी कहलाते थे। वे विवाहित थे पर उनकी पत्नि व ससुराल पक्ष वालो का कही कोई उल्लेख नही मिलता। उसके दो पुत्र थे—हरिचन्द्र और गुमानीराम। गुमानीराम भी उनके समान उच्च काटि के बिद्वान और प्रभावक आध्यात्मिक प्रवक्ता थे। उनके पास बडे-बड़ विद्वान भी तत्व का रहस्य समझने आते थे। पडित देवीदास गोधा ने "सिद्धान्तसार सग्रह टीका प्रशस्ति" मे इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। पडित टोडरमलजी की मृत्यु के उपरान्त वे पडितजी द्वारा सचालित धार्मिक क्रान्ति के सूत्रधार रहे। उनके नाम से एक पथ भी चला जो 'गुमान पथ' के नाम स जाना जाता है।

पडित टोडरमलजी की सामान्य शिक्षा जयपुर की एक आध्यात्मिक (तेरापथ) सैली मे हुई, जिसका बाद मे उन्होने सफल सचालन भी किया। उनक पूव बाबा बशीधरजी उक्त सैली के सचालक थे। पडित टोडरमलजी गूढतत्वो के तो स्वयबुद्ध ज्ञाता थे। 'लब्धिसार' व "क्षपणासार" की संदृष्टिया आरम्भ करते हुए वे लिखते हैं 'शास्त्रविषै लिख्या नाही और बतावने वाला मिल्या नाही"।

सस्कृत प्राकृत, और हिन्दी के अतिरिक्त उन्हे कन्नड़ भाषा का भी ज्ञान था। मूलग्रंथो को वे कन्नड़ लिपि मे पढ़-लिख सकते थे। कन्नड़ भाषा और लिपिका ज्ञान एव अभ्यास भी उन्होने स्वय किया। वे कन्नड भाषा के ग्रंथो पर व्याख्यान करते थे एव उन्हे कन्नड़ लिपि मे लिख भी लेते थे। ब्र० रायमल ने लिखा है—

१. इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका,

"दक्षिण देश सूं पांच सात और ग्रन्थ ताड़पत्रां विषै कर्णाटी लिपि में लिख्या इहा पधारे हैं, ताकूं मलजी बांचे है। वाका यथार्थ व्याख्यान करै है वा कर्णाटी लिपि मे लिखते है।

परम्परागत मान्यतानुसार उनकी आयु कुल २७ वर्ष कही जाती रही, परन्तु उनकी साहित्यक साधना, ज्ञान व प्राप्त उल्लेखो को देखते हुए मेरा यह निश्चित मत है कि वे ४७ वर्ष तक अवश्य जीवित रहे। इस सबन्ध मे साधर्मी भाई ब्र० रायमल द्वारा लिखित 'चर्चा सग्रह ग्रन्थ की अली-गंज (एटा उ० प्र०) मे प्राप्त हस्तलिखित प्रति के पृष्ठ १७३ का निम्नलिखित उल्लेख विशेष द्रष्टव्य है—

"बहुरि बारा हजार त्रिलोकसारजी की टीका का बारा हजार मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ उनके शास्त्रो के अनुस्वारि अर आत्मानुशासनजी की टीका हजार तीन या तीना ग्रन्था की टीका भी टोडरमलजी सैतालीस बरस की आयु पूर्ण करि परलोक विषै गमन को।"

उनकी मृत्यु तिथि विक्रम सवत् १८२३-२४ के लगभग निश्चित है, अतः उनका जन्म विक्रम सवत् १७७६-७७ मे होना चाहिए।

पडित बखतराम शाह के अनुसार कुछ मताथ लोगो द्वारा लगाये गए शिवपिण्डी के उखाड़ने के आरोप के सदर्भ मे राजा द्वारा सभी श्रावको को कैद कर लिया गया था और तेरापथियों के गुरू महान धर्मात्मा, महापुरुष पडित टोडरमलजी को मृत्यु दण्ड दिया गया था। दुष्टो के भडकोने में आकर राजा ने उन्हे मात्र प्राणदण्ड ही नही दिया बल्कि गदगी में गडवा दिया था।[४] यह भी कहा जाता है कि उन्हे हाथी के पैर के नीचे कुचलवा कर मारा गया था।[५]

पडित टोडरमलजी अध्यात्मिक साधक थे। उन्होने जैन दर्शन और सिद्धान्तो का गहन अध्ययन ही नही किया अपितु उसे तत्कालीन जनभाषा मे लिखा भी है। उसमे उनका मुख्य उद्देश्य अपने दार्शनिक चिन्तन को जन-साधारण तक पहुचाना था। पडितजी के प्राचीन जैन ग्रथो की विस्तृत, गहन परन्तु सुबोध भाषा-टीकाएं लिखी। इन भाषा-टीकाओ मे कई विषयो पर बहुत ही मौलिक विचार मिलते जो उनके स्वतंत्र चिन्तन के परिणाम थे। बाद मे इन्ही विचारो के आधार पर उन्होने कतिपय मौलिक ग्रंथो की रचनाएं भी की। उनमे से सात तो टीकाग्रंथ है और पाच मौलिक रचनाएं। उनकी रचनाओ को दो भागो मे बाटा जा सकता है।

(१) मौलिक रचनाएं (२) व्याख्यात्मक रचनाएं।

मौलिक रचनाएं गद्य और पद्य दोनो रूपो मे है। गद्य रचनाए चार शैलियो मे मिलती है.—

(क) वर्णनात्मक शैली (२) पत्रात्मक शैली। (ग) यन्त्र रचनात्मक (चार्ट) शैली (घ) विवेचनात्मक शैली।

वर्णनात्मक शैली मे समोसरण आदि का सरल भाषा मे सीधा वर्णन है। पडितजी के पास जिज्ञासु लोग दूर-दूर से अपनी शंकाएं भेजते थे, उसके समाधान मे वह जो कुछ लिखते थे, वह

४. बुद्धि विलास बखतराम साह, छन्द १३०३, १३०४।
५. (क) वीरवाणी : टोडरमलाक पृ० २८५, २८६। (ख) हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड पृ० ५००।

लेखन पत्रात्मक शैली के अन्तर्गत आता है। इसमें तर्क और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। इन पत्रों में एक पत्र बहुत महत्वपूर्ण है। सोलह पृष्ठीय यह पत्र ,रहस्यपूर्ण चिट्ठी' के नाम से प्रसिद्ध है। यंत्र रचनात्मक शैली में चार्टों द्वारा विषय को स्पष्ट किया है। अर्थ संदृष्टि अधिकार इसी प्रकार की रचना है। विवेचनात्मक शैली में सैद्धातिक विषयो को प्रश्नोत्तर पद्धति में विस्तृत विवेचन कर के युक्ति व उदाहरणो से स्पष्ट किया है। मोक्ष मार्ग प्रकाशक इसी श्रेणी मे आता है।

पद्यात्मक रचनाऐ दो रूपों में उपलब्ध है

(१) भक्ति परक (२) प्रशस्ति परक।

भक्ति परक रचनाओं मे गोम्मटसार पूजा एवं ग्रन्थो के आदि मध्य और अन्त मे मंगलाचरण के रूप में प्राप्त फुटकर पद्यात्मक रचनाऐं हैं। ग्रन्थो के अन्त मे लिखी गई परिचयात्मक प्रशस्तिया प्रशस्तिपरक श्रेणी में आती है।

पंडित टोडरमलजी की व्याख्यात्मक टीकाएँ दो रूपो मे पाई जाती हैं :—

१. सस्कृत ग्रन्थों की टीकाएँ

२. प्राकृत ग्रन्थों को टीकाएँ।

सस्कृत ग्रन्थो की टीकाएँ आत्मानुशासन भाषा टीका और पुरुषार्थ सिद्धि युपाय भाषा टीका है। प्राकृत ग्रन्थों मे गोम्मटसार, जीवकाड, गोम्मटसार, कर्म कांड, लब्धिसार-क्षपणासार और त्रिलोकसार है, जिनकी भाषा-टीकाऐं उन्होंने लिखी हैं।

गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकान्ड लब्धिसार और क्षपणासार की भाषा टीकाएं पंडित टोडरमलजी ने अलग-अलग बनाई थी परन्तु उक्त चारों टीकाओं को परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित एवं परस्पर एक का अध्ययन दूमरे के अध्ययन में सहायक जानकर उन्होने उक्त चारों टीकाओं को मिलाकर एक कर दिया तथा उसका नाम "सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका" रख दिया।

सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका विवेचनात्मक गद्यशैली में लिखी गई है। प्रारम्भ में इकहत्तर पृष्ठ की पीठिका है। आज नवीन शैली की सम्पादित ग्रन्थों की भूमिका का बडा महत्व माना जाता है। शैली के क्षेत्र में दो सौ बीस वर्ष पूर्व लिखी गई सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका की पीठिका आधुनिक भूमिका का आरंभिक रूप है। किन्तु भूमिका का आधा रूप होने पर भी उसमे प्रौढता पाई जाती है, उसमें हलकापन कही भी देखने को नही मिलता है। इसमें पढने मे ग्रन्थ का पूरा हार्द खुल जाता है एव इस ग्र थ के पढने मे आने वाली पाठक की समस्त कठिनाइया दूर हो जाती है। हिन्दी आत्मकथा-साहित्य मे जो महत्व महाकवि बनारसीदास के अर्द्ध कथानक को प्राप्त है, वही महत्व हिन्दी भूमिका साहित्य मे सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका की पीठिका का है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक पडित टोडरमलजी का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का आधार कोई एक ग्रन्थ न होकर सम्पूर्ण जैन साहित्य है। यह सम्पूर्ण जैन साहित्य को अपने में समेट लेने का एक सार्थक प्रयत्न पर था, खेद है कि यह ग्रन्थराज पूर्ण न हो सका, अन्यथा यह कहने में संकोच न होता कि यदि सम्पूर्ण जैन वाङ्मय कही एक जगह सरल, सुबोध और जनभाषा मे देखना हो तो मोक्षमार्ग प्रकाशक को देख लीजिए। अपूर्ण होने पर भी यह अपनी अपूर्णता के लिए प्रसिद्ध है। यह एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है जिसके कई संस्करण

निकल चुके हैं[8] एव खड़ी बोली मे इसके अनुवाद भी कई बार प्रकाशित हो चुके हैं।[7] यह उर्दू में भी छप चुका है।[8] मराठी और गुजराती में इसके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।[9] अभी तक सब कुल मिलाकर इसकी ५१२०० प्रतियां छप चुकी है। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष के दिगम्बर जैन मन्दिरों के शास्त्र भण्डारो में इस ग्रन्थराज की हजारों हस्तलिखित प्रतिया पाई जाती हैं। समूचे समाज मे यह स्वाध्याय और प्रवचन का लोकप्रिय ग्रन्थ है। आज भी पडित टोडरमलजी दिगम्बर जैन समाज मे सर्वाधिक पढे जाने वाले विद्वान हैं। मोक्षमार्ग प्रकाशक की मूलप्रति भी उपलब्ध हैं।[10] एव उसके फोटोप्रिंट करा लिए गए हैं, जो जयपुर[11]- बम्बई[12]- दिल्ली[13]- और सोनगढ़[14] मे सुरक्षित है। इस पर स्वतंत्र प्रवचनात्मक व्याख्याएं भी मिलती हैं-।[15]

---

६. (क) बाबू ज्ञानचन्दजी जैन, लाहौर (वि०सं० १९५४.)
(ख) जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई (सन् १९११ ई०)
(ग) बाबू पन्नालाल जी चौधरी, वाराणसी (वी०नि०सं० २४५१)
(घ) अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई (वी०नि०सं० २४६३)
(ड) सस्ती ग्रन्थमाला, दिल्ली ....
(च) ,, ,, —
(छ) ,, ,, —
(ज) ,, ,, —

७. (क) अ०भा० दिगम्बर जैन संघ, मथुरा (वी०नि०सं० २००५)
(ख) श्री दिगम्बर स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (वि०सं० २०२३)
(ग) ,, ,, ,, (वि०सं० २०२६)
(घ) ,, ,, ,, (वि०सं० २०३०)

८. दाताराम चेरिटेबिल ट्रस्ट, दरीबाकलां, दिल्ली (वि०सं० २०२७)

९. (क) श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर, ट्रस्ट, सोनगढ़
(ख) महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा

१०. श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, दीवान भदीचन्दजी, घी वालों का रास्ता, जयपुर।

११. वही, जयपुर

१२. श्री दिगम्बर जैन सीमंधर जिनालय, जवेरी बाजार, बम्बई।

१३. श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, धर्मपुरा देहली।

१४. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

१५. आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी द्वारा किये गये प्रवचन, मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें नाम से दो भागों मे श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ से हिन्दी व गुजराती भाषा मे कई बार प्रकाशित हो चुके हैं।

यह ग्रन्थ विवेचनात्मक गद्य शैली में लिखा गया है। प्रश्नोत्तरों द्वारा विषय को बहुत गहराई से स्पष्ट किया गया है। इसका प्रतिपाद्य एक गम्भीर विषय है, पर जिस विषय को उठाया गया है उसके सम्बन्ध में उठने वाली प्रत्येक शंका का समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है। प्रतिपादन शैली मे मनोवैज्ञानिकता एव मौलिकता पाई जाती है। प्रथम शंका के समाधान मे द्वितीय शंका की उत्थानिका निहित रहती है। ग्रंथ को पढ़ते समय पाठक के हृदय मे जो प्रश्न उपस्थित होता है उसे हम अगली पंक्ति मे लिखा पाते हैं। ग्रन्थ पढ़ते समय पाठक को आगे पढने की उत्सुकता बराबर बनी रहती है।

वाक्य रचना संक्षिप्त और विषय प्रतिपादन शैली तार्किक एव गम्भीर है। व्यर्थ का विस्तार उसमे नही है पर विस्तार के सकोच मे कोई विषय अस्पष्ट नही रहा है। लेखक विषय का यथोचित विवेचन करता हुआ आगे बढने के लिए सर्वत्र ही आतुर रहा है। जहां कही भी विषय का विस्तार हुआ है वहा उत्तरोत्तर नवीनता आती गई है। वह विषय विस्तार सागोपाग विषय विवेचना की प्रेरणा से ही हुआ है। जिस विषय को उन्होने छुआ उसमे "क्यो" का प्रश्नवाचक समाप्त हो गया है। शैली ऐसी अद्भुत है कि एक अपरिचित विषय भी सहज हृदयंगम हो जाता है।

पंडितजी का सबसे बडा प्रदेय यह है कि उन्होने सस्कृत, प्राकृत मे निबद्ध आध्यात्मिक तत्वज्ञान को भाषा-गद्य के माध्यम से व्यक्त किया और तत्व विवेचन मे एक नई दृष्टि दी। यह नवीनता उनकी क्रान्तिकारी दृष्टि मे है।

टीकाकार होते हुए भी पंडितजी ने गद्य शैली का निर्माण किया है। डा० गोतम ने उन्हें गद्य निर्माता स्वीकार किया है।[१६] उनकी शैली दृष्टान्तयुक्त प्रश्नोत्तरमयी तथा सुगम है। वे ऐसी शैली अपनाते हैं जो न तो एकदम शास्त्रीय है और न आध्यात्मिक सिद्धियों और चमत्कारों से बोझिल। उनकी इस शैली का सर्वोत्तम निर्वाह मोक्षमार्ग प्रकाशक में है। तत्कालीन स्थिति मे गद्य को आध्यात्मिक चिन्तन का माध्यम बनाना बहुत सूझ-बूझ और श्रम का कार्य था। उनकी शैली मे उनके चिंतक का चरित्र और तर्क का स्वभाव स्पष्ट झलक है। एक आध्यात्मिक लेखक होते हुए भी उनकी गद्य शैली में व्यक्तित्व का प्रक्षेप उनकी मौलिक विशेषता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पंडित टोडरमल न केवल टीकाकार थे बल्कि अध्यात्म के मौलिक विचारक भी थे। उनका यह चिन्तन समाज की तत्कालीन परिस्थितियों और बढ़ते हुए आध्यात्मिक शिथिलाचार के सन्दर्भ मे एक दम सटीक है।

लोकभाषा काव्यशैली मे 'रामचरित मानस' लिखकर महाकवि तुलसीदास ने जो काम किया, वही काम उनके दो सौ वर्ष बाद गद्य मे जिन अध्यात्म को लेकर पंडित टोडरमलजी ने किया।

जगत के सभी भौतिक द्वन्द्वो से दूर रहने वाले एवं निरन्तर आत्मसाधना व साहित्य-साधनारत इस महामानव को जीवन की मध्यवय में ही साम्प्रदायिक विद्वेष का शिकार होकर जीवन से हाथ धोना पडा।

---

१६. हिन्दी गद्य का विकास : डा० प्रेमप्रकाश गौतम, अनुसंधान प्रकाशन, आचार्यनगर कानपुर पृ० १८५ व १८८।

इसके व्यक्तित्व और कर्त्तव्य के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए लेखक के शोध प्रबन्ध पंडित टोडरमल व्यक्तित्व और और कतृत्व[१७] का अध्ययन करना चाहिये । इनकी भाषा का नमूना इस प्रकार है :—

"तातैं बहुत कहा कहिए" जैसे रागादि मिटावने का श्रद्धान होय सो ही सम्यग्दर्शन है । बहुरि जैसे रागादि मिटवाने का जानना होय सो ही सम्यग्ज्ञान है । बहुरि जैसे रागादि मिटे सो ही सम्यक्चारित्र है । ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है ।[१८]

●●●

अपरिग्रह

धन पाकर तुम गर्व करो मत
नही मिले, तो शोक न भारी
अधिक मिले, तो संचय मत कर
परिग्रह वृत्ति नही सुखकारी ।।

अर्हत्

१७. प्रकाशक: पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए–४, बापूनगर, जयपुर-४ ।

१८. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-३१३ ।

२३

महाकवि रइधू कृत एक नवीन उपलब्ध सचित्र रचना संतिणाह चरिउ

☐ डा० राजाराम जैन

अपभ्रंश साहित्य के इतिहास में महाकवि रइधू अपना प्रमुख स्थान रखते है। अभी तक की शोध-खोज मे उपलब्ध समग्र-साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि परिमाण एव विषय-विविधता की दृष्टि से विशाल साहित्य का प्रणयन करने वाला रइधू जैसा अन्य दूसरा लेखक कवि नही हुआ। विविध प्रमाणो से विदित होता है कि रइधू ने ३० से भी अधिक ग्रन्थो की रचना की है जिनमे से अभी तक २४ ग्रन्थ उपलब्ध हो चुके है। वर्गीकरण की दृष्टि से उस साहित्य को (१) पौराणिक महाकाव्य (२) पौराणिक खण्डकाव्य (३) सिद्धान्त एव आचार मूलक गाथा-साहित्य एव (४) प्रबन्ध-पद्धति पर निर्मित आध्यात्मिक साहित्य रूप चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है। रइधू ने अपने जीवनकाल में ही स्वनिर्मित साहित्य को झोपडो से लेकर राजमहलो एवं दरिद्रो से लेकर लक्ष्मीपुत्रो तक के हृदयो मे प्रतिष्ठित होते देख लिया था। विभिन्न आधारो पर रइधू का समय वि स. १४४० से १५३६ तक निर्धारित किया गया है। उनकी रचनाओ एव अन्य जीवनतथ्यो पर अन्यत्र प्रकाश डाला जा चुका है अत यहा उनका उल्लेख मात्र एक पुनरावृत्ति ही होगी।

प्रतिपरिचय

महाकवि रइधू की एक अन्य रचना 'सतिणाह चरिउ' (शान्तिनाथ चरित) भी है जो अभी हाल ही मे ज्ञात एव उपलब्ध हुई है। उस पर अभी तक किसी भी प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत नही किया गया था। इस रचना के अज्ञात रहने का मूल कारण यह है कि रइधू ने इसका उल्लेख अपनी अन्य रचनाओ के समान ही अपनी परवर्ती स्वरचित ग्रन्थ-प्रशस्तियो मे नही किया। उत्तर-भारत के शास्त्र भण्डारो मे उसकी प्रति अनुपलब्ध है। सयोग से इस रचना की एक मात्र प्रति सूरत के एक शास्त्र भण्डार मे सुरक्षित है, जिसकी फोटो कापी मुझे उपलब्ध हुई है। यह प्रति अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण एव अपूर्ण है। दुर्भाग्य से उसकी केवल प्रथम आठ सन्धिया ही प्राप्त है उसमे भी बीच-बीच मे कई पृष्ठ अनुपलब्ध है। प्राप्त हुई अपूर्ण प्रति मे (१३-१७-२१-१४-१७-२१-६-१६-३) कुल १३४ कडवक है।

प्रस्तुत प्रति में अपभ्रंश-शैली के ४८ चित्र हैं। चित्रकार ने ग्रन्थ के पृष्ठों मे प्राप्त प्रसंगानुसार ही भगवान शान्तिनाथ के जीवन चरित का चित्रांकन किया है। रइधू-साहित्य के तीन ग्रन्थ सचित्र मिलते हैं—पासणाहचरिउ जसहरचरिउ एवं प्रस्तुत सतिणाह चरिउ। सामान्यतया तीनों ग्रन्थों की चित्रकला एक ही शैली की है किन्तु संतिणाहचरिउ में त्रैलोक्यरचना, समवशरण रचना, वन-विहार के प्राकृतिक दृश्य वाले चित्र अत्यन्त भव्य है। निःसन्देह ही वे जैन चित्रकला की विशेष सम्पत्ति माने जा सकते हैं।

प्रति की विशेषताएं

मतिणाहचरिउ की यह प्रति किस समय एवं कहा लिखी गई इसकी जानकारी प्रति की अपूर्णता के कारण अज्ञात है किन्तु उसकी लिपि को देखने से प्रतीत होता है कि वह रइधूकालीन रही होगी। इसकी लिपि में दो विशेषताएं विशेष रूप से परिलक्षित होती हैं। सर्वप्रथम यह कि इसमें शब्द की पुनरावृत्ति शब्द के माध्यम से नहीं अपितु अंक के माध्यम से व्यक्त की गई है। जैसे विहसंत संत (७।१।१५) मे विहसंत के बाद संत शब्द का उल्लेख न कर उसके स्थान पर तदर्थक दो का अंक अंकित किया गया है। ऐसे ही सैकडों उदाहरण इसमे उपलब्ध हैं।

दूसरी विशेषता यह है कि इसमें य के नीचे नियमतः सर्वत्र एक बिन्दु (नुक्ता) अंकित है। इसका कारण समझ में नही आता कि ऐसा क्यो किया गया है? बहुत सम्भव है कि थ एव य मे भेद करने के लिए ऐसा किया गया हो। रइधू के ग्रन्थ उपलब्ध। ग्रन्थों में ये दोनो लिपि-विशेषताए नही मिलती। प्रति की अन्य विशेषताओं मे रक=क्ख; ग्ग-ग्र, ख-ष (क्वचित कदाचित) में प्रमुख है किन्तु ये विशेषताएं कवि की अन्य प्राचीन प्रतियों में भी उपलब्ध है।

ग्रन्थ प्रेरक

रइधू ने सतिणाह चरिउ की यह रचना नन्दि साघ के भट्टारक जिनचन्द्र की प्रेरणा एव आदेश से की थी। रइधू ने स्वय लिखा है—मैं अपने गुरु भट्टारक जिनचन्द्र के चरणो मे रह कर उन्हीं के आदेश से इस ग्रन्थ की रचना कर रहा हूं। यथा—

> णामे सिरि जिणचन्दु भडारउ।
> णदउ सो चिरू दुण्णय हारउ।।
> तस्स पाय पोमइ पणलोयह।
> मणु रंजतउ ....।।
> रइधूणामे बुहु जा णिवसइ।
> एक्क दिवसि ता तहु गुरू भासइ।।
>
> घत्ता
>
> मो कइकुल मण्डण दुण्णय खण्डण सुहजम भायण विणयमलु।
> हउ भणमि सुपेसणु सुकव पयासणु तुव जोगाउ तं सुणिय सयलु।। (१।२।१२-१६)

भट्टारक जिनचन्द्र का परिचय देते हुए कवि ने उन्हे नन्दि साघ के परमतपस्वी पद्मनन्दिगणि के शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र का पट्टधर कहा है तथा धुरन्धर विद्वान कठोर तपस्वी, राजराजेश्वरों द्वारा वन्दित एवं साघ स्वामी के रूप मे उनका स्मरण किया है। यथा—

> णंदिसंघ कमलयरस सूरो।
> पोमणंदिगणिसिवपयसूरो।।
> भव्वलोय कइरववणइन्दो।
> तस्स पट्टि मुणिवरू सुहयंदो।।

तासु पट्टि उदयद्दि दिवायरू ।
गम्भीरत्तेण रयणायरू ।।
कुणय वायरण पसरग्र कायरू ।
दो विह सजम पविहिय आयरू ।।
बुहयण सवोहण णायरू ।
णिम्मलचरिय रयणणिरू आयरू ।।
राय-राय वदिय चरणुल्लउ ।
संघहु सामिउ सूरि ग्रतुल्लउ ।।
(१।२।६-११)

उक्त भट्टारक जिनचन्द्र बलात्कार गरण की दिल्ली-जयपुर शाखा की परम्परा से सम्बद्ध थे । इनके प्रमुख कार्य मन्दिर निर्माण, मूर्ति प्रतिष्ठा, ग्रन्थ लेखन एव जीर्ण-शीर्ण ग्रन्थो के प्रतिलिपि कार्य आदि प्रमुख थे । पट्टावली के ग्रनुसार उनकी कुल आयु ९१ वर्ष ८ मास एवं २७ दिन की थी ।[1]

आश्रयदाता

महाकवि रइधू मे 'संतिणाह चरिउ' का प्रणयन संघाधिप जुगराज के श्राश्रय मे रहकर किया था । भट्टारक जिनचन्द्र ने कवि को सम्बोधित करते हुए उक्त जुगराज का परिचय देते हुए कहा है कि—हे कवि क्या तुम उस जुगराज को भूल गये जिसने नेमि जिनालय पर अखण्ड स्वर्ण-कलश की स्थापना करके बड़े ही समारोह के साथ उस पर ध्वजारोहरण कराई थी । तुमने ही उसकी जलयात्रा कराकर उसे तीर्थंकर गोत्र का बन्ध कराया था ।[2] जिस जुगराज ने चतुर्विध संघ का भार-वहन किया था, जिसने एक विशाल शुभ्र-वर्ण के देव-विमान की आकृति वाले जिन मन्दिर का निर्माण कराया था, जिसके कि उत्तुंग शिखराग्र पर लगी हुई ध्वजापताकाएं अपनी फर्रान से शांति का सन्देश प्रसारित करती रहती है जिसने चतुर्विध शाखाम्रो की रचना तथा चंदोवा से अलंकृत एवं किंकिणियों से मुखरित सुन्दर वेदिकाश्रो का निर्माण कराया है, जिसने गिरनार पर्वत पर शिखर बनवाकर अगरिणत जिनमूर्तियो की प्रतिष्ठाएं कराई है, जिसने चारो दिशाओ मे चतुर्विध संघ की गोष्ठियो के आयोजन किए हैं तथा विद्वत्सम्मेलन कर जिसने विद्वानो को सम्मानित किया है जिसन अपने पंचाग-मन्त्र से राजा का मनोरंजन किया है और अपने इन्ही सब कारणो से जिसका यश चारो दिशाम्रो मे विस्तृत हो चुका है । हे कवि रइधू, क्या तुम उस जुगराज को नही जानते ? वह राज्य कार्य मे जिस प्रकार अभिरुचि रखता है, उसी प्रकार शातिनाथ-चरित के श्रवण एवं स्वाध्याय मे भी अभिरुचि रखता है । अत हे कविवर तु तुम उसी जुगराज के निमित्त शान्तिनाथ-चरित की रचना करो ।[3]

---

१. दे० भट्टारक सम्प्रदाय पृ० ९८

२. सिरिणेमिजिणालय सिहरग्रंडि । सोवण्णकलस सोहा ग्रखडि ।
हाडय धय मणिगण तुम हरति । बधिवि सत्तुट्ठ उ फरहरति ।।
तुम्ह हजि कराविय जतणेण । तिच्छयर गोतु अज्जिव खणेण ।।
तहु जीगराज सघाहियस्स । करि कव्व णिमित्ति गुण जुयस्स ।।

३. जो संघाहिउ पुणु जोगराउ । जसु उवसमि लीण उ णिच्च माउ ।।
णिम्मल गुणगण मणि रयण गेहु । णिव्वाहिउ चउहि संघणेहु ।।
जिणभवणु कराविउ जिससेउ । धयपति णिरुमिय तरणितेउ ।।
चउसाल सुवेइहि सिरिरमालु । चदोवय किंकिणि खमुहालु ।।

आश्रयदाता की वंश-परम्परा

कवि रइधू ने सघाधिप जुगराज की वंश-परम्परा का विस्तृत परिचय दिया है। वे कहते हैं कि जुगराज के पितामाह लक्ष्मण ने मूलसंघ के परम तपस्वी देवेन्द्र कीर्ति के उपदेश से वि० स० १४३७ में एक प्रतिष्ठा कराई की। वे परवार जाति के शृगार थे। उनके पुत्र का नाम अर्जुन था जिसकी पत्नी खेमा की कुक्षि से चार पुत्र उत्पन्न हुए—जुगराज, दिवापति, रामू एवं मनसुख। जुगराज की पत्नी का नाम गुणश्री था। पति-पत्नि दोनों ही धर्म की साक्षात प्रतिमूर्ति थे।[४]

समकालीन राजा

कवि ने आश्रयदाता जुगराज को "पचागमंत्र से राज का मनोरजन करने वाला[५] कहा है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि वह अवश्य ही कोई राज्यमन्त्री रहा होगा। किन्तु किसी राजा का मन्त्री रहा होगा यह स्पष्ट नही है। हो सकता है कि कवि ने अन्त्य प्रशस्ति मे इसका उल्लेख किया हो किन्तु वह अंश तो अनुपलब्ध है।

सोहम्म विमाणह अगुहरंतु। भव्वयण चित्त तमु अवहरंतु ॥
किंवण्णमि संति जिणेसरस्सा। णं समवसरणु किउ भवहरस्स ॥
वरणयरि गिरिदहु सिहरिमण्णि सुपइट्ठिय जिणपडिमउ अगण्णि
चाउद्दिसि चउविह सघ गोट्ठि। मेल्लिवि वि पउरमण जणिय तुट्ठी
दाणे संतोसिय वंदि विंद। पंचगमतं रंजिय जरिंद ॥
जसु विच्छुरियउ जिजयम्मिजासु। तुहु मोवुह किणउ मुणाहि तासु ॥
सो रज्ज कज्ज दीसइ समच्छ। विच्छारइ तुम्हहं विहिउ सच्छु ॥

४. पोमण वउदयमाणु। सिरिमूल सघ २ हं पहाणु ॥ वइयणकइत्त आयासणु।
छदालकार विट्ठ सियणु। णिण्णासिउ जि अंगहु अणगु ॥
दूरिज्झिउ जि दोविह्नु जि सगु। सिस्साहं पयासिउ णिस सुयंगु ॥
आयरिउ अच्छि उवसमहुथत्ति। णामेण पयद्ध देविंदं कित्ति ॥
तस्सो व एस सजणिय बोह। पाखाड वंश संदिहिय सोह ॥
सघाहिउ लखमणु जाउ आसि। संचिय जे भावे पुण्ण रासि ॥
सहती सइ सवच्छरि पइट्ठ। कारावि रजिय सयणइट्ठ ॥
घत्ता-तहु णदणु रोर णिकंदणु संघाहिउ अरगुरणु सुजसु।
तासु जिपुणु भामिणि कुलगिहि समामिणि खेमा णामे कय हरिसा
तहु णदंणु दुहियण पयायबंधु। जिणवाणिय घम्मभर दिण्ण खधु ॥
सिढिली कउ जिणिय यावबन्धु। आयण्णिउ णिरू सुत्तह पवंधु ॥
सुपयासिउ जि णियजसु जयम्मि। अणुरत्तु णिच्च जो साहिय कम्मि ॥
णिय कुलकमलायर चन्दरोइ। संघहिउ जोगा पयडु लोइ ॥
तहुलहु बध उ जिणदेव मत्तु। दिवपतिणा मे पोसिय सपत्तु ॥
तहु अच्छि सहोयर लहुउ रामु। रामुव्व थयडु णं रूव कामु ॥
मण सुक्खयारि पुणु अच्छि अण्णु। मणसुखु णामें बहु लोय मण्णु
जुगराज हु भामिणि पणयलील। गुरुदेव भत्ति पयडण पर्वःण ॥
सीलाहरण हिं साहिय णियंग। जिह हरिहु लच्छि ईसरहुगग ॥
गुणसिरि णामेण गुणाण खाणि। सिमु पाउल गइ कलयन्ठि वाणि ॥ १।५।१-१०

५. संतिणाह०-१।५।१६

प्रयास करने पर इस समस्या का समाधान श्री घोपे नामक एक ग्राम के वि० स० १५०६ के मूर्ति लेख से हो जाता है, जिसमें भट्टारक जिनचन्द्र की गुरु-परम्परा अंकित है एवं उसके साथ ही महाराजाधिराज प्रतापचन्द्र देव का उल्लेख है।[६] इस उल्लेख से यह अनुमान किया जा सकता है कि सघाधिप जुगराज उक्त महाराजाधिराज प्रतापचन्द्र देव का राज्य मन्त्री रहा होगा। यह प्रतापचन्द्र चौहान वंशी नरेश था। उसने वि० सं० १४६६ से १५१२ तक चन्द्रवाड पट्टन पर शासन किया था। अणुवयरयणपईव[७] प्रभृति अपभ्रंश-ग्रन्थ प्रशस्तियो से यह विदित ही है कि वह जैन धर्म का परमश्रद्धालु नरेश था। एवं अपनी मन्त्री परिषद् मे वह जैनो को प्रमुख स्थान देता था।

रचना स्रोत

भगवान शान्तिनाथ आध्यात्मिक शान्ति के प्रतीक माने गये है अत उसी लक्ष्य को लेकर कवियों ने विविध समयो मे एवं विविध भाषाओ मे उनके चरित का वर्णन किया है। यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ति मे सर्वप्रथम उनकी चर्चा की है किन्तु वह अति संक्षिप्त है और मात्र जन्म का स्थान, जन्म काल, शरीर की ऊंचाई एवं आयु वर्णन तक ही सीमित है।[८] शान्तिनाथ के सागोपाग स्वतन्त्र चरित का वर्णन संस्कृत मे असग (१० वी सदी) अजित प्रभ (१३ वीं सदी) माणिक्यचन्द्र (१३ वी सदी) सकलकीर्ति (१५ वीं सदी) एवं भूषण (वि० सं० १६५६) कृत उपलब्ध है। प्राकृत मे देवचन्द्र सूरि (वि० सं० ११६०) एवं मुनिभद्र (वि० सं० १३५३) द्वारा लिखे गये। किन्तु आश्चर्य है कि अपभ्रंश मे उक्त विषय पर रइधू के पूर्व कोई स्वतन्त्र रचना उपलब्ध नही है। रइधू ने यद्यपि अन्य पूर्व रचनाओं के साथ पुष्पदन्त एवं गुणभद्र के उत्तर पुराणों में वर्णित शान्तिनाथ चरित से प्रेरणा अवश्य ली है। किन्तु उसे अपनी भाव भूमि मे एक नवीन अलंकृत रूप प्रदान करके अपभ्रंश-भाषा में सर्व प्रथम एक बड़े भारी अभाव को पूरा किया है। इसके लिये अपभ्रंश साहित्य रइधू का चिर ऋणी रहेगा। वि० सं० १५८७ महिंदु नामक एक कवि ने भी रइधू के उक्त काव्य से प्रेरणा लेकर एक स्वतन्त्र 'संतिणाह पुराण' की रचना की है। जिसकी आद्य प्रशस्ति मे उसने रइधू का आदर के साथ स्मरण किया है।

वर्ण्य-विषय वर्गीकरण

रइधूकृत सतिणाह चरिउ के उपलब्ध अंश मे भगवान शांतिनाथ के ज्ञान कल्याणक तक का वर्णन मिलता है जिससे विदित होता है कि इस ग्रंथ का परिमाण १०-११ सन्धियों तक का होना चाहिए। क्योंकि ज्ञानकल्याणक के बाद समवशरण मे तत्त्व चर्चा मोक्षगमन एवं प्रशस्ति प्रभृति प्रकरणो का विस्तार २-३ सन्धियो तक होना सम्भव है। प्राप्त अंश का विषय-वर्गीकरण निम्न प्रकार है—

पहली सन्धि—राजा श्रेणिक का समवशरण मे जाना एव गणधर से शातिनाथ चरित सम्बन्धी प्रश्न करना।

दूसरी सन्धि—राजा श्री विजय का अभ्युदय वर्णन

तीसरी संधि—श्री विजय एवं अमिततेज के भवान्तर वर्णन

चौथी सधि – बलभद्र एव अनन्तवीर्य के अभ्युदयो का वर्णन

पाचवी संधि—राजा मेघरथ वर्णन

छठवी संधि— शांतिनाथ के गर्भ एवं जन्म कल्याणको के वर्णन

---

६ दे० भट्टारक पृ० ६६

७. रइधू की रचनाओ का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ११२

८ तिलोयपण्णत्ति गाथा–७१०–६३३

सातवीं संधि—शातिनाथ का राज्य भोग वर्णन

आठवी संधि—शातिनाथ के तप एवं ज्ञान कल्याणक वर्णन

कुछ मार्मिक वर्णन प्रसग

महाकवि रइधू ने प्रस्तुत काव्य मे कई मार्मिक स्थलो का संयोजन बड़ी ही कुशलता के साथ मर्मस्पर्शी शैली मे किया है। कवि ने एक स्थल पर राजा श्रीविजय के वन विहार के प्रसंग मे बताया है कि श्री विजय जब अपनी युवती-पत्नी तारा के साथ सुरम्य-वन मे केलिया कर रहा था तब अशनिवेग नामक एक विद्याधर तारा के मोहक-सौन्दर्य पर आकृष्ट हो गया और अपने विद्याबल से श्रीविजय को एक मायावी हिरण के पीछे भेजकर तथा अपने रूप को श्री विजय के समान बनाकर वह तारा का अपहरण कर उसे ले भागा। श्री विजय एवं तारा को जब वास्तविकता का पता चला तब वे विरहावस्था मे घोर विलाप करने लगे। श्री विजय के विलाप का का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है कि वह तारा-तारा चिल्लाकर बार बार मूर्छित हो जाता है और उसके बिना अपना जीवन निस्सार समझने लगता है। जब वह चन्दन की चिता रचाकर एवं लकडियो के परस्पर घर्षण से चिता प्रज्वलित कर उसमे जल मरने की तैयारी करता है, तभी संयोग से दो विद्याधर वहा पहुचते है और तारा का पता बताकर उसकी रक्षा करते है।[8]

प्राचीन साहित्य मे नायक द्वारा नायिका के विरह के कारण चिता मे जल मरने की तैयारी के कईप्रसंग प्राप्त होते है। अगडदत्त चरियं मे भी इसी प्रकार का एक प्रसंग है कि नायिका मदनमंजरी को वन-बिहार के समय जब सर्प काट लेता है और उसकी मृत्यु हो जाती है तब नायक अगडदत्त शोक विह्वल होकर उसी के साथ चिता मे जल मरने की जैसी ही तैयारी करता है वैसे ही वहा दो विद्याधर आते है और नायिका को मन्त्रबल से जीवित कर नायक की रक्षा करते है। वसुदेव हिन्डी मे भी इसी प्रकार का एक कथानक आता है। वस्तुत. नायिका की सर्पदंश द्वारा मृत्यु एव विरहीनायक की चिता मे जल मरने की तैयारी का प्रसंग लोक कथा का एक महत्वपूर्ण तत्त्व रहा है जिसका समावेश कथावस्तु को एक नया मोड देकर चमत्कृत करने के लिये किया गया है। गुणभद्र ने भी उत्तर-पुराण मे इस प्रसंग को अंकित किया है। रइधू ने भी उसे आत्मसात कर लिया है।

रइधू का एक अन्य मनोरंजक प्रसंग वह है जिसमे उसने शातिकुमार को अप्रतिम सौन्दर्य से विह्वल नगर की युवतियो का मनाहारी स्वाभाविक चित्रण मदनावतार छन्द के माध्यम से किया है। युवक शान्तिकुमार अपने सखाओ के साथ नगर-परिभ्रमण-हेतु निकलते है। क्रीडा-विनोद एवं वार्तालाप करते हुए वे राजमार्ग मे जा रहे है। जब युवतिया उन्हे देखती हैं, तब उनकी विचित्र स्थिति हो जाती हैं। उन युवतिओ मे से कोई तो अपना कुंडल ग्रीवा में धारण करने लगती है तो कोई अपनी करधनी चोटी मे गूंथने लगती है। कोई अपना नेत्राज्जन भालपट्ट पर लगाने लगती है तो कोई घी को ही पानी समझ कर उससे अपने पैर धोने लगती है। कोई दीर्घ नि श्वास छोडने लगती है और कोई अपनी दूती से चिपट कर उससे शाति कुमार को अपने घर ले जाने का आग्रह करने लगती है तो अन्य कोई युवती अपने बच्चे के स्थान मे गाय के बछडे को ही गोद मे उठाने लगती है। युवक शान्तिकुमार के दर्शन हेतु युवतियो ने घर के सारे काम काज छोड कर दरवाजे को ही अपना एक मात्र बैठने का स्थान बना लिया था। कवि कहता है—

८. संति० ३।५

कवि जुवइ पहु रूविरत्तिय ।
जिणु जिणु भणाइ सदइय विरतिय ।।
उण्हसास कवि सुण्ह पमेल्लइ ।
ए ति जति घर दारूण मेल्लइ ।।
कवि दूई गीवहि लग्गति ।
मणइ प्राणि जिणु सति तुरंति ।।
कवि तियराय पिसाएं मुत्ती ।
जायगहिल्ली वच्छहि चत्ती ।।
कवि कुंडलइसगीवहु सघइ ।
कवि कडि कडि मेहला वे णिहि ।
णायण सिंदूरू भालि कविज्जलु ।
करि घिए पयखालइ मण्णिवि जलुप ।
(७।२।१३-१८)

युवतियो की इस प्रकार की विह्वलता का वर्णन अपभ्रंश-साहित्य की अपनी ही विशेषता है । मुनि कनकामर [१०] ने भी नगर परिभ्रमण के समय राजा करकड के मोहक-सौन्दर्य से आकृष्ट होकर विह्वल युवतियो का इसी प्रकार वर्णन किया है । वसुदेव हिण्डी एव उत्तराध्ययन सूत्र की सुख बोधा टीका मे भी वसुदेव भ्रमण के समय युवतियो की इसी प्रकार की विह्वलता जन्य विचित्र परिस्थितियों का वर्णन मिलता है । मेरा जहा तक अध्ययन है सस्कृत-साहित्य मे इस प्रकार की कल्पनाए उपलब्ध नही होती । अपभ्रंश-कवियो को इस प्रकार के चित्रणो की प्रेरणा निश्चय ही प्राकृत भाषा निबद्ध वसुदेव हिण्डी (६ वी सदी) से प्राप्त हुई प्रतीत होती है जो सर्वथा अद्भुत एवं नवीनतम है ।

नीति एवं उपदेश परक तथ्य

कवि रइधू की यह विशेषता है कि वे वर्ण्य विषय के वर्णनो के बीच मे प्रसंगवश उपदेश एव नीतिपरक तथ्यों को भी प्रस्तुत करते चलते हैं । इससे पावन-चरित की शिक्षाएं मिलती है । वहीं दूसरी ओर वह व्यावहारिक ज्ञानार्जन भी कर लेता है । अशनिघोष विद्याधर जब तारा का अपहरण कर लेता है, तब श्री विजय आगन्तुक विद्याधर युगल से उसका पता जानकर अशनिघोष पर चढाई करने की तैयारी करता है किन्तु राज्य मन्त्री सर्वप्रथम एक दूत को अशनिघोष के पास भेजने की सलाह देता है । उसी प्रसग मे राज्य मन्त्री दूत से कहता है—

दूवि सारासारू मुणिज्जइ ।
बलहु पमाणु तासु जाणिज्जइ ।।
सामु पढमु राया ममि उत्तउ ।
बीयउ भेउ कम्मु सुपउत्तउ ।।
तीयय अवसरि दाणु विहिज्जइ ।
चउ थइ समइ दडु णिव किज्जर ।।
(३।६।११२-४)

कवि की दृष्टि मे आर्थिक दरिद्रता एवं ससुराल मे रह कर समय व्यतीत करना ये दोनों ही जीवन के सबसे बडे अभिशाप है । दरिद्रता के कारण व्यक्ति के सद्‌गुण भी दुर्गुण समझे जाते हैं तथा बुद्धिमत्ता एव चतुराई को मूर्खता के कोठे मे ढकेल दिया जाता है । सोमशर्मा नामक एक निमित्त ज्ञानी के प्रसग मे कवि ने उसका सुन्दर चित्रण किया है । सोमशर्मा की दरिद्रता से अत्यन्त रुष्ट एवं पीडित पत्नी उससे कहती है कि "जिस प्रकार जल के बिना मेघ मात्र गरजता ही है, बरसता नही उसी प्रकार दरिद्र के बचन भी सार्थक एव सुन्दर नही होते ।"

दरिद्रतावश सोमशर्मा जब अपनी ससुराल मे रहने लगता है और वहा वह निमित्त शास्त्र का

१० करकंड ३।२

अध्ययन करता है तब उसकी पत्नी पुनः उस पर तीखा व्यंग्य करती है और कहती है कि तेरी आखें क्यों धंसती जा रही है पोथियों के अक्षर बार बार क्या देख रहा है ? तू निश्चय ही अपने मामा (ससुराल) के यहां दरिद्रावस्था में रहता हुआ और इसी प्रकार रट रट कर मर जायगा। कवि के शब्दों में देखिये—

घसंतु काइं रे अच्छहि। पोथक्खर किं पुणु पुणु पेच्छइ ।।
तुहुं पुणु एम रडंतु मरेसहि।
विणु दविणे मामहु घरि णिवसहि ।।
२।६।१-२

इसी प्रसंग मे कवि द्रव्य के महत्व का वर्णन करता है। वह कहता है कि द्रव्य के होने से मूर्ख भी महापण्डित कहलाने लगता है। द्रव्यवान होने के कारण ही नंगा व्यक्ति भी मणि मण्डित समझा जाता है। द्रव्यवान कुरूप होने पर भी कामदेव के समान समझा जाता है। धनवान व्यक्ति कायर होने पर भी शूरवीर समझा जाता है। द्रव्य के कारण निर्गुणी भी गुणज्ञ माना जाता है तथा द्रव्य के अभाव मे व्यक्ति का कुल जाति, सौन्दर्य, कला विज्ञान एवं विद्याएं आदि सभी व्यर्थ है। द्रव्याभाव के कारण उन्हे अज्ञात वास भी करना पडता है। यथा—

दविणे सहु का मुक्खु वि महपंडिउ।
दविणेहु णग्गु वि मणिमण्डिउ ।।
दविणे सहु गयरूड वि सरणिहु।
दविणे सहु गयकुलु पुणु कुलगिहु ।।
दविणे सहु का उरिसु वि सूरिउ।
दविणे सहु विगुणु वि गुण पूरिउ ।।
तिंविणु रूउ कला विण्णाणइं।
वीरत्तणु कुल जाइ पट्टाणइ ।।
एदे सयलहु वलइ घस्ल हि।
विज्जागिरि विवरंतरि ठिल्लहिं ।।
जिह जल विणु घणु रित्तउ गज्जइ।
तिह विणु दविणे वयणगुण छज्जइ ।।
२।६।३—८

इसी प्रकार एक अन्य प्रसंग मे कवि सच्चे बन्धु की परिभाषा करता हुआ कहता है कि सच्चा बन्धु अर्थात मित्र वही है जो अपने बन्धु को कुमार्ग मे हटा कर सुपथगामी बनाता है। जो सदा उसे दुर्गति से बचाता है तथा धर्मकार्यों की ओर प्रवृत कराता है। यथा—

सो बंधउ जो पायडइ धम्मु।
सो बंधउ जो दंसइ सकम्मु ।।
सो बंधउ जो सामेइ मोहु।
सो बंधउ जो संजणइ बोहु ।।
सो बंधउ जो वसणावहारि।
सो बंधउ जो दुग्गइ णिवारि ।।
सो बंधउ जो जिणमग्गि णेइ।
सो बंधउ जो संजमु मणेइ ।।
४।११।१-४

भाषा

प्रस्तुत 'सतिणाह चरिउ' की भाषा अपभ्रंश है। इसमे कवि ने परिनिष्ठित अपभ्रंश का प्रयोग किया है किन्तु काल एवं परिस्थिति विशेष से उसमे कई ऐसे शब्द भी प्रयुक्त हैं जिनका व्यवहार आज भी आधुनिक भारतीय भाषाओ विशेषतया रइधू के पार्श्ववर्ती प्रदेशो-ब्रज, बुन्देली एवं बघेली मे होती है ऐसे शब्दो मे कुछ निम्न प्रकार है :- रित्तउ-रीता-खाली (२।६।८), जेठी-बडी ३।१६। १३), पठावहु-पठाना-भेजना (४।३।६) चक्की (४।४।१२), बीडा (७।५।१०) चमक्क (७।४।१२) फल-फूल (७।६।८) चप्पइ-चापना (८।१।१२)

छुट्टइ-छूटना (८।२।४) पलित्त-पलीता (मशाल, ३।१६।१३), घूलि (८।१८।१५) मलेवि-मलकर (६।१।६) धुन (६।१।१०), ठेल ठेलना (२।६।७) थाल (२।६।१०) पखालि-पखारकर-धोकर (२।६।१०) आदि।

कवि रइधू ने प्रस्तुत रचना मे कही-कही ऐसी सरल भाषा का प्रयोग किया है कि उसका बड़ी सरलता के साथ हिन्दी पद्यानुवाद भी किया जा सकता है। जैसे कि एक नायिका अपने अकर्मण्य पति से रुठी हुई है और उस पर व्यग्यबाण छोड रही है उन व्यग्य बाणों से विह्वल पति भोजन हेतु थाली धोधा कर रखता हुआ उसके मुख की ओर देखता है तब वह कहती है—

अज्जण घरि भोयणु छुह दुह मोयणु खाएसहि रे
काइं मणु।

जं थालु पखालिवि ठिउ उमालिवि पेच्छहि खल
किं महु वयणु ॥
२।६।६–१०

उसका हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार हो सकता है—

आज न घर मे भोजन क्षुह
दुख मोचन खायगा रे क्या बोल ?
जो थाल पखारा बैठा उन्मन,
देख रहा है खल क्यों मेरा वदन ?

लेकिन कही-कही कवि ने बड़ी ही अलकृत एवं समस्यात भाषा शैली का भी संयोजन किया है। उदाहरणार्थ कवि द्वारा वर्जित सिर पुर नगर का वर्णन देखिये—

इह पढमदीवम्मि जणजणिय हरिसम्मि।
सुरसिहरिदाहिणदिसि भरहवरि सम्मि ॥
णी सेससा सोह संपत्ति मुहयम्मि।
णिवसंति पामरघणाणि उकण कण कम्मि ॥
जहिं कुक्कुड उड्डाणउद्दाम कय काम।
वइ चित्त मय चित्त सगामच्छु गाम ॥
कयसार धणसार साली हिं तु होइ।
णं विहि विहाणेण गिरिराय संदोह ॥
जहिं मुकइ कव्वुवसल वखण महालोय।
सपियालस तिलयसहल दिसया मोहा ॥
जहिं ससुय सासोय के लिह कुसुमाल।
रामामहाराम रइव सोमाल ॥
छिज्जो बस कुड्डिहल मुणिणावस विसाल।
वहंति जहिणइउ संसिद्ध बहुसास ॥
१।७।१–७

अलंकार एवं रस

संतिणाह चरिउ' काव्यकला की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि की रचना है। अलंकारो एवं रसो का संयोजन उसमे बड़ी कुशलता के साथ किया गया है। अलंकारो मे उपमा, उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति एव विभावना प्रभृति अलंकारो की बहुलता है। रसो मे प्राय. सभी रसो का समावेश है किन्तु शृंगार, वीर, रौद्र एवं शान्त रसों की प्रमुखता है। रौद्र रस का एक उदाहरण द्रष्टव्य है। विद्याधर अशनिवेग के सम्मुख राजा श्रीविजय का दूत जाता है तथा वह उससे श्रीविजय की रानी तारा का वापिस कर देने का सन्देश देता है।[1] विद्याधर अशनिघोष दूत के वचन सुनकर तमतमा उठता है और आग-बबूला होकर अपने भटो को उसकी जीभ निकाल लेने का आदेश देता है। वह कहता है—"निकाल लो इस पापी की जीभ और चखादो इस अविवेकी को अविवेक का फल। यह दुष्ट मेरे दरबार मे जो भी मन मे आता है सो बालता है—

एयहु पाविहु जीहा छेयहु।
देहु दुवयणह फलु अविवेयहु ॥
जं भावइ तं चवइ सहंतरि।..........॥
३।१०।८–९

अशनिघोष का मन्त्री भी अशनिघोष के कथन का समर्थन करता है कि राजन् ... "आपने ठीक ही कहा है, ऐसे दुष्ट दूत को अविवेक फल चखाने मे किसी भी प्रकार का राजनैतिक दोष नहीं लगता, क्योंकि दूत वही है जो शंका उत्पन्न होने पर दोनों पक्षों का संयोजन करता हैं।" इस प्रकार मन्त्री ने श्रीविजय के दूत को अर्धचन्द्र देकर दरबार से निकलवा दिया यथा—

एयहु राय दोसु णउ लग्गइ।
दूवहु गुणु जोइ संकिउवग्गइ ।।
णिय सामियहु पक्खु थिरुथप्पइ।
अणहु असरिसवयण समप्पई ।।
अणु देव पइ विरुवउ जुंजिउ।
जंपरतिय राएं मणुरंजिउ ।।
इय मणे विजिय पहु उपसामिउ।
दूवहु अद्धइंदु देवादिउ ।।
३।१०।१०–४

दरबार से दूत अथवा किसी अन्य व्यक्ति को निकालते समय गर्दन पर हाथ रखकर तथा धक्का देकर निकाल देने के लिए रइधू ने अर्धचन्द्र शब्द का सुन्दर प्रयोग किया है। प्रतीत होता है कि रइधू को यह शब्द महाकवि राजशेखर से उपलब्ध हुआ है। राजशेखर कृत कपूरमंजरी सट्टक मे विदूषक एवं विचक्षणा के वाक्कलह के प्रसंग मे विदूषक ने इसी शब्द का प्रयोग किया है। भोजपुरी मे इस प्रक्रिया अथवा भाव को व्यक्त करने के लिए गरदनिया शब्द का प्रयोग मिलता है। यह शब्द भी बडा सार्थक एवं भावपूर्ण है।

शान्तिकुमार का दिग्विजय हेतु प्रयाण

युवक शान्तिकुमार जब दिग्विजय हेतु सैन्य सज्जा के साथ प्रयाण करते है उस समय का कवि ने बडा ओजस्वी वर्णन किया है यथा :—

ता णरयम्मि पवट्टिउ कलयलु।
सज्जहु सज्जहु अइरे महबलु ।।
वज्जिय तूरलक्ख अरि कंपिय।
किं किं किं अप्पूं पर जंपिय ।।
पल्लाणियइं तुरंगम कोडिउ।
अठारस तेवियलिय खोडिउ।
चउरासी लक्खइं गय सज्जियातेत्तिया इं रह रणहि अभज्जिय ।।
चउरासी कोडिउ पाइक्क।
जमदूवरण महिल्लक्कइ ।।
भड पण्णज्झिय मणि रह सुल्लिय।
मरण भरण कहवणो डोल्लिय ।।
इम सज्जि वि बलु जावहिणिमय।
तो कंपियइं असेसइं दिग्गय ।।
सामरुद्ध फणिवइ फणचूरिउ।
सेणपयमारें भुमु पूरिउ ।।
हणियणि साण चक्कि जा चल्लइ।
ता तियसेसहुं आसणु डोल्लइ ।।
७।४।३–१२

छन्द-योजना

प्रस्तुत रचना मे कवि ने विविध छन्द योजना की है। इन छन्दो को दो भागो मे बाटा जा सकता है। अपभ्रंश-छन्द एव संस्कृत-छन्द। कवि ने संस्कृत छन्दो का प्रयोग ग्रन्थ की कुछ सन्धियो के अन्त में आश्रयदाता जुगराज को आशीर्वाद देने हेतु किया है इस प्रसग मे कवि ने मन्दाक्रान्ता, मलिनी एवं शिखरिणी छन्दो के प्रयोग किये हैं।

अपभ्रंश-छन्दों में अल्लिल्लह, पादाकुलक, समानिका, मदनावतार, तुणक, भुंजप्रण्यात एवं घत्ता छन्दों के प्रयोग मिलते हैं।

सिद्धान्त एवं आचार

सातिणाहचरिउ 'एक चरित काव्य है। अत सिद्धान्त एवं आचार वर्णन उसके प्रमुख विषय नहीं है, किन्तु प्रसंगवश मुनिसमागम, समवशरण आगमन आदि प्रसगों पर कवि ने सिद्धान्त एव आचार वर्णन का पर्याप्त अवसर निकाल लिया है। कवि ने इन अवसरों पर सप्ततत्वो, नवपदार्थ, अष्टांग दर्शन द्वादशव्रत एवं द्वादशानु प्रेक्षाओ का सुन्दर एवं हृदयग्राहय विवेचन किया है। इस विवेचन मे कुन्दकुन्द स्वामिकार्तिकेय भी एवं पूज्यपाद का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

उक्त तथ्यों के आधार पर विचार करने से सातिणाहचरीउ एक महत्वपूर्ण रचना सिद्ध होती है। यह यथार्थ ही दुर्भाग्य की बात है कि वह अभी अपूर्ण रूप में ही उपलब्ध हुई है। पूर्ण प्रति की उपलब्धि से मुझे ऐसा विश्वास है कि इसकी अन्त्य प्रशस्ति मे कई सामाजिक इतिहास की समस्याओं का हल निहित हैं। इसकी चित्रकला जैनचित्र कला का विशिष्ट अध्ययन तैयार करने मे सक्षम सिद्ध होगा एवं उससे नन्दिसघ की दिल्ली जयपुर शाखा की भट्टारक परम्परा पर भी नया आलोक पडेगा।

●●●

आत्मा

आत्मा ही सुख-दुखों की,
भोक्ता है और कर्त्ता।
पुण्य कर्मी आत्मा है मित्र जैसी,
और जो दुष्कर्म-रत, वह शत्रु॥

—अर्हत्

२४

दोहा छन्द और उसका महत्त्व

□ प्रेमचन्द रांवका, एम० ए०, शि० शास्त्री

दोहा जिसे राजस्थानी मे दूहा कहते हैं, संस्कृत 'के दोधक' शब्द से उत्पन्न माना जाता है। यह अपभ्रंश काल का सर्वाधिक लोकप्रिय छन्द है। यद्यपि यह छन्द गुजराती, ब्रज, राजस्थानी और हिन्दी आदि भाषाओं मे बहुतायत से मिलता है, तथापि अपभ्रंश की ज्येष्ठा पुत्री होने के कारण राजस्थानी मे इस दोहे छन्द का रुधिर शुद्ध रूप मे पाया जाता है। राजस्थानी मे इस दोहे को दूहो, दूहा और दोहरा आदि नामो से पुकारा जाता है।

दोहे शब्द की व्युत्पति के विषय मे विद्वानो मे एकमत नही है। कतिपय विद्वान इसे संस्कृत के दोधक या दोग्धक' से उत्पन्न मानते हैं। जबकि कुछ अन्य विद्वान् 'स्वयभू-छन्द' को इस का आधार बताते हैं। उनके अनुसार अपभ्रंश काव्य-शास्त्र मे इस छन्द को 'दुवहअ' कहा गया है जो द्विपदक' से द्विवथक-द्विवपथा-दुवहअ होता हुआ कालान्तर मे दोहा हो गया।

अपभ्रंश काल मे इस छन्द ने बहुत लोकप्रियता प्राप्त करली थी। जिस प्रकार प्राकृत-साहित्य मे गाहा या गाथा छन्द का अत्यधिक प्रयोग किया जाता था। ठीक उसी प्रकार अपभ्रंश काल में दोहा प्रिय छन्द बन बैठा और कालान्तर मे भी इस छन्द ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार जैसे श्लोक संस्कृत का और गाथा प्राकृत की प्रतीक हो गयी, उसी प्रकार दोहा अपभ्रंश का'। डा० जेकोबी और आल्स डोर्फ का मत है कि दोहा अपभ्रंश गीति-काव्य का अति प्रचलित छन्द है और प्राकृत गाथा का अपभ्रंश प्रतिरूप है–इससे इसकी वास्तविक स्थिति समझी जा सकती है।

दोहे की प्राचीनता के सम्बन्ध मे भी विद्वानो मे मतभेद है। पुरातत्वविद् मुनि श्री जिन विजयजी दोहे की प्राचीनता तीसरी या चौथी शताब्दी तक मानते हैं परन्तु राजस्थानी भाषा और साहित्य के विद्वान प्रो० शम्भुसिह मनोहर का कहना है कि मुनिजी की मान्यता की पुष्टि मे कोई प्रमाण नही मिलता।[२] फिर भी इसमें कोई सन्देह नही कि 'दूहा या दोहा' अपभ्रंश साहित्य का लाड़ला छन्द है। इस आधार पर यह छन्द प्राचीनता की दृष्टि से ९–१० वी शताब्दी तक पहुंचता है। अपभ्रंश को 'दूहा-विद्या' कहा गया है। योगेन्द्र के परमात्म प्रकाश मे दोहो को ७वी शताब्दी का बताया गया है जबकि डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल . डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

२. ढोला मारू रा दूहा : प्रो० शम्भूसिह मनोहर

की मान्यता है कि दोहे नवीं दसवीं शताब्दी से पूर्व के नही हो सकते[3] वैसे प्रारम्भ मे दोहा अपभ्रंश का प्रतीक था। बौद्धों और जैनो के कई ग्रन्थ दोहा बद्ध अपभ्रंश काव्य रूप मे मिलते हैं जिस प्रकार गाथा को बहुत बाद साहित्यकारों का करावलम्ब मिला, उसी प्रकार दोहा को भी मिला होगा। गाथा प्राकृत भाषा की प्रकृति के अनुसार दीर्घान्त छन्द मे और दोहा अपभ्रंश भाषा की प्रकृति के अनुसार ह्रस्वान्त छन्द के रूप मे है। यह दोहा छन्द डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार ९-१० वी शताब्दी मे बहुत लोकप्रिय हो गया था। इस छन्द मे तुक मिलाये जाते थे। सस्कृत, प्राकृत मे तुक मिलाने की प्रथा नही थी। दोहा वह पहलाछन्द है जिसमे तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ और आगे चल कर एक भी ऐसी कविता नही लिखी गई जिसमे तुक मिलाने की प्रथा न हो। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा नवीन छन्द के साथ-साथ नवीन साहित्यिक कारीगरी होकर भी आविर्भूत हुई।

वस्तुतः भारतीय साहित्य मे दूहे या दोहे के दर्शन हमे ७वी शताब्दी से होते है। सातवी आठवी शताब्दी मे इसने श्रृंगार को, वीर को, धर्म को और नीति को लोकचित्त मे प्रवेश कराने का व्रत लिया। हेमचन्द्र के व्याकरण, प्रबन्ध चिन्तामणि, सन्देश रासक व ढोला-मारू के दोहो मे इस छन्द की भाव-वहन योग्यता अद्भुत रूप मे प्रमाणित हो चुकी थी। ऐसे छन्द को तुलसी, कबीर, बिहारी व अन्य परवर्ती कवि कब छोडने वाले थे।

इस प्रसग मे राजस्थानी भाषा के प्रसिद्ध विद्वान नरोत्तमस्वामी का कथन भी उल्लेखनीय है:—दूहा उत्तरकालीन अपभ्रंश का प्रभावशाली छन्द था। उस का प्रयोग समस्त देश के तत्कालीन साहित्य में पाया जाता है। इस छन्द का सम्बन्ध प्रारम्भ में लोक कविता से था—ऐसा जान पडता है, क्योंकि पुराने अपभ्रंश साहित्य मे इसका प्रयोग नही मिलता। जनता मे प्रचार पाने के बाद इसमें साहित्य मे प्रवेश किया। लिखित साहित्य में इस छन्द का प्रयोग करने वाले सबसे प्रथम चौरासी सिद्धों के आदि सिद्ध सरहपा हुए। राजस्थान, गुजराती और हिन्दी मे अपभ्रंश को वरौती रूप मे स्वीकार किया। इन तीनों भाषाओ में सबसे अधिक प्रयोग इसी छन्द का हुआ। इसके बाद १०वीं शताब्दी के अन्त मे देवसेन सूरि ने सावय धम्म दोहा नामक छोटी सी पुस्तक इसी में लिखी। १२ वीं शताब्दी के अन्त मे हेमचन्द्र ने अपने सुप्रसिद्ध हेम 'शब्दानुशासन ग्रन्थ में जो संस्कृत प्राकृत एवं अपभ्रंश का व्याकरण ग्रन्थ है, अपभ्रंश के दूहों को उदाहरण के रूप मे उद्धृत किया। फिर कालान्तर मे तो इस छन्द का प्रयोग अधिकाधिक होने लगा।

जहा तक राजस्थानी दूहे की प्राचीनता का सम्बन्ध है—प्रो० शम्भूसिंह मनोहर इनका आदि-काल ढोला मारूरा दूहा मे मानते हैं।[4] इससे पूर्व उपलब्ध दोहों को वे अपभ्रंश की छाया से पूर्णत आच्छन्न मानते हैं। वे राजस्थानी नही कहला सकते। अपनी मान्यता के प्रमाण-स्वरूप प्रो० मनोहर देवसेन कृत सावय धम्म दोहा का निम्न दोहा प्रस्तुत करते है.

ढिल्लउ होहि मं इंदियउ,
पंचह विण्णि णिवारि।
इक्क णिवारहि जीहडी, अण्ण पराई णारि॥

राजस्थानी दोहे चार प्रकार के मिलते है—
१। दूहो,
२। सोरठे,

३. हिन्दी साहित्य का आदिकाल डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
४. ढोलामारू रा दूहा ; प्रो० शम्भूसिंह मनो

३। बडो दूहो या अन्तमेमेल दूहो,

४। तूबेरी या मध्य मेल दूहो।

दूहा राजस्थानी साहित्य एवं जनता का अत्यन्त प्रिय छन्द है। अब भी सैकडो दूहे राजस्थानी की जिह्वा पर मिलते है। मुक्तक काव्य धारा होते हुए भी ये दूहे प्रबन्ध कथा का सा आनन्द प्रदान करते हैं। मुक्तक दूहे नीति, उपदेश, भक्ति शृंगार व कहावतों के रूप मे प्रयुक्त हुए है। राजस्थानी के कहानीकार भावपूर्ण स्थलो पर दूहों का प्रयोग करते है।

राजस्थानी को दूहा छन्द अपभ्रंश से अपोनी रूप में मिला है। उत्तर अपभ्रंश काल मे दूहा साधारण जनता एवं विद्वत् समाज दोनों द्वारा समादृत था। राजस्थानी मे भी उसकी लोकप्रियता और उसका समादर ज्यो के त्यो कायम रहे। अपभ्रंश काल के बहुत से दूहे, जो लोगो मे सर्वप्रिय थे, निर्विघ्न रूप से आगे भी चलते रहे। समय के साथ उनकी भाषा का स्वरूप भी बदलता गया। ऐसे कुछ दोहे आज भी लोगो की जबान पर मिलेंगे। बहुत से विस्मृति के सागर में विलीन हो गये और कुछ थोडे से उत्साही व्यक्तियों द्वारा समय-समय पर लिपिबद्ध कर लिये जाने से सुरक्षित भी रह गये है। हेमचन्द्र की व्याकरण का निम्न दोहा और वर्तमान मे उसका परिवर्तित रूप यहा उल्लेनीय है—

वायसु उड्डावन्ति अ र्धे, पिउ दिड्डउ सहसन्ति।
अद्धा बलया महिहिगय, अद्धा फूट तडत्ति
।।८।४।३५२।।

पर आज यह दूहा निम्न रूप मे प्रचलित है:

काग उडावण धण खडी, आयो पीव सडक्क।
आधी चूडी काग गल, आधी गयी तडक्क।।

ऐसे ही अन्य और दोहे-जो हेमचन्द्र के है, प्रस्तुत किये जा सकते है। "प्रबन्ध चिंतामणि मे अपभ्रंश का निम्न दोहा:

जइ यहु रावणु जाइउ दह मुहु इक्क सरीरु।
जणणि वियंभि चिंतवइ, कवणु पियावउ खीरु।।

इसका राजस्थानी मे निम्न रूप हो गया—
राजा रावण जन मियो, दस मुख एक सरीरर
जननी नें सासो भयो, किण सम मुख घालूं खीर।।

व्यापकता की दृष्टि से दोहा छन्द अपनी सानी नही रखता। ऐसा कोई विषय नही, जिसमे इसकी गति न हो, सच तो यह है कि लोक-भाषा के काव्य रसिको ने ब्रह्मानन्द सरोदर को सर्व प्रथम दोहे मे ही सकलित किया। विविधता की दृष्टि से जैन साधुओ एवं जैन विद्वानो ने दोहे को बहुत अपनाया। जैन कवियो की रास-रचना मे भी दोहे को पर्याप्त बल प्रदान किया। प्राकृत की गाथा और अपभ्रंश दोहो पर जैन विद्वानो का अपना अधिकार हो गया था। दोहा साहित्य के उद्भव एवं विकास मे इन विद्वानो का योगदान अभिनन्दनीय एवं स्मरणीय रहेगा। विषय की दृष्टि से भी दोहा छन्द साहित्य विजयी रहा। प्रतीको को अपनाने मे जितना समर्थ दोहा छन्द रहा है, उतना ही वह रूपक अलंकार के सौन्दर्य प्रदर्शन मे भी बली रहा है। १८वी शताब्दी के प्रसिद्ध जैन कवि दौलतराम का विवेक-विलास पूरा का पूरा दोहा छन्द बद्ध है। हिन्दी दोहा-साहित्य मे यह एक अनुपम कृति है।

जो स्थान संस्कृत मे अनुष्टुप श्लोक तथा प्राकृत मे गाथा का है, वही स्थान वस्तुत उत्तर-कालीन अपभ्रंश (लोकभाषा), राजस्थानी, गुजराती तथा हिन्दी मे 'दूहे' का है। अल्पकाय होने से यह

सरलता से याद किया जा सकता है। यही इसकी लोकप्रियता होने का प्रमुख कारण है। किसी बात को संक्षेप में एवं प्रभावी ढंग से कहने के खिए दूहा बहुत ही उपयुक्त छद द है। इसी कारण यह छंद अपभ्रंश से लेकर अब तक के साहित्याकाश का भावाभिव्यक्ति एवं कलात्मकता का उत्कृष्ट आदर्श है। मुक्तक एवं प्रबंध दोनो का वाहन स्वरूप यह दोहा छंद रहा है। अधिकाश लौकिक साहित्य की रचना इसी छद मे हुई। राजस्थानी जनता की सर्व प्रिय राग माड का माधुर्य और आकर्षण भी उसके दूहो पर ही निर्भर है। एक विद्वान के शब्दो मे "इन छोटे से वृत्तो के बदौलत ही हमारी संस्कृति एव साहित्य कीर्ति का शेष प्रमाण है।

दर्शन-अध्याय

विश्व का हर तत्व प्रतिक्षण
जन्म लेता नष्ठ होता
नित्य भी रहता निरन्तर
शाश्वत है चिर सनातन
अणु-परमाणु बराबर भी इस निखिल
विश्व में
देश-प्रदेश नहीं है कोई,
ऐसी कोई नही धरा है—
जहाँ न जन्मा जीत,
जहाँ पर नहीं मरा है।

—अर्हत्

२५

अभयचंद्र नाम के गुरु

☐ सत्यनारायण तिवारी

एक ही नाम के अनेक व्यक्ति सदा से होते आये हैं। इतिहास मे ऐसे व्यक्तियो का समीकरण या पहिचान एक कठिन काम होता है। इसके लिए कभी-कभी अत्यधिक सूक्ष्म और व्यापक अध्ययन की जरूरत पडती है। फिर भी यह काम इतना जरूरी है कि इसके बिना इतिहास अधूरा रहेगा। इस लघु निबंध मे मैने ऐसा ही एक तुच्छ प्रयास किया है।[1] मैं अभयचन्द्र नाम के या उससे मिलते जुलते नाम वाले कुछ गुरुओ के तीस सदर्भ प्रस्तुत कर रहा हूं। विश्वास है शोध जगत् के सदस्यो को यह कार्य उपयोगी सिद्ध होगा।

संदर्भ–

(१) प्रथम अभयचन्द्राचार्य प्रक्रिया-संग्रह के कर्त्ता हैं।[2] इनका समय ७३२ ई. (पूर्वावधि) है। प्रक्रिया-संग्रह पाणिनि की सिद्धांत कौमुदी के ढग की प्रक्रिया-टीका है।[3]

(२) दूसरे अभयचन्द्र वे हैं जिनको नेमिचन्द्र जी ने द्विसधान काव्य की टीका मे अपना गुरु बतलाया है।[4] इन अभयचन्द्र का समय ईसा की ६ वीं शताब्दी (पूर्वावधि) है।

(३) तोललु (मैसूर) लेख मे होयिसल राजा विनयादित्य द्वारा सन् १०६२ मे उत्तरायण सक्रमण के अवसर पर मूल संघ के पण्डित अभयचन्द्र को कुछ भूमिदान दिये जाने का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय सन् १०६२ ई. है। अभयचन्द्र की पूर्व परम्परा मे गौतम स्वामी, भद्रबाहु स्वामी, पुष्पदत भट्टारक तथा मेघचन्द्र का उल्लेख किया गया है।[5]

---

१. इसके लिए मुझे प्रेरणा डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन के इसी तरह के निबधो से और निर्देश पं गोपीलाल 'अमर' से प्राप्त हुआ है। इन दोनो विद्वानो का हृदय से आभारी हू।

२. देखिए 'जैन साहित्य और इतिहास' लेखक प नाथूराम 'प्रेमी', प्रकाशक–हेमचन्द्र मोदी हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगाव, बम्बई, पृ० १५५

३, प्रकाशित हो चुकी है।

४. देखिए 'प्रशस्ति संग्रह (आरा)'; सपादक–के भुजबली शास्त्री, प्रकाशक–निर्मलकुमार जैन, मन्त्री जैन सिद्धान्त भवन आरा, पृ० १०१

५. देखिए 'जैन शिलालेख संग्रह (भाग ४); सं. डा. विद्याधर जोहरापुरकर; प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ काशी; पृ० ६६,

(४) अभयचन्द्र त्रैविद्यचक्रवर्ती को गोम्मट-सारवृत्ति के कर्त्ता के रूप मे उल्लिखित किया गया है।[६] इनका समय सन् १०७० के आसपास है।

(५) ये वे अभयचन्द्र हैं जिन्होने सिद्धात विषय मे संस्कृत भाषा की पचसग्रहवृत्ति की रचना की।[७] इनका समय सन् ११५१ के आसपास है।

(६) अभयचन्द्र सिद्धांतिदेव वे हैं जिन्हें मुरारि-देव के दान के प्रतिपालक वश मे उत्पन्न और चारु कीर्त्ति पण्डितदेव के गुरु के रूप मे उल्लिखित किया गया है। इनका समय १२०० ई. (उत्तरावधि) है।

(७) नित्तूर (गब्बि परगना) मे आदीश्वर बस्ती की उत्तरीय दीवाल मे एक पाषाण पर श्री मूलसघ, देशियगण, पुस्तकगच्छ और कोण्डकुन्दान्वय के अभयचन्द्रसिद्धातचक्रवर्ती को बालचन्द्र पडित देव के गुरु के रूप मे उल्लिखित किया गया है।[८] इनका समय लगभग १२०० ई (उत्तरावधि) है।

(८) अभयसूरि सैद्धांतिक वे है जो श्रुतमुनि के शास्त्रगुरु थे और जिन्हें श्रुतमुनि के 'भावसग्रह' की प्रशस्ति मे शब्दागम, परमागम और तर्कागम के पूर्ण जानकार लिखा गया है।[१०] इनका समय सन् १२७३ ई. है। इसी समय (१२७३ ई. मे) श्रुतमुनि के अणुव्रत गुरु और गुरुभाई बालचन्द्र मुनि ने 'द्रव्यसग्रह' सूत्र एक टीका लिखी है।

(९) अभयचन्द्र सैद्धांतिक वे है जो श्रुतमुनि के दीक्षागुरु थे और जिन्हे श्रवण बेलगोल के शिलालेख न. ४१ और १०५ मे माघनन्दी का शिष्य लिखा गया है।[११] इनका समय ईसा की तेरहवी शताब्दी है।

---

६. देखिए 'प्रशस्ति सग्रह (आरा)', सं. के भुजबली शास्त्री, पृ० ६५

७. देखिए 'राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो की ग्रन्थ सूची (भाग ३)', स. डा. कस्तूरचन्द कासली-वाल एम.ए., पं अनूपचन्द न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न; प्रकाशक—केशरलाल बख्शी, मन्त्री—प्रबन्ध-कारिणी कमेटी श्री दि. जैन अतिशय क्षेत्र महावीरजी जयपुर, पृ० ३६

८. (पश्चिम-मुख) स्वस्ति श्री मनु अभयचन्द्र-सिद्धाति देवरुगल शिष्यरु........ ... . बकन अदर मुरारिदेव दान प्रतिपालक वशोद्भवरु चारुकीर्त्ति पडित देवरु हिरिय मर्हान्गय पव बस्तिय जीर्णोद्धार माडिदरु ।
देखिए 'जैन शि. स. (भाग ३); स. पृ० ४३८ प. सं. विजयमूर्ति एम ए प्रकाशिक—श्री मणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति।

९. देखिए 'जैन शि. स. (भाग ३); पृ० ४३६।

१०. सद्दागम परमागम तक्कागम-णिरवसेसवेदी हु।
विजिद सयलण्ण वादी जयउ चिद अभयसूरि सिद्धन्ति ।।
देखिए 'प्रशस्ति स. (भाग १)', स. जुगलकिशोर मुख्तार, प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर दरियागज दिल्ली; प्रशस्ति १२८ अन्तिम भाग।

११. देखिए 'जैन शि.स. (भाग ३)', पृ० ५१४, ५२४

(१०) सिद्धर बस्ती के उत्तर की ओर एक स्तंभ पर सन् १३९८ का एक ६६ पद्यों का अभिलेख है जिसमें एक लंबी आचार्य परम्परा दी गई है। इस परम्परा मे वादिसिंह के शिष्य और श्रुतमुनि के गुरु के रूप मे अभयचन्द्रदेव का अनेक विशेषणों सहित २ श्लोकों (३३-३४)[१२] मे उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय सन् १३९८ ई. है।

(११) शाकटायन व्याकरण के 'उपज्ञाते' सूत्र के टीकाकार श्री अभयचन्द्रसूरि हैं।[१३] ये वे ही अभयचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती मालूम होते है जो केशववर्णी के गुरु तथा गोम्मटसार की 'मंद-प्रबोधिका' टीका के कर्त्ता थे और 'लघीयस्त्रय' के टीकाकार भी ये ही जान पडते है। इन तीनो टीकाओं की मगलाचरण की शैली प्राय एक है—प्रत्येक मे अपने गुरु के सिवाय मूलग्रथकर्त्ता तथा जिनेश्वर को भी नमस्कार किया गया है। इससे ये तीनो टीकाकार एक ही जान पडते है और मुनिचन्द्र के शिष्य मालूम होते है। ये अभयचन्द्र सूरि ईसा की १३वी-१४वीं शताब्दी के विद्वान मालूम होते हैं।

(१२) कत्ताले बस्ती के गर्भगृह के दक्षिण की ओर दो सुन्दर पूर्वमुख चतुस्तंभ मण्डप बने हुए है। उनमे एक महानवमी मण्डप भी है जिसमे सन् १४१३ ई. का १९ श्लोको मे अभिलेख है।[१४] इसमे माघनन्दी व्रती के शिष्य और बालचन्द्र के गुरु अभयचन्द्र (अभयशशी) का उल्लेख है। उपर्युक्त अभिलेख से इनका समय सन् १४१३ ई. (उत्तरावधि) प्रतीत होता है।

(१३) भारगी में कल्लेश्वर बस्ती के पाषाण पर सन् १४१५ ई मे अभयचन्द्र सिद्धांत देवर का उल्लेख हुआ है।[१५] इनकी उत्तरावधि सन् १४१५ ई. है।

(१४) ये वे अभयचन्द्र सूरि हैं जो संस्कृत भाषा के 'पंचदण्डछत्रप्रबन्ध' के रचयिता हैं।[१६] इसकी रचना सन् १४३३ ई. मे माघ सुदी १४ को की गई। अत इनका समय १४३३ है।

---

१२ तु ये तदीये वृत वादिसिंहे गुरुप्रवाहोन्नत वंश गोत्रे।
अथोदितो मूर्धिजपादसेवा प्रमोदिलोको ऽ भयचन्द्रदेवः ।।३३।।
जयति जिततमोरिस्त्यक्त दोषानुषगः
पदमखिलकालाना पात्र मम्भोरुहायाः।
अनुगतजयपक्ष श्रुतमिबानुकूल्य—
स्सतमभयचन्द्रस्सस भारत्नदीप ।।३४।।
देखिए 'जैनशि.सं. (भाग १)'; डा पं. हीरालाल जैन, प्रकाशिका श्री मणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला समिति, पृ० १०५

१३ देखिए 'जैन साहित्य और इतिहास'; लेखक पं नाथूराम प्रेमी; प्रकाशक—हेमचन्द्र मोदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगाव बम्बई, पृ० २८०, २८१.

१४ देखिए जैन शि. सं. (भाग १)', पृ० ३२

१५ देखिए 'जैन शि, स. (भाग ३); पृ० ४५१.

१६. देखिए 'राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो की ग्रन्थ सूची (भाग ३)'; पृ० १२६१.

(१५) भारंगी में कल्लेश्वर बस्ती के दूसरे पाषाण पर देवचन्द्र मुनि के शिष्य के रूप में अभयचन्द्र का उल्लेख है।[१७] इनका समय सन १४६६ ई० (उत्तरावधि) है।

(१६) ईस्वी सन १४६६ और १४६३ के मध्य लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य अभयचन्द्र (प्रथम) हुए जिन्होंने एक स्वतन्त्र भट्टारक सस्था को जन्म दिया।[१८]

(१७) आचार्य ब्रह्मधर्मरूचि और ब्रह्मगुण-सागर के गुरू अभयचन्द्र भट्टारक थे।[१९] इनका समय सन १५०१ ई० है।

१८. श्री दि० जैन मन्दिर बडा तेरह पथियो [जयपुर] के शास्त्र-भण्डार के वेष्टन नं० ३३७ मे जो प्रति न० १२ है उसके टीकाकार अभयचन्द्र सूरि है।[२०] इनका समय सन १५१६ ई० [उत्तरावधि है।

१६ जैन सिद्धान्त भवन आरा मे दशभक्त्यादि महाशास्त्र [२५३ ख) की एक पाण्डुलिपि है जिसके ५६ वे पत्र के पूर्व भाग मे किसी की कुछ कृत्तियो के उल्लेख के साथ अनेक आचार्यों के नाम दिये गये हैं। इनमे माघवचन्द्र और जयकीर्ति के मध्य (केशवाय्यं स्तुत्य) अभयचन्द्र का नाम भी है।[२१] इनका समय १५४१ ई० [उत्तरावधि) है।

२०. उपर्युक्त पाण्डुलिपि में ही ११२ वें पत्र के पूर्व भाग से ११५ वें पत्र के पूर्व भाग तक किसी की कुछ कृत्तियों के उल्लेख के साथ अनेक आचार्यों के नाम दिये गये हैं। इनमें आशाधर और देवचन्द्र के मध्य अभयचन्द्र का नाम भी है जिन्हें सर्वोर्वि-वतिपूजिताघ्रियुगल लिखा गया है।[२२] इनका समय भी १५४१ ई० (उत्तरावधि] है।

२१. उपर्युक्त पाण्डुलिपि मे ही ११२ वे पत्र के पूर्व भाग से ११५वें पत्र के पूर्व भाग तक किसी की कुछ कृत्तियो के उल्लेख के साथ अनेक आचार्यों के नाम दिये गये हैं। इनमे धर्मशेखर और आदि नाथ के मध्य अभयचन्द्रसूरि [कल्याणनाथतनय, साल्वेन्द्र नृपास्थान प्रातिष्कृत महोदय] का नाम भी है।[२३] इनका समय भी १५४१ ई० (उत्तरावधि) है।

२२. लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य अभयचन्द्र की परम्परा मे कुमुन्दचन्द्र के शिष्य अभयचन्द्र हुए।[२४] इनका जन्म सम्वत १६४० मे 'हूबड' वश मे हुआ था। बचपन से ही बालक अभयचन्द्र साधु मण्डलियो मे बैठा करते थे। हेमजी कुंवर जो सम्पन्न घराने के थे इनके भाई थे। युवावस्था के पहले ही इन्होने पाचो महाव्रतों का पालन प्रारम्भ किया था। इसी के साथ इन्होने सस्कृत, प्राकृत के ग्रन्थो का उच्चाध्ययन किया। न्यायशास्त्र मे पारगतता प्राप्त

१७ देखिए 'जैन शि सग्रह (भाग ३)', पृ० ४६२.

१८. देखिए 'राजस्थान के जैन सन्त'; ले. डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल, प्रकाशक-गेंदीलाल शाह एडवोकेट, मन्त्री श्री दि. जैन अ. क्षेत्र महावीर जी जयपुर; पृ० १४८

१६. देखिए 'जैन शिला सग्रह [भाग १]', पृ० १६१ मू.

२०. देखिए 'राजस्थान के जैन शास्त्र भ. की ग्रन्थ सूची'; पृ० ५०

२१. देखिए 'प्रशस्ति सग्रह [आरा]'; पृ० १२४

२२. देखिए 'प्रशस्ति सग्रह [आरा]'; पृ० १३४

२३. देखिए 'प्रशस्ति सग्रह [आरा]'; पृ० १४८

२४. देखिए 'राजस्थान के जैन सत'; पृ० १४८

की तथा अलंकारशास्त्र एवं नाटको का गहरा अध्ययन किया। अच्छे वक्ता तो ये प्रारम्भ से ही थे किन्तु विद्वत्ता होने से सोने–सुगन्ध का सा सुन्दर समन्वय हो गया।[२५]

२३. अभयचन्द्रगणि ने प्राकृत भाषा की ऋणसम्बन्ध कथा की रचना की। इसकी प्रतिलिपि सन १६३५ मे की गई।[२६] अतः इनका समय सन १६३५ ई० [उत्तरावधि) होना चाहिए।

२४. अभयचन्द्र सूरि वे हैं जिन्होंने कथा विषय की हिन्दी भाषा की विक्रम चौबोलीचौपाई की रचना की।[२७] इसकी रचना सन १६६७ ई० मे आषाढ बदी १० को की गई। अत इनका समय सन १६६७ ई० ज्ञात होता है।

२५. अभयचन्द्र हिन्दी भाषा की पार्श्वनाथ पूजा के रचियता है।[२८] इनका समय सन १७८० ई० [पूर्वावधि] है।

२६. अभयचन्द्र संस्कृत की क्षीरोदानी पूजा के रचियता है।[२९] इनका समय सन १७६१ ई० [उत्तरावधि] है।

२७. श्री दि० जैन मन्दिर बडा तेरहपंथियों (जयपुर) के शास्त्र भण्डार के वे० नं० ३२७ में जो प्रति नं ६ है। उसके टीकाकार अभयचन्द्रसूरि हैं।[३०]

२८. हिन्दी भाषा मे पूजाष्टक के रचियता श्री अभयचन्द्र है।[३१]

२९. कम्मनहल्लि [मैसूर] लेख मे मूलसघ देशीगरण के अभयचन्द्र आचार्य का उल्लेख है।[३२]

३०. तोललु (मैसूर] लेख में उल्लिखित आचार्य अभयचन्द्र की शिष्या पद्मावती यक्का के द्वारा एक अधूरे जिनमन्दिर को पूर्ण करने का उल्लेख हुआ है।[३३]

उपसंहार

मैं चाहता था कि इन सभी विद्वानो का यथा-सम्भव समीकरण भी करता किन्तु पर्याप्त साधनों के अभाव मे मुझे यह कार्य फिलहाल स्थगित करना पड रहा है। कोई विद्वान महोदय सम्पन्न करेंगे तो मुझे हार्दिक प्रसन्नता होगी।

---

२५. इनके विस्तृत परिचय के लिए देखिए डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल द्वारा लिखित 'राजस्थान के जैन सन्त मे 'मुनि अभयचन्द्र' नामक निबन्ध, पृ० १४८–१५२.
२६. देखिए 'राजस्थान के जैन शा. भं. की ग्रन्थ सूची [भाग ४]'; पृ० २१८.
२७. देखिए 'राजस्थान के जैन शा. मं की ग्र. सू. [भाग ४]'; पृ० २४०.
२८. देखिए 'राजस्थान के जैन शा. भ. की ग्रन्थ सूची [भाग २]'; पृ० ६८.
२९. देखिए 'राजस्थान के जैन शास्त्र भं. की ग्रन्थ सूची [भाग २]'; पृ० ७६३.
३०. देखिए 'राजस्थान के जैस शा. भ की ग्रन्थ सूची [भाग २]', पृ० ४७
३१. देखिए 'राज. के जैन शा. भं. की ग्रन्थ सूची (भाग ४]'; पृ० ५१२
३२. देखिए जैन शि. सग्रह [भाग ४]'; पृ० ३५६
३३. देखिए 'जैन शि. सग्रह [भाग ४]'; पृ० ३६२

२६

ग्रायुर्वेद–जगत् को राजस्थान के जैन विद्वानों की देन

□ राजेन्द्रप्रकाश ग्रा० भटनागर एम. ए., भिषगाचार्य ग्रायुर्वेदाचार्य, एच. पी. ए. साहित्य रत्न

राजस्थान में जैन संस्कृति का प्रचार-प्रसार बहुत प्राचीनकाल मे ही हो चुका था। मौर्य-युग और उससे पूर्व यहा जेन सस्कृति के ग्रवशेष प्राप्त हुए है। ग्रजमेर से सात मील दूरी पर स्थित बडली नामक ग्राम से एक स्तंभ-खण्ड मिला है जिसे वहा के भैरोंजी के मन्दिर का पुजारी तमाखू कूटने के काम मे लाया करता था। इस पर १३×१०½ इंच स्थान मे एक लेख खुदा हुग्रा है। इसकी लिपि ग्रशोक से पूर्व कालीन मानी गई है। इस लेख से भगवान महावीर के ८४ वे वर्ष मे मध्यमिका मे कुछ निर्माण किये जाने का संकेत मिलता है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि महावीर निर्वाण से ८४ वर्ष पश्चात् (ई० पू० ४४३) मे दक्षिण-पूर्व राजस्थान की प्राचीन नगरी 'मध्यमिका' नगरी मे कोई मंडप या चैत्यालय बनवाया गया था।

जैन साधुग्रो और श्रमणो ने भारतीय ज्ञान, विज्ञान कला ग्रौर शिक्षा को अपूर्व योगदान प्रदान किया है। इसमे कोई सदेह नही, कि राजस्थान की परम्परा मे शिक्षा ग्रौर चिकित्सा के प्रधान केन्द्र जैन यतिमुनियो के 'उपाश्रय' ही थे। लगभग पच्चीस-पचास वर्ष पूर्व तक राजस्थान के सभी प्रमुख नगरो एव ग्रामो मे उपाश्रय विद्यमान थे, जहा जैन साधु न केवल धार्मिक उपदेश, ग्रपितु ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाग्रों पर शिक्षा और चिकित्सा कार्य द्वारा सामान्य जनसमाज को ग्रनुप्राणित किया करते थे। नवीन शिक्षाप्रणाली और पाश्चात्य सस्कृति के प्रचार-प्रसार ने उस मौलिक ग्रौर ठोस परम्परा पर कुठाराघात किया है। ग्रौर ग्राज ग्रनेक 'उपासरे' बंद हो चुके है।

जैन ग्रागम साहित्य के बारहवें ग्रंग 'दृष्टि-वाद' के ग्रंतर्गत 'प्राणावाय' संज्ञक 'पूर्व' मे ग्रायुर्वेद और उसके ग्राठ अंगो का समावेश होता है। ग्रत: जैन-ग्रायुर्वेद को 'प्राणावाय' कहा जाता है। इसका मूल उपदेश भगवान् महावीर ने गौतम को दिया था। इसका एकमात्र प्रयोजन यही है कि शारीरिक क्षमता की वृद्धि और स्थिरता करते हुए ग्राभ्यंतर साधना ग्रौर संयम के तत्व की प्रकृष्टता के साथ मोक्ष पद प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय।

यही कारण रहा, कि जैन ग्राचार्यो द्वारा ग्रनेक वैद्यक ग्रंथो का प्रणयन होता रहा है। यहां उन सब कृतियो और उनके कर्त्ताग्रो का ऐतिहासिक मूल्याकन करने का ग्रवकाश नही है, जो भारत के विभिन्न क्षेत्रो मे हुए, परन्तु यहां तो केवल राजस्थान के जैन ग्राचार्यों की ग्रायुर्वेद सेवा पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा।

राजस्थान का उपलब्ध जैन-आयुर्वेद साहित्य ग्रधिकाश मे मध्य युग मे रचा गया था। इसका प्रणयन मुख्यतया निम्न तीन स्तरो पर हुग्रा है–

प्रथम जैन यति-मुनियों द्वारा ऐच्छिक और परम्परा रूप से ग्रंथ-प्रणयन ।

द्वितीय, जैन-मुनियो द्वारा किसी राजा अथवा समाज के प्रतिष्ठित और धनी व्यक्ति की प्रेरणा से या आज्ञा से ग्रंथ-प्रणयन ।

तृतीय स्वतंत्र जैन विद्वानो और वैद्यो द्वारा ग्रंथ-प्रणयन ।

मैं हस्तलिखित वैद्यक-ग्रंथों के अपने सर्वेक्षण मे इस निष्कर्ष पर पहुचा हूँ कि मध्ययुगीन अधिकाश वैद्यकसाहित्य राजस्थान और गुजरात में निर्मित हुआ, उसमे भी सर्वाधिक योगदान जैनाचार्यों का रहा है । यह जैन-वैद्यक-साहित्य प्रायः देशीय भाषा-राजस्थानी, प्राचीन हिन्दी या गुजराती मे उपलब्ध है, परन्तु सस्कृत के ग्रथ भी अनेक है । इनमे उल्लेखित औषधिया और योग स्वानुभूत एवं प्रायोगिक प्रात्यक्षिक ज्ञान पर आधारित है । इनमे मद्य, माम और मधु का प्रयोग नहीवत् है । इनमे वानस्पतिक और खनिज द्रव्यो से निर्मित योग ही बताये गये हैं । वस्तुत जैन-सिद्धातानुसार इन आचार्यों ने वैद्यक-क्षेत्र मे भी अहिसा-तत्व का दृढता से पालन किया है ।

एक अन्य उल्लेखनीय तथ्य यह है कि जैन वैद्यक साहित्य मे प्राचीन चरक, सुश्रुत आदि से योगसग्रह, शार्ङ्गधर, भावप्रकाश, माधवनिदान आदि ग्रंथो का पद्य या गद्य मे भाषानुवाद, स्वतत्र रोग निदान व चिकित्सा के ग्रंथ और प्राचीन ग्रंथो पर टीका-व्याख्या-ग्रथ उपलब्ध होते है, परन्तु इनके अतिरिक्त 'आम्नाय ग्रथ' भी प्रचुर मात्रा मे मिलते है, जिनमे वैद्यो, गुरुओ और अन्य व्यक्तियो से प्राप्त तथा स्वय द्वारा अनुभव किये गये योग-प्रयोगो का आकलन किया गया है। ऐसे ग्रंथ 'गुटको'के रूप मे जैन ग्रंथागारो मे भरे पड़े है । वास्तव मे ऐसे ग्रंथो का प्रकाशन न केवल अनुभव-सिद्ध चिकित्सा प्रणाली को प्रस्तुत करने मे उपयोगी होगा, अपितु इससे राजस्थान के लोकायुर्वेद (लोक-जीवन मे व्याप्त घरेलू प्रयोगो व उनके उपयोग) के सबंध मे सर्व-सुलभ जानकारी प्राप्त हो सकती है । ये प्रयोग ऐसे है, जिनके लिए औषधिया राजस्थान के हर ग्राम व नगर मे सुगमता से उपलब्ध हो जाती है । इस सदर्भ मे आयुर्वेद की यह सर्वमान्य सिद्धात व उक्ति चरितार्थ होती है-

"यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधंहितम् ।" अर्थात् जो प्राणी जिस प्रदेश मे उत्पन्न हुआ है, उसके लिए उस प्रदेश-विशेष मे उत्पन्न औषधिया वनस्पतिया हितकर होती है । अस्तु ।

सास्कृतिक दृष्टि से जैन विद्वानो व यति मुनियो ने चिकित्साकार्य और वैद्यक ग्रथ-प्रणयन द्वारा तथा अनेक उदारमना जैन श्रेष्ठियो ने धर्मार्थ चिकित्सालय, औषधालय, पुण्यशालाएं व आयुर्वेद महाविद्यालय स्थापित कर भारतीय समाज को सहयोग प्रदान किया है । निश्चित ही, यह देन महत्वपूर्ण कही जा सकती है ।

अनेक जैन-आचार्य प्रसिद्ध चिकित्सक हुए हैं और अनेक जैन-आचार्यों द्वारा विरचित वैद्यकग्रथ भी उपलब्ध है । इनम से कुछ काल-कवलित और कीट-ग्रास भी हो चुके है । जिन जैन आयुर्वेदज्ञो का परिचय और उनकी कृतिया प्राप्त है, उनका ऐतिहासिक मूल्याकन निम्न पक्तियो मे प्रस्तुत करेगे ।

आशाधर (१२४०ई.)—

जैन साहित्य मे यह अपने समय के दिगम्बर सम्प्रदाय के बहुश्रुत, प्रतिभासपन्न और महान् ग्रंथ-कर्त्ता के रूप मे प्रकट हुए है । धर्म और साहित्य के अतिरिक्त न्याय, व्याकरण, काव्य, अलकार,

योग, वैद्यक आदि अनेक विषयों पर इनका अधिकार था और इन विषयों पर इनका विशाल साहित्य भी मिलता है।

यह व्याघ्रेरवाल या बघेरवाल नामक वैश्य जाति के राजस्थान के निवासी थे। इनके पिता का नाम सल्लक्षण, माता का नाम रतनी, पत्नी का नाम सरस्वती और पुत्र का नाम छाहड था। आशाधर मूलत 'सपादलक्ष'[1] (नागौर जोधपुर के आसपास का प्रदेश, 'सवालख' के नाम से प्रसिद्ध) के राज्य के निवासी थे। यहा पहले चौहान राजाओं का राज्य था। जब साम्भर और अजमेर पर भी चौहानों का अधिकार हो गया तो उनके 'सपादलक्षीय' के उपनाम के कारण यह सारा प्रदेश 'सपादलक्ष' राज्य कहलाने लगा। इस प्रदेश मे 'मण्डलकर दुर्ग' (वर्तमान मे माडलगढ़ का किला) मे आशाधर रहते थे। मांडलगढ़ पहले चौहानों के राज्य में था। जब गजनी के शासक शाहबुद्दीन गौरी ने वि. सं. १२४९ (ई. ११९२) मे पृथ्वीराज चौहान को परास्त कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया था, तो उसी वर्ष अजमेर के क्षेत्र पर उसने अपना सूबेदार नियुक्त किया इसलिए मुसलमानो के अत्याचार सपादलक्ष मे होने लगे। मुसलमानों के आक्रमणों से अपने चरित्र की रक्षा करने के लिए आशाधर अनेक परिवारों के साथ मालवा की राजधानी मे आकर बस गये। उस समय मालवा का शासक विंध्यवर्मा था। विंध्यवर्मा का पौत्र अर्जुनवर्मा हुआ। इसके राज्यकाल मे जैनधर्म के उदय के लिए धारानगरी को छोडकर नलकच्छ-पुर (नालछा) मे आकर रहने लगे। वहा विशाल जिनालय स्थापित कर आजीवन अध्ययन-अध्यापन करते रहे।[1A]

---

१. डॉ गौरीशंकर हीराचंद ओझा, ओझानिबधसग्रह, १, पृ. २०-२१

१A आशाधर ने अपने ग्रथों 'त्रिषष्टिस्मृति, जिनयज्ञल्प आदि में अपने स्थान व वंश के संबंध मे निम्न प्रशस्ति मे परिचय दिया है—

श्रीमानस्ति सपादलक्षविषय· शाकम्भरीभूषण—
स्तत्र श्रीरतिधाम मण्डलकर नामास्ति दुर्गं महत।
श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्याघ्रेरवालान्वया—
च्छ्रीसल्लक्षणतो जिनेन्द्र समय श्रद्धालुराशाधर ।। १ ।।
सरस्वत्यामिवात्मान सरस्वत्यामजीजनद्।
य पुत्र छाहड गुण्यं रजितार्जुनभूपतिम् ।। २ ।।
व्याघ्रेरवालवंश सरोज हस· काव्यामृतोघरसपानसुतृप्तगात्रः।
सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षुराशाधरो विजयता कवि कालिदास. ।। ३ ।।
'प्रज्ञापुंजोऽसी' तिच योऽभिहितो मदनकीर्तियतिपतिना।
इत्युदयसेनमुनिना कविसुहृदा योऽभिनंदित. प्रीत्या ।। ४ ।।
म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति—
त्रासाद विन्ध्यनरेन्द्र दो परिमलस्फूर्जत त्रिवर्गौजसि।
प्राप्तो मालवमडले बहु परीवार पुरीभावसन्
यो धारायपठाज्जिन प्रमितिवाक्शास्त्रे महावीरत. ।। ५ ।।
"म्लेच्छेशेन साहिबुद्दीनतुरुष्कराजेन" (कव्यकुमुदचन्द्रिका टीका)।

आशाधर के ग्रंथों मे लिखी हुई प्रशस्तियों के उनके सब ग्रंथ वि. स १२६० से १३०० के बीच के लिखे हुए है। इनके २० से अधिक ग्रंथ मिलते है।

वैद्यकग्रन्थ—वाग्भट के प्रसिद्ध ग्रंथ 'अष्टाग-हृदय' पर आशाधर ने 'उद्योतिनी' या 'अष्टाग-हृदयोद्योतिनी' नामक टीका लिखी थी।[२] यह ग्रंथ अब अप्राप्य है। इसका उल्लेख हरिशास्त्री पराडकर[3] और पी. के. गौड[४] ने किया है। यह टीका बहुत विद्वत्ता पूर्ण थी। पीटर्सन ने इसकी किसी हस्तलिखित प्रति का उल्लेख नही किया है,[५] परन्तु यदि इसकी कही कोई प्रति मिल जाय तो अष्टागहृदय के व्याख्यासाहित्य में उससे महत्वपूर्ण वृद्धि होगी।

हंसराज मनि (ई० १७ वी शताब्दी)—

यह खरतरगच्छ के वर्द्धमानसूरि के शिष्य थे। इनका काल सत्रहवी शती ज्ञात होता है।

इन्होने नेमिचन्द्र कृत प्राकृत 'द्रव्यसग्रह' पर 'बालावबोध' लिखा था।

"द्रव्यसग्रह शास्त्रस्य बालबोधो यथामतिः।
हंसराजेन मुनिना परोपकृतये कृतः ॥१॥"

इनकी अन्य रचना 'ज्ञानद्विपंचशिका–ज्ञान–बावनी' भी मिलती है। इसकी प्राप्त एक ह० लि० प्रति का लिपिकाल सं० १७०६ है।

भिषक्चक्रचित्तोत्सव—

इसे 'हंसराजनिदानम्' भी कहते है। यह चिकित्सा विषयक ग्रन्थ है। ग्रन्थारम्भ मे "श्री पार्श्वनाथायनमः" लिखकर सरस्वती प्रभृति और धन्वन्तरि की वन्दना है। लेखक ने लिखा है—

"भिषक्चक्रचित्तोत्सव जाड्यनाशं करिष्याम्यह
बालबोधाय शास्त्रम्।
नमस्कृत्य धन्वन्तरिं वैद्यराज जगद्रोगविध्वसव
स्वेन नाम्ना ॥५॥

तथा—

"देश बलं वय काल गुर्विणी गदमौषधम्।
वृद्धवैद्यमत ज्ञात्वा चिकित्सासारमेतत्ततः ॥१०॥'

ग्रन्थ के अन्त मे लिखा है—

भिषक्चक्रचित्तोत्सवं वैद्यशास्त्रे कृतं हंसराजेन
पद्यैर्मनोज्ञैः।
सुहृदै (हृद्यं) रदोषैरुरो ध्यान्तनाश हरेरंध्रिसज्ञो-
विना नन्दमूर्तेः ॥१॥

यह ग्रन्थ हंसराजकृत भाषाटीका सहित वेंक-टेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हो चुका है।

जिन समुद्रसूरि (१७–१८ वी शती)–

यह श्वेताम्बरी बेगड गच्छ शाखा के आचार्य थे। इनका जन्म श्रीमाल जातीय शाह हरराज की पत्नी लखमादेवी के गर्भ से हुआ था। इनका

---

२ आयुर्वेदविदामिष्ट व्यक्तुं वाग्भटसंहिताम्।
अष्टांगहृदयोद्योत निबन्धमसृजच्च यः॥" (आशाधर की ग्रंथप्रशस्ति में)

३. हरिशास्त्री पराडकर, अष्टागहृदय (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई), उपोद्घात, पृ. २६

४. पी. के. गोडे, अष्टांगहृदय, इंट्रोडक्शन, पृ. ६.

५. आफ्रेक्ट, केटेलॉगस केटेलोगोरम, भाग १, पृ. ३६.

जन्म स्थान और जन्म सम्वत अज्ञात है। सम्भवत; इनका जन्म बीकानेर, जोधपुर या जैसलमेर राज्य में कहीं हुआ था और जन्मकाल सम्वत १६७० के आसपास अनुमान होता है। इनकी दीक्षा स० १६८२ मे हुई थी। इनके गुरु जिनचन्द्रसूरि थे और इनकी साधु–अवस्था का नाम महिमसमुद्र था जो इनकी अनेक रचनाओ मे पाया जाता है। इनको स० १७१३ मे जिनचन्द्रसूरि के स्वर्गवास के बाद बेगडगच्छ का आचार्य पद प्राप्त हुआ। सं० १७४१ की कार्तिक सुदी १५ को वर्द्धमपुर मे इनका ७० वर्ष की आयु मे स्वर्गवास हुआ था।

जैसलमर के रावल अमरसिह ने इनको मान–पटोली और उपाश्रय प्रदान किया था।

इनका विशाल साहित्य इनकी विद्वत्ता प्रतिभा और कवित्व शक्ति का अच्छा परिचायक है। इनका ग्रन्थनिर्माण काल सवत १६६७ से स० १७४० तक माना जाता है। इनके लगभग ३५ ग्रन्थो का पता चलता है जिनकी हस्तलिखित प्रतिलिपिया जैसलमेर के ग्रन्थभण्डारो मे मिलती हैं। जिनसमुद्र-सूरि के साधुसप्रदाय की मुख्य गद्दी जैसलमेर मे है और इनके शिष्य-प्रशिष्य इसी क्षेत्र मे विहार करते हैं। इनकी समस्त रचनाए राजस्थानी और अप–भ्र श भाषा मे मिलती है। इन्होने मरुभाषा मे लगभग १॥लाख पद्य लिखे थे। कुछ फारसी मे भी स्तवन मिलते है। वैद्यक पर इनका 'वैद्यचिन्ता-मणि' नामक ग्रन्थ मिलता है। इसका अन्य नाम 'वैद्यकसारोद्धार' और 'समुद्रसिद्धान्त' या 'समुद्र-प्रकाशसिद्धान्त' भी मिलते है। यह एक सग्रह ग्रन्थ है। इसमे रोगो के निदान और चिकित्सा का पद्य-बद्ध विवेचन किया गया है। इसमे सर्वप्रथम तीन प्रकार के देशो का वर्णन किया है।

ग्रन्थ परिचय देते हुए लेखक ने प्रारम्भ मे निम्न पद्य लिखे है—

"यति उपकार तणी रिदै, धरी आण चित चूंप।
रची वैद्य के काज को, वैद्यक ग्रन्थ अनूप ॥६॥
वैद्य ग्रन्थ पहिला बहुत, हे पिण सस्कृत वाणि।
तातइ मुगध प्रबोधउ, भाषा ग्रन्थ बखाणि ॥७॥
वाग्भट सुश्रुत चरक, फुनि सारगधर आत्रेय।
यागशतक आदिक वली, वैद्यक ग्रन्थ अभेय ॥८॥
तिन सबिहु न को मथन करि, दधि तैं ज्युं घृतसार
त्यो रचिहु सम शास्त्र ते, वैद्यकसारोद्धार ॥६॥
परिपाटी सबि वैद्य की, आमनाय सशुद्धि।
वैद्यचितामणि चौपई, रचहू शास्त्र की बुद्धि।१०।
रोगनिदानचिकिच्छका, पद्य क्रियाविक तत्त।
नाम धारयो इन ग्रन्थ को, श्री समुद्रसिद्धात ।।११।

ग्रन्थ के अन्त मे लिखा है—

'इति श्री समुद्रप्रकाससिद्धान्ते विद्याविलास चतुष्पदिकाया वर्णा रि० समाप्तमिति।"

इसके बाद कण्ठरोग, तालुरोग आदि का वर्णन है।

महेन्द्र जैन— (स०१७०६)

इनके पिता का नाम कृष्ण वैद्य था। इनका "द्रव्यावली समुच्चय" नामक वैद्यक ग्रन्थ मिलता है। यह एक निघण्टु ग्रन्थ है।

जिसमे द्रव्यो का परिचय और गुणधर्म दिये है। यह धन्वन्तरि निघण्टु नामक ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया है। इसकी रचना उदयपुर मे हुई थी।

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर मे इस ग्रन्थ की स० १७०६ की ह० प्र० वर्तमान है, अत ग्रन्थ का रचनाकाल इससे पूर्व का ही होना चाहिए।

जिनदासवैद्य (सं० १७१५)

यह जयपुर के निवासी थे। जयपुर के पाटोदीजी के मन्दिर मे (गठरी न ६ नं १ पत्र ५६ श्लोक ८४३) पर 'जिनदासवैद्य' का 'होलीरेणुकाचरित्र' नामक ग्रन्थ विद्यमान है। इसकी प्रशस्ति मे जिनदास वैद्य की विस्तृत कुल परम्परा दी हुई है। उसमे जिनदास के पूर्वज पं० हरपति, पद्म, ओह और बिभ्रू की प्रशसा की गई है और बताया गया है कि उनको फिरोजशाह, गयासुद्दीन और नादिरशाह आदि द्वारा सम्मान प्राप्त हुआ था। बिभ्रू के पुत्र धर्मदास भी अच्छे वैद्य थे।

मो० द० देसाई ने जिनदास का काल स० १७१९ के लगभग माना है। (द्र० जैन साहित्यनो इतिहास, पृ० ६६४)।

धर्मसी (धर्मवर्द्धन) (स० १७१७ से १७५०)

इनका वास्तविक नाम धर्मसिंह या धर्मवर्द्धन था। यह खरतर गच्छीय वाचक विजयहर्षजी के शिष्य थे। इन्हे राज्य सम्मान भी प्राप्त था। इनकी गुरु परम्परा इस प्रकार मिलती है—

खरतरगच्छीय जिनभद्रसूरि की शाखा मे— साधुकीर्ति—साधुसुन्दर— विमलकीर्ति—विजयहर्ष धर्मसी।

इनका भ्रमणक्षेत्र मारवाड और उत्तरी गुजरात रहा। यह मूलतः मारवाड के रहने वाले थे।

इनकी सस्कृत और राजस्थानी मे रचनाए मिलती हैं। इनका ग्रन्थ रचनाकाल स० १७१७ से १७५७ तक माना जाता है। (देखिये मो० द० देसाई, जैन साहित्यनो इतिहास, पृ० ६६४)।

धर्मसी का सस्कृत मे "श्रीभक्त्यामरस्तोत-समस्यारूप श्रीवीरजिनस्तवन" ग्रन्थ ४४ वसततिलकाओ में मिलता है। यह ग्रन्थ स० १७३६ में रचा गया था। राजस्थानी भाषा मे ये ग्रन्थ मिलते है—

अमरसेन वैरसेन चौपई, शनिश्चर विक्रम चौपई (राधनपुर में),

सुर सुन्दरीनोरास (स० १७३६, श्रा० सु० १५ बेनातटपुर मे), दशार्णभद्र चौ० (१७५७ मेडता मे), २८ लब्धिस्तवन (स० १७२२ लूणकरणसर मे), १४ गुणस्थानस्तवन (स० १७२९ श्रा० वद ११ बाहडमेर मे), अढीद्वीपवीसविहरमानस्तवन (स० १७२९ जैसलमेर मे,) जेससवरन विचार गर्भितस्त०, आलोपणस्त० (स० १७५४ फलोधी मे)। (इन ग्रन्थो के विवरण हेतु देखिए मो० द० देसाई, जैन-गुर्जर कविओ, भाग २, पृ० ३३९-३४६)।

वैद्यक पर इनकी एक ही रचना मिलती है— "डभक्रिया"। डभक्रिया का अर्थ है, अग्निदाहकर्म की प्रक्रिया। यह २१ पद्यो मे छोटी सी रचना है। इसका रचनाकाल संम्वत १७४० विजयादशमी दिया गया है।

> "सतरसो चालीसे विजयदशमीदिने,
> गच्छखरतरजगजीत सर्व विद्या जिनैं।
> विजयहर्ष विद्यमान शिष्य तिनके सही,
> कवि धर्मसी उपगारे, डभक्रिया कही।२१।

लक्ष्मीवल्लभ (स० १७२०–१७५०)–

इनके जन्मस्थान, जन्मसम्वत, वश, माता-पिता और गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध मे विशेष परिचय नही मिलता और इनके ग्रन्थो मे भी कोई प्रशस्ति प्राप्त नही होती। इनका जन्म नाम हेमराज था। इनका जन्म सम्वत १६९० और १७०३ के बीच होना ज्ञात होता है। इन्होने स० १७०७ के लगभग दीक्षा ली थी। इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार

ज्ञात होती है—१४ वीं शती मे खरतरगच्छ के अत्यन्त प्रभावशाली और प्रतिभा सम्पन्न जिनकुशल-सूरि आचार्य हुए। इनके शिष्य प्रशिष्य इस प्रकार हुए। जिनकुशलसूरि उपाध्याय विनयप्रभ–उपाध्याय विजयतिलक—वाचकक्षेमकीर्ति–उपाध्याय तपोरत्न वाचक भुवनकीर्ति —वाचक हर्षकुंजर—वाचक लब्धिमण्डन—उपाध्याय लक्ष्मीकीर्ति — लक्ष्मी-वल्लभ। जिनराजसूरि या जिनरत्नसूरि आचार्य ने दीक्षित कर इनको लक्ष्मीकीर्ति का शिष्य बनाया था।

लक्ष्मीवल्लभ इनका दीक्षा नाम था। यह समवत बीकानेर क्षेत्र के निवासी थे। (देखिये— 'रात्रिभोज चौपई' का अन्त)। यह अठारहवी शती के द्वितीय पाद मे मौजूद थे। इनकी अधिकांश रचनाएं वि० स० १७२० से १७५० के बीच मे लिखी गई थी।

इनकी वैद्यक पर दो कृतिया मिलती है काल-ज्ञान और मूत्रपरीक्षा।

कालज्ञान [कालग्यान]-यह शम्मुनाथकृत सस्कृत के 'कालज्ञानम्' का पद्यवद्ध भाषानुवाद है।

'भाषित शम्मुनाथ कौ, जानत कालग्यान।
जानै आउ छ मास थे, धुरतै वैद्यसुजान।।२।।

इसका रचनाकाल भाद्रपद सु० १५ स० १७४१ है।

'चन्द्र[1] वेद[4] मुनि भू[1] प्रमित, सवत्सर नभ मास।
पूनिम दिन गुरवार युत, सिद्धयोग सविलास।।७०।।

ग्रन्थमें कुल पांच समुद्देश [अध्ययन] और कुल १७८ पद्य हैं। लेखक ने वैद्यकविद्या की प्रशस्ति निम्न पद्य मे लिखी है—

'जग वैद्यक विद्या जिसी, नही न विद्या और।
फलदायक परतखि प्रगट, सब विद्या को मौर
।।१६६।।

अंतिम पुष्पिका को देखिए—

"इति कालग्याने भाषाप्रबन्धे उपाध्याय श्री लक्ष्मी वल्लभ विरचिते पचम समुद्देस।।"

२. **मूत्रपरीक्षा**—यह लेखक की अतिसक्षिप्त कृति है। [पत्र १]। कुल पद्य ३७ मे बनायी गई है। प्राप्त हस्तलिखित प्रति का लेखनकाल स. १७५१ है। ('स १७५१ वर्षे कार्तिक वदि ६ दिने बीकानेरमध्ये')। अत. इसका रचनाकाल इससे कुछ पूर्व का ही प्रमाणित होता है।

सम्भवत यह ग्रन्थ भी किसी सस्कृत का भाषा-नुवाद है। ग्रन्थ का अन्तिम पद्य देखिए—

"मूत्र परीक्षा यह कही, लच्छिवल्लभ कविराज।
भाषा बन्ध सु अति सुगम, बालबोध के काज
।।३७।।

विशेष—लक्ष्मीवल्लभ का काव्य कृत्तियो मे अन्य नाम 'राजकवि' भी मिलता है। यह १८ वी शताब्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार थे। इनका राज-स्थानी, हिन्दी और सस्कृत पर सामान्यरूप से अधिकार था। तीनों ही भाषाओं मे इनकी रच-

---

१. 'कालज्ञान' के प्रारम्भ मे लेखक ने गुरुपरम्परा का उल्लेख किया है—
"श्रीजिनकुशलसूरिस गुरू, भए खरतर प्रमु मुख्य। खेमकीर्ति वाचक भए, तासु परम्पर शिष्य।।७१।।
ता साखा मे दीपते, भए अधिक परसिद्ध। श्रीलक्ष्मीकीर्ति तिहा, उपाध्याय बहु बुद्धि।।७२।।
श्रीलक्ष्मीवल्लभ हुए, पाठक ताके शिष्य। कालज्ञान भाषा रच्यो, प्रगट अरथ परतक्ष।।७३।।

नाएं मिलती हैं। सीधी में भी तीन सावन मिलते हैं। इनका साहित्य बहुत विशाल और विविध है, जो इनकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचायक है। इनकी छोटी-बड़ी लगभग पचास से भी अधिक कृत्तियां मिलती हैं।

रामचन्द्र [वि. स. १७२०-१७५०]—

यह खरतगच्छीय यति थे। इनके गुरु का नाम पद्मरंगगणि था। पद्मण के गुरू पद्मकीर्ति हुए और पद्मकीर्ति के गुरू जिनसिंह सूरिराज हुए। जिनसिंह सूरि दिल्ली के बादशाह शाहसलेम (सलीमशाहसूर) के काल मे विद्यमान थे और अपने उपदेशो से बादशाह को उन्होने दयावान बना दिया था। उनको मुगल सम्राट अकबर और सलीम द्वारा भी सम्मान प्राप्त हुआ था। रामचन्द्रयति औरंगजेब के शासनकाल मे मौजूद थे। अपनी गुरुशिष्य परम्परा को लेखक ने निम्न पक्तियो मे स्पष्ट किया है—

"युगवर श्री, जिनसिंहजी खरतरगच्छ राजान।
शिष्य भए ताके भले, पदमकीर्ति परधान ॥
ताके शिष्य वणारसी, पद्मरग गुणराज।
रामचन्द्र गुरूदेव को, नीकें प्रणमें आज ॥
[कवि विनोद, ग्रन्थारम्भ मे]।

वैद्यक और ज्योतिष पर इनका अच्छा अधिकार था। इनके पूर्व गुरू भी वैद्यक मे निष्णात थे। वैद्यक पर 'रामविनोद' और 'वैद्यविनोद 'नाडी-परीक्षा' 'मानपरिमाण' ग्रन्थ तथा ज्योतषि पर सामुद्रायिक भाषा नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इनके काव्य सम्बन्धी चार ग्रन्थ भी मिलते है— 'समेदशिखरस्तवन' [स १७५०'] 'बीकानेर आदि-नाथस्तवन' [स. १७३०], 'दश पच्चक्खाण स्तवच' [सं. १७२१], 'मूलदेव चौपाई [सं. १७११]। ये सब ग्रन्थ राजस्थानी हिन्दी मे और पद्यमय हैं। कुछ फुटकर भक्तिपरक पद्य भी मिलते हैं।

यद्यपि इनके ग्रन्थो मे इनके निवासस्थान का कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता, तथापि इनके ग्रन्थो की उपलब्धि विशेषरूप से राजस्थान मे होने से तथा भाषा राजस्थानी होने से इनका राजस्थानी होना स्पष्ट होता है। सम्भवत यह बीकानेर क्षेत्र के निवासी थे।

१. **रामविनोद**—[वि. स. १७२०]–यह चिकित्साविषयक ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल मिगसर सुदी १३, बुधवार स. १७२० है। यह कृति सक्कीनगर [सिन्ध प्रात] मे बनायी गई थी।

२. **वैद्य विनोद** —इस ग्रन्थ की रचना-समाप्ति स १७२६ वसन्त ऋतु वैशाख पूर्णिमा को हुई थी। उस समय औरंगजेब का शासनकाल था।

'रस[६] दृग[२] सागर[७] शशि[१] भयौ,
रित वसन्त वैसाख।
पूर्णिमा शुभ तिथि भली,
ग्रन्थ समाप्ति इह भाख ॥
साहिन साहिपति राजतौ, औरगजेब नरिद।
तास राज मे ए रच्यौ, भलोग्रन्थ सुखकन्द ॥
[ग्रन्थात ६१-७०]

यह ग्रन्थ मरोटकोट [बीकानेर राज्य] में रचा गया था।

'मरोटकोट शुभ थान है, वर्श लोक सुखकार।
ए रचना तिहा किन रची, सबही कुं हितकर ॥"
(७२)

'वैद्यविनोद' की रचना से पूर्व रामचन्द्र ने 'रामविनोद' नामक वैद्यक ग्रन्थ बनाया था।

'पहिली कीनौ रामविनोद,
व्याधिनिकंदनकारण प्रमोद ।
वैद्यविनोद इह दूजा कीया,
सज्जन देखि खुसी होई रहीया ।।

यह ग्रन्थ शार्ङ्गधरसंहिता का पद्यमय भाषानुवाद है । इसमे कुल २५२५ पद्य हैं । यह ग्रन्थ तीन खण्डो मे विभक्त है; उनकी पद्य सख्या क्रमश ४५६,१२६२,७७७ कुल २५२५ है । सामान्य जनता के सुखबोध के लिए लेखक ने इसकी रचना की थी-जैसा कि ग्रन्थारभ मे लिखा है—

"सारगधर अति कठिन है, बाल न पावै भेद ।
ता कारण भाषा कहूं, उपजै ज्ञान उमेद ।।५।।
पहिली गुरुमुख सांभली, भावभेद परिजान ।
ता पाछै भाषा करी, मेटन सकल अज्ञान ।।६।।
+ + +
विविध चिकित्सा रोग की,
करी सुगम हित आणि ।
वैद्यविनोद इण नाम धरि,
या मैं कीयौ बखाण ।।१०।।

३. नाडीपरीक्षा और ४. मानपरिमाण–रामचन्द्र-यति की ये दोनो लघुकृतिया पृथक् से भी मिलती है । किन्तु रामविनोद की किसी-किसी प्रति मे मानपरिमाण के पद्य उसी मे सम्मिलित मिलते हैं । अत ये दोनो रचनाए स्वतन्त्र न होकर 'रामविनोद' के ही अ श या पृथक्-पृथक् अध्याय है ।

नाडीपरीक्षा में कुल ४५ पद्य है । अतिम पद्य इस प्रकार है—
"सौम्य दृष्टि स प्रसन्न सदाई भालीयै,
प्रकृति चित्त इह्न दुख सहू ही राखीयै ।
शीघ्र शांति होइ रोग सदा सुख सदही,
नाडीपरीक्षा एह कही रामचन्द ही ।।"

मानपरिमाण मे केवल १३ पद्य हैं ।

५ सामुद्रिकभाषा –यह स. १७२२ माघ कृष्ण ६ की रचना है । इसमे कुल २११ पद्य है । इसमे राजस्थानी भाषा मे सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार स्त्री और पुरुष के लक्षणों का वर्णन किया गया है । इस ग्रन्थ में दो प्रकाश हैं-प्रथम प्रकाश मे ११७ पद्यो मे नर लक्षण और द्वितीय प्रकाश मे ६४ पद्यो में नारी लक्षण बताये गये है । यह ग्रन्थ मेहरा नामक स्थान पर रचा गया था ।

मुनिमान या मान मुनि (सं १७४५) —

यह खरतरगच्छीय भट्टारक जिनचन्द के शिष्य वाचक सुमतिसुमेर के शिष्य थे । यह बीकानेर के रहने वाले थे । निम्न पद्यो मे इन्होंने अपना परिचय लिखा है—

"भट्टारक जिनचंद गुरू, सब गच्छ के सिरदार ।
खरतरगच्छ महिमानिलो, सब जन कौ सुखकार ।।११।।
जाको गच्छवासी प्रगट, वाचक सुमतिसुमेर ।
ताको शिष्य मुनिमानजी, वासी बीकानेर ।।१२।।
(कविविनोद)

इसकी अन्य रचना 'कविप्रमोद' मे इन्होंने अपने को सुमतिसुमेर के भ्राता विनयमेरु का शिष्य लिखा है—

"इति श्री खरतरगच्छीय वाचक श्री सुमतिसुमेरुगणि तद्भ्रातृपाठक-श्री विनैमेरुगणिशिष्य मानजी विरचिते भाषा कवि प्रमोद रसग्रन्थे पचकर्मस्नेह वृन्तादि ज्वरचिकित्सा कवित्त बध चौपई दोधक वर्णनो नाम नवमोद्देस. ।।६।।"
[कविप्रमोद] ।

राजस्थानी साहित्य मे 'मान' नाम के अनेक व्यक्तियो का परिचय मिलता है । किन्तु इनसे भिन्न

आयुर्वेदज्ञ मान मुनि थे । इनके नाम के साथ कवि और 'मुनि' विशेषणो का व्यवहार हुआ है ।

श्री अगरचन्द नाहटा ने प्रसिद्ध शृंगारग्रथ 'संयोगद्वात्रिशका'[1] जिसे अमरचन्द मुनि के अनुरोध पर स. १७३१ में लिखा था, के कर्त्ता को मानमुनि माना है किन्तु जो भाषाविषयक प्रौढत्व 'संयोगद्वात्रिशका' मे है, वैसा आयुर्वेद विषयक रचनाओ में देखने को नही मिलता ।

वैद्यक पर इनकी दो रचनाएं प्रसिद्ध है—कविविनोद और कवि प्रमाद । इनकी अन्य रचना 'वैद्यकसारसग्रह' भी बतायी जाती है । नागरणी प्रचारिणी सभा के १४ वे खोजविवरण पृष्ठ ६१७ पर इस कृति का उल्लेख है तथा १५ वें खोजविवरण के पृ. ४७ पर लिखा है—"इसी विषय का दूसरा ग्रन्थ 'वैद्यकसारसग्रह' और मिला है, जो इन्ही का रचा जान पडता है ।

१. कवि विनोद—यह ग्रन्थ रोगो के निदान और औषधि के सम्बन्ध मे लिखा गया है । इसमे दो खंड है । प्रथम मे कल्पनाए है तथा दूसरे मे चिकित्सा दी गई है—

"गुरू प्रसाद भाषा करू, समझ सकै सब कोई ।
औषद रोग निदान कछु, कवि विनोद यह होई ।।५।।"

यह राजस्थानी भाषा में पद्यमय रचना है । इसकी रचना लाहौर में ("कीयो ग्रन्थ लाहोर मइ") सं० १७४५ मे की गयी थी—

"संवत सतरहसइ समई, पैताले वैशाख ।
शुक्ल पक्ष पंचम दिनइ, सोमवार यह भाख ।।६।।
और ग्रन्थ सब मथन करि, भाषा कही बखान ।
काढा औषधि, चूर्ण, गुटी, करै प्रगट मतिमान ।।१०'

२ **कवि प्रमोद**—यह मुनिमान का दूसरा वैद्यक ग्रन्थ है । यह बहुत बडी कृति है । (कुल पद्य संख्या २६४४) । इसमे नौ उद्देश (अध्याय) है ।

इस ग्रन्थ का रचनाकाल स० १७४६ है—
"सवत सतर छयालशुभ, कातिक सुदि तिथि दोज ।
कविप्रमोद रस नाम यह, सर्व ग्रथनि कौ खोज ,।१२।।"

यह स्वय कवि द्वारा इसी नाम से सस्कृत मे प्रणीत ग्रन्थ का पद्यमय भाषानुवाद है—

"सस्कृत वानी कविनि की, मूढ न समझै कोई ।
तातै भाषा सुगमकरि, रसना सुललित होइ ।।१३।।"

यह एक सग्रह ग्रन्थ है । वाग्भट, सुश्रुत, चरक, आत्रेय, खरनाद, भेड के ग्रन्थो का सार लेकर

१. इस ग्रंथ के अंत मे लिखा है—
"संवत चंद[1] समुद्र[7] सिवाक्ष[3] शशी[1] युत वर्ष विचारई तिसी ।
चैत सिता तसु छट्टि गिरापति मान रचियुं संयोगबत्तीसी ।। ३२ ।।
अमरचद मुनि आग्रहै समर हुइ सरसति ।
संयम बत्तीसी रची आछी आनि उकति ।। ४२ ।।
–इति श्रीमान् मांनमुनिना विरचितायां चतुर्थोन्माद संवत् १७६३ वर्षे मति द्वितीय आसाढ सुदि २ दिने वारे शनिस्यरे (वि. च.) ।

इसका प्रणयन किया गया था। यह कवित और दोहों मे बनाया गया है।

जोगीदास (सं० १६६२)—

यह बीकानेर के निवासी थे तथा बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह और सुजानसिंह द्वारा राज्याश्रित व सम्मानित श्वेताबर जैन जोसीराय मथेन के पुत्र थे। जोसीराय को सुजानसिंह के शासनकाल मे वर्षासन, सामरणदान और शिरोपाव देकर सम्मानित किया गया था। स्वय जोगीदास का अन्य नाम 'दासकवि' भी मिलता है।

"जिनकै नामै ग्रन्थ यहु, कर्‌यो दास कवि जान।
राजकुंवर की रीझ को, अब कवि करै बखान ॥८०॥"

लेखक ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

बीकानेरववासी विसद, धर्मकथा जिह धाम।
श्वेताम्बर लेखक सरस, जोसी जिनकौ नाम ॥७२॥
अधिपति नृप अनूप जिहि, तिनसौं करि सुभ भाय।
दीय दुसालौ कवि करै, कह्यौ जुजोसीराय ॥७३॥
जिनि वह जोसीराय सुत, जानहु जोगीदास।
संस्कृत भाषा भनि सुनत, भौ भारती प्रकाश ॥७४॥"

(वैद्यकसा, ग्रन्थात में)

वैद्यकसार—इसकी रचना जोगीदास (दास कवि) ने बीकानेर के महाराजा जोरावसिह की आज्ञा से संम्वत १७६२ मे बीकानेर मे की थी।

'जन महाराज सुजान कै. जौरो कुंवर सुजान।
कलि मे दाता कर्ण सो सूरज तेज समान ॥७६॥
जिनकै नामै ग्रन्थ यहु कर्‌यो दासकवि जान।
राजकुंवर की रीझ को, अब कवि करै बखान ॥८०॥

अन्त में,

"नयन[२] खण्ड[६] सागर[७] अवनि[१], उजल आश्विन मास।
दसम द्यौस कवि दास कहि, पूरन भयो प्रकाश ॥"

अत: कवि ने जोरावरसिंह के नाम से यह ग्रन्थ रचा था—

"इति श्रीमन्महाराज कुंवर जोंरावरसिंह-चितायां वैद्यकसारे। सप्तमों अध्याय: ॥७॥ शुभ भवतु।" (अन्तिम पुष्पिका)।

'तिन महाराज कुंवर की, उपज लखी कविराय।
अपने मन उछाह सौं, भाषा करि बनाय ॥"

समरथ (स० १७५५)—

यह श्वेतावर खरतरगच्छ के सागरचन्द्रसूरि की परम्परा के मणिरत्न के शिष्य थे। दीक्षितावस्था क्षेत्र के निवासी थे।

इनके अनेक ग्रन्थ मिलते है। केशवदास की ब्रजभाषा मे रचित 'रसिकप्रिया' पर सस्कृत मे टीका' (स० १७५५), 'बावनीगाथा', 'मल्लिनाथ पचकल्याणकस्तवन' आदि। वैद्यक पर 'रसमजरी भाषा टीका' मिलती है।

रसमंजरी भाषाटीका यह ब्राह्मण वैद्यनाथ के पुत्र शालिनाथ द्वारा प्रणीत संस्कृत के 'रसमंजरी' ग्रंथ की पद्यमय भाषाटीका है। सुगम और सरल करने के लिए श्वेताम्बरी समरथ ने इसका यह अनुवाद किया था।

"किये शालिनाथ रसमंजरी, संस्कृत भाषा माहि।
समझि न सकति मूढ की, व्याकुल होत है याहि ॥८॥

ताते भाषा करत है, श्वेताबर समरथ ।
सुगम अरथ सरलता, मूरख जन के अरथ ।।६।।

ग्रन्थ के अन्त में समरथ ने अपने गुरु का नाम मतिरत्न लिखा है—

"श्रीमतिरतन गुरु परसाद, भाषा सरस करी अति साद ।"

इस ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १७६४ है—
"संवत सतरेसय चौसठि समें, १७६७ (?)
फागुन मास सब जन को रमें ।
पांचमि तिथि अरु आदित्यवर, रच्यौ ग्रन्थ दरे मझारि ।।"

ग्रन्थ का प्रणयन देरा नामक स्थान पर किया गया था ।

ग्रन्थ के प्रारम्भ मे उमासहित शंकर की वन्दना की गई है । यह रसविद्या सम्बन्धी ग्रन्थ है ।

"रसविद्या मे निपुण जु होइ, जस कीरति पाये बहु लोइ ।
जहा तहा सुख पावै सही, सो रसविद्या प्रगटावै सही ।।४४।।"

इस ग्रन्थ मे कुल १० अध्याय हैं जिनके नाम और उनकी पद्य संख्या इस प्रकार है —

१.	रसशोधन कथन	प्रथमोऽध्याय:	पद्य ३७
२	रसजारणमारणादि कथन	द्वितीयऽध्याय	,, ६८
३.	उपरसशोधनमारणसत्वनिपातमाणिक्य सोधन मारणकथन	तृतीयोऽध्याय	,, १०
४	विषलक्षण, विषसेवन, विषपरिहार कथन	चतुर्थोऽध्याय.	,, ३२
५.	स्वर्णादि धातुशोधनमारण कथन	पंचमोऽध्याय	,, ८४
६.	रसमारण कथन	षष्ठोऽध्याय	,, २६४
७.	वीर्यरोधनाधिकार	सप्तमोऽध्याय	,, २२
८	? नाम	अध्याय	(अप्राप्य)
९.	मिश्रकाध्याय	नवम:	पद्य ७९
१०.	छायापुरष लक्षणकथन	दशमोऽध्याय·	,, ४४

विनयमेरुगणि (१८ वी शती)—

यह खरतरगच्छीय जिनचन्द की परम्परा मे वाचक सुमतिसुमेरु के भ्रातृ-पाठक थे । इनका काल वि० १८ वी शती प्रमाणित होता है । इनके शिष्य मुनिमानजी के राजस्थानी भाषा मे लिखे हुए कई वैद्यकग्रन्थ (कविप्रमोद, कविविनोद आदि) मिलते हैं (जिनका उल्लेख पूर्व किया जा चुका है) । ये बीकानेर क्षेत्र के निवासी थे ।

इनका एक वैद्यक ग्रन्थ "विद्वन्मुखमण्डनसार-संग्रह" मिलता है । यह योगसंग्रह है । ग्रन्थ की प्रति अपूर्ण रूप में प्राप्त हुई है । जिसमे मस्तकरोगाधिकार तक ही रोगो की चिकित्सा दी गई है । रोगों की चिकित्सा इसका प्रतिपाद्य विषय है । यह ग्रन्थ संस्कृत में है ।

रामलाल महोपाध्याय (१८ वी शती)—

यह बीकानेर के निवासी तथा धर्मशील के शिष्य थे। ग्रन्थारंभ मे जिनदत्तसूरि के नाम स्मरण किये है।

इनका एक वैद्यक ग्रन्थ 'रामनिदानम्' मिलता है। इस ग्रंथ का अन्य नाम 'रामऋद्धिसार' है। इस ग्रन्थ मे सक्षिप्त रूप से सब रोगो के निदान का वर्णन किया गया है। इसमे कुल श्लोक सख्या ७१२ है। ग्रन्थ सस्कृत मे है।

ग्रन्थ का प्रारभ इस प्रकार है—

अथ रामनिदान लिख्यते—

श्रिय स दद्यात् भवता जिनेन्द्र यदाप्तस्तस्याद्वादमुधा समुद्र।
येन निर्दिष्टभवा रुजापहृत्, सिद्धौषध पथ्यनिमित्त कारणम् ॥१॥

श्रीजिनदत्तसूरीश सूरि कुशलसात्रकम्।
सद्गुरु धर्मशील च, वाग्देवी प्रणमाम्यहमम् ॥२॥
निदान सर्वरोगाणा आचक्षेऽह समासत।
बालाना सुखबोधाय निदान रामसाज्ञकम ॥३॥
आत्रेय निजपुत्राय नाभेव निजपुगवम्।
शिक्षितमायुर्ज्ञानार्थं तत्सार अत्र सग्रहम् ॥४॥

अन्त का पद्य देखिए—

शिरा-छेदात् शुक्रांघात् जन्मात् क्लैब्यं च शमधा।
शिराछेदी जन्मक्लैब्य असाध्यो पच कष्टकृत् ॥१२॥ (६१२)

दीपकचन्द्र वाचक[१] (१८ वी शती)—

यह खरतरगच्छीय आचार्य जिनदत्तसूरि की परपरा मे हुए थे। यह मुनि वाचक थे। सम्भवत इनको जयपुर के महाराजा जयसिंह द्वारा राज सम्मान प्राप्त हुआ था। इनका निवास स्थान भी जयपुर ही रहा। इनके गुरु का नाम 'दयातिलक' था। उपाध्याय दयातिलक स्वयं कवि और संयमी साधु थे।

इनके दो वैद्यक ग्रन्थ मिलते है। एक, सस्कृत मे 'पथ्यलघननिर्णयः' तथा द्वितीय, राजस्थानी मे 'बालतन्त्र भाषावचनिका' नामक 'बालतन्त्र' पर भाषा टीका है। इनकी ग्रन्थ रचनाए १८ वी शती के द्वितीय चरण की मिलती है।

(१) पथ्यलघननिर्णय[२] (पथ्यापथ्यनिर्णय, लघनपथ्यनिर्णय, लघन पथ्यविचार) –यह दीपचन्द्र वाचक की प्रसिद्ध कृति है। ग्रन्थारम्भ में गुरु का नाम) 'दयातिलक' लिखा है—

महोपाध्यायतिलकान् श्रीदयातिलकाभिधान्।
सद्गुरून ज्ञानदान् विज्ञान् प्रणमामि मुहुर्मुहु ॥३॥"

---

१. मुनि कातिसागर ने इनका नाम "लक्ष्मीनाथ वाचक" लिखा है (द्र० अज्ञात आयुर्वेदिक साहित्य उदयाभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ६२१)। परन्तु यह नाम मेरे द्वारा देखी गई इस ग्रन्थ की छ प्रतियो मे नही मिला।

२. "जैनसिद्धातभास्कर" भाग ५, किरण २, पृ० १५५ पर 'लघनपथ्यविचार' नामक कृत्ति का उल्लेख है। इसका प्रणयन काल भी स० १७९२ है और रचियता का नाम भी 'दीपचन्द' दिया हुआ है।

आत्रेय, धन्वन्तरि, सुश्रुत, नासत्य (अश्विनी कुमार), हारीत, माधव, सुषेण, दामोदर, वाग्भट, दस्त्र, (?), स्वयम्भू, चरक आदि के ग्रन्थों का अवलोकन कर यह ग्रन्थ रचा गया था।

इसका निर्माण जयपुर में किया गया था। उस समय वहां महाराजा जयसिंह का शासन था—

"श्रीजयपुरवरे रम्ये राज्ये जयसिंहभूपते।
संपूर्णो हि कृतो ग्रन्थ पथ्यलंघननिर्णय ॥"

ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १७९२ माघसुदी १ बृहस्पतिवार को लिखा है

द्विनन्दमुनिभूवर्षे माघमासे शुभे दले।
२ ९ ७ १
शुक्ले प्रतिपदाया च भृगोश्चैव तु वासरे ॥१०॥"

पुन: इस ग्रन्थ का संशोधन शंकर नामक ब्राह्मण ने सं १८८५ में किया था—

५ ८ १ ८
शरभे भेन्दुभाग्वर्षे भाद्रे मास्यमिते दले।
शंकरस्य तिथौ चन्द्रे पथ्यलंघननिर्णय ॥

शंकराख्येण विप्रेण शोधितो बुध्यता बुधै। यह लंघन और पथ्यापथ्य सम्बन्धी ग्रन्थ है। अर्थात् किस किस रोगों में कितने दिनों तक लंघन (अनाहार) किया जाय और किन-किन रोगों में क्या पथ्य और अपथ्य होना है। ये पथ्य भी देशज है। इसमें विशेषत मारू (मारवाड) और जांगल आदि राजस्थान के पश्चिमी भागों की जलवायु को ध्यान में रखते हुए पथ्य की व्यवस्था कही गई है। आयुर्वेदीय चिकित्सा में पथ्य एवं लंघन का महत्व औषधि से भी अधिक स्वीकार किया गया है।

इस ग्रन्थ से लेखक का अच्छे संस्कृत ज्ञान का परिचय मिलता है।

२ **बालतन्त्र भाषावचनिका**—यह लेखक की राजस्थानी गद्य में लिखी हुई रचना है। अहिच्छत्रानगर (वर्तमान नागौर) के निवासी, रामचन्द्र के पौत्र और महिधर के पुत्र कल्याणदास ने संस्कृत में 'बालतन्त्र' की रचना की थी। इसकी भाषाटीका दीपचन्द्र वाचक ने की थी—

"तिसकी भाषा खरतरगच्छ माहि जनि वाचक पदधारक दीपचन्द इसै नामं।"

इस टीका का नाम लेखक ने 'बालतन्त्र' भाषावाचनिका' लिखा है। इसमें बाल चिकित्सा का वर्णन कुल १५ पटलों में हुआ है।

पीताम्बर सं० (१७५९)—

यह विजयगच्छीय आचार्य विनय सागर सूरि का शिष्य थे। विनयसागर सूरि अच्छे उपदेशक और रससिद्ध कवि थे। महाराणा राजसिंह के समय विद्यमान थे। इनका विशेष परिचय नहीं मिलता। इनके अनेक प्रयोग मिलते है और इनके लिए "वैद्यविद्याविशारद" के विरूद्ध प्रयुक्त हुए है। इससे इनका अच्छा चिकित्सक होना ज्ञात होता है। महाराणा राजसिंह का काल मेवाड के सांस्कृतिक इतिहास में स्वर्णकाल माना जाता है और इसमें साहित्य, संगीत, शिल्प, और चित्रकला का विशिष्ट विकास हुआ। सं १७२५ में जब औरंगजेब ने मेवाड पर आक्रमण किया तो मेवाड को दुर्दिन देखने पडे।

पीताम्बर का एक गुटका मिलता है, जिसका नाम 'आयुर्वेदसारसंग्रह' है। परीक्षित प्रयोगों को लौकिक भाषा में प्रस्तुत करना इस संकलन का प्रयोजन है। यह ग्रन्थ रोगानुसार चिकित्साप्रयोगों का संकलन है। इसमें शताब्दियों से अनेक कुशल अनुभवी आचार्यों द्वारा अनुभूत प्रयोगों का संग्रह किया गया

है। सम्पूर्ण प्रयोग वानस्पतिक है और सरलता से प्राय: सर्वत्र उपलब्ध हो जाते है। कुछ रस-प्रयोग (रस व धातुओ से निर्मित योग) भी दिये गये हैं। जिन विशिष्ट विद्वानो से योग प्राप्त हुए थे, उनके नाम भी सकलन कर्त्ता ने उल्लेखित किये है, जैसे खीमसी, जोशी भगवानदास, ठाकुरशी नाणावाल, बालगिरि आदि।

इसमे मेवाड के राजपरिवार मे प्रयुक्त होने वाले योग भी सगृहीत किये गये है। ठाकरसी नाणावाल और जोशी भगवानदास-ये दोनो उस-काल में उदयपुर के प्रसिद्ध चिकित्सक और रसायन शास्त्री थे। ये दोनों ही गुंसाई भारती के शिष्य और राजवैद्य थे।

यह ग्रन्थ उदयपुर मे रचा गया था, अत इसमे विशेषरूप से मेवाड मे प्राप्त होने वाली वनस्पतियो का प्रचुर उपयोग प्रदर्शित हुआ है। जैसे, गाठिया-भड' यह इस प्रदेश मे वातनाशक औषधि के रूप मे प्रयुक्त होती है और अस्थिसंधान का कार्य भी करती है। एक लिंगजी के समीप राजसेना-राठासेन जी की पहाडी मे यह वनस्पति खूब मिलती है। किसी भी पशु या मनुष्य का अस्थिभग होने पर इस औषधि को पीसकर तीन दिन तक पीने से अस्थिसधान हो जाता है।

लेखक ने धातुस्तभन प्रयोगो मे सिंहवाहनी गुटिका' का प्रयोग लिखा है—जिसे महाराणाकुभा सेवन करते थे। यद्यपि द्रव्यगुणविज्ञान की दृष्टि से इसमें साधारण द्रव्य ही पड़ते हैं, परन्तु गुण की दृष्टि से गुटिका अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध हुई है। इसी प्रकार राजा जगन्नाथ की 'कामेश्वर गुटिका' भी वर्णित है। विषप्रयोगो के अन्तर्गत विशेषरूप से 'बाद्यबालविषनाश' के प्रयोग उल्लेखनीय है।

आयुर्वेदीय प्रचलित मानो का भी इसमे दिग्द-र्शन होता है। लेखक ने सामयिक महाराणा राजसिंह और उसके पीछे तक मेवाड में शेरशाह-सूरी के ही सिक्को का प्रचलन रहा। इसी प्रकार 'द्रम्म' आदि सिक्के भी चल रहे थे।

इस सकलन से तत्कालीन मेवाडी गद्य और भाषा का अच्छा नमूना भी प्राप्त होता है।

इस गुटके का नाम स्वयं लेखक ने 'आयुर्वेद-सारसंग्रह' रखा है। इसका रचनाकाल स. १७५६ है, जैसा कि ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है।

"सं १७५६ वर्षे श्री श्रीविघे पक्षे [विजयगच्छेय] श्री भट्टारक श्रीमद् १०८ विनयसागरसूरिजी-तिथौ शुक्रवासरे, लिपिकृतं पीताम्बरजी उदयपुरनगरे राजाधिराज' राज्ये आयुर्वेदसारसग्रह सम्पूर्णम्।"

इस ग्रन्थ को गुजराती मे भाषातरकार श्री मुनि कातिसागर ने ई० १९६८ मे पालीताणा [गुजरात] से प्रकाशित कराया है।

ज्ञानसार [स १८०१ से १८९९]—

यह खरतर जिनलाभसूरि के शिष्य थे। इनका जन्म स. १८०१ मे बीकानेर राज्य के जागूल के पास जैगलेवास नामक ग्राम मे हुआ था। इनके पिता का नाम उदयचन्द्र जी साड और माता का नाम जीवनदे था। इनकी दीक्षा स. १८१२ मे खरतर जिनलाभसूरि के शिष्य रायचन्द्र [रत्नराज-गणि] के पास हुई थी। इन्होने अपने अनुभव से शास्त्राभ्यास किया। यह मस्तयोगी, कवि और अध्यात्मी थे। बीकानेर के राजा सूरतसिह, जयपुर नरेश प्रतापसिह, जैसलमेर के रावल गजसिह और प्रधान जोरावरसिंह उनके भक्त और अनुरागी थे।

इन्होंने अपनी रचनाएं प्राय: हिन्दी मे और क्वचित् राजस्थानी व गुजराती मिश्रित हिन्दी में

लिखी हैं। सं. १८९९ के लगभग इनका स्वर्गवास हुआ था। इनकी पादुका स. १९०२ में स्थापित की गई बीकानेर में विद्यमान है। इनका प्रसिद्ध नाम 'नारायणजी बाबा' था। सदासुख, हरसुख आदि इनके शिष्य थे।

इनका कामशास्त्र विषयक—"कामोद्दीपनग्रन्थ' मिलता है। यह राजस्थानी मे पद्यबद्ध है। इसका रचनाकाल स. १८५६ वैशाख शुक्ल ३, जयपुर है। उस समय जयपुर मे माधवसिंह का राज्य-काल था।

ग्रन्थ के अन्त मे लिखा है।

"प्रतिपो श्री परताप हरि, माधवेस नृपनन्द।
घर जबू फुनि मेरू गिर, धूतारी रविचन्द ॥१७२
रस सेर अरु गज इदु फुनि, माधव मास उदार।
शुकल तीज तिथ दिन, जयपुर नगर मझार ॥१७३
बड खरतर जिनलाभ के, शिष्य रत्न गणि राज।
ज्ञानसार मुनि मदमति, आग्रह प्रेरण काज
॥१७४॥
ग्रन्थ करौ वह रस भरौ, वरनन मदन अखंड।
जसु माधुरि तातें जगति, खंड खड भई खंड
॥१७५॥
सुघरनि जन मत रस दियें, रस भोगनि सहकार
मदन उदीपन ग्रन्थ यह, रच्यौ रुच्यौ श्रीकार
॥१७६
जग करतार है, यह कवि वचन विलास।
पैया मति को खड है, है हम ताके दास ॥१७७

इससे प्रगट है कि माधवसिंह के पुत्र प्रतापसिंह राजा थे और उन पर इनका अच्छा प्रभाव था।

इनके राजस्थानी मे अनेक काव्य ग्रन्थ, स्तवन आदि मिलते है। इनके लिए देखिए मो० द० देसाई कृत 'जैन गुर्जर कविओ, भाग ३, खंड १, पृ० २६०–२७४]।

चैनसुखयति—(स. १८२०)

यह खरतरगच्छीय जिनदत्तसूरि शाखा के लाभनिधान के शिष्य थे। इनका निवासस्थान फतहपुर (सीकर) था। इनके शिष्य चिमनीरामजी ने फतहपुर मे स. १८६८ मे इनकी छतरी (समाधि) बनाई थी। फतहपुर (शेखावाटी) मे इनकी परम्परा के यति आज भी विद्यमान है। ये अच्छे वैद्य थे।

इनके वैद्यक पर दो ग्रंथ राजस्थानी मे निम्न है—'सतश्लोकी भाषा टीका' और 'वैद्य जीवन टना'।

सतश्लोकी भाषा टीका यह बोपदेवकृत 'शत-श्लोकी' की गद्य (राजस्थानी) मे भाषा टीका है। यह रचना महेश की आज्ञा से चैनसुख यति ने रतनचद्र के लिए किया था। इसका रचनाकाल स. १८२० भाद्रपद कृष्णा १२ शनिवार है, जैसाकि अ तिम पद्यों से ज्ञात होता है—

"सवत अठारे वीस के,
मास भाद्रपद जाण।
कृष्णपक्ष तिथ द्वादशी,
वार शनिश्चर मान ॥ १ ॥
टीका करी सुधारि कैं,
चैनसुख कविराय।
आज्ञा पाय महेस की,
रतनचद के भाय ॥ २ ॥
(सतश्लोकी भाषा टीका)।

मलूकचंद (१६ वीं शती)—

यह जैन श्रावक थे। संभवत इनका बीकानेर क्षेत्र निवास स्थान था। श्री अगरचद नाहटा ने इनका काल १६ वी शती माना है।

एक स्थान पर श्री नाहटा लिखते हैं—

"मलूकचंद रचित पारसी वैद्यक ग्रथ तिब्ब सहावी का हिन्दी पद्यानुवाद 'वैद्यहुलास' नाम मे प्राप्त है। कवि ने विशेष परिचय या रचनाकालादि नहीं दिए, पर इसकी कई हस्तलिखित प्रतियाँ खरतरगच्छ के ज्ञानभंडारो मे देखने मे आई। अत इसके खरतरगच्छीय होने की संभावना है।"

(अगरचद नाहटा) खरतरगच्छ के साहित्यसर्जक श्रावकगण, जिनचद्रसूरि अष्टमशताब्दी स्मृतिग्रथ, पृ. १७२)।

इनकी 'वैद्यहुलास' नामक वैद्यककृति मिलती है। यह यूनानी चिकित्सा शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रथ 'तिब्ब सहावी' का भाषा मे पद्यमय अनुवाद है। इसमे कुल ५१८ पद्य हैं।

"वैद्यहुलास जो नाम धरि,
कीयो ग्रथ अभीकन्द।

श्रावकधर्म कुलपक्ष (जन्म) को,
मा [म] लूकचन्द सु (सो) चंद।।'
(ग्रथारभ मे)।

लक्ष्मीचद जैन (स १६३७)—

यह पचारी नगर (?) के निवासी थे। इन्होने अपनी गुरुपरम्परा के विषय मे कृत्ति के अन्त मे निम्न पंक्तियों में लिखा है—

"शहर पचारी शुभ बसो
जैनि को वास।
ता विच मंदिर जैन को,
भगवत को निज दास।।
निज सेवक हैं भक्तजन,
बुध कुशाल अरु चद।
ता कुल को अरुमान है,
ताके शिष्य नैनचन्द।।
ताकइ शिष्य मोतीराम है,
ताके शिष्य श्रीलाल।
ताके शिष्य लक्ष्मीचद है,
ताके शिष्य महिलाल।।
बुध लक्ष्मीचंद कीजियै,
ग्रंथ पढनौ नही चद।
ता गुन बर्धन कारणे
हित मिट करि आनन्द।।"

इनका एक वैद्यक ग्रथ मिलता है-'लक्ष्मी-प्रकाश'। इसका रचनाकाल स. १६३७ है—

"सवत उगणीसे अधिक,
वर्ष ऊपरि सैंतीस।
वदि वैशाख एकादशी
बुधदिन प्रगटीस।।
सिध लग्न मैं पूर्ण है
लक्ष्मीग्रथ प्रकाश।
अल्पबुद्धि करि कीजिये
ग्रंथ बरण को भाव।।"

इस कृत्ति की यह विशेषता है कि इसमे प्रयुक्त लगभग सभी योग स्वानुभवमूलक है; जिसकी सूचना लेखक ने स्थान-स्थान पर दी है। इसमे प्रथम रोग का निदान, पूर्वरूप, लक्षण का और फिर शास्त्रीय चिकित्सा का वर्णन है। जिन व्यक्तियों से लेखक को योग प्राप्त हुए हैं, उनका भी

उल्लेख लेखक ने किया है। वाग्भट, माधव निदान भावप्रकाश, योगचिंतामणि आदि ग्रंथो की सहायता ली गई है। ग्रंथ के अन्त मे लिखा है—

"रोगी रोग निदान करि,
पीछे औषध देय।
वाकौ निकई जातिकै
ताकी विधि करेय॥
जाति चिकित्सा रोग की
वात पित कफ आदि।
उलटि लपटि करि जानियै,
सर्व रोग की व्याधी॥
लक्ष्मीप्रकाशज ग्रंथ है
पूर्व ग्रंथ की साख।
माधवग्रंथ निदान कृत
भावप्रकाश की साख॥
योगचितामणि उपाय करि,
चरक वागभट जान।
शारगधर इत्यादि सब
एही उपाय बखान॥
साको अठारा में कह्यौ
उपरि दोय बधाय (शके १८०२)
ता दिन मे वौ ग्रंथ है
इहबिधि कही जिताय॥"

उपसंहार

राजस्थान मे आयुर्वेदीय हस्तलिखित ग्रंथो के सर्वेक्षण से मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा हूँ कि मध्ययुग मे आयुर्वेद विषयक ग्रंथो की रचना सबसे अधिक, अन्य प्रांतो की अपेक्षा, राजस्थान में हुई। उसमे भी राजस्थान के जैन यति-मुनियों का योगदान सर्वाधिक है। सैकडो-सहस्त्रो हस्तलिखित वैद्यक ग्रंथ जैन ज्ञान भडारो मे भरे पडे है। अधिकाश तो अज्ञात, अप्रकाशित और सर्वथा नवीन हैं। उनका विस्तृत खोज विवरण तैयार करने का प्रयास किया जा रहा है। इन ग्रंथो का प्रकाशन भी आवश्यक है। प्रस्तुत शोध निबध में कतिपय जैन ग्रंथकारो और उनकी वैद्यककृत्तियो का परिचय दिया गया है।

●●●

सत्रहवीं शताब्दी की एक महत्वपूर्ण रचना :- भविसदत्त चरित- कवि श्री बनवारीलाल

☐ डा० गदाधरसिंह, एम. ए., पी-एच. डी.

श्री बनवारी लाल कृत 'भविसदत्त चरित' की हस्तलिखित प्रति बाढ़ (पटना) के जैन मन्दिर मे विद्यमान है। प्रति हाथ के मोटे कागज पर लाल और काली स्याही मे अंकित है। इसे भीगुरो ने चाटना प्रारम्भ कर दिया है। इसमे कुल १२४ पत्र हैं। इसमे न तो लिपिकार का नाम अंकित है और न लिपिकाल ही लिखा गया है।

रचनाकार का परिचय—

इस ग्रन्थ के अन्त साक्ष्य से मात्र इतना ही विदित होता है कि बनवारी लाल खतौली के अंतर्गत माखनपुर ग्राम के रहने वाले थे। यह स्थान आजकल उत्तर प्रदेश के जिला मुजफ्फर नगर मे पडता है। इनके भाई का नाम प्रगहमल था। इस ग्रन्थ की रचना कवि ने जिन-चैत्यालय मे बैठकर स० १६६७ फाल्गुन सुदी नौमी, शुक्रवार को की थी। इस रचनाकाल से ज्ञात होता है कि कवि का समय सत्रहवी शताब्दी का मध्यकाल है।[1]

ग्रन्थ परिमाण

'भविसदत्त चरित' की रचना कुल २२ संधियो मे पूर्ण हुई है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे कुल मिलाकर सत्रह सौ से ऊपर छन्द है।

---

१. बनवारी भावै धरि ध्यान। जिन चैत्यालै खतौली सुध्यान ।।
माखनपुर जु बसै सुखवास। ठई चौपई मन धरि उल्लास ।।
मन में ऐसी चितवन भई। तो यहु सुगम चौपई ठई ।।
भाई प्रगहमल सु पियार। जै हूं भूल्या लेहु सुधार ।।
संवत सोला सै हो गये। छयासठ अधिक जु ऊपर भये ।।
शुभ फागुण नौमी तिथि जान। स्वाति नक्षत्र भृगु शुभ मान ।।
माखनपुर बसई सुखबास। ठई चौपई मन उल्लास ।।

—छन्द संख्या १६९८-१७०२

कथासार

पंचपरमेष्ठी, सरस्वती तथा जिनेन्द्रो की वन्दना कर राजा श्रेणिक और गणधार गौतम के माध्यम से 'श्रुत पंचमी व्रत' के माहात्म्य-कथन के द्वारा कवि ने भविष्यदत्त का उपाख्यान वर्णित किया है।

धनपति नामक नगर सेठ की पत्नी कमलश्री से भविष्यदत्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। पूर्वभव के दोषवश उसका प्रेम कमलश्री से हठ गया और उसने एक दूसरी स्त्री सरूपा से विवाह कर लिया। इसी नयी पत्नी से सेठ को बन्धुदत्त नामक पुत्र हुआ। तरुण होने पर बन्धुदत्त व्यवसाय के लिए द्वीपान्तर जाने को जब उद्यत हुआ तब माता के मना करने पर भी भाई पर विश्वास कर भष्यिदत्त उसके साथ लग गया। नौकाएँ तिलक द्वीप मे जा लगी। तट-प्रदेश की रमणीयता देखने के लिए भविष्यदत्त जब नौका से उतर कर कुछ देर के लिए बाहर गया तब बन्धुदत्त ने नौकाएं खोल दी और बेचारा भविष्यदत्त उस द्वीप मे अकेले पड गया। उस द्वीप मे उसे एक जनशून्य नगरी मिली। वहा के विशाल प्रासादो मे सुन्दर-सुन्दर पर्यंक बिछे थे किन्तु उन पर सोने वाला कोई नही था। गवाक्ष खुले थे किन्तु किसी का पता नही था। वहा उसे सौन्दर्य की प्रभा विकीर्ण करती हुई एक कन्या मिली जो असनवेग नामक दानवराज की पालिता कन्या थी। दानवराज ने पूर्भभव के स्नेहवश भविष्यदत्त के साथ उस कन्या का विवाह कर दिया। भविष्यदत्त जब घर लौटने लगा तब समुद्रतट पर उसे बन्धुदत्त मिला जिसकी सारी सम्पत्ति समुद्री दस्युओं ने लूट ली थी। बन्धुदत्त उसके पैरों पर गिर पडा और अपने कृत्यों के लिए उससे क्षमा मागी। उदार हृदय भविष्यदत्त ने उसे क्षमा कर दिया। अचानक भविष्यदत्त की पत्नी को स्मरण हुआ कि उसकी नागमुद्रिका घर पर ही छूट गयी है। भविष्यदत्त शीघ्रता से उसे लाने चला। बन्धुदत्त के हृदय का का वैर-भाव पुन जग पडा और वह उसकी पत्नी और सम्पत्ति को लेकर भाग खडा हुआ। उसने उसकी पत्नी के शील को भी खण्डित करना चाहा किन्तु जलदेवी की कृपा से उसके शील की रक्षा हुई। घर आकर बन्धुदत्त ने उसे अपनी पत्नी बताया और उसके साथ अपने विवाह का आयोजन करने लगा। इस बीच भविष्यदत्त की माता द्वारा सपन्न श्रुतपचमी व्रत के माहात्म्य के कारण एक देव प्रगट हुआ जो पूर्वजन्म मे भविष्यदत्त का मित्र था। उसने भविष्यदत्त को उसके घर पहुचा दिया। भविष्यदत्त द्वारा जब सारे रहस्यो का उद्घाटन हुआ तो राजा ने बन्धुदत्त को राज्य से निष्कासित कर दिया और उसके गुणो से प्रसन्न होकर अपनी दो पुत्रियो का विवाह भी उससे कर देने की घोषणा की। राज्य से निष्कासित हो बन्धुदत्त ने पोदनपुर के राजा को यह कहकर आक्रमण के लिए उकसाया कि तिलकद्वीप की कन्या राजाओ के उपयुक्त है, वणिक-पुत्र के योग्य नही। युद्ध मे भविष्यदत्त द्वारा पोदनपुर का राजा बन्दी बना लिया गया। उसके अपने राजा ने उसके प्रति कृतज्ञता व्यजित की और उसे आधा राज्य दे दिया।

कथा के दूसरे खण्ड में भविष्यदत्त के पूर्वभव का वृताम्त प्रस्तुत किया गया है। अपने पूर्वजन्म की बातें जानकर भविष्यदत्त के हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और वह दुष्कर पंचमहाव्रतों का अनुष्ठान कर अन्त मे केवल ज्ञान प्राप्त करता है।

कथास्रोत एवं कथानक-संघटन—

कवि बनवारी लाल के "भविसदत्त चरित" का मूलाधार धनपाल का "भविसदत्त कहा" नामक

ग्रन्थ है। महेश्वरसूरि चरित "णाण पंचमी कहा"[२] मे भी भविष्यदत्त की कथा प्राकृत भाषा मे पद्यबद्ध आयी है। सस्कृत में मल्लिषेणसूरि ने "नागकुमार पंचमी कथा" और अपभ्रंश मे श्रीधर ने "भविसदत्त चरिय" के रूप मे इस कथा का प्रणयन किया है। हिन्दी मे ब्रह्मरायमल्ल ने "भविष्यदत्त चरित्र' (स० १६१६ वि०) का निर्माण कर इस परम्परा को आगे बढ़ाया है।

कवि बनवारीलाल की कृति पर सबसे अधिक प्रभाव धनपाल के महत्वपूर्ण अपभ्रंश ग्रन्थ "भविसयत्त कहा" का है। यद्यपि बनवारीलाल ने किसी ग्रन्थ के अनुकरण का सकेत नही दिया है फिर भी उसकी कथावस्तु धनपाल की कथा के समान ही है। धनपाल की कृति की प्रत्येक सधि मे जितनी कथावस्तु अकित है उतनी ही बनवारी लाल की रचना मे वर्तमान है। अवश्य बनवारीलाल ने अपने चरित्रो को महाकाव्योचित बनाने की पूर्ण चेष्टा की है। इसमे भ्रमण-वृतान्तो को मौलिक रूप प्रदान करने का आद्यन्त प्रयास किया गया है।

ऐसा ज्ञात होता है कि कवि ने "पद्मावत" से भी बहुत कुछ ग्रहण किया है। जिस प्रकार का प्रेम-चित्रण 'पद्मावत' मे है, ठीक उसी प्रकार का प्रेम-चित्रण 'भविसदत्त चरित' मे भी है। रत्नसेन की रानी पद्मावती के अपहरण का प्रयास अलाउद्दीन द्वारा होता है, भविष्यदत्त की स्त्री का अपहरण उसके भाई बन्धुदत्त के द्वारा। एक मे सिंहल द्वीप का उल्लेख आया है, दूसरे मे तिलक-द्वीप का। अवश्य, जायसी मे अलौकिक संकेत है किन्तु उनका लक्ष्य भी धार्मिक है। 'भविसदत्त चरित्र' को भी एक धर्म कथा का रूप दिया गया है। युद्ध का वर्णन दोनों मे है। 'भविसदत्त चरित' की तरह 'पद्मावत' का अन्त भी शान्तरस पर हुआ है।

कहा सो रतनसेन अस राजा।
कहा सुवा असि बुधि उपराजा ।।
कहा सुरूप पद्मावती रानी।
कोई न रहा जग रही कहानी ।।[३]

वस्तुत., भविष्यदत्त की कथा लोक कथा है। सौतेली माता एव भाइयो द्वारा किया गया षड्यन्त्र, समुद्र यात्रा, नौका-भंग, सूनसान नगरी मे प्रवेश, दैत्य से मुकाबला, उसकी कन्या से परिणय आदि घटनाएं लोक कथानक-रूढ़ियां है जिन्हे इन कवियो ने स्वीकार कर धर्मकथा का रूप दे दिया है।

'भविसदत्त चरित्र' की कथावस्तु का गठन लक्षण-ग्रन्थो मे वर्णित महाकाव्य के लक्षणो के आधार पर हुआ है। कथा का आदि, मध्य और अन्त भाग महाकाव्य के वातावरण मे घटित हुआ है। कवि की दृष्टि मात्र कथा के विकास पर ही नही है अपितु उसका लक्ष्य वर्णन-सदर्भो द्वारा कथानक एवं घटनाओ मे काव्यत्व का नियोजन करना भी है।

वस्तु-वर्णन—

महाकाव्य वस्तुनिष्ठ होता है। इसमे कवि की दृष्टि वस्तुओ के भव्य चित्रण के द्वारा कथा को पाठक के हृदय मे बिठा देने की ओर अधिक

---

२. महेश्वर सूरि रचित "णाण पंचमी कहा" सिंघी जैन ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित है।

३. जायसी : पद्मावत—व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रका० साहित्य सदन चिरगांव, झांसी, प्रथमावृत्ति, पृ० ७१३

रहती है। यही कारण है कि प्राय सभी आचार्यों ने महाकाव्य मे वस्तु वर्णन के महत्व का निर्घोष किया है। 'भविसदत्त चरित' एक महाकाव्य का परिवेश धारण किए हुए है। अत यह स्वाभाविक है कि इसमे नगर, वन, पर्वत, सरिता तथा प्रकृति के अन्य दृश्यो का समावेश हो। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही कवि ने भगवान महावीर के समवशरण क्षेत्र का भव्य चित्रण किया है। समुद्र-संतरण के प्रसंग मे समुद्र का जो स्वभावोक्ति पूर्ण चित्रण है उसमे समुद्र की विस्तीर्णता, लहरो की उच्छृंखलता तथा समुद्र मे निवास करने वाले प्राणियों की भयावहता मूर्तिमान हो उठी है। इसी प्रकार तिलक द्वीप के भयावह वन-प्रदेश मे एकाकी घूमते हुए भविष्यदत्त की मानसिक विक्षिप्तावस्था का बडा कारुणिक वर्णन कवि ने किया है। इसी प्रसग मे उसने वन की भयकरता का भी बडा रोमाचकारी रूप उपस्थित किया है--

देखा वन अति गहर गम्भीर।
तिसका कोई न पावै तीर ॥
भरमै चित्त भयावण होय।
तह मानुस दीसै नहि कोय ॥
गज हस्ती के जूह फिरंत।
माते मद जु कपोल बहंत ॥
घम्या सूर्य जब रजनी भई।
दृष्टि न पसरै चिंता थई ॥
अजनगिरि अन्धियार।
ऐसा देखा बनहि मझार ॥
हाथो हाथ न दीसै कोय।
वन मे कुमर भयागक होय ॥
चितवै कुमर डरै मन माही।
मरण आया इस वन माही ॥
चतुर्थ सधि, छन्द संख्या २३४—२३५

तिलक द्वीप के जनशून्य नगर का वर्णन पढ़ने पर ऐसा लगता है मानो पाठक लोक-कथाओं की उस नगरी मे पहुंच गया हो जहा दानव के भय से कोई नही रहता—

सुपना रयण जो देखे कोय।
ऐसा परगट देखा सोय ॥
ठौर ठौर सो भरे भण्डार।
कहाँ गये सो विलसणहार ॥४।२६१

रस-भाव-चित्रण -

महाकाव्य मात्र काव्य रूप नही है अपितु वह जीवन का प्रतिबिम्ब है। जीवन जितने ही महत्तम एव विस्तृत रूप मे महाकाव्य का आधार बनता है उसका प्रासाद उतना ही भव्य और दृढ होता है। रस-भाव योजना महाकवि की चेतना के इसी फलक का मूर्त्त रूप है।

शृंगार रस—

कवि बनवारीलाल ने प्रेम के विस्तृत पट पर सयोग एव वियोग के मार्मिक चित्रो का अकन किया है। कमलश्री और धनपाल के शारीरिक मिलन का मूर्त्तरूप उपस्थित करते हुए कवि कहता है—

सुन्दरि उठाय उछंगतु लई।
कस्तूरि परिमल अग सु दई ॥
मधुर बचन कर सींचीबाल।
सेज आरूढा कुवर बिसाल ॥
भोगै भोग रहे जु आवास।
रति मन्दिर सो करै विलास ॥
बहुतै दिन की बीछुरी, सुन्दरि लही कुमार।
अति हर्षित मन ऊपजा, बाढी रति जु अपार ॥
१२।८७३-७५

बहुत दिनों के गए वणिको के स्वदेश आगमन पर उनके स्वजनों के मिलन का जो रूप कवि ने उपस्थित किया है उसकी तुलना अपभ्रंश-काव्य 'करकुण्ड चरिउ' के उस अंश से की जा सकती है जब करकुण्ड को देखने के लिए नगर का समस्त जन-समुदाय अपने गृह कार्य को ज्यो-त्यो छोड़कर उमड़ पडता है।

कूवे भरण गई जे नार।
कुंभहु छोड चली पनहार॥
कोई यक भोजन करती बाल।
भोजन छोड चली तत्काल॥
केई सोवत नीद मे चली।
कोई यक वस्तर पहरत भली॥
कोई अंको भरभर लेय।
सीस चूंबना कोई करेय॥
मिलतै गह भरि आये नैन।
पूछै कुसल कुसल सब छेम। ८।५२३-५२६

वियोग-शृंगार-वर्णन

'भविसदत्त चरित' मे वियोग-पक्ष का उद्घाटन सयोग-पक्ष की तुलना मे अधिक सफलतापूर्वक हुआ है। इसके कवि को वियोग की अनुभूति अधिक गहरी और तीव्र है। पति वियुक्ता भविसरूपा के विरह का जैसा मर्मातक चित्र कवि ने उपस्थित किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है—

"नाह नाह जपै विललंतु,
कारण करै सु रुदन बहंतु॥
आंधानी जिम लाकडी,
तिम आधार तुमारि।
तुज्झ समान वी जानही,
बिन अवगुण को विसारि॥
अति प्रीतम जो बिछुडइ,
तउ न मरणउ आइ।
हियरा सावर सिंह जऊ,
दिन दिन निट्ठर थाइ॥ ७।४८४-८६

विरह की चरम परिणति मे विरहिणी के हृदय मे पर दुःख कातरता का भाव है। यदि विधाता उसे मिल जाय तो वह उससे यही निवेदन करेगी कि वियोग की वेदना किसी को न हो।

अरे दैव निरदय पापी रे,
तू पर दुख ना जाणै रे।
तुज्झ विरहा दुख जो पडई रे,
तब तड साँच मानइ रे॥
करव तणी करतार, जे मिर मेल्हो ता हरै।
तो तू जाणै सार, वेदन विछोहा तणी॥
जो भेदउ करतार, करउ वीनती आपणी।
अइहा है सिरजणहार, इह दुख किम ना आइसी॥
७।४९०।९२

साहित्य की चेतना एकागी नही होती। यदि स्त्री पुरुष के वियोग मे व्यग्र है तो पुरुष को भी स्त्री के वियोग मे प्राण देने को प्रस्तुत रहना है। तिलकद्वीप मे छोडे जाने पर जब भविष्यदत्त को स्वदेश, एवं माता की करुण मूर्ति का स्मरण होता है तो वह व्यग्र हो उठता है। पत्नी के स्मरण मे कामजन्य, सुखानुभूतियो की मधुर स्मृति भी मिली है—

नाग मुद्रिका देखै सोय,
हिरदे सेती लावै सोय।
मुदरी देखि हिया गहभरै,
काम बाण शल हिरदै दहै॥७।४९५

वीर रसः— भविसदत्त चरित' मे सेना प्रयाण का बड़ा रोमांचकारी रूप अंकित हुआ है। इसकी भावानुकूल शब्द-योजना द्रष्टव्य है।

करिवि पयाणउ अनंत महाभट्ट चलिउ ।।
समु हुज्झ षड् बालि भगु लाज्झ लियउ ।।
फटो जलहर कुंभधार तृणि दीय ।।
ले आइ तह अग्नि धूम सजुगतिडय ।।

१३।१०३८

सेना प्रयाण के बाद युद्ध की वास्तविक स्थिति आती है। युद्ध भी दो प्रकार के होते हैं:—

एक सामूहिक और दूसरा व्यक्तिगत। सामूहिक युद्ध-वर्णन मे समास शैली का आश्रय लेना पड़ता है। इसके लिए भाषा में प्रवाह-शक्ति भी अपेक्षित होती है क्योकि युद्ध बड़ी त्वरित गति से घटित होता है। क्षिप्रगति से घटने वाली घटनाओं के लिए जबतक वैसे ही बहते शब्द नहीं दिये जाते, तब तक युद्ध का चित्र नही खीचा जा सकता। बनवारी लाल के युद्ध-वर्णन मे रासो ग्रन्थो की ताजगी है—

तब सुभटो काढे करवाल,
बरसे बाग मेघ अस राल ।।
भिडहि वार कर असिवर लेंय,
चढे तुरंग मदान जु देंय ।।
सेना जूझ पलाई सोय,
रण की भूमि भयानक होय ।।
दीनो दल सो खरे पखान,
दीनो करैं सिंह उठ्ठान ।।

१४।११०३-५

व्यक्तिगत युद्ध से दो योद्धाओ, विशेषकर नायक-प्रतिनायक के युद्ध का वर्णन कवि करता है। नायक और प्रतिनायक शक्ति में जितना ही अधिक तुल्य होते है, रस-संचार मे उतनी ही अधिक तीव्रता आती है। इसी प्रसंग में गर्वोक्तियां भी आती है, जो वीर-भाव को उत्तेजना देती हैं। भविष्यदत्त और प्रतिद्वन्द्वी राजा के व्यक्तिगत युद्ध का दृश्य बडा लोमहर्षक है—

दोनो मुहु मिल हये जु कुमार,
दीनों दती लडै इकसार ।।
उछल गयद तै भवसि कुमार,
छती अम्बारी बैठा सार ।।
जह बैठा पोदनपुर राय,
भविसदत्त बाधा गल पाय ।।
हाहाकार मचा रणहिं मंझार,
सुभटन डारि दिए हथियार ।। ८।११२३-२५

शान्तरस

शान्तरस का स्थायी भाव 'निर्वेद' अथवा 'शम' है। "काव्य प्रकाश" के अनुसार तत्वज्ञान से जो निर्वेद उत्पन्न होता है, वही शान्त का स्थायी भाव है। इष्ट नाश या अनिष्ट की प्राप्ति के कारण 'निर्वेद' होने पर वह सचारी भाव होगा, स्थायी नही।[४] 'भविसदत्त चरित' मे नायक को जो निर्वेद उत्पन्न हुआ है, वह तत्वज्ञान की उत्पत्ति के कारण। अतः इसमे शान्तरस की पूर्ण स्थिति है। भविष्यदत्त की अनुभूति है—

भवसमुद्र अतहि नहि होय, ग्यान दृष्टि जो देखै जोय ।।
आवै जाय बहुत दु.ख सहै, जनम मरण तनै दुख लहै ।।
किनहि पुत्र किनहि घरवास, किसका स्वामी किसका दास ।।
दिवस चार का मेला होय, छोडे जीव जाय पर लोय ।।

२१।१५३६-१५३८

४. निर्वेदस्यायिभावोऽस्तिशान्तोऽपि नवमो रसः ।।४।३५।

इस प्रकार कविवर बनवारीलाल का 'भविष दत्त चरित' रस की दृष्टि से बड़ा उत्तम काव्य है।

अलंकार-छंद-योजना

प्रत्येक कवि उक्ति की वक्रता,, वाणी की भंगिमा, लालित्य आदि, अलंकार—नियोजन से ही सम्भव करता है। कवि बनवारीलाल ने अपनी इस कृत्ति मे स्वाभाविक रूप से अलकारो की योजना की है। उसका प्रधान कारण परम्परित कथा को वर्णनो के माध्यम से प्रस्तुत करना है। अत उसने यथासम्भव स्वाभाविक रूप से आने वाले अलंकारो को ही स्वीकार किया है और गुण, क्रिया तथा वस्तु के आधार पर अलकारो का नियोजन किया है। इसके लिए उसने अनुप्रास, यमक, उपमा, प्रतीक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास. अतिशयोक्ति, रूपक, परिसख्या, उदाहरण आदि अलंकारों की योजना द्वारा अपनी कृत्ति को चमत्कार पूर्ण बनाने का प्रयास किया है। यमक के इस प्रयोग द्वारा कवि ने अपने भावो को बिम्बित करने का प्रयत्न किया है —

जग जीवन काँसी सबद, काँमी माँहि समाय।
यहा प्रथम 'काँसी' का अर्थ काँसा धातु विशेष है और दूसरे 'काँसी का अर्थ आकाश है।

इसी प्रकार अ धकार की उपमा काले पर्वत से देकर कवि ने वस्तु के रूप को उत्तेजना प्रदान की है :—

अंजनगिरि जैसा अंधियार, ऐसा देखा बर्नहि मझार ।।छद २३७।। समग्रग्रन्थ को कवि ने 'दोहा-- चौपाई-बन्ध मे लिखा है। पन्द्रह मात्रा की चौपाई का ही सर्वत्र प्रयोग है। सन्धि की समाप्ति मे प्राय दोहा छद प्रयुक्त हुआ है। बीच-बीच में तेईस और इकतीसा सवैया का प्रयोग है। यत्र-तत्र सस्कृत के श्लोक तथा प्राकृत की गाथाएं भी निबद्ध हैं। सोरठा प्रायः कथा की गति को बढ़ाने के लिए प्रयुक्त हुआ है। दो-तीन स्थानों पर गद्य का प्रयोग है जिनकी भाषा प्रौढ है। इस कृत्ति में भावों के के अनुरूप छद-विशेष का प्रयोग किया गया है। जैसे वस्तुछंद (२४६-५०) का प्रयोग किसी तथ्य अथवा किसी सिद्धान्त पर जोर देने के लिए और रोडक (छंद संख्या १०३८) का प्रयोग कठोर भावो की अभिव्यज्जना के लिए किया गया है। इनके अतिरिक्त १० मात्रिक तुकछंद (छद १७४) और श करा छद (१८७) का भी प्रयोग है जिनका लक्ष्य नाद-सौन्दर्य उत्पन्न करना है। इस प्रकार छदो के विविध प्रयोग का इसमे अभाव है किन्तु भावो के अनुकूल छद-योजना कर कवि ने अपनी गहरी काव्य दृष्टि का परिचय दिया है।

भाषा—इस काव्य की भाषा ब्रजभाषा और राजस्थानी का मिश्रित रूप है। अपभ्र श की शब्दावली का भी यथेष्ट प्रयोग किया गया। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से इसमे स्वरभक्ति के उदाहरण सर्वाधिक उपलब्ध होते है। सयुक्ताक्षरो को तोडकर सारल्य के लिए कवि किसी स्वर विशेष का आगम कर लेता है जिससे सरलता और सहजता के अतिरिक्त अनुप्रास-योजना भी सहज मे हो जाती है। जैसे—

हिरदय = हृदय (पद्य २), परसाद = प्रसाद (६), परमाण = प्रमाण(४८);परगट = प्रकट(५६), पंकति = पंक्ति (२६१); परतीहार = प्रतिहार।

रेफ का लोप और अपभ्रंश की प्रवृत्ति के समान उकार बहुलत्व के उदाहरण निम्नलिखित हैं:—

मुनीन्दु = मुनीन्द्र (४६), इन्दु = इन्द्र (२४), नरिन्दु = नरेन्द्र (२४)

अपभ्रंश की घ, थ, ध, फ और भ के स्थान पर "ह" आदेश होने की प्रवृत्ति भी उपलब्ध है —
साहण—साधन (६३), गहीर—गम्भीर (६८), विषहर-विषधर (१८८)

'ण' कार की प्रवृत्ति का बाहुल्य इसमे है जो अपभ्रंश के अस्तित्व का सूचक है —

सुण्या, भण्या (२०), जणाई (२४,२७), जम्फाण (३०), सुणहु (४६), विणा (६६) परणाई (६६), पठण (८१), पढण (१२३), होणा(३४५), आपणि (५६)

मध्य और अन्त्य क,त,च,द का लोप उनके स्थान पर स्वर शेष तथा य श्रुति प्राप्त होने के निम्नलिखित उदाहरण उपलब्ध होते है.—

रयण—रत्न (३४); सुरयण—सुरल (५१) आयसु—आदेश (१३०), परियण—परिजन (३२०), गयदु—गजेन्द्र (११२४)

कुछ शब्द अपभ्रंश के ज्यो के त्यो पाये जाते है लेकिन इनमे 'उकार' प्रवृत्ति का प्रयोग नही है:—

पुव्व—पूर्व (२८८), समप्पर—समर्पय (५४६), सुक्क—सुख (७०), वसन्दर—वैश्वानर (८८) छमच्छर—सवत्सर (१२२)

ब्रजभाषा के ठेठ शब्द भी इसमे उपलब्ध होते है, यद्यपि इन पर राजस्थानी का भी प्रभाव है। जैसे,—

विगसन्त (२६), फुनि (८४), सगले (२०८),बाखरू (१६०), फिगाई (२२६), बेठो (४१) तद्भव शब्दो का बाहुल्य भी इसमे हैं —

थणहर (७८), लच्छी (१३२), ममुद्र (१६६), गाठ (१६१), अच्छे—आसीत (१५७), जोबन (२३०) आदि।

सस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग भी इसमे यथेष्ट हुआ है.—

कचन (१६६६), ज्ञान (१६६७), इन्द्र (१६१२), कुण्डल (१६०२), सम्पत्ति(१४६१), तिर्यच(१४५३)

इस प्रकार भाषा विज्ञान का दृष्टि से इस चरित ग्रन्थ का विशेष महत्व है।

२८

हिन्दी के मध्ययुगीन निर्गुण मार्गी ज्ञानाश्रयी कवियों में जैनत्व की झलक

☐ डा० राजमल सराफ

उच्चतम भूमिका पर काव्य रसात्मक वस्तु है और इसके भीतर रचयिता के भावोन्मेष और आनन्द के तत्त्व अनिवार्य रूप से सन्निहित रहते हैं। इस भूमिका पर काव्य व्यक्तिगत अनुभूति और अभिव्यक्ति का विषय है। उसमें कवि लोकोत्तर आनन्द के सृष्टा के रूप मे सामने आता है। भारतीय काव्य परम्परा के अनुसार आनन्द से ही काव्य की सृष्टि होती है और कवि की समर्थ अभिव्यजना उसके आनन्द को पाठक अथवा श्रोता तक पहुंचाने मे पूर्णतः समर्थ होती है। यहा पर सामाजिक और सास्कृतिक प्रयोजनो का प्रश्न ही नही उठता परन्तु यह काव्य की सर्वोच्च भूमिका है। उससे नीचे उतरकर हम सामाजिक और सास्कृतिक प्रयोजनों के काव्य की ओर आते हैं। यहा कवि सामाजिक और सांस्कृतिक प्राणी के रूप मे अपने काव्य कौशल के द्वारा समाज और सस्कृति से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है और युग चेतना को वाणी-प्रदान करता है। अन्य मनुष्यो की तरह कवि भी सामजिक प्राणी है। यह दूसरी बात है कि वह सामान्य मनुष्यो से कही अधिक सवेदनशील है। वह समाज मे ही जन्म लेता है और उसी के आदर्शो मे उसका पालन-पोषण होता है। इसके साथ ही वह परम्पराबद्ध प्राणी भी है क्योकि वह अपनी विशिष्ट राष्ट्रीय संस्कृति में भी जीता है। कोई भी समाज अपने अतीत से मुक्त नही हो सकता। वह आचार-विचार, रीति-रिवाज, और 'क्लासिक्स, रचनाओं के अध्ययन से अनिवार्यत अपने सास्कृतिक विकास को साथ लेकर चलता है। ये तत्व जातीय अवचेतन के रूप मे उसकी कल्पना को अनुशासित करते हैं। उनमे शाश्वत् जीवनादर्शों की सिद्धि भले ही न हो, राष्ट्र जाति समाज के विकास के अनेक आयाम सुन्दरता से स्वीकृत हो जाते है। निर्गुणमार्गी सतो के काव्य मे हमे काव्य का यह दूसरा स्वरूप ही मिलता है। उन्होने अपने व्यक्तिगत जीवन के हर्ष-विषाद, सुख-दुख और आमोद प्रमोद को वाणी नही दी। लौकिक जीवन की ओर से स्पृहावान् नही रहे है, वे मूलत. आध्यात्मिक युग पुरुष हैं और उनका काव्य उनकी अध्यात्म साधना से ही अनुप्राणित है। उन्होंने केवल आध्यात्मिक और धार्मिक प्रयोजनो को ही महत्ता दी है। उन्होंने मानवमात्र की समानता और बन्धुत्व का सन्देश अवश्य प्रस्तुत किया है, परन्तु उसके मूल मे आध्यात्मिक जीवन दृष्टि है। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की उपासना अवश्य की है, पर उसके माध्यम से उन्होने दया, करुणा, क्षमा, सत्य, अहिंसा प्रेम, न्याय आदि गुणों को प्रधानता दी है।

निर्गुण ज्ञानाश्रयी कवियों से हमारा तात्पर्य उन कवियों से है जो मध्ययुगीन काव्य की सन्त

परम्परा का निर्माण करते हैं। ये कवि मूलरूप से भक्त कवि हैं और भारतीय चेतना में वैष्णवभक्ति आन्दोलन के साथ उनका सम्पर्क बना हुआ है परन्तु ऐतिहासिक भूमिका पर उनकी एक स्वतन्त्र सामाजिक और सास्कृतिक स्थिति है। रामानन्द के बाद कबीर, दादू, नानक, सुन्दरदास, रैदास, धर्मदास, चरणदास, मलूकदास, सहजोबाई, दयाबाई आदि निर्गुणमार्गी सन्तो की एक शृंखलाबद्ध परम्परा पाते है।

भारतीय संस्कृति की परम्परा की अति प्राचीनता का बड़ा भारी प्रमाण इसी बात मे है कि उसमें दार्शनिक दृष्टि की परम्परा अति प्राचीन काल मे ही दिखलाई पड़ती है। वास्तव में उसका प्रारम्भ कब हुआ इसका काल निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है। स्व. प. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य द्वारा रचित जैन दर्शन नामक ग्रन्थ की भूमिका में डा. मंगलदेव शास्त्री ने अपना मत व्यक्त किया है कि जैन दर्शन की सारी दार्शनिक दृष्टि, वैदिक दार्शनिक दृष्टि से स्वतन्त्र ही नही भिन्न भी है, इसमे किसी को सदेह नही हो सकता। उसका विकास प्राग्वैदिक परम्परा से स्वतन्त्र रूप से हुआ है। उसकी सादी दृष्टि से तथा उसके कुछ पुद्गल जैसे विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों से इस बात की पुष्टि होती है। इसी प्रकार सुप्रसिद्ध दार्शनिक डा. राधाकृष्णन ने भी जैन धर्म की प्राचीनता स्वीकार की है। निर्गुण मार्गी-ज्ञानाश्रयी कवियों की दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं के ऊपर भारतीय परम्परा का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। जहां एक ओर निर्गुण मार्ग की मान्यता में उपनिषदों की निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी मान्यता का स्पष्ट निर्देश है तो दूसरी ओर सन्तों की साखियों के अंगों के वर्णन में कई जगह जैनधर्म की झलक भी बोधगम्य है। सन्त सत्संगी थे तथा उनकी दृष्टि अहिंसा मूलक थी। हो सकता है कि इस कारण से कि उन्होने जैन साधु-सन्तो की सत्संगति का लाभ लिया हो। सन्त सत्यान्वेषी थे, इसलिए वे जीवन भर सत्य की खोज तथा असत्य के खंडन मे लगे रहे। सन्तों का बाह्यरूप सामाजिक मिथ्या-डम्बरो के प्रति जितना कठोर था, अन्दर से उनका भक्त हृदय उतना ही कोमल तथा प्राणिमात्र के प्रति दयावान था। उनमे सारग्राही प्रवृत्ति थी, इसलिए उन्होने सभी मतो के सार को ग्रहण किया उन्होंने अपने व्यक्तिगतजीवन मे धर्म को जीवन से पृथक् नहीं माना। अब हम सन्तो की वाणियो की कुछ उन प्रमुख बातो को लेकर चलेगे जिन पर कि जैनत्व का प्रभाव पडा है।

चितावणी—

चितावणी शब्द मे पर कल्याण का भाव निहित है इसलिए प्रत्येक सन्त ने कुछ न कुछ चेतावनी अवश्य दी है। उन्होने सासारिक आकर्षण तथा क्षण भगुरता से सतर्क रहने का उपदेश दिया है। कबीर कहते है कि थोड़े से जीवन के लिए बड़े साज-बाज जुटाये जाते हैं किन्तु कठोर काल के द्वारा क्षण भर में नष्ट कर दिये जाते हैं। काल, राजा-रंक का भेद नही करता। सौन्दर्य का गर्व करना भी व्यर्थ है—

कबीर थोडा जीवणा,
माड़े बहुत मण्डाण।
सबही ऊभामेल्हि गया,
राव-रक सुल्तान।।
कबीर कहा गरबियो,
देहा देखि सुरग।
बीछड़ियां मिलिबौ नही,
ज्यु कांचली भुवग।।
(कबीर ग्रन्थावली, पृ० २१)

सुन्दर दास तो बिल्कुल ही स्पष्ट भाषा मे चेतावनी देते हैं कि यह मनुष्य पन्चेन्द्रियो के वशीभूत होकर के विभिन्न प्रकार के प्रपचात्मक कार्य किया करता है। पर दारा से नेह लगाकर के भी उसमें कोई बुराई नही मानता। परधन का हरण करता है और परजीवों की घात भी करता है। मद्य-मांस का भक्षण करता है तथा रंच मात्र भी भलाई के कार्य नही करता है—

करत प्रपन्च इन पंचनि के बस परयो,
परदार रत भय न मानता बुराई को।
परधन हरै पर जीव की करत घात,
मद्य-मास खाय, लवलेस न भलाई को।।
(सुन्दर विलास, पृष्ठ २०)

दरिया साहब बिहार वाले कहते है कि यह मन बहुत लालची है जो कि अपने को कनक कामनि के फंदे में फसा देता है और इस प्रकार अन्त समय बड़े ही कष्ट मे प्राण निकलते है तथा यह मनुष्य-जन्म व्यर्थ चला जाता है—

कनककामिनी के फंदे मे,
ललचो मन लपटाय।
कलपि कलपि जिव जाइ है,
विर्था जनम गवाइ।।
(सन्तवाणी संग्रह १, पृष्ठ १२०)

बाबा मलूक दास ने देह और जीवन के गर्व करने वालो पर कितना तीखा प्रहार किया है—

इस जीने का गर्व क्या,
कहा देह की प्रीत।
बात कहत ढह जात है,
ज्यों बारू की भीत।।
(वही, पृष्ठ १०१)

ज्ञान विरह—

अज्ञानी जीव दो प्रकार के कहे जा सकते है। प्रथम श्रेणी मे इन्हे लिया जा सकता है जो कि ज्ञान से रहित होते है तथा द्वितीय श्रेणी मे वे प्राणी लिए जा सकते है जिनमे ज्ञान तो रहता है पर वह मिथ्याज्ञान ही रहता है क्योकि वे मोह, भ्रांति तथा वासना आदि के वशीभूत होकर शरीरादिक की सेवा करने मे लिप्त रहते है। वे तो भौतिक पदार्थ के ज्ञान के आधार पर ही अपने को सर्वोपरि समझते है जो कि वास्तव मे उनकी भ्रान्ति ही है क्योकि दृश्य जगत के भौतिक पदार्थ तो नाशवान् है, इन्हे अपने आत्म तत्व की अनुभूति नही रहती। इसीलिए ही वे अपने चर्मचक्षु-ज्ञान पर आधारित ज्ञान को ही सब कुछ मानते है। आत्म ज्ञान का बोध होने पर जीवात्मा विरहाग्नि मे जलता है तथा अपने सद्ज्ञान के द्वारा आत्मोन्नति मे लग जाता है गुरू के द्वारा सद्ज्ञान की उपलब्धि होती है और भ्रम का नाश होता है। यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होने पर जीवात्मा की अन्तर्दृष्टि खुल जाती है तथा वह पर की तरफ से हटने लगता है और स्व मे लीन होने का प्रयत्न करने लगता है। जीव की ज्ञान विरह अवस्था का सन्तो ने बडा ही सुन्दर विवेचन किया है।

कबीर कहते है कि जब आत्मारूपी दीपक मे ज्ञान की ज्योति को परमात्म स्नेह से प्रज्जवलित किया गया तो उसमे विषय वासना रूपी पतगे जलकर नष्ट होने लगे। हृदय के भीतर ज्ञानाग्नि जल रही है जिसका कि धुआ तक भी दिखलाई नही पड़ता इसका अनुभव तो दो ही कर सकते हैं एक तो वह जो ज्ञानरूपी अग्नि को स्वय अपनी अन्तरात्मा मे प्रज्जवलित करता है तथा दूसरा वह जो इस अग्नि को जलाने वाला होता है। अन्य व्यक्ति इसको अनुभव नही कर पाते। सद् गुरु ही ज्ञानाग्नि को जलाने वाला होता है। इसके लगते

ही सासारिक कामनाओं का संसार जल कर भस्म हो गया तथा ज्ञान से सम्बन्धित विभिन्न गुण रूपी पक्षी प्रगट हो गए है—

दीपक पावक आणिया,
तेल भी आण्या सग ।
तीन्यूं मिलिकर जोइया (तब)
उडि उडि पडै पतंग ।।

हिरदा भीतरि दौ जलै,
धुआ न प्रगट होई ।
जाकै लागी सो लखै.
कै जिय लाई सोई ।।

दौ लागी साहर जल्या,
पषी बैठे आई ।
दाधी देह न पालवै,
सतगुरु गया लगाई ।।
(कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११)

निष्कपट व्यवहार

सत्कर्मों के अनुष्ठान के लिए निष्कपट व्यवहार की आवश्यकता है । यदि व्यक्ति का हृदय छल से परिपूर्ण है तो उसका मन उसी मे उलझा रहता है और वह अपनी आत्मिक उन्नति नही कर सकता । सन्तों को अपने जीवन मे भले बुरे सभी प्रकार के लोगो से वास्ता पडा है, इसलिए जीवन के साफल्यार्थ कपट पूर्ण व्यवहार की निन्दा की है । कबीर कपटी पुरुषो से बचने के लिए चेतावनी देते है । दरिया साहब मारवाड वाले कपटी मनुष्य की तुलना बगुला से करते है परन्तु हस और कौआ की प्रशंसा करते है जो कि भीतर बाहर एक से ही हैं ।

दरिया बगुला ऊजला, उज्जवल ही है हस ।
ये सरवर मोती चुगै, बाके मुख 'में' मंस ।।
बाहर मे उज्जवल दसा, भीतर मैला अग ।
ता से तो कौआ भलो, तन मन एकहि रग ।।
(सतबानी १., पृष्ठ १३२)

पलटूराम तो ससार की कपट पूर्ण नीति देखकर रोने लगते हैं—

पलटू मै रोवन लगा, जरी जगत् की रीति ।
जह देखा तह कपट है, का सो कीजे प्रीति ।।
(सतबानी)

अहिंसा

समाज मे किसी न किसी रूप में संघर्ष होता रहता है अत मानव के सामने यह प्रश्न अत्यंत महत्व पूर्ण है कि सघर्ष को दूर कैसे किया जाय ? जैसे पशु अपना सघर्ष का सामना पशु बल से करता है क्या उसी प्रकार मनुष्य भी सघर्ष का प्रतिकार करे ? यदि मनुष्य भी पशुबल का प्रयोग करने लगे तो उसकी मनुष्यता कहां रहे ? अत मनुष्य को उचित है कि वह विवेक के साथ मानवोचित विधि का उपयोग करे यह है अहिंसा । इससे ससार का कल्याण हो सकता है, यही मानव का सच्चा धर्म है, कर्म है और यही है मानवता की सच्ची कसौटी । यह तो विकार जन्य प्रवृत्ति है कि वह झट हिंसा का उत्तर हिंसा से दे देता है जिससे कि संघर्ष बढता है उसका निवारण नहीं होता ।

प्रत्येक प्राणी का यह जन्म सिद्ध अधिकार है कि वह शान्ति से अपना जीवन यापन करे यहाँ उसका यह कर्त्तव्य भी है कि वह किसी दूसरे प्राणी के जीवन यापन मे किसी भी प्रकार की बाधा न डाले पर व्यक्ति स्वयं के सुख के लिए दूसरे प्राणियो के लिए भयकर यातनायें देता है तथा उसे इस बात की तनिक भी चिंता नहीं रहती कि उसके

भोग विलास के निमित्त सैंकडो प्राणियों के प्राण जाते हैं। अपने इन्द्रिय जन्य सुख के लिए मानव मानव के प्रति भी उत्पीड़न का व्यवहार करता है। उस समय वह यह भूल जाता है कि सभी जीवों के प्राण एक समान है और हिंसा के किसी भी कार्य से कष्ट सभी को होता है। अहिंसा का समर्थन संसार के सभी धर्मों मे किसी न किसी रूप में मिल जाता है पर इस सिद्धात का सूक्ष्म तथा विषद् विवेचन हमे जैनधर्म मे मिलता है। "आचारांग सूत्र" के अध्ययन मे कहा गया है कि 'जैसे तुम अपने दुख का अनुभव करते हो वैसे पर दुख का अनुभव करो।' पर उत्पीडन की भावना से निहित होना ही अहिसा है। हिंसक प्रवृत्ति मनुष्व का स्वाभाव नही है।

निर्गुणमार्गी संतों ने उपर्युक्त सभी बातो का चिंतन किया और स्वय प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा समाज मे उस समय की प्रचलित हिंसक प्रवृत्ति का विरोध किया तथा अहिंसा का प्रबल समर्थन किया। यहाँ तक कि उस समय की चमार, कसाई आदि जातियो मे भी संत हुए। जिनका कि व्यवसाय हिंसा पर आधारित था पर उन्होने हिंसा को हेय और अहिंसा को उपादेय बतलाया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इन सतो पर वैष्णवो की अहिंसा का प्रभाव मानते हैं पर मेरा विचार है कि कबीर तथा दूसरे संतो पर बहुत कुछ हद तक जैनधर्म की अहिंसा का भी प्रभाव पडा है। पत्ती तोडने पर भी कबीर को जीव हिंसा दीख पडती है—

जैन जीव की सुधि न जानै,
पाति तौड़ि देहुरि आनै।

ताकि हत्या होई अद्‌भुता,
षट् दर्शन मे जैन विगूता।।

आगे कबीर पंडितों और श्रावकों को फटकार कर कहते हैं कि तुम्हारा पानी छानकर पीना व्यर्थ है जबकि तुम पडौसी से मिलकर नही रह सकते। उनके ही शब्दो मे देखिए—

पाडौसी सु रूसणाँ, तिल तिल सुख की हाणि।
पंडित भये सरावगी, पाणी पीबैं छाणि।।

(ग्रन्थ साहब, पृष्ठ १२)

आगे कबीर और भी कहते हैं कि जो व्यक्ति भाग, मछली तथा सुरा का पान करते हैं, उनका तीर्थ यात्रा करना, व्रत नियमों का पालना सब व्यर्थ है—

भांग माछुली सुरा पान जो जो प्राणी खाही।
तीरथ व्रत नेम किए, वे सबही रसातल जाही।।

(कबीर ग्रन्थावली, परिशिष्ट, पृ० २५६)

इसी प्रकार इस पद मे कबीर मालिन से पत्ती तोडने के विषय मे कहते हैं कि हे मालिन तू पत्ती तोडकर अनर्थ कर रही है क्योकि उस वृक्ष की पत्तीं मे भी जीव है परन्तु तू जिस मूर्ति को चढाने के लिए पत्ती तोड रही है वह तो निर्जीव ही है—

भूलि मालिन पाती तोडे,
पाति पाति जीव।
जा मूरति को पाती तोडे,
सो मूरति निर्जीव।।

(कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६८)

आगे कबीर हिंसा के नाम पर धर्म बताने वाले पाडे को खरी-खरी सुना देते हैं—

पाडे कौन कुमति तोहि लागी,
जीव बधत अरु धरम कहत हो,
अधरम कहाँ है भाई।
आपन तो मुनिजन ह्वै बैठे,
कासन कहों कसाई।।

दादू का मत है कि जो नर पर प्राणी की घात करता है वह निश्चय ही नरक जाता है। मांस का आहार करने वाला, मद्य का पान करने वाला और इन्द्रियजन्य विषयो मे लिप्त रहने वाला व्यक्ति निर्दयी होता है क्योंकि वह आत्म स्वाभाव के विपरीत कार्य करता है व्यक्ति स्व के अहंकार को मारता नही और दूसरे प्राणियो को मारता है पर इस प्रकार की विपरीत क्रिया से ईश्वर की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?—

दादू कोई काहू जीव की करै आतमघात।
साच कहू ससा नही, सो प्राणी दो जगि जात।।

मास अहारी मदु पिवै, विषय विकारी सोई।
दादू आत्मराम बिन, दया कहाँ ते होई।।

आपम को मारे नही, पर को मारन जाई।
दादू आपै मारे बिना, कैसे मिले खुदाई।।

बाबा मलूकदास कहते है कि किसी को पीड़ा देने मे क्या लाभ है ? यह मूर्ख प्राणी जानता नही है कि सभी जीवो को एक समान पीडा होती है। जरा सा काटा चुभने मे कितनी पीड़ा होती है फिर तो कई इतने दुष्ट होते है कि दूसरे प्राणियो का गला काटकर खा जाते हैं—

पीर सबन की एक सी,
मूरख जानत नाहीं।
काटा चूभै पीर है,
गला काट कोई खाही।।

आगे हरी डाली तोडने में भी मलूकदास ने हिंसा मानी है—

हरी डारि न तोड़िए, लागै छूरा बान।
दास मलूका यो कहै अपना सा जिव जान।।
(संतवाणी १, पृष्ठ १०४)

संत धरनीदास कहते हैं कि मांसाहारी व्यक्ति को ज्ञान की बातें करना व्यर्थ है—

मांसाहारी जीयरा, सो पुनि कथै गियान।
नागी ह्वं घू घट करै, धरनि देख लजान।।
(धरनीदास, संतबानी सग्रह १, पृष्ठ ११६)

यहाँ पर धरनीदास का यही मत ज्ञात होता है साधु पुरुष मासाहारी या हिंसक नही हो सकता क्योकि पहले स्वय का चरित्र निर्माण करके ही ज्ञान का उपदेश देना सार्थक है।

अहिंसा की भावना मे समाज के सुख और शाति की भावना छिपी हुई है। परस्पर बीजारोपण के द्वारा अहिंसा की भावना सुलभ है, दूसरो को दुखी देखकर दुखी होना, सुखी देखकर सुखी होना, पारस्परिक प्रेम का एक मात्र साधन है। पारस्परिक अहिंसा व्यवहार ही शाति उत्पन्न कर सकता है। हमारे देश मे धर्म के नाम पर देवी-देवताओ के सामने बलिदान के रूप मे हिंसा होती है। अनेक मनगढ़ंत वाक्य रचकर उस हिंसा की पुष्टि की जाती है और उसे धर्म कहा जाता है। ऐसी हिंसा को ही विवेकी पुरुषो ने त्याज्य बताया है क्योकि इस हिंसा के द्वारा केवल प्राणी का ही घात नही होता बल्कि धर्म के नाम पर समाज के व्यक्तियो को पथभ्रष्ट किया जाता है।

सत अधिकाश उन जातियो मे जन्मे थे जिनमे हिंसा कार्य बुरा नही माना जाता था। मध्य युग मे भी हिंसा बढ़ रही थी। इन सन्तो ने सभी दृष्टियों से विचार किया कि हिंसक भावनाओ के साथ प्रभु भक्ति और ज्ञान का ताल-मेल नही बैठ सकता इसीलिए ही उन्होने बडी युक्ति संगत भाषा में हिंसा त्याग का उपदेश दिया और अहिंसक होकर अपनी भावनाओं को सात्विक बनाने का आग्रह किया। इससे यही निष्कर्ष

निकलता है कि प्राणी अहिंसा को ग्रहण करने से स्वमेव कलह, ईर्ष्या और दम्भ को अपने से दूर रखने मे सफल हो सकता है और जीवन मे शाति प्राप्त कर सकता है।

निर्गुण मार्गी कवियो का काव्य अध्यात्म से ओतप्रोत है। उसमें आध्यात्मिक चेतना विषद् रूप से भरी है और उसमें प्राणी मात्र के प्रति आत्मविकास करने की बलवती प्रेरणा है। यो तो भारतीय साहित्य और दर्शन मे आध्यात्मिकता के लिए प्रमुख स्थान रहा है तथा आदिकाल से लेकर आज के प्रगति के युग मे भी साहित्य मे आध्यात्मिक रस की धारा अबाध गति से बहती चली आ रही है। भारतीय संस्कृति मे अध्यात्म शरीर मे प्राण की तरह व्याप्त है। इसी आध्यात्मिकता के कारण ही भारतीय सस्कृति अविछिन्न है। आध्यात्मिक जीवन आतरिक जीवन है। आत्मा मे ही परमात्मा होने की शक्ति तथा गुण विद्यमान है यदि उनका विकास हो जावे। संत साहित्य मे इस चरम सत्य पर भी प्रकाश डाला गया है। भगवान महावीर स्वामी का अमर सदेश "जियो और जीने दो" तो पग-पग पर मिलता है। कबीर की एक प्रति छत्तीसगढ मे प्राप्त हुई है जिसमे अवधि ज्ञान, मनः पर्यज्ञान आदि का वर्णन ज्यों का त्यो मिलता है। मतों के अङ्गो के वर्णन—साच, दयानिर्वैरता, माघ, अमाघ, मन, गुरु आदि में जैन धर्म के तत्वों की स्पष्ट छाप मिल जाती है। मध्य युग के इस्लामी शासन मे अहिंसा का प्रचार करने का बहुत कुछ श्रेय ऐसे ही निस्पृही संतो को है।

●●●

शील

शक्ति-गुण से यदि नही सम्पन्न है जन,
जन्म मानव-कोटि मे है निष्प्रयोजन।
—अर्हत्

२६

राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण में महावीर की प्रेरणाएँ

□डा० नरेन्द्र भानावत

राष्ट्रीय चरित्र की नींव व्यक्ति-चरित्र

व्यक्ति राष्ट्र की मूल इकाई है। सुसगठित शक्ति सम्पन्न व्यक्ति-समुदाय मे ही राष्ट्र का निर्माण होता है। राष्ट्रीय चरित्र का स्वरूप इस व्यक्ति-समुदाय के आचार-विचार, कार्य-कलाप, रीती-रिवाज और सामूहिक आदर्शो तथा लोक सम्मत परपराओ से निर्धारित होता है। इस दृष्टि से राष्ट्रीय चरित्र की नीव व्यक्ति चरित्र जितनी है। व्यक्ति-चरित्र जितना पवित्र, ईमानदार और कर्त्तव्यनिष्ठ होगा, राष्ट्रीय चरित्र उतना ही दृढ और प्रशस्त होगा।

आत्म निर्भरता की शिक्षा :

चरित्र निर्माण की, चाहे वह व्यक्ति-चरित्र हो चाहे राष्ट्रीय चरित्र, आवश्यक शर्त है-स्वतन्त्रचेता अस्तित्व की पहचान, अदम्य जीविषा और अपने पुरुषार्थ के बल पर निरन्तर आगे बढते रहने की दृढ-सकल्प शक्ति। आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने व्यक्ति के इसी आत्म स्वतान्त्र्य भाव को जागृत किया। उन्होने कहा है-आत्मन्! तू ही अपने भाग्य का निर्माता और सुख-दुख का कर्त्ता है। सत्प्रवृत आत्मा ही तेरा मित्र है और दुष्प्रवृत्त आत्मा ही तेरा शत्रु है। तू अपने विकारो को जीत कर स्वय परमात्मा बन सकता है। इस प्रकार महावीर ने आत्म-निर्भरता की शिक्षा देकर यह बताया कि ईश्वरत्व की स्थिति प्राप्त करने के साधनो पर किसी वर्ग विशेष या व्यक्ति विशेष का अधिकार नही है। उस अवस्था को हर व्यक्ति, चाहे वह किसी वर्ग, धर्म या मत का हो, मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता के बल पर प्राप्त कर सकता है।

आत्मवाद मूलक कर्म सिद्धांत :

भगवान महावीर द्वारा आत्म-निर्भरता की दी गई यह शिक्षा चरित्र की मजबूती का केन्द्र-बिन्दु है। आज वह केन्द्र-बिन्दु कमजोर पड़ता जा रहा है। फलस्वरूप व्यक्ति अनास्था, निराशा, विश्वास और हीन भावना से ग्रस्त हैं। इसमे अपनी जिम्मेदारी को इमानदारी के साथ महसूस करने की भावना का लोप होता जा रहा है। जब व्यक्ति की यह स्थिति हो तब राष्ट्र कैसे आगे बढ़ सकता है ? ऐसी स्थिति मे भगवान महावीर का आत्मवादमूलक कर्म सिद्धात अपने को असहाय, निराश और पराधीन समझने वाले व्यक्ति मे आस्था, आत्मविश्वास, पुरुषार्थ और स्वावलम्बन की भावना जागृत कर, उसे अपनी पूरी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार कर्त्तव्यपालन की प्रेरणा देता है।

अस्तित्व के प्रति जागरूकता

अपने अस्तित्व के प्रति जागरूकता का बोध व्यक्ति को उदार और सवेदनशील बनाता है और वह दूसरे के अस्तित्व को महत्व देने लगता है। इसी बिन्दु से अहिंसा की सामाजिकता का भाव प्रकट होता है। भगवान महावीर अहिंसा के सबसे बडे गूढ व्याख्याता थे। उन्होंने कहा–ज्ञानी होने का सार यह है कि किसी जीव की हिंसा न करें। तू जिसे मारना चाहता है, जिसको कष्ट व पीडा पहुचाना चाहता है, यह अन्य कोई नही, तेरे समान ही चेतना-सम्पन्न प्राणी है। अत ऐसा समझ कि वास्तव मे तू ही है। महावीर की अहिंसा सूक्ष्म और गहन है। उनके अनुसार किसी प्राणी का वध करना मात्र हिंसा नही है बल्कि किसी प्राणी के मन, वाणी, शरीर, श्वास आदि मे से किसी को क्षति पहुचाना या उस पर प्रतिबन्ध लगाना भी हिंसा है।

अहिंसामूलक समता सिद्धांत

महावीर की इस सूक्ष्म अहिंसक दृष्टि ने समाज मे प्रचलित ऊंच-नीच के भेद-भाव को दूर किया। उन्होने जातिवाद, वर्णवाद तथा रंगभेद का खण्डन किया और बताया कि व्यक्ति जन्म या जाति से बडा नही है। वह बडा बनता है–अपने गुण और कर्म से। महावीर ने सामाजिक भेद-भाव के विरुद्ध क्रांति की। हरिकेशी जैसे शुद्ध, कुलोत्पन्न उनके साधु सघ मे थे। उन्होने नारी की स्वतन्त्रता के लिए पहल की। चन्दनबाला जैसी नारी को न केवल दीक्षित ही किया वरन् साध्वी सघ का सम्पूर्ण नेतृत्व भी उसे सौंपा।

राष्ट्र की सच्ची प्रगति तभी सम्भव जब बनती है उसके देह के सभी अगों को समान महत्व और आदर मिले। महावीर ने मानव ही नही, प्राणिमात्र के प्रति समभाव दर्शाया। आज विश्व में धर्म, सम्प्रदाय और जाति के नाम पर तनाव है। काले-गोरे मे भेद किया जाता है। महावीर का अहिंसामूलक समता सिद्धात हमे मनुष्य को मनुष्य समझकर प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भाव रखने की प्रेरणा देता है–मित्ती मे सव्वभूएसु वेरमज्झ न केणइ।

आवश्यकता से अधिक संग्रह करना सामाजिक अपराध :

राष्ट्रीय स्तर पर समता भाव तभी प्रतिष्ठित हो पाता है जब राष्ट्र मे आर्थिक विषमता न हो। जहां आर्थिक विषमता होती है वहा दो वर्ग बन जाते हैं–एक सम्पन्न, जिसके पास आवश्यकता से अधिक सग्रह होता है तथा दूसरा विपन्न, जो अपनी मूल आवश्यकताओ से भी वचित कर दिया जाता है। दोनो वर्गो मे यह सघर्ष शोषण, युद्ध और हिंसा को जन्म देता है। आज यद्यपि वैज्ञानिक प्रगति ने उत्पादन के साधन बढाकर उत्पादन की गति तेज कर दी है पर लोभ और सचय की वृत्ति ने कृत्रिम अभाव पैदा कर दिया है जिससे दुनिया मे अशाति भुखमरी और हाहाकार है। आज व्यक्ति भौतिक समृद्धि के पीछे पागल है। वह कुछ न करके बिना परिश्रम के समृद्ध होना चाहता है। दूसरे के प्राप्य को अपना बना लेने की यह प्रवृत्ति उसे भ्रष्टाचार की ओर ले जाती है। देश मे बढ़ती हुई तस्कर-वृत्ति, चोर-बाजारी, घूसखोरी, वस्तुओ मे मिलावट, जमाखोरी और करो की चोरी इसी का परिणाम है।

भगवान महावीर ने इस अर्थजन्य विषमता और चौर्यवृत्ति को रोकने के लिए अपरिग्रह और अचौर्यव्रत की विचारधारा दी। उन्होंने कहा-परिग्रह के समान जगत् मे कोई दूसरा बन्धन नही है। आवश्यकता से अधिक सग्रह करना पाप है, सामाजिक अपराध है। आनन्द और शान्ति का रास्ताहै–अपनी इच्छाओं को मर्यादित करना,

आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना। क्योंकि हमारे पास जो अनावश्यक संग्रह हैं उसकी उपयोगिता कहीं और है। कहीं ऐसा समुदाय है जिसे इस सामग्री की जरूरत है, और जो उसके अभाव मे सतत्प है, दुखी है।

अचौर्यव्रत का विधान

लोभ की प्रवृति व्यक्ति को कृपण और कठोर बना देती है और उसे हिताहिक का ज्ञान नहीं रहता। वह येन-केन प्रकारेण धन बटोरने मे ही लगा रहता है। जीवनपोषक तत्वों मे, जीवन घातक पदार्थों की मिलावट करने की आज जो प्रवृत्ति बढ़ी है, वह इसी कारण है। भगवान महावीर ने लोभ प्रवृत्ति को रोकने के लिए अचौर्यव्रत का विधान करते हुए बताया कि सद्‌गृहस्थ चोरी का माल न खरीदे, न चोर को किसी प्रकार की सहायता दे, राज्य के नियम के विरुद्ध व्यवसाय न करें, तोलने और नापने मे गडबडी न करे, असली मे नकली तथा बहुमूल्य वाली वस्तु मे कम मूल्य की वस्तु मिलाकर न बेचे।

असंविभागशील की मुक्ति नहीं

अपरिग्रह की भावना को बल देने के लिए ही त्याग भावना का विधान किया गया है। सद्‌गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह मर्यादा से अधिक द्रव्य का दूसरों के लिए विसर्जन करे, उसे जन कल्याणकारी प्रवृतियों मे लगाये। भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा-असविभाग न हु तरस मोक्खो अर्थात् जो असंविभागशील है, अपनी प्राप्त सामग्री दूसरो मे बाटता नही, उसकी मुक्ति नही होती।

भगवान महावीर ने परिग्रह को मर्यादित करने और अनावश्यक सग्रह न करने की जो बात व्यक्ति के लिए कही, वह आज राष्ट्रों पर भी 'लागू होती है। विश्व के विकसित और विकासशील राष्ट्र जब परस्पर आयात--निर्यात के क्षेत्रों में इस प्रकार की मर्यादायें निश्चत करेंगे तभी विश्व शांति सुरक्षित रह सकेगी और भगवान महावीर का यह कथन चरितार्थ हो सकेगा कि परस्पर उपकार करते हुए जीना ही वास्तविक जीवन है-परोस्परोपग्रहो जीवानाम।

सापेक्ष चिन्तन और विश्व मैत्री

राष्ट्रीय चरित्र का सुदृढ़ विकास राष्ट्रीय एकता पर ही अवलम्बित है। भारत जैसे राष्ट्र मे सभी धर्मों, रीति-रिवाजों, भाषाओं और उपासना प्रकारों को समान आदर देने से ही राष्ट्रीय एकता सुरक्षित है। सघर्ष और अशाति का मूल कारण हटवादिता, दुराग्रह और एकान्तिकता है। जब व्यक्ति दूसरो के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करता है तो वह सहृदय और उदार बनता है। भगवान् महावीर ने परस्पर स्नेह और सौहार्द का वातावरण बनाये रखने के लिए कहा कि प्रत्येक वस्तु के अनन्त पक्ष हैं, ऐसा समझ कर यह वस्तु एकान्तत: ऐसी ही है, ऐसा मत कहो। यदि वस्तु के सभी पहलुओं का अच्छी तरह से देख लिया जाय तो कहीं न कहीं सत्यांश निकल ही आयेगा। भगवान् महावीर का यह सापेक्ष चिन्तन हमे दिशा संकेत करता है कि कोई भी मत या सिद्धांत पूर्णत: सत्य या असत्य नही है, अर्थात् सिद्धान्तो के प्रति दुराग्रह नहीं होना चाहिए। विरोधियो द्वारा गृहीत और मान्य सत्य भी सत्य है, इसलिये उस सत्य का अपने जीवन मे उपयोग न करते हुए भी उसके प्रति सम्मान का भाव रखो। मनुष्य का ज्ञान अपूर्ण है और ऐसा कोई एक मार्ग नही है जिस पर चलकर एक ही व्यक्ति सत्य के सभी पक्षो की जानकारी प्राप्त कर सके। अत: सत्य के लिए कथित अन्य मार्ग भी उतने

श्रेष्ठ हैं जितना हमारा अपना मार्ग है । कहना न होगा कि हमारी विदेश नीति के निर्धारक तत्वों में ये बाते किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं । जिस प्रकार अनेकान्तवाद दूसरे के विचारो की सत्यता, प्रामाणिकता और स्वायत्तता को स्वीकार करता है, उसी प्रकार गुटनिरपेक्षता सिद्धान्त भी अन्य राष्ट्रो की नीतियो, उनकी सार्वभौमिकता और स्वतन्त्रता के प्रति सम्मान का भाव रखता है ।

उठो ! प्रमाद मत करो

चरित्र निमाण की प्रक्रिया व्यक्ति से शुरू होती है । अत राष्ट्रीय चरित्र की सुदृढता के लिए व्यक्ति की जागरुकता पहली शर्त है । यह जागरुकता आत्मिक और लौकिक दोनों स्तरो पर आवश्यक है । भगवान् महावीर का कथन है कि जीव मे चैतन्य के साथ अचेतन अंश भी है । वही कर्मों को खीचता है । अत पूर्ण जागरुकता के लिए अचेतनता को तोडना होगा । इसके लिये अप्रमत्तदशा प्राप्त करना आवश्यक है । इसकी प्राप्ति के लिए इन्द्रियो की विषयासक्ति, क्रोध, मान, माया, लोभादि मनोवेगो, आलस्य या असावधानी, व्यर्थ की बातो आदि से बचना होगा, क्योंकि ये प्रमाद हमारे हृदय को विकृत और सकुचित करते है । भगवान् महावीर ने इसीलिये कहा—उठो, प्रमाद मत करो—उट्ठिए णो पमायए ।

प्रमाद दशा के कारण ही आज चारो और उच्छृंखलता और अनुशासनहीनता का वातावरण है । जब मन, वाणी और कर्म पर सयम नही रहता तब विध्वंसक प्रवृत्तिया हावी हो जाती है । इन पर काबू पाने के लिए आत्मानुशासन आवश्यक है । भगवान् महावीर ने इसके लिए सम्यक् चरित्र पर विशेष बल दिया । चारित्र की परिभाषा करते हुए उन्होने कहा—अशुभ कर्मों से निवृत्त होना और शुभ कर्मों मे प्रवृत होना ही चारित्र है ।

जीवन के लिए व्रत-साधना :

यह चारित्र सम्यक् विवेक दृष्टि और सम्यक् आस्था-श्रद्धा के योग से ही प्राप्त किया जा सकता है । इसके लिए भगवान् महावीर ने बारह व्रतो की भूमिका प्रस्तुत की । जो पूर्णतया ज्ञान व्रतो की साधना करता है वह श्रमण है, मुनि है और जो अशत इन व्रतो को अपनाता है, वह श्रावक है, गृहस्थ है । इन बारह व्रतो की तीन श्रेणिया हैं—पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत । अणुव्रतो मे श्रावक अहिंसा के पालन द्वारा वात्सल्य एव मैत्री भाव का प्रसार करता है, सत्य द्वारा वह वाणी के प्रयोग मे सावधानी बरतता हे, अचौर्य द्वारा वह लोभ-सवरण करता है, ब्रह्मचर्य द्वारा वह काम भावना और अपरिग्रह द्वारा सग्रह-वृत्ति का नियमन करता है ।

गुणव्रतो मे प्रवृत्ति के क्षेत्र को सीमित करने पर बल दिया गया है । शोषण की हिंसात्मक प्रवृत्तियो के क्षेत्र को मर्यादित एव उत्तरोत्तर सकुचित करते जाना ही इनका उद्देश्य है । शिक्षा व्रतो मे आत्मा के परिष्कार के लिए अनुष्ठानो का विधान है । इनमे समभाव, संयम, तप और त्याग पर बल दिया गया है ।

शील और शक्ति का समन्वय .

कुल मिलाकर कहा जा सकता हे कि भगवान् महावीर ने जिस चारित्र धर्म की प्ररूपणा की, उसके अनुपालन से व्यक्ति एव राष्ट्र का जीवन इतना संयमनिष्ठ एव आचारसम्पन्न बन जाता है कि उसके द्वारा किसी का शोषण नही होता और उसमे इतनी शक्ति, पुरुषार्थ और क्षमता अर्जित हो जाती है कि कोई दूसरा उसका शोषण नही कर सकता, उसे दबा नही सकता ।

●●●

३०

महावीर की दृष्टि में वाणिज्य-व्यापार की आचारमूलक निष्ठाएं

□ उदय नागौरी, बी० ए० जैन० सि० प्रभाकर

युगद्रष्टा महावीर ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व वैचारिक क्रान्ति का जो शंखनाद किया था, भारतीय दर्शन मे महत्वपूर्ण है। महावीर ने अहिंसा अपरिग्रह एव अनेकान्त की जो त्रिवेणी प्रवाहित की थी जीवन के परिवर्तित मूल्यो के बावजूद हमारा पथ-प्रदर्शन कर रही है। उनकी क्रान्ति थोथी कल्पना पर आधारित न होकर जीवन की प्रयोगशाला मे अनुभूत तथ्यो से पूर्ण थी। वे आचार मे अहिसा, व्यवहार मे अपरिग्रह एव विचार मे अनेकान्त को प्रकट करना चाहते थे।

महावीर कालीन संस्कृति सरल, धर्ममय एव समन्वय कारी थी। उन्होंने आदर्श एव यथार्थ, प्रवृत्ति एव निवृत्ति तथा भौतिक और आध्यात्मिक धाराओ को जीवन मे समन्वय कर विचार प्रकट किये। वे आज भी चिर नवीन प्रतीत होते है। आचार और विचार की इस समता को जीवन मे ग्रहण करले तो सारे दुःख, कठिनाईया और अभाव हमसे दूर हो जाएगे।

जैन संस्कृति में मानव-जीवन को अत्यन्त दुर्लभ महत्वपूर्ण एवं महान माना गया है। चूंकि जीव (आत्मा) अपने पूर्णत्व को प्राप्त करने तक विविध योनियो मे परिभ्रमण करता है और सिद्धत्व प्राप्त कर कर्ममुक्त हो जाता है। आचार्य अमितगति ने — "भवेषु मानुष्य भव प्रधानम्"[1] कह कर इसका महत्व बताया है। निश्चित ही इतना महगा मानव जीवन व्यर्थ ही गवा देने जैसा नहीं। इसीलिए महावीर ने समय[2] मात्र भी प्रमाद न करने का सन्देश दिया है।[3] अपने शिष्य गौत्तम को आत्मा-

---

१ अमितगति कृत श्रावकाचार १।१२

२. 'समय' काल का अत्यल्प अविभाज्य अंश है।

३. दुल्लहे खलु माणुसे भवे,
चिर कालेण वि सव्व पाणिणं।
गाढा य विवाग-कम्मुणो,
समयं गोयम ! मा पमायए ।।
उत्तराध्ययन सत्र १०।४

भिमुख होने का उपदेश देते हुए उन्होने बताया कि चिरकाल तक विविध योनियो में भटक कर दुर्लभ मनुष्य जन्म की प्राप्ति होती है। इसे प्राप्त कर भी जो आत्मा की प्रगति हेतु प्रयत्न न करे वह यथार्थ मे इसे खो रहा है। इसलिए हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद न कर और हर समय आत्मा को कर्म–मल से पृथक् करने हेतु विचार कर।

अनन्तकाल से प्रत्येक जीव वास्तविक सुख आनन्द और शान्ति पाने के लिए भव-भ्रमण कर रहा है। सुख वस्तुनिष्ठ भी होता है और आत्म-निष्ठ भी। वस्तुनिष्ठ सुख भौतिक, क्षणिक एव दु ख परिवेश मे प्रकट होता है तो आत्मनिष्ठ सुख अजर अमर परिपूर्ण एवं आध्यात्मिक है। भौतिक सुखो का सम्बन्ध शरीर अर्थात् इन्द्रियो एव मन से है और पराकाष्ठा पर भी दु.ख ही प्रतीत होता है। धनधान्य, वैभव एवं सौन्दर्य के धनी व्यक्ति भी अन्तत' दु.खी है। दूसरी ओर आत्मा के कल्याण मे लगा साधक हमे दु खी एव असहाय लग सकता है परन्तु सुखी वही है।

जैन संस्कृति के अनुसार जीव का लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है और मोक्ष का एक मात्र मार्ग धर्म है। धर्म के दो भेद हैं—[४]

१. अनगार धर्म

(आगार रहित, तीन करण तीन योग पूर्ण, महाव्रत-धर्म)

२. सागार धर्म (स+आगार)

(आगार सहित, दो करण तीन योग पूर्ण, अणुव्रत-धर्म)

अनगार धर्म मे व्रतो के पालन करते हुए किसी प्रकार की छूट या आगार नही है। श्रमणधर्म मे पाच महाव्रतो को पूर्णत पालन करना है। यह आकाश यात्रा के समान कठिन एव परिषह पूर्ण है।

गृहस्थ का धर्म सागार धर्म है अर्थात् यह साधना का राजमार्ग नही सीमित मार्ग है। यह जीवन की सरल पगडन्डी है। गृहस्थ पर स्वयं, परिवार, समाज और राष्ट्र का उत्तरदायित्व है अतः वह महाव्रतो को पूर्णत. पालन नही कर सकता। श्रावक के व्रत 'अणु' रूप है परन्तु हेय और महत्वहीन नही। वह भी धर्ममय जीवन व्यतीत कर कर्म बन्धन क्षय कर मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। जैनधर्म मे श्रावक का पद जीवन की भूमिका को प्रकट करता है जहा त्याग और भोग, स्वार्थ और परमार्थ, प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुन्दर समन्वय है अत. सुगठित एव व्यवस्थित समाज रचना की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है।

महावीर की वाणी ने किसी विषय को अछूता न छोडा। आज हम प्रगतिशीलता की डीग भले ही हाके, महावीर युग-युगो से आगे थे। उनके सिद्धात आज भी नूतन और व्यवहारिक है। आज समाजकी नसो मे व्याप्त विश्रृखलता, असन्तोष, भ्रष्टाचार सघर्ष एव परिग्रह सिद्ध करते है कि हम भौतिक दृष्टि से सफल भले ही हो, आध्यात्मिकता से कोसो दूर है। यहां हम वाणिज्य-व्यापार सम्बन्धी आचार मूलक निष्ठाओ पर विचार करेगे। जिन पर महावीर ने अपना सन्देश दिया है।

जैन सस्कृति मे विकास का अर्थ आन्तरिक समृद्धि है यदि बाह्य सुख सामग्री आत्म सुख पाने मे

---

४. चरित्त धम्मे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा अगार चरित्त धम्मे चेव अणगार चरित्त धम्मे चेव ॥

— स्थानांग सूत्र

बाधक है तो वह भी हेय ही है परन्तु आज मानव भौतिक एव क्षणिक सुखो के पीछे दीवाना है। आज जमाखोरी, घूस, चोरी, तस्कर व्यापार, काला बाजारी कर-चोरी आदि के घुन समाज की जडे खोखली कर रहे है। अधिक लाभ पाने हेतु वस्तुओ मे और खाद्य पदार्थों मे मिलावट कर कतिपय व्यक्ति शीघ्र ही धनी बनना चाहता है पर ऐसे व्यक्ति वास्तव मे समाज के शत्रु है।

अर्थनीति को स्पष्ट करते हुए महावीर ने बताया कि लाभ की दशा मे गर्व नही करना चाहिए तथा अप्राप्ति पर शोक नही करना चाहिए।[५] इसी प्रकार थोडा लाभ होने पर दुखी नही होना चाहिए।[६]

आज समाज मे धन का समुचित विभाजन नही होने के कारण धनिक वर्ग अधिक धनी और मध्यम वर्ग अधिक निर्धन होता जा रहा है। इसका मूल कारण परिग्रहवाद है। अर्थशास्त्र के अनुसार सम्पत्ति मे उत्पादन के सभी साधनो का समावेश किया जाता है। अत परिग्रह परिमाण व्रत मे जिन मर्यादाओ का उल्लेख है उनमे वे साधन सम्मिलित किये गए है।

मत्स्य उद्योग, मद्यपान, अण्डो का व्यापार, शस्त्र विक्रय कर की चोरी, रिश्वत लेना आदि विषयो पर महावीर ने जो सदेश दिया है उसके अनुसार उपर्युक्त उद्योग एव क्रियाएं पापमूलक हैं और आत्मा को पतन की ओर ले जाते है।[७]

महावीर ने श्रावक धर्म पालन हेतु बारह व्रतो का विधान किया। इनमे पाच अणुव्रत, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तीन गुणव्रत — दिशा परिमाण व्रत, उपभोग परिभोग परिमाण व्रत, अनर्थदण्ड विरमण व्रत और चार शिक्षा व्रत– सामायिक, देशावकाशिक, प्रौषधोपवास एव अतिथि सविभाग व्रत है। इन व्रतो मे वाणिज्य व्यापार की अनेक आचारमूलक निष्ठाए प्रकट होती है। इनसे ध्वनित होता है कि दैनिक जीवन मे व्यापार आदि व्यवसाय करते हुए आचार संहिता का पालन करना चाहिए।

प्रथम व्रत अहिंसा—स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के अतिचारो मे बंधे, वई, छविच्छए, अइभोर भत्तपाण विच्छेए है।

बंधे

पशु-पक्षी तथा नौकर चाकार आदि आश्रित जनो को कष्टदायी बन्धन मे रखना। यह बन्धन शारीरिक, आर्थिक या सामाजिक हो सकता है।

अतिभार

पशु या दास दासी पर सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना। नौकर, मजदूर या अन्य कर्मचारी से इतना अधिक काम लेना कि वे इस भार से पिस जाय।

आज शोषक और शोषित वर्ग का संघर्ष इसी कारण है कि श्रमजीवी वर्ग उचित परिस्थियों अनुकूल वातावरण मे कार्य कर अपना लाभांश भी मागते हैं।

---

५. लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुति न सोइज्जा। आचारांग १।२।५
६. थोव लद्धुं न खिसए। दशवे कालिक ८।२९
७. द्रष्टव्य—औपपातिक सूत्र एव वियाक सूत्र

भत्तपाण विच्छेए

नौकर आदि से अधिक कार्य लेना और तदनुरूप भोजन या वेतन न देना। समय पर वेतन न देना, आजीविका मे व्यवधान उपस्थित करना तथा वेतन मे अनुचित कटौती करना।

आधुनिक हड़ताले, सघर्ष और तालाबन्दी का यही कारण है।

द्वितीय व्रत स्थूल मृषावाद विरमण व्रत

श्रावक का कर्त्तव्य है कि दुर्भावना एव मानसिक चिन्तन में असत्य का सहारा न लें। मृषावाद के पाच भेद है—

१. कन्यालीक—वैवाहिक सम्बन्ध के समय कन्या की आयु, स्वास्थ्य, वाणी, शिक्षा के बारे मे दूसरो को धोखा देना।

२ गवालीक—गाय, भैंस आदि का क्रय-विक्रय करते समय उनकी दुग्ध-क्षमता एवं कार्य-क्षमता के बारे मे असत्य भाषण।

३. भूम्यलीक—कृषि, निवास आदि भूमि के विषय मे वस्तु स्थिति को छिपाना।

४. स्थापना मृषा—किसी की धरोहर को दबाना। किसी सस्था या सार्वजनिक कार्य के लिए सग्रहीत राशि को तत्सम्बन्ध मे व्यय न कर निजी या वैयक्तिक कार्यों मे लगाना।

५ कूट साक्षी—लोभ वश झूठी साक्षी देना। जाली दस्तावेज जाली हस्ताक्षर मुद्रा या मोहर बनाना। जाली नोट या सिक्के बनाना भी इसी श्रेणी मे आता है।

आज झूठ का सहारा लेकर अनुचित कार्य हो रहे है। झूठे दस्तावेज, जाली नोट, खोटे सिक्के आए दिन अपना परिचय दे रहे हैं। कुछ समय पूर्व जाली नोट और सिक्के बनाने वाले गिरोह सरकार द्वारा पकडे गए है।

तृतीय अचौर्य व्रत

श्रावक का तीसरा व्रत स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत है। इसके नीचे लिखे रूप है—

दूसरे के घर सेंध लगाना।
ताला तोडना। दूसरी चाबी लगाना।
बिना पूछे दूसरे की वस्तु लेना।
यात्री को लूटना। डाके डालना।
राजकीय कर की चोरी।
व्यापार मे बेइमानी।

इस व्रत के अतिचार है—

१ स्तेनाहृत—चोरी की वस्तु खरीदना या उसे घर मे रखना।

२. तस्कर प्रयोग—आदमी रखकर चोरी, डकैती, ठगी या तस्करी करना।

३. विरुद्ध राज्यतिक्रम—आयात-निर्यात के राज्य नियमों का अतिक्रमण करना।

४ कूट तुला कूट मान—नाप तथा तोल में बेईमानी।

५ तत्प्रतिरूपक-व्यवहार—वस्तु मे मिलावट या अच्छे सेंपल (नमूना) दिखाकर। भेजकर घटिया पदार्थ देना।

जरा चारों ओर दृष्टिपात करे तो हम पाएगे कि खाद्य पदार्थ, औषधिया, पेय पदार्थों मे मिलावट आज की मुख्य समस्या है। विषमिश्रित मद्य, धतूरा मिश्रित तेल सादृश्य या घटिया वस्तु मूल्यवान

पदार्थ में मिलाने के परिणाम स्वरूप परिवार के परिवार एव गाव तक काल कवलित हो जाते है या उन्हे असाध्य रोग जकड़ लेते हैं। ऐसे समाचार प्राय मिलते रहते हैं।

चोरी डकैती के वैज्ञानिक तरीके, आयकर व (Incom Tax) विक्रय कर (Sales Tax) आदि को बचाने के दावपेच एव आयात-निर्यात के नियमो का अतिक्रमण आज राष्ट्रीय विकास मे बाधक है।

चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रत :

श्रावक का चौथा व्रत ब्रह्मचर्य है। शारीरिक एव वैयक्तिक विकास के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता पर जोर देकर महावीर ने सामाजिक सदाचार का आदर्श प्रस्तुत किया है।

पांचवां परिग्रह परिमाण व्रत :

अपने धन-सम्पत्ति, खेत, मकान, स्वर्ण-रजत आभूषण, नौकर—चाकर, धान्य, बर्तन आदि की मर्यादा निश्चित करना परिग्रह परिमाण व्रत है।[८] सग्रह प्रवृत्ति से पदार्थों के प्रति ममत्त्व तो होता ही है साथ ही अन्य व्यक्ति के लिए अभाव भी पैदा होता है। परिग्रह के मूल मे इच्छाओं का अनियन्त्रण है क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है।[९] अनावश्यक पदार्थों का सग्रह न कर हम इच्छाओ को सीमित करे तो वास्तविक सुख के द्वार खुल जाते है।

छटा दिग्व्रत—दिशा परिणाम व्रत :

प्रस्तुत व्रत मे व्यापार या अन्य कार्यों के लिए क्षेत्र की मर्यादा का विधान है। ऊंची, नीची एव चारो तिरछी दिशाओ की मर्यादा कर श्रावक तदानुसार अपना जीवन यापन करता है और उनका अतिक्रमण नही कर सकता।

सातवां—उपभोग परिभोग परिमाण व्रत :

इस व्रत मे उपभोग और परिभोग के पदार्थों की मर्यादा की जाती है, उपभोग का अर्थ है—भोजन पानी आदि पदार्थ जो एक बार ही काम मे आते है। परिभोग का अर्थ है-वस्त्र-पात्र, शय्या प्रभृति पदार्थ जो अनेक बार काम मे लाऐ जाते हैं।[१०] साथ ही श्रावक को ऐसे व्यापार नहीं करने चाहिए जिनसे अधिक हिंसा हो। इन व्यापारो से उत्कट ज्ञानावरणीय कर्म का बन्धन होता है अत इन्हे कर्मादान कहा है।

अहिंसा जैनधर्म का प्राण है और श्रावक जीवों की हिंसा नही कर सकता। भोजन, सब्जी, फल फूल आदि की मर्यादा की हुई हो तो दूसरे को अपना भाग मिलेगा और हिंसा कम होगी ही।

आठवां—अनर्थ दण्ड विरमण व्रत :

निष्प्रयोजन लगने वाली हिंसा से बचना ही अनर्थ दण्ड है। व्यर्थ ही होने वाली शारीरिक क्रियाओ और चेष्टाओ पर अनुशासन करने से हम हिंसा से बचते है। चलते हुए किसी फूल को तोडना मसल देना, हिंसा के उपकरण रखना, हिंसात्मक कार्यों के लिए सहायता करना, पैरो मे दूब को कुचलना आदि ऐसी क्रियाये है जिनसे व्यर्थ ही हमें हिंसा का निमित्त बनना पडता है।

---

८. द्रष्टव्य—प्रतिक्रमण सूत्र सार्थ-अ. मै. सेठिया जैन पारमार्थिक सस्था।

९. इच्छाहु आगासभा अणतए (उतराध्यन सूत्र अ)।

१०. भगवती सम. श. ७३.२.

छठे, सातवें, आठवें व्रत मे व्यक्ति को बाह्य चेष्टाओं पर नियन्त्रण का निर्देश है तो नवें से बारहवें चार व्रत आन्तरिक शुद्धि के लिए हैं।

सामायिक व्रत :

समभाव की प्राप्ति हेतु सामायिक करते हैं। जीवन मे हानि, लाभ, यश, अपयश, प्रेम, बैर आदि विषम परिस्थितियो मे भी जो समभाव बना रह सके धन्य है। अभ्यास क्रम से ऐसी स्थिति प्राप्त करना कठिन नही। हमे एतदर्थ मन मे बुरे विचार नही लाने चाहिए और कठोर वचन का त्याग करना चाहिए।

देशावकाशिक व्रत :

इस व्रत में श्रावक को साधु जैसी चर्या का पालन करना पडता है। सामायिक मे दो घडी का समय ही धार्मिक अनुष्ठान मे लगाया जाता है। इसमे साधक निश्चित काल के लिए क्षेत्र की मर्यादा करता है। उसके बाहर किसी प्रकार की प्रवृत्ति नही करता।

पौषधोसवास व्रत

धर्म स्थान मे रहकर उपवास करना पौषधावास व्रत है। यह दिन रात अर्थात् आठ प्रहर का होता है।

अतिथि संविभाग व्रत :

संविभाग का अर्थ है अपनी सम्पत्ति या भोग्य वस्तुओं मे विभाजन करना अर्थात् दूसरे को देना। अतिथि के लिए इस प्रकार प्रावधान रखना अतिथि संविभाग व्रत है।

इस प्रकार हम देखते है कि महावीर ने वाणिज्य व्यापार की आचार मूलक निष्ठाओ के प्रति जागरूक रहने का संदेश दिया हैं।

सातवें अंग सूत्र उपासक दशांग सूत्र मे महावीर के आदर्श श्रावकों का वर्णन है। आनन्द श्रावक का जीवन तत्कालीन वाणिज्य-व्यवसाय पर प्रकाश डालता है।

इस दिव्य-विभूति की यह वाणी सदा स्मरण रखने योग्य है कि जब तक वार्धक्य न घेरले, इन्द्रिया अशक्त नही हो जाय, धर्माचरण करते रहना चाहिए।[11]

अन्त में यही कहना है कि महावीर के जीवन दर्शन का सार यही है कि किसी प्रकार हिंसा न की जाय। अहिंसा एव सयम जीवन का सार है —

एयं खु नानिणो सारं जं न हिंसाई किं चन।
अहिंसा संयम चेव एसावन्त वियाणिया।

११. जरा जाव न पीडेइ, वारी जाव न वडढई। जाविंदिया न रामन्ति, ताव धम्मं समायरे॥

३१

मुद्रित कुमुदचन्द्र प्रकरण : एक अन्तः परीक्षण

☐ प्रो० डा० गुलाबचन्द्र चौधरी

[लेखक ने प्रस्तुत लेख में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इस प्रकरण में किसी कुमुदचन्द्र नाम धारी दिगम्बर वादी का निराकरण नही किया गया बल्कि वादि देव सूरि ने अपनी समानान्तर रचना स्याद्वाद रत्नाकर द्वारा दिगम्बर प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुद चन्द्र के प्रचार-प्रसार की कमी करदी और उसकी स्त्री मुक्ति विरोध का करारा जवाब प्रस्तुत किया जिसे इस साम्प्रदायिक रूपक मे दो मम्प्रदाय के आचार्यों की जय पराजय द्वारा दिखाया गया है। पर यह विवाद कोई ऐतिहासिक घटना नही है, इसलिए यह कोई ऐतिहासिक नाटक नही है]।

मुद्रित कुमुदचन्द्र एक लघु प्रकरण[1] (रूपक नाटक) है, जिसमे पाच अक है। इस प्रकरण मे श्री देवसूरि (देवाचार्य) नामक श्वेताम्बराचार्य द्वारा चौलुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज के दरबार मे किसी दिगम्बर जैन वादी कुमुदचन्द्र की स्त्रीमुक्ति विषय पर पराजय का अभिनय किया गया हैं।

इसके कर्त्ता धर्कट वशीय पद्मचन्द के पुत्र यशश्चन्द्र हैं जिनका समय अज्ञात है। इस प्रकरण की प्रस्तावना से मालूम होता है कि वे एक गृहस्थ थे क्योकि उन्होने सपादलक्ष देश मे किसी शाकम्भरी नरेश द्वारा अभ्युन्नति प्राप्त की थी और उनके पितामह शाकम्भरी नृप के राजसेठ थे। वे अनेक प्रबन्धो के रचयिता भी थे, पर इस कृति के सिवाय उनकी अन्य कृतिया अभीतक नही मिली।

यद्यपि कर्त्ता का समय ज्ञात न होने से इसे हम देव सूरि की समकालिक रचना नही कह सकते फिर भी यह वि०स० १३३४ से पहले की रचना अवश्य है क्योकि उक्त वर्ष मे निर्मित प्रभावकचरित मे वादि देव सूरिचरित मे इस प्रकरण से ६ पद्य (६२, ६४, ६६, १६६, १६८, २०७, २०६, २१४ और २३४) तथाहि, तद्यथा, उक्त च आदि द्वारा उद्धृत किये गये हैं और उसकी परवर्ती रचना प्रबन्ध चिन्तामणि मे भी ८ पद्य उद्धृत किये गये है।

इस नाटक की कथावस्तु सक्षेप मे इस प्रकार है। प्रथम अंक मे प्रस्तावना के बाद शुद्ध विष्कम्भक मे देवसूरि और कुमुदचन्द्र के बीच अमर्ष के सूत्रपात होने की सूचना मिलती है। जिसे आगे हम कुमुदचन्द्र पक्षीय बन्दी राजसाधार और देवसूरि के बीच आक्रोश पूर्ण बहस में देखते है। उसमे कुमुद-

---

१. यशोविजय जैन ग्रन्थमाला (सं. ८), वी. सं. २४३२

चन्द्र को ८४ विवादों का विजेता बतलाया गया है। दूसरे अंक मे प्रारम्भ मे शुद्ध विष्कम्भक मे दोनों पक्ष के तटस्थ शिष्य अशोक और मकरन्द के बीच सम्वाद से ज्ञात होता है कि कुमुदचन्द्र पर एक वृद्ध आर्यिका को विट गोष्ठी मे नचाने का आरोप है और कर्णावती से देवसूरि ने अणहिल्लपुर के श्रमणसंघ के पास सूचना दी कि वे कुमुदचन्द्र से विवाद करेगे। इस पर वहा से श्रमणसघ ने उन्हे अणहिल्लपुर आने का निमन्त्रण दिया। इसके बाद देवसूरि पक्षीय वैतालिक ने कुमुदचन्द्र के साथ गरमागरम बहस की। तृतीय अ क के विष्कम्भक मे मालूम होता है कि कुमुदचन्द्र को विवाद का नोटिस दिया गया है। कुमुदचन्द्र के वाद-सामर्थ्य के कारण देवसूरि के पक्ष मे पराजय की सम्भावना पर बडी घबडाहट है। 'राजदरबार में पैरवी चल रही है। राजा जयसिह सिद्धराज ने कुमुदचन्द्र और देवसूरि को दरबार मे बुलाया है और सभ्य व्यवस्था की है। न्यायालय मे विवाद सम्बन्ध लिखाने की व्यवस्था की जा रही है। इसके बाद न्यायालय मे मन्त्री गागिल और देवसूरि के बीच गरम बाते चलती है जिससे ज्ञात हुआ कि मन्त्री उन पर कुपित है और राजा से कहने वाला है कि श्वेताम्बराचार्य विवाद करने मे अयोग्य है।

चतुर्थ अ क के प्रारम्भ मे विष्कम्भक मे सूचना मिलती है कि श्रीपालकवि इस घटना से चिन्तित हैं वे राजा के प्रतिहार से बात करते है कि राज को उक्त बातो की सूचना है और उसने बीच मे पड़कर विवाद सम्बन्ध न्यायालय मे लिखवा दिया है और वाद-व्यवस्था की है। प्रतीहार ने आशका की है कि कुमुदचन्द्र के पक्ष द्वारा मन्त्री को लाख घूस दी गई है। इसके बाद देवसूरि और श्रीपाल कवि के सम्वाद से विवाद व्यवस्था के प्रति हर्ष और राजा का स्वदेशज के प्रति पक्षपात एव उसकी विजयाकाक्षा के लिए सन्तोष प्रकट किया गया।

पंचम अ क मे विष्कम्भक द्वारा श्रीपाल कवि का सुबह ही राजा से मिलने जाना सूचित होता है। इसके बाद दरबार मे कुमुदचन्द्र और देवसूरि अपने पक्ष के लोगो के साथ उपस्थित होते है। फिर सभ्य, सभापति वादी, प्रतिवादी की व्यवस्था पूर्वक विवाद का अभिनय प्रारम्भ होता है। कुमुदचन्द्र को वादी मानकर प्रयोग करने को कहा गया, पर किस प्रकार प्रयोग किया गया इसकी तनिक भी सूचना नही। देवसूरि ने इसे दूषित किया (पर किस प्रकार किया, यह वहा सूचित नहीं)। हा, उसने इतना अवश्य निर्देश किया कि वादी को दो कार्य करने होते है एक तो परपक्षविक्षेप और दूसरा स्वपक्षसिद्धि। इसके बाद स्त्रीनिर्वाण सिद्धि के प्रयोग की सूचना दी गई। (पर वह किस रूप मे हुआ इसका कुछ भी रूप नही दिया गया) कुमुदचन्द्र ने उक्त प्रयोग दो बार पूछा और फिर दूषित किया (पर किस तरह किया, इसका भी थोडा सकेत वहा नही)। देवसूरि ने कहा (अस्य भवम्द्रपितस्य अनव बोध एवोन्तरम्' अर्थात्, आपके कथन का न समझना ही उत्तर है। कुमुदचन्द्र ने उसे कटिभ (पाटिये) पर लिखने को कहा तब उसे देवसूरि ने गुरुशिष्य व्यवहार कहकर टाल दिया और तभी महर्षि नामक सभासद (सभ्य) ने वादकथा को समाप्त बतलाकर दिग० कुमुदचन्द्र की हार घोषित कर दी। फिर भी राजा के अनुरोध से पटिये पर प्रयोग लिखा गया (क्या लिखा गया, सूचित नही)। जिसे कुमुदचन्द ने दूषित किया (किस प्रकार किया वह भी सूचित नही)। इसका परिहार कर अपने पक्ष की स्थापना पूर्वक (वह भी किस प्रकार थी सूचित नही) देवसूरि ने कोटाकोटि शब्द का प्रयोग किया। उसे कुमुदचन्द्र ने अपशब्द बतलाया पर उत्साह नामक सभ्य ने उसे पाणिनि व्याकरण सम्मत बतवाया और देव सूरि ने शास्त्र का उद्धरण देकर कुमुदचन्द्र को चुप कर दिया। कुमुदचन्द्र ने घबडा कर देवसूरि की विजय स्वीकार करली। इससे

दरबार में हर्ष का वातारण छा गया। अन्त में दैवीतत्व-योगिनी– वज्रागंला – को आविष्कृत कर बतलाया गया कि उसने कुमुदचन्द का चेहरा स्याही से रंग दिया था और उसे निरुत्तर बना दिया था अन्त मे राजा द्वारा देवसूरि की प्रशसापूर्वक नाटक की समाप्ति की गई।

इस प्रकरण की कथावस्तु को और कुछ जोड वृद्धि कर प्रभावक चरित्र मे देव सूरि चरित्र की प्रमुख घटना के रूप मे प्रस्तुत किया गया है और बतलाया गया है कि यह विवाद वि स ११८१ मे वैशाख पूर्णिमा के दिन हुआ था।[२] प्रबन्ध[३] चिन्तामणि मे इसे १६ दिन तक चलने वाला विवाद बतलाया है। मुद्रित कुमुदचन्द्र और प्रभावक चरित्र के अनुसार इस विवाद की व्यवस्था मे श्वेताम्बर श्रावक कवि श्रीपाल को प्रमुख भाग लेते दिखाया गया है जबकि प्रबन्ध चिन्तामणि मे उसका नाम भी नही। उनकी जगह वहा हम आचार्य हेमचन्द्र को प्रमुख रूप मे भाग लेते देखते है। जबकि मुद्रित कु. च. और प्रभावक चरित मे उन्हे उक्त प्रसग मे कही भी भाग लेते नही दिखाया गया। वह विवाद जयसिंह के दरबार मे हुआ था। इस विषय मे उक्त तीनो ग्रन्थ सहमत है।

इस घटना को, उक्त प्रकरण मे तथा अर्ध इतिहास समकक्ष ग्रन्थ-प्रभावक चरित्र और प्रबन्ध चिन्तामणि मे वर्णित पाकर, प्राय· सभी विद्वानो ने एक ऐतिहासिक घटना माना है और इसके प्रतिवादी श्वेताम्बर देवसूरि का साम्य उन वादिदेव सूरि मे स्थापित किया है जिनने स्याद्वाद रत्नाकर व्याख्या सहित प्रमाणनय तत्त्वालोकालकार नामक विशाल न्यायग्रन्थ लिखा है। उस ग्रन्थ के आठवें अध्याय मे वादविधि का वादि. प्रतिवादि, सभ्य और सभा पति चार अंगों का सागोपांग वर्णन है। संभवतः उक्त प्रकरण के पांचवे अंक की वाद व्यवस्था में उसका प्रयोग प्रदर्शित किया गया है। सभापति के राजा जयसिंह भी वादिदेव सूरिके समकालीन चौलुक्य नृप जयसिंह सिद्धराज ही है। देवसूरि का जन्म वि. स, ११४३ मे दीक्षा वि.स. ११५२ और सूरिपद ११७४ मे और स्वर्गवास वि.सं. १२२६ मे हुआ था। उनके समवयस्क जयसिंह का जन्म भी वि स ११४३ मे राज्यपद वि स. ११५० मे और मृत्यु विस. १२६० मे हुई थी। इन दोनों से दो वर्ष छोटे तथा समकालीन प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र थे, जिनका जन्म वि सं. ११४५ में, दीक्षा वि सं ११५४ मे और आचार्य पद वि स. ११६६ मे और मृत्यु वि. सं. १२२९ मे हुई थी। यदि उक्त विवाद को प्रभावक चरित्र के अनुसार वि स. ११८१ मे हुआ माने तो उस समय देवसूरि और राजा जयसिंह की उम्र ३८ वर्ष की तथा हेमचन्द्र की ३६ वर्ष की रही होगी। हेमचन्द्र को उस समय तक आचार्यपद पाये १५ वर्ष के लगभग हो चुके थे और देवसूरि को केवल ७ वर्ष। प्रबन्धचिन्तामणि मे हेमचन्द्र और कुमुद चन्द्र को टकराते हुए कहा है कि हेमचन्द्र उस समय किंचिद्वयति क्रान्त शैशवा थे और कुमुचन्द्र ज्यायान् और जरातरलितमति थे परन्तु ३३ वर्षीय हेमचन्द्र के प्रति उक्त कथन संभव नही। फिर जयसिंह के दरबार में उक्त घटना के समय हेमचन्द्र के भाग लेने की बात मु, कु. च. तथा प्रभावक चरित्र में नही मानी गई। आधुनिक विद्वानो का मत है कि उस समय तक हेमचन्द्र और जयसिंह मे कोई सम्पर्क न था। वह तो जयसिंह की मालवा विजय वि. सं. ११९२-९३ के बाद ही विशेष रूप से हुआ।

---

२. प्र. च. (सि. जैन ग्र०) पृ० १७८

३. प्र. चि. (सि. जैन ग्र०) पृ० ६८

सम्भवत उसके कुछ पूर्व सामान्य रूप से हुआ हो। फिर यह विवाद हेमचन्द्र के सामने होता तो वे अपने किसी ग्रन्थ मे प्रत्यक्ष या परोक्षरीति से अवश्य उल्लेख करते सो ऐसा कही दिखता नही। इसलिए हेमचन्द्र के विशेष रूप से भाग लेने की बात केवल प्र. चिन्तामणिकार की कल्पना ही है।

इस प्रकरण के ऐतिहासिक होने मे जिस प्रकार एक और देवसूरि और नृप जयसिंह की समकालिकता एक सम्भावना है उसी तरह दूसरी ओर दिगम्बरवादी कुमुदचन्द्र की पहिचान और समकालिकता भी होना चाहिए। पर अब तक उसकी स्थापना का कोई प्रयत्न नही हुआ। उक्त प्रकरण के पृष्ठ ८ मे दिगम्बर कुमुदचन्द्र को 'चतुरासीनि विवाद विजयार्जितोऽर्जित यश, वादीन्द्र तथा कुन्तल, चोल, गौड, वंग, नैषध आदि अनेको देशो के विद्वानो का मानमर्दन करने वाला कहा है पर आश्चर्य है कि वादिदेव के समकालीन (वि स ११४३–१२२६ के बीच) दिगम्बर सम्प्रदाय मे इस नाम के किसी आचार्य का पता नही लगता और न पाडित्य को प्रकट करने वाली कृति का। वादिदेव सूरि की कृत्ति मे उक्त नाम से किसी आचार्य का खण्डन भी नही निदिष्ट है और न आचार्य हेमचन्द्र की भी कृतियो मे। यदि उक्त विशेषणो से विशिष्ट कोई आचार्य होते, जिनके नाम से श्वेताम्बराचार्य को अपने समय मे आतंकित होना पडा था तो ऐसे प्रभावशाली वादी का दिगम्बर सम्प्रदाय मे भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे अवश्य एक ही नही, अनेक बार उल्लेख मिलता। यद्यपि बहुत खोज के बाद, वादिदेव सूरि की मृत्यु के लगभग ६८ वर्ष बाद वि. स. १२९२ के लगभग 'प्रतिष्ठा कल्पटिप्पण' या 'जिन सहिता' ग्रन्थ के कर्त्ता एवं कर्नाटक देशीय माघवनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य एक कुमुदचन्द्र' कुमुदेन्दु भट्टारक' का नाम सुनाई देता है जिन्होने अपने ग्रन्थ की पुष्पिका मे चतुर्विध पाण्डित्य चक्रवर्ति श्री वादि कुमुदचन्द्र मुनीन्द्र कहा है।[४] पर एक तो ये वादिदेव सूरि के बहुत पश्चाद्वर्ती है और दूसरे दिगम्बर सम्प्र० मे इनकी वाद विषयक कोई ख्याति नही। ये प्रतिष्ठा कराने वाले भट्टारक प्रतीत होते हैं। जो उस समय बडी–बडी उपाधिया धारण करने लगे थे। हा, यदि काल व्यति क्रम से इन्हें ही वादिदेव सूरि से टकरा देने की पश्चात्‌कालीन लेखकों की कल्पना हो तो इसे ऐतिहासिकता नही कह सकते।

पर जो हो, मुद्रित कुमुदचन्द्र से एक अन्य रहस्य का उद्घाटन होता है, वह यह कि उक्त रूपक मे कुमुदचन्द्र नाम से कही दिग० प्रभाचन्द्र कृत–'न्यायकुमुदचन्द्र' नामक ग्रन्थ के मुद्रित (चुप) करने की घटना का तो अभिनय इस रूपक द्वारा चित्रित किया गया हो क्योकि वादिदेव सूरि के स्याद्वाद रत्नाकर न्यायकुमुदचन्द्र का विशेष नामोल्लेख पूर्वक खण्डन किया गया है। इतना ही नहीं स्याद्वाद रत्नाकर न्यायकुमुदचन्द्र से अधिक उद्धलित हुआ है। स्वर्गीय प० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य के शब्दो मे "वादि देवसूरि के स्याद्वाद रत्नाकर को प्रभाचन्द्र के ग्रन्थो के प्रकाश मे पढने पर पाठक को पता चलता है कि प्रभाचन्द्र के ग्रंथों से रत्नाकर मे कितना आदान किया गया है। रत्नाकर के सम्बन्ध मे यहा यह लिख देना आवश्यक है कि न्याय कुमुदचन्द्र के बहुत अंश वहा आनुपूर्वी से ज्यो के त्यो पाये जाते हैं और न्याय कुमुदचन्द्र के संशोधन मे हमे उनसे बहुत सहायता मिली है"

पर न्याय कुमुदचन्द्र और स्याद्वाद रत्नाकर की रचना मे समकालीकता नही है, पूर्वा परता

४. प० नाथूराम प्रेमी जैन साहित्य और इतिहास, प्र० सं० पृ० ५३४ टिप्पण।

अवश्य है। दोनों की रचना एक नामधारी दो राजाओ के राजकाल मे अवश्य हुई है। न्याय कुमुदचन्द्र की रचना धारा नरेश जयसिंह देव परमार (वि. स १११२–१६) के राज्यकाल मे हुई थी[५] और उसके पश्चात् चौलुक्य जयसिंह सिद्धराज के राज्यकाल (सं ११५२–१२००) मे स्याद्वाद रत्नाकर की रचना हुई थी।

उस काल में श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय मे तनाव या मौलिक मतभेद के आधारभूत दो सिद्धान्त माने जाते थे, एक स्त्री निर्वाण और दूसरा केवलि कवलाहार। न्याय कुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र से पहले इन सिद्धातो का निषेध और विधि दोनो सम्प्रदाय के आगमिक ग्रंथो मे ही देखे जाते थे किन्तु प्रभाचन्द्र ने अपने दोनो ग्रंथ— प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्याय कुमुदचन्द्र मे पूर्व पक्ष स्थापन और उनका खण्डन करके दार्शनिक क्षेत्र में भी इस विवाद को स्थान दिया।[६] सम्भवत: इसमे, सम्प्रदाय मोही अनुयायियो मे प्रतिस्पर्धा की भावना तीव्र हुई। इसके बाद श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अभय देवसूरि और वादिदेव सूरि ने प्रभाचन्द्र के मार्ग का अनुसरण कर उन दोनो सिद्धान्तों के सम्बन्ध में दिगम्बर मान्यता का खण्डन कर श्वेताम्बर पक्ष की स्थापना की। इतना ही नही श्वेताम्बर समाज में प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्याय कुमुदचन्द्र जैसे सबल ग्रंथों के अनुसरण पर समानान्तर कृति द्वारा उनके प्रचार प्रसार को गुजरात व उसके पडौस क्षेत्र मे मुद्रित करने का प्रयास हुआ। साहित्य जन मानस का प्रतिबिम्ब होता है और पश्चात काल में इस घटना का ही रूपक जय पराजय के रूप मे साम्प्रदायिक मानस को सन्तोष देने के लिए मुद्रित कुमुदचन्द्र जैसे प्रकरण रूप मे प्रस्फुटित हुआ जिसमे कुमुदचन्द्र और वादिदेव सूरि को टकरा देने जैसी कल्पना का चित्रण हुआ।

पर भारतीय साहित्य के क्रमिक विकास को तटस्थ भाव से देखने वाले मनीषियो से यह बात छिपी नही रही। साहित्य मे तो परस्पर आदान प्रदान से ही उसकी श्री वृद्धि हुई है। जैन न्याय के क्रमिक विकास क्रम को दिखाते हुए स्वय प. महेन्द्र कुमार ने लिखा है 'प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्याय कुमुदचन्द्र के तीक्ष्ण एव आल्हादक प्रकाश मे जब हम स्याद्वाद रत्नाकर को तुलनात्मक दृष्टि से देखते है तो वादिदेव सूरि की गुणग्राहिणी सग्रह दृष्टि की प्रशंसा किए बिना नही रह सकते। इसकी संग्राहक बीजबुद्धि प्रमेयकमल मार्तण्ड तथा न्याय कुमुदचन्द्र से अर्थ, शब्द और भावो को इतने चेमत्कारक ढंग से चुन लेती है कि अकेले स्याद्वाद रत्नाकर के पढ लेने से उक्त दोनो ग्रंथो का यावद्विषय विशद रूप से अवगत हो जाता है। वस्तुत: स्याद्वाद रत्नाकर उक्त दोनो ग्रन्थो के शब्द अर्थ रत्नों का सुन्दर आकार ही है। यह ग्रन्थ मार्तण्ड (प्रमेयकमल०) की अपेक्षा चन्द्र (न्याय कुमुद०) से ही अधिक उद्वेलित हुआ है। प्रकरणों के क्रम और पूर्व पक्ष तथा उत्तर पक्ष के जमाने की पद्धति मे कही कही तो न्याय कुमुदचन्द्र का इतना अधिक शब्द सादृश्य है कि दोनो ग्रन्थ की पाठशुद्धि में एक दूसरे का मूल प्रति की तरह उपयोग किया जा सकता है"[७]

५. यह बात न्याय कुमुदचन्द्र की प्रशस्ति से ज्ञात होती है।
६. न्याय कुमुदचन्द्र भाग १ की प्रस्तावना पृष्ठ १२
७. न्याय कुमुदचन्द्र द्वितीय भाग प्रस्तावना, पृष्ठ ४१

स्याद्वाद रत्नाकर स्वयं में स्वनिर्मित प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार नामक सूत्र ग्रन्थ की विस्तृत व्याख्या है। 'उक्त सूत्र ग्रन्थ दिग० माणिक्यनन्दि कृत परीक्षामुख सूत्र का अपने ढग से लिखा गया दूसरा संस्करण ही है। इसमे परीक्षा मुख के ६ परिच्छेदो का विषय ठीक उसी क्रम से अपने सूत्र के आग ६ परिच्छेदो मे यत्किंचित् शब्द भेद तथा अर्थभेद के साथ ग्रथित किया गया है। परीक्षा मुख के अतिरिक्त इसमे नय परिच्छेद और वाद परिच्छेद नामक दो परिच्छेद और जोड दिये गये है।'[८] वास्तव मे अपने सूत्र और टीका ग्रन्थों द्वारा देवसूरि की महत्वपूर्ण देन उक्त ग्रंथ का आठवां परिच्छेद-वादनिधि है जिसमे भारतीय वाद विवाद पद्धति के उस काल तक विकसित रूप के सागोपयाग दर्शन हो जाते है। सभवतः इसी कारण से देवसूरि को वादिदेव सूरि नाम से ख्याति मिली।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश मे मुद्रित कुमुदचन्द्र की रचना के रहस्य उद्घाटन की एक व्याख्या ही प्रस्तुत की गई है।

●●●

ध्यान

ध्यान-लीन साधक समर्थ-
होता हर दोष-निवारण में
सब दोषों-अतिचारो का
प्रतिक्रमण ध्यान से सभव
है।

—अर्हंत

८. प्रमेयकमल मार्तण्ड की प्रस्तावना पृ. ४८

३२

प्राकृत साहित्य और लोक संस्कृति

□ डा० प्रेम सुमन जैन

प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य से लोक संस्कृति का सम्बन्ध स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। साहित्य का लोकजीवन से सम्बन्ध बनाये रखने के लिए प्राकृत की प्रत्येक अवस्था एवं विधा ने कार्य किया है। जनसाधारण के निश्चल हृदय से जो भाषा फूटती है उसमे और उसके दैनिक सरल व्यवहारों मे कोई अन्तर होने की सम्भावना नहीं है।

प्राकृत साहित्य के लोक संस्कृति से ओत-प्रोत होने मे एक कारण यह भी है कि प्रायः प्राकृत साहित्य का सम्बन्ध लोकधर्म से रहा है। यह कहना अप्रासंगिक नही होगा कि श्रमणधर्म ग्राम्य-जीवनप्रधान संस्कृति का पोषक रहा है अतः उसके आचार्यों ने लोकभाषाओं को अपनाया। साहित्य मे साधारण कोटि के चरित्रों को उभार कर अभिजात वर्ग का नामकत्व समाप्त किया तथा धार्मिक क्षेत्र मे इन्द्र आदि देवताओं को तीर्थङ्करो का भक्त बताकर मनुष्य जन्म को देवत्व से श्रेष्ठता प्रदान की। इतना ही नही, प्राकृत साहित्यके माध्यम से सभी लोककलाओं की सुरक्षा हुई है।

लोकसंस्कृति के अन्तर्गत यद्यपि अनेक तत्व समाहित होते हैं। विद्वानो मे इस सम्बन्ध मे मतैक्य नहीं है अतः प्राकृत साहित्य ने लोकसंस्कृति के जिन प्रमुख तत्वों को उभारकर प्रस्तुत किया है उन्ही पर विवेचन करना उपयुक्त होगा। इस दृष्टि से १ लोकसाहित्य, २ लोकभाषा, ३. लोकजीवन ४. लोकविश्वास, ५. लोककला तथा ६. लोक-चिकित्सा इन प्रमुख छह केन्द्रबिन्दुओं पर प्राकृत साहित्य के परिप्रेक्ष्य मे विचार किया जा सकता है।

१. लोकसाहित्य

लोक साहित्य लोकवार्त्ता का एक महत्वपूर्ण भाग है इसके अन्तर्गत यद्यपि विद्वानों ने अनेक विषयो को सग्रहीत किया है, किन्तु वे सब लोक की विभिन्न अभिव्यक्तिया ही है। अत व्यक्तित्व से रहित समानरूप मे समाज की आत्मा को व्यक्त करने वाली मौलिक अभिव्यक्तिया लोकसाहित्य की श्रेणी मे आती हैं।[1] इन अभिव्यक्तियो को निम्न भागो मे बाटा जा सकता है—धर्मगाथा (लोकगीत), लोककथा, लोकोक्तिया, पहेलिया आदि। प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य मे इन सभी तत्वों का समावेश है।

धर्मगाथा—प्राकृत साहित्य का गाथा से निकट का सम्बन्ध है। उसका बहुत सा भाग गाथाबद्ध ही

१. भारतीय लोक साहित्य पृ. २२।

है। साहित्य रचना में गाथा का प्रयोग प्राकृत साहित्यकारो ने लोक से ही ग्रहण किया हैं। क्योकि लोक मे सरलता से गाये जाने और कंठ से कंठ तक स्मरण बनाए रखने मे पद्यो का प्रयोग बहुप्रचलित था। प्राकृत की गाथाओं की यह अर्थवत्ता ही आज के लोकगीतो की उत्सभूमि है। धीरे-धीरे गाथाओं मे लोक के अनेक आख्यान भी गाये जाने लगे। गाथाओ मे निबद्ध अनेक प्राकृत लोककथाए उपलब्ध हैं। इन्ही प्राकृतकथाओ के गाथारूप से मध्यकालीन व आधुनिक लोकगीतों मे आख्यान कहे जाने की परम्परा विकसित हुई प्रतीत होती है, जिन्हें आज भी लोकगाथा के नाम से पुकारा जाता है।

लोककथा—प्राकृत एव अपभ्रंश कथा साहित्य मे लोककथा के अनेक तत्व विद्यमान है। क्योकि इन कथाओ की उत्सभूमि ही लोकजीवन है। साहित्य का लोक से सम्बन्ध बना रहे इसके लिए प्राकृत कथाकारो ने जो कुछ भी कहा है उसे समूह की वाणी बनाकर और जन-समूह मे घुल-मिलकर। यही कारण है कि उनकी कथाओ मे लोकधर्म, लोकचित्र और लोकभाषा लोककथा के ये तीनो तत्त्व विद्यमान है। इनकी प्रचुरता का कारण यह भी है कि प्राकृत कथाकारो का मुख्य उद्देश्य जन-जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक स्तर को ऊचा उठाना था। अतः उन्होने बिना किसी भेद-भाव के लोक जीवन मे प्रचलित कथाओ को ग्रहण कर उन्हे धार्मिक एवं उपदेशात्मक शैली मे प्रस्तुत कर दिया किन्तु इससे लोककथाओ की मौलिकता मे कोई अन्तर नही आया उनके स्वरूप मे कुछ जुडा ही।

प्राकृत कथाओं मे लोकतत्वो का समावेश क्रमशः हुआ है। आगमकालीन कथाएं यद्यपि बीज-रूपा है विकसित नही। फिर भी उनके कथा-बीजों मे लोकतत्त्वों का पुट है। ज्ञाताधर्म कथा की धरणी का दोहद, विजयचोर, सागरदत्त और वेश्या, धन्ना सेठ और उसकी पतोहू आदि कथाएं लोककथाओं का पूरा प्रतिनिधित्व करती हैं। महारानी धारिणी देवी ने अपने दोहद मे असमय मे ही वर्षाकालीन दृश्य देखने की इच्छा प्रगट की थी, जिसे कथा के अन्त मे पूरी की गई। कथा का यह स्वरूप लोक-कथा शैली का है। प्रारम्भ मे अनहोनी जैसी बात को समस्या के रूप मे रखकर पाठक मे कौतुहल उत्पन्न किया गया है और बाद मे उसकी पूर्ति की गयी है।

टीकायुगीन कथाओ मे नीतिकथा और लोक-कथा के तत्त्व अधिक मिलने लगते है, इन कथाओ की नीति-उन्मुखता पूर्णत. व्यापक जीवन के संदर्भ मे घटित होनी है, इसलिए वह सार्वभौमिक और साधारण जन-आस्वाद्य है, लोक जीवन का ग्रहण कथाओ को एक नयी शैली प्रदान करता है। वैसे तो प्राकृत टीका साहित्य के सभी ग्रंथो मे कुछ न कुछ लोककथाए संग्रहीत है, किन्तु आवश्यक चूर्णि 'लालच बुरी बलाय, पंडित कौन, कोक्कास बढई चतुर रोवक, चतुराई का मूल्य, पढो और गुनो, इतना बडा लड्डू आदि कथाएं, दशवैकालिक चूर्णि की ईर्ष्या मत करो, अपना-अपना पुरुषार्थ, गीदड की राजनीति आदि कथाए, व्यावहारभाष्य की भिखारी का सपना, अकल बडी या भैंस कथाएं तथा उत्तराध्ययन टीका की मण्डित चोर, गंगा की उत्पत्ति आदि कथाएं लोककथाओ के सुन्दर नमूने हैं। इनमे से बहुत सी कथाएं तो आज भी लोक मे प्रचलित हैं।

आवश्यक चूर्णी की एक लोककथा दृष्टव्य है—

किसी परिवार की तीन कन्याये थी, उनका विवाह होने पर उनकी मां ने उनको सुखी बनने के लिए सिखा दिया कि तुम सब प्रथम दर्शन मे पाद

प्रहार से पति का स्वागत करना। जेठी कन्या के पति ने लात खाकर उसका पेट दबाते हुए पूछा—'प्रिये ! कही तुम्हें चोट तो नही लगी,' लड़की ने यह वृतान्त जब मा से कहा तो वह बोली—'बेटी, जा तू अपनी इच्छापूर्वक जीवन व्यतीत कर तेरा पति तेरा कुछ नही बिगाड़ सकता। मंझली लडकी के पति ने उसकी लात खाकर पहले तो उसे भला-बुरा कहा फिर शीघ्र ही शान्त हो गया, लडकी की मा ने कहा कि बेटी, तुम भी अलग से रहेगी। छोटी लडकी के पति ने लात लगाते ही उसे पीटना शुरू कर दिया और कहा कि तुम नीच कुल मे आयी हो। बडी मुश्किल से उसे शान्त किया गया, मा ने लड़की को एकान्त मे बुलाकर कहा—'बेटी, तुम देवता के समान पति की पूजा करना और उसका साथ कभी मत छोडना।[१]

स्वतन्त्र प्राकृत कथा ग्रन्थो मे लौकिक तत्त्व प्रचुर मात्रा मे समाविष्ट है, इनमे अनेक लोक-कथाएं स्वतन्त्र रूप से निर्मित हुई हैं। वसुदेव हिण्डी विशुद्ध लोककथा ग्रन्थ है। इसकी लोक कथाएं मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञानवर्धन भी करती है। इसके शीलमनी, धनश्री, विमल सेना, ग्रामीण गाडीवान, वसुदत्ताख्यान, रिपुदमन आदि आख्यान सुन्दर लोक-कथानक है। इनमे लोक कथाओ के सभी गुण और तत्त्व विद्यमान है।

प्राकृत कथा साहित्य की सम्पन्नता का युग ८-९वी सदी है, इस समय कथानक, शिल्प और भाषा इन तीनो का पर्याप्त विकास हुआ है। मूल कथा के साथ अवान्तर कथाओ का कलात्मक संश्लेष इस युग की पहली चेतना है। अत स्वाभाविक रूप से लोक मे प्रचलित अनेक कथाएं एव कथातत्व प्राकृत व अपभ्रंश कथाओ मे समाहित हुए हैं। हरिभद्र सूरि की समराइच्च कहा और उद्योतनसूरि की कुवलयमाला कहा मे लोककथा के पर्याप्त गुण धर्म विद्यमान है। लोकभाषा मे लोक परम्परा से प्राप्त कथानक सूत्रों को संघटित कर लोक मानस को आन्दोलित करने वाली लोकानुरंजक कथाएं लिखकर इन प्राकृत कथाकारो ने लोककथा के क्षेत्र मे अनुपम योगदान दिया हैं। विश्लेषण करने पर इन प्राकृत-कथावृत्तियो मे निम्नांकित लोककथा के तत्व उपलब्ध हैं —[२]

१ लोक मंगल की भावना	२. धर्म श्रद्धा
३. कुतूहल	४. मनोरंजन
५. अमानवीय तत्व	६. अप्राकृतिकता
७. अतिप्राकृतिकता	८. अन्धविश्वास
९. अनुश्रुत मूलकता	१०. हास्य विनोद
११ साहस का निरूपण	११ जनभाषा का प्रयोग
१३. मिलन-बाधाएं	१४. प्रेम के विभिन्न रूप
१५ उपदेशात्मकता	इत्यादि।

यहा इन सभी लोककथा के तत्त्वो का उदाहरण देना सम्भव नही है। 'अतिप्राकृतिकता' तत्व से सम्बन्धित समराइच्चकहा के अष्टम भव की एक घटना द्रष्टव्य है—

एक दिन कौशलाधिपति को उनका घोड़ा भगा कर एक जंगल मे ले गया, वहा मनोहरा नाम की यक्षिणी कुमार के अद्भुत सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गयी और उसने कुमार से प्रेम याचना की किन्तु कुमार ने मना कर दिया, एक दिन कुमार की पत्नी सुसंगता का रूप बनाकर वह यक्षिणी कुमार के पलंग पर सो गयी तथा सुसंगता

---

२. डा० शास्त्री का शोध प्रबन्ध—(पृ० २४५-२८०) द्रष्टव्य

के समान ही उसने कुमार के साथ आचरण किया जब वास्तविक सुसंगता शयन कक्ष मे आयी तो पति के बगल मे अपनी ही आकृति की अन्य स्त्री को सोते देखकर आश्चर्य चकित हो गयी, उसने पति से अनुरोध किया कि आप इस धोखेबाज स्त्री को हटा दीजिए, पर राजकुमार ने वास्तविक पत्नी को ही नकली समझकर घर से निकाल दिया।

लोककथा का प्रधान तत्त्व कथानक रूढि हैं। कथानक रूढि के आदि स्रोत के रूप मे लोक प्रचलित अनेक संस्कार विश्वास एवं आचारो को स्वीकार किया जा सकता है। प्राकृत कथाओ मे अनेक कथा रूढियो का प्रयोग हुआ है। यथा–(१) लोक प्रचलित विश्वासो से सम्बद्ध (२)अमानवीय शक्तियो से सम्बद्ध (३) अतिमानवीय प्राणियो से सम्बद्ध (४) काल्पनिक रूढिया (५) सामाजिकता की द्योतक रूढिया (६) मन्त्र-तन्त्र सम्बन्धी (७) पशु-पक्षी सम्बन्धी तथा (८) आध्यात्मिक अभिप्राय आदि। ये रूढिया भारतीय साहित्य मे हर जगह मिल जायेगी, किन्तु प्राकृत कथाओ की विशेषता यह है कि उन्होने लोक जीवन मे से अनेक ऐसी कथानक-रूढियो का निर्माण किया है, जिनका अब तक साहित्य मे प्रयोग नही हुआ था, अत अभिजात साहित्य तक लोक संस्कृति को पहुचाने मे प्राकृत कथा साहित्य द्वारा किया गया प्रयत्न सर्व प्रथम है।

अपभ्रंश कथाओ ने प्राकृत साहित्य की अनेक लोककथाओ को नया रूप प्रदान किया है। 'भविसयत्तकहा' उनमे से एक है। इसका सांस्कृतिक अध्ययन डा देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने प्रस्तुत किया है, जिसमे अपभ्रंश साहित्य में प्रयुक्त लोक तत्त्वों का भी विवेचन भी किया गया है।[३] प्राकृत एव अपभ्रंश लोककथाओ का अन्य भारतीय लोक कथाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है। डा सत्येन्द्र ने कुछ कथाओ की लोकयात्रा का विवेचन प्रस्तुत कर इस क्षेत्र मे मार्ग प्रशस्त किया है।[४]

लोकोक्तिया—लोक साहित्य मे लोकोक्तियो, पहेलियो, मुहावरो आदि का विशेष महत्व है, इनके द्वारा लोकचिन्तन धारा का प्रतिनिधित्व होता है। प्राकृत साहित्य मे इनकी भरमार है। उदाहरण स्वरूप कुछ द्रष्टव्य है—

१ मरइ गुडेण चिय तस्स विसं दिज्जए कि व।
—जो गुड देने से मर सकता है उसे विष देने की क्या आवश्यकता है?

२ कि न सम्भवन्ति लच्छिनिलयेसु कमलेसु किमओ
(समरा० ४.२६८)

—क्या सुन्दर कमलो मे कीड़े नही होते?

३ हत्थठिय ककणयं को भण जोएइ आरिसए?
(ज्ञानपंचमी कहा)

—हाथ कगन को आरसी क्या?

४. न हि गेहम्मि पलित्ते अवड खणिउं तरइ कोई
(—भव भावना)

—घर मे आग लगने पर क्या कोई कुंआ खोद सकता है?

---

३. 'भविसयत्त कहा और अन्य अपभ्रंशकाव्य' भारतीय ज्ञानपीठ १९७१

४. 'मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन'

२. लोक भाषा

समस्त प्राकृत साहित्य की भाषा लोकभाषा है। लोकजीवन की जब बात कहनी है तो उसी भाषा मे कहना उपयुक्त होगा जिसे जन मानस हृदयंगम कर सके, प्राकृत कथाकारो ने देशी भाषा को विशेष महत्व दिया है, कुवलयमालाकहा पढने का अधिकारी उसको समझा गया है जो देशी भाषा का अच्छा जानकार हो।[५] यही कारण है कि इस ग्रन्थ मे जैसे पात्रो की रचना है, वैसी ही उनकी भाषा विभिन्न देशो के व्यापारी अपनी-अपनी लोक भाषाओ मे बात करते है। अन्य प्राकृत ग्रन्थो मे भी अनेक ऐसे लोक शब्द मिलते है जो आज भी प्रान्तीय जन भाषाओ मे प्रयुक्त होते हैं।[६]

इस प्रकार प्राकृत साहित्य मे लोक साहित्य के उपयुक्त तत्व-धर्मगाथा, लोककथा, लोकोक्तिया, लोकभाषा आदि प्राप्त होते है। इनके अतिरिक्त लोक संस्कृति के विभिन्न अंगो का समावेश भी इसमे हुआ है। सम्पूर्ण प्राकृत साहित्य विभिन्न युगो के लोक जीवन का प्रतिबिम्ब उपस्थित करता है।

४. लोकजीवन

प्राकृत कथाओ मे प्राय मध्यमवर्गीय पात्रो के जीवन को लोक वातावरण मे प्रस्तुत किया गया है, अतः ग्रामीण और लोक जीवन के विविध दृश्य इस साहित्य मे देखने को मिलते हैं, उन्हे प्रमुख पांच भागो मे विभक्त कर सकते हैं— (१) ग्राम्य वातावरण (२) पारिवारिक जीवन (३) रीति-रिवाज (४) त्योहार-पर्व एवं (५) लोकानुरजन इनमे से प्रत्येक के कुछ दृश्य उपस्थित है।—

ग्राम्य वातावरण—गाहासत्तसई गावो के उल्लास और स्वतन्त्र जीवन का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है। एक गांव की सुबह का वर्णन देखे— प्रात.काल होने पर गाय चरने चल देती, खोंचे वाले अपने व्यापार के लिए निकल पडते, लुहार अपने काम मे लग जाते, किसान अपने खेतो मे चले जाते, मच्छीमार मछली पकडने निकल पड़ते, खटीक लाठी लेकर कसाईखाने मे पहुंच जाते, माली फूलो की टोकरी ले गाव मे निकल पडता, राहगीर रास्ता चलने लगते और तेली कोल्हुओ मे तेल पेरने लगते।[७]

दूसरा दृश्य गाव मे पडे दुष्काल का है—बारह वर्ष तक अनावृष्टि हुई, उससे औषधिया नही पनपे, वृक्ष नही फले, फसल व्यर्थ हो गयी, पशुओ का चारा नही उगा। केवल पवन चलता रहा, धूल उड़ती रही, पृथ्वी कांपती रही, मेघ गरजते रहे, उल्काए पडती रही, दिशाए गूंजती रही और बारह सूर्यों के तेज जैसा कठोर ताप वाली गर्मी पड़ती रही।[८]

—वर्षा ऋतु मे गाव मे मूसलाधार पानी बरस रहा है। झोपडी मे टप-टप पानी चू रहा है।

---

५. जो जाणइ देसीओ भाषाओ लुक्खणाइं धाऊ य।
वय-णय-गाहा-छेय कुवलयमालं पि सो पढउ ॥ —कुव. २८१-१३

६. द्रष्टव्य लेखक का निबन्ध-प्राकृत अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाएं

७. निशीथिचूर्णी-१५२२

८. कुवलयमालाकहा, पृ ११७, १२-१५.

किसान की पत्नी अपने प्यारे बच्चे को बचाने के लिए उस पर झुककर पानी की बुंदे अपने सिर ले रही है, किन्तु अपनी दरिद्रता के लिए रोनी हुई उसे यह नही पता कि वह अपने नयनो से झरते जल से बच्चे को भिजो रहीहै ।[९]

पारिवारिक जीवन—प्राकृत साहित्य में प्रायः सयुक्त परिवारो का चित्रण प्राप्त होता है, जो लोकजीवन मे प्रमुख रहा है । परिवार के सभी लोग एक ही स्थान पर रहते, एक ही जगह पकाया हुआ भोजन करते तथा सर्व सामान्य जमीन-जायजाद का उपभोग करते । स्त्रियां छरने-पछारने, पीसने-कूटने, रसोई बनाने, पानी भरने और बर्तन माजने का काम करती थी । मिलकर भी रहती और लडती-झगडती भी । इन सबके विवरण प्राकृत की लोककथाओ मे है ।

आदर्श गाव की गृहणी का एक चित्र दृष्टव्य है—

मुंजइ मुंजियसेस सुप्पइ सुप्पम्मि परियणे सयले ।
पढम चेय विबुज्झइ घटस्स लच्छी न मा घरिणी ।।

—जो बाकी बचा हुआ भोजन करती है, सब परिजनो के सो जाने पर स्वयं सोती है, सबसे पहले उठती है, वह गृहिणी ही नही, घर की लक्ष्मी है । परिवार की प्रतिष्ठा और पाहुने सत्कार के प्रति उसका कर्त्तव्य देखिए – किसी प्रिय पाहुने के आ जाने पर उसने अपना मंगलवलय बेच दिया इस प्रकार इस कुल बालिका की दयनीय दशा देखकर सारा गाव रो पड़ा ।[१०]

न मालूम गाँवों के पारिवारिक जीवन के ऐसे कितने चित्र इस साहित्य मे उपलब्ध हैं । जन-जीवन को ज्यो का त्यो कथाओ मे उतारकर रख दिया गया है ।केवल एक उदाहरण पर्याप्त है । एक गरीब व्यक्ति का दैनिक–जीवन के प्रति चिन्तन दृष्टव्य है—

'मेरे घर मे पैसा नही है और लोग उत्सव मनाने लगे है, बच्चे मेरे रो रहे हैं, अपनी घर वाली को मे क्या दूं ? कुछ भी तो नही मेरे पास देने को मेरे स्वजन-सम्बन्धी अपनी समृद्धि मे मस्त हैं, दूसरे धनी लोग भी तिरस्कार ही करते है, वे स्थान नही देते । आज मेरे घर मे घी, तेल, नमक, ईंधन और वस्त्र कुछ भी तो नही है, तौनी (मिट्टी की कुटिया) भी आज खाली है, कल कुटुम्ब का क्या होगा ? घर मे कन्या सयानी हो रही है, लड़का अभी छोटा है इसलिए धन कमा नही सकता । कुटुम्ब के लोग बीमार है और दवा लाने के लिए पास मे पैसे नही । घरवाली गुस्से से मुंह फुलाए बैठी है, बहुत से पाहुने घर मे आये हुए है । घर पुराना हो गया है, वह चूता है, सब जगह पानी गिर रहा है । मैं करू तो क्या करूं ? साहूकार कर्ज और मागते हैं । कहा जाऊ ?'[११]

साहित्य मे इससे अधिक यथार्थ की अभिव्यक्ति और क्या होगी ? प्राकृत के अन्य ग्रन्थो मे ननद–भावज, सास-बहू और देवरानी-जिठानी के झगडे-टटो का सजीव वर्णन मिलता है, जिसका लोक-जीवन से हमेशा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है ।

रीति-रिवाज––लोक-जीवन अनेक रीति–रिवाजो से भरा होता है, जन्म से लेकर मृत्यु तक

---

९. गाथासप्तशती–अन्य दृश्यो के लिए द्रष्टव्य

१०. वही

११. प्राकृतपद्यो के लिए द्रष्टव्य–डा. जैन, प्रा. सा. इ. पृ. ५११

कई सामाजिक रीतिया निभानी पड़ती है। प्राकृत कथाओ मे दोहद, पुत्रजन्म, विवाह, धार्मिक अनुष्ठान आदि अवसरो पर कई परम्पराएं निभाने का उल्लेख मिलता है। गर्भकाल मे दोहद का बहुत महत्व था–भिखारिन से लेकर पटरानी तक के दोहद पूरे किये जाते थे, दोहदो के विचित्र प्रकार उपलब्ध होते हैं।[१२] कोई पत्नी अपने पति का मास खाने का दोहद प्रगट कर उसके प्राण संकट मे डाल देती थी तो कोई ऐसी भी पत्नी थी कि उससे पूछे जाने पर अपने दोहद मे खाली पानी पीने की इच्छा ही व्यक्त की, जिससे गरीब पति को परेशान न होना पडे।

पुत्र जन्मोत्सव मनाने के अनेक वर्णन उपलब्ध है।[१३] जन्म के बाद परंगमण, चक्रमण, जेमामण, प्रजल्पन, कर्णवेधन, सम्वत्सर प्रतिलेखन, चोलोमण, उपनयन और कलाग्रहण आदि सस्कार भी मनाये जाने के उल्लेख है. इन संस्कारो और हिन्दू सस्कारो मे कोई विशेष अन्तर नही है, इससे स्पष्ट है कि प्राकृत साहित्य मात्र जैन धर्म का साहित्य था. जनसामान्य की सस्कृति को प्रतिबिम्बित करना उसका कार्य था।

पर्व-उत्सव— जैनसूत्रो मे अनेक उत्सवो और पर्वों के उल्लेख मिलते है। पुण्णभासिणी का उत्सव कौमुदी महोत्सव के नाम से मनाया जाता था। उज्जाणिया-महोत्सव एक प्रकार से वनभोज जैसा था। 'इट्ठगा' नामक एक पर्व मे सेवइया बनायी जाती थी। इसकी आन के रक्षाबन्धन त्योहार से की जा सकती है। खेत मे हल चलाने के दिन भी पूजा की जाती थी और भात खिलाया जाता था। कुछ घरेलू त्यौहार भी मनाये जाते थे, जिनमे श्राद्ध देवबलि आदि प्रमुख थे। 'सखंडि' नाम से एक बडा सामूहिक भोज का आयोजन कर उत्सव मनाया जाता था।[१४]

लोकानुरंजन— लोक जीवन मे मनोरंजन के साधन निराले होते हैं। बच्चों के अलग और प्रोढो तथा वृद्धो के अलग। नागरिक जीवन के मनोरंजन के साधनो के अतिरिक्त प्राकृत साहित्य मे लोक-जीवन मे व्यवहृत मनोरजन के साधनो का भी उल्लेख मिलता है। पर्व-उत्सव के अतिरिक्त लोग विभिन्न प्रकार के खेल-खिलौनो द्वारा अपना मनोविनोद करते थे। कुछ लोक खिलौनो के नाम इस प्रकार है–खुल्लय (एक प्रकार की कौडी–कपर्दक), वट्टय (लाख की गोली), अडोलिया (गिल्ली), तिन्दूस (गेद), पोतुल्ल (गुड़िया) और साडोल्लय (कपडे की गुड़िया). सरयत (धनुष), गोरहग (बैल का खेल), घाटक (छोटा घड़ा बजाते आदि के लिए), डिडिस और चेलगोल (कपड़े की गेद) आदि खिलौने बच्चो का मनोरंजन करते थे।[१५] कपड़े की गेद का खेल गड़ा गेद के नाम से आज भी बुंदेलखण्ड के गावो मे प्रचलित है। इन खिलौनो के अतिरिक्त मल्लयुद्ध, कुक्कटयुद्ध तथा मयूर-पोत युद्ध आदि मनोरजन के प्रधान साधन थे। लोकजीवन इन्ही के सहारे जीवत बना रहता था।

४. लोकविश्वास

मानव समाज मे आदि काल से अनेक प्रकार के ऐसे विश्वास, जो तर्क और बुद्धि से परे होते हैं,

१२. डा. जैन-जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज, पृ. २४०
१३. वही पृ. २४२.
१४. विशेष के लिए द्रष्टव्य–वही पृ. ३६४-६६.
१५. वही, पृ. ३५६-६०

मान्य और प्रचलित रहे है। इन अन्धविश्वासों का लोककथाओं मे समावेश हैं। अनिवार्य लोकसाहित्य इन से भरा होता है। प्राकृत साहित्य मे जो अन्धविश्वास व्यक्त हुए है उन्हे इस तरह विभाजित किया जा सकता है—

१ विद्या, मन्त्र और योग
२ जादू-टोना और झाड-फूंक
३ शुभाशुभ शकुन विचार
४ अलौकिक चमत्कारो से सम्बद्ध।

जैन ग्रन्थो मे अनेक विद्याओ और मन्त्रो का वर्णन मिलता है जैन साधु अनेक विद्याओ मन्त्रों के जानकार होते थे। जन-सामान्य मे उनके चमत्कार भी दिखाते थे। जन-जीवन मे इनका प्रयोग अनेक इच्छाओ की पूर्ति के लिए किया जाता था। ज्ञाताधर्मकथा मे पोहिला की कथा आती है। वह जब प्रयत्न करने पर भी अपने पति का प्रेम प्राप्त न कर सकी तो उसने चूर्णयोग, मन्त्रयोग, कार्मणयोग, काम्ययोग, हियपडड्डावरण काउड्डावरण, वशीकरण, गुटिका आदि के प्रयोग द्वारा उसे वश मे करना चाहा। इसी प्रकार एक परिव्राजक ने मन्त्र और औषधि की शक्ति द्वारा नगर की सभी सुन्दरियो को अपने वश मे कर लिया था। (सूत्रकृताग टीका) लोगो मे यह भी मान्यता थी कि मुर्गे का सिर भक्षण करने से राज्यपद प्राप्त होता है।[१६]

जादू-टोने और झाड-फूंक के भी अनेक चित्र उपलब्ध होते हैं। प्रायः लोग स्नान करने के बाद कौतुक, मंगल, प्रायश्चित आदि करते थे। कौतुक के नौ भेद गिनाये हैं—विस्नपन, होम, शिवपरिरय, क्षारदहन, धूप, असदृशवेषग्रहण अवयासन, अवस्तोभन और बन्ध। नजर से बचने के लिए ताबीज आदि बांधना बन्ध कौतुक कहलाता था।[१७] कुवलयमाला कहा मे पुत्र प्राप्ति के लिए अनेक जादू-टोने और टुटके करने का उल्लेख है।

शुभाशुभ शकुन से सम्बन्धित अनेक कथाए प्राप्त होती हैं।[१८] समराइच्चकहा मे चन्द्रकुमार और चन्द्रकान्ता जब कुए मे गिरा दिए जाते है तो वहा से छुटकारा पाने के लिए चिन्तातुर होते हैं। तभी चन्द्रकान्ता का बाया और चन्द्रकुमार का दायां नेत्र फडकने लगता है। इस शकुन को वे शुभ मानकर सन्तोष करते हैं और अन्त मे एक सार्थवाह के द्वारा कुए से निकाल लिए जाते है। कुवलयमाला कहा मे कुमार की विदा के समय शुभ-अशुभ शकुनो पर विचार किया जाता है। विभिन्न दिशाओ, पशु-पक्षी, पेड-पौधे तथा शारीरिक क्रियाओ से शुभ-अशुभ शकुनो का विचार किया जाता है।

इनके अतिरिक्त यक्षपूजा वहवासिनीदेवी, की पूजा, गगा में अस्थियो का विसर्जन, सिद्धो की साधना आदि कितने ही लोकविश्वास की जानकारी प्राकृत साहित्य के माध्यम से होती है। यद्यपि जैन धर्म ईश्वरकर्तृत्व आदि पर विश्वास नही करता, किन्तु उसके साहित्य मे इन सब विश्वासो का उल्लेख मिलता है। लौकिक देवी-देवताओ को समाज मे विशेष स्थान प्राप्त था। इन्द्र, स्कन्द,

---

१६. डा. जैन-वही, पृ ३४३-४८.
१७ वही, पृ. ३५२.
१८ वही पृ. ३५६-५८

रुद्र, मुकुन्द, शिव, वैश्रमण, नाग, यक्ष, भूत, आर्या और व्योहकिरिया मह का विशेष प्रचलन था। इनके अतिरिक्त वानमंतर, वानमन्तरी, गुह्यक और पिशाचो की भी अर्चना की जाती थी।[१९] उदाहरण के लिए एक भूतकथा ही पर्याप्त है—

'उज्जैनी की दुकानो मे अन्य वस्तुओ के साथ भूत भी बिकते थे। एक बार भृगुकच्छ का कोई वैश्य उज्जयनि की दुकान से भूत खरीदने आया। दुकानदार ने कहा—भूत मिल सकता है, लेकिन यदि उसे तुम काम न दोगे तो वह तुम्हे मार डालेगा। वैश्य भूत खरीद कर चल दिया। वह उसे जो काम बताता, उसे वह तुरन्त कर डालता। आखिर मे तंग आकर वैश्य ने एक खम्भा गडवा दिया और उसपर उतरते चढते रहने का कार्य बताकर भूत से अपना पीछा छुडाया।[२०]

कथासरित्सागर मे इस प्रकार की कथा आती है तथा वर्तमान मे यह कथा प्रचलित है। इस प्रकार प्राकृत साहित्य मे उल्लिखित लोकविश्वास आधुनिक लोकविश्वास तुलना की अपेक्षा रखते है।

५. लोक कला

लोक संस्कृति की वास्तविक अभिव्यक्ति लोक कला के माध्यम से होती है। लोक कलाओ के अन्तर्गत वे सभी कार्य विशेष परिगणित होते है, जिनमे लोक के मूक कलाकारो के सरल हृदय और प्रतिभा को अभिव्यक्ति मिलती है। विभिन्न अवसरों पर बनायी गई मिट्टी व काष्ट की मूर्त्तिया, विवाह आदि उत्सवों पर खीचे गयी रेखानुकृत्तिया मुक्त कंठो से गाया गया संगीत तथा विभोरकर देने वाली उछल-कूद लोककला को मूर्तिकला, चित्रकला संगीत और नृत्यकला मे विभाजित करती है। समय और प्रकृति के प्रहार से प्राचीन लोककला के हो सकता है अवशेष बहुत थोडे बचे हो, किन्तु प्राकृत साहित्य मे उनके जो उल्लेख मिलते है, वे लोककला की समृद्धि लोकप्रियता के उद्घोषक है। तत्कालीन संगीत तथा नाट्यकला के लोकरूप द्रष्टव्य है।

सगीत के वाद्य, नाट्य, गेय और अभिनय ये चार भेद बतलाये गये है। स्थानागसूत्र मे षड्ज, ऋषभ, गाधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद नामक सात स्वरों का उल्लेख है। इन स्वरो के स्वर स्थान, उच्चारण प्रकट, वाद्यो का सम्बन्ध, स्वरो मे लाख, तथा गुण दोषो का भी वर्णन किया गया है।[२१] तत, वितत, धन और भुसिर इन चारो प्रकार के वाद्यो का न केवल उल्लेख है, अपितु उनके लगभग ५०-६० भेद-प्रभेदो की भी चर्चा की गयी है। कुछ वाद्य तो सस्कृत ग्रन्थो मे उल्लिखित वाद्यो के समान है, किन्तु खरमुही, पीरिपिरिया, गौमुखी, तुबवीणा, कलशी, रिगिसिया लत्तिया, वाली, परिल्ली, बक्तगा आदि वाद्य नये है, जिनका सम्बन्ध प्रदेश विशेष के लोकवाद्यो से हो सकता है।

जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति (५, पृ० ४१३) मे उक्खित्त (उक्षिप्त), पत्तम (पादात्त), मन्दय (मन्दक) और रोविदय अथवा रोइया व साण (रोचितावसान) इन चार प्रकार के गेय सगीत का उल्लेख है। सम्भवत.

---

१९. वही, पृ. ४२९-५०
२०. बृहत्काल्यभाष्यवृति, ३.४२१४-२२।
२१. स्थानांगसूत्र, ७, पृ. ३७२.

इन गेयों से शरीर की विभिन्न क्रियाओं के उत्क्षेपन निपतन आदि द्वारा संगीत को प्रस्तुत किया जाता रहा होगा।

नाट्यों के भी चार भेद प्राप्त होते हैं—अचिय (अचित), रिभिय (रिभित) आरभड (आरभट) और भसोल। इनका विशेष वर्णन नहीं दिया गया है किन्तु नाट्य विधि मे अभिनय का होना आवश्यक माना गया है। चार प्रकार के अभिनय बतलाये गये हैं—दिट्ठंतिय (दार्ष्टान्तिक), पाण्डुसुत, सामन्तोवणिगय (सामन्तोंपयातनिक) और लोग मज्झवसित (लोक-मध्यावसित)।[२२] अभिनय के चारो भेद भरत के नाट्य शास्त्र मे वर्णित अभिनय भेदों से भिन्न प्रतीत होते है। यदि इनके शाब्दिक अर्थ लिये जाय तो (१) मुखतक अंगप्रक्षालन करने वाला अभिनय (२) पाण्डुसुत का कथानक व्यक्त करने वाला अभिनय (३) समान रूप से अंग संचालन द्वारा किया गया अभिनय और (४) जनसमुदाय के बीच मे ही किये जाने वाला अभिनय की प्रतीति इनमे होती है।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे अभिनय शून्य नाटको का भी उल्लेख है। यथा—उत्पात (आकाश मे उछलना) निपात, मकुचित, प्रसारित, भ्रान्त, सम्भ्रान्त आदि नाटक। राजप्रश्नीय सूत्र मे बत्तीस प्रकार की नाट्यविधि का उल्लेख है। उनमे से कुछ तो भरत नाट्यशास्त्र मे उल्लिखित है किन्तु शेष नाट्यविधियां लोकनाट्य के क्षेत्र मे खोजी जा सकती हैं।

लोक नाट्य से सम्बन्धित कुवलयमाला का एक प्रसंग उल्लेखनीय है। एक गाव मे पृथ्वी को धन धान्य से समृद्ध देखकर फसल काटने के समय नट, नर्तक, मुष्टिक, और चारणों का एक दल इधर उधर घूमता हुआ आ पहुंचा। गाव के मुखिया ने उन नटो के तमाशे को देखने के लिए सारे गाव मे निमन्त्रण दिया। दिन मे काम-काज के कारण ठीक अवसर न जानकर रात्रि के प्रथम पहर में उसे दिखाने की व्यवस्था की गयी। ग्रामीण जनता घर के सब कार्यों को निपटाकर अपने-अपने आसन और मशाल ले लेकर तमाशा देखने पहुंच गई। एक परिवार के तो सभी लोग उसे देखने का मोह संवरण न कर सके और गये, किन्तु घर की बहु नन्दिनी पति के चण्डस्वभाव के कारण अपने जीवन की रक्षा करती हुई घर पर ही रह गयी। काफी रात्रि तक वह नाटक चला, जिसमे स्त्रीपात्र भी थे। तथा संगीत और गीत आदि द्वारा किसी शृंगार-प्रधान आख्यान को अभिनीत किया गया।[२३]

इसके अतिरिक्त अन्य नाट्यविधियो का उल्लेख भी प्राकृत साहित्य मे मिलता है। नट लोग स्त्री का वेषधारण कर नृत्य करते थे। रास का भी उल्लेख मिलता है। गांधर्व, नाट्य आदि की शिक्षा देने की व्यवस्था के उल्लेख कथाकोष प्रकरण मे आते हैं। इस प्रकार की लोक कलाओ द्वारा प्रजा मनोरंजन करने वाले कितने ही लोगो के नाम आते है। उदाहरण के लिए नट, नर्तक जल्ल (रस्सी पर खेल दिखाने वाले) मल्ल, मोष्टिक, विदूषक, कथक, लंख (उछलने कूदने वाले), मख (चित्रपट दिखाने वाले), तूणइल्ल, तुम्बवीणिक भोजक और मागध के नाम लिए जा सकते है।[२४]

---

२२. स्थानांग, ४, पृ. २७१

२३. तुलनात्मक अध्ययन के लिए द्रष्ठव्य—लेखक का शोध प्रबन्ध।

२४. डा. जैन वही, पृ. ३६६

मंखो की परम्परा तो आज भी पट दिखाने वाले भोमा लोगो से की जा सकती है।[२४]

६. लोक चिकित्सा

प्राकृत साहित्य में आयुर्वेद से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है, रोगो के प्रकार, रोगोत्पत्ति के कारण व्याधियो के देशी उपचार, घावो के भरने के लिए विविध घृत और तेल का प्रयोग, छोटे-मोटे रोगो के इलाज के लिए घरेलू चिकित्सा आदि के विषय पर डा० जैन ने विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की है।[२६] प्राकृत साहित्य मे इस सबके उल्लेख का एक कारण यह है कि जैन साधु-साध्वियां हमेशा पैदल प्रवास करते थे। रास्ते चलते जो छोटे-छोटे रोग या व्रण उन्हें होते थे, गाववासी देशी दवाइयों के उनका इलाज कर देते थे। अतः साहित्य सृजन के समय इन सब देशी उपचारो का उसमे उल्लेख हो गया है। दो रोगो के देशी उपचार द्रष्टव्य है--

--एक बार किसी जैन भिक्षु को कृमिकुष्ठ की बीमारी लग गयी, वैद्य ने तेल, कंबलरत्न और गोशीर्ष चन्दन बतलाए, तीनो चीजे श्रावको ने एकत्र की, साधु के शरीर मे तेल की मालिश की गयी, जिससे तेल उसके रोमकूपों मे भर गया। इससे कृमि संक्षुब्ध होकर नीचे गिरने लगे। साधु को कंबल उढा दिया और सब कृमि कंबल पर लग गये। बाद मे शरीर पर गोशीर्ष चन्दन का लेप कर दिया गया, दो-तीन बार इस तरह करने से कोढ बिल्कुल ठीक हो गया।[२७]

--सर्प के काट लेने पर विभिन्न इलाज किये जाते थे, किसी राजा को महाविषधारी सर्प ने काट लिया, लेकिन रानी का मूत्रपान करने से वह स्वस्थ हो गया।[२८] सर्पदंश पर मिट्टी का लेप कर दिया जाता था या फिर रोगी को मिट्टी खिलाते थे, ताकि खाली पेट विष न चढ़े, कभी कभी काटे हुए स्थान को दाग दिया जाता और रोगी को रात भर जगाये रखा जाता। कभी-कभी सुवर्ण को घिसकर रोगी को पिला दिया जाता था।

इस प्रकार प्राकृत साहित्य मे लोक-संस्कृति के सभी पक्षो-लोक साहित्य, भाषा, जीवन, विश्वास, कला, चिकित्सा आदि--से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती हैं पालि और अपभ्रंश साहित्य की खोज मे इसमे और वृद्धि हो सकती है, लोक संस्कृति की सामग्री की विविधता और प्रचुरता को देखते हुए यह निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि 'प्राकृत साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन' शोध एवं अनुसंधान का एक स्वतन्त्र विषय है। इस पर निष्ठा और परिश्रमपूर्वक किया गया कार्य निश्चय ही भारतीय लोक संस्कृति पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालेगा।

२५. लेखक का निबन्ध-पटचित्रावली की लोक परम्परा द्रष्टव्य।
२६ डा जैन-वही, पृ. ३०७ से ३१८
२७. आवश्यकचूर्णी पृ. १३३
२८. बृहत्कल्पसूत्र, ५.३७।

३३

जैन कला में भारतीय देव-प्रतीकों का रूपान्तर

☐ श्री गोपीलाल अमर

जैन कला में देव प्रतीकों की वर्तमान स्थिति

जैन समाज मे प्रतीकात्मक देव-देवियो की उपासना कदाचित् उतनी ही प्रचलित है जितनी तीर्थंकरो की। इन देव-देवियो की मूर्तिया भी तीर्थंकरो की मूर्तियो मे सख्या मे कम न होगी। उनकी उपासना पहले और तीर्थंकरो की उपासना बाद मे करने की प्रथा भी दृष्टिगत होती है। एक ही शिला पर तीर्थंकर-मूर्ति की अपेक्षा देवी-मूर्ति का आकार बीसगुना तक बनाया जाता रहा। देव-देवियों के साथ उनके गण, परिजन, अनुचर महत्तर आदि की उपासना के विधान भी किये गये।[1]

जैन कला में देव प्रतीकों का मूलत अभाव

इतना होने पर भी विचारणीय है कि जैन धर्म मे देव-देवियो की उपासना का मूलत अभाव है। प्राचीन जैन साहित्य मे उसके अस्तित्व का विधान है और उनकी विभिन्न गतिविधियो के उल्लेख भी है, पर उनके प्रतीकीकरण का विधान तो क्या, सकेत भी नही है। प्राचीन साहित्य मे यह कही भी नही लिखा है कि अमुक देव या देवी की मूर्ति किस धातु की हो उसका आकार-प्रकार क्या हो और वह किस आसन या मुद्रा में हो। उपासक दशाग और भगवती सूत्र आदि ग्रन्थो मे कई श्रावको का जीवनचरित्र विस्तार पूर्वक लिखा गया है, पर कही भी यह उल्लेख नही है कि अमुक श्रावक ने किसी देव प्रतीक की उपासना की। समवायांग सूत्र और दशाश्रुतस्कन्ध मे वर्णित तेतीस आशातनाओ मे से एक भी ऐसी नही जो जैन प्रतीक से सम्बन्ध रखती हो। छेदसूत्र मे प्रतिपादित अनेक प्रायश्चितो मे से एक भी ऐसा नही जो देव प्रतीको की अविनय आदि के कारण किया

---

१. ओं मनोवेगादेव्यै स्वाहा ।१। मनोवेगायरिजनाय स्वाहा ।२। मनोवेगानुचराय स्वाहा ।३। मनोवेगामहत्तराय स्वाहा ।४। अग्नेय स्वाहा ।४। अग्निलाय स्वाहा ।६। वरुणाय स्वाहा ।७। प्रजापतये स्वाहा ।८। ओ स्वाहा ।६। भू स्वाहा १०। भुव: स्वाहा ।११। स्व स्वाहा ।१२। ओ भूर्भुव. स्व: स्वाहा ।१३। स्वधा स्वाहा ।१४।
हे मनोवेगादेवि स्वगणपरिवारपरिवृत्तायै तुभ्यमिदमर्घ्यं पाद्य जलं गन्धमक्षत पुष्पं चरू दीपं धूपं फल बलि स्वस्तिक यज्ञभागं च यजामहे प्रतिगृहणता स्वाहा ।।
दिगम्बर जैन व्रतोद्यापन सग्रह : श्री शान्तिसागर दि० जैन ग्रन्थमाला, ईडर, साबरकांठा, १९५४ ई. पृ. २६७।

जाता हो। मुनि या श्रावक के आचार में, वस्तुत: देव प्रतीकों की उपासना की जरा भी गुंजाइश नहीं क्योंकि सभी प्रकार के देवों का दर्जा किसी भी श्रावक से नीचा है। इतना ही नहीं, स्वामी समन्तभद्र के देव-देवियो की उपासना का निषेध भी किया है, क्योकि वे रागद्वेष से मलिन होते हैं।[५] असल बात यह है कि जैन और जैनेतर धर्मों मे जो पारस्परिक आदान प्रदान चलता रहा है उसी के दौरान जैन धर्म मे देव प्रतीको का आदान हो गया। यह दूसरी बात है कि उन्हे तुरन्त ही जैन साचे मे ढाल दिया गया।

जैन कला में देव प्रतीकों के आदान के कारण

जैन कला मे देव प्रतीको के आदान के कई कारण है–

१. जैनेतर धर्मों मे प्रचलित देव प्रतीकों की पूजा का जैन भक्तो पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा अत उन्होने, शास्त्रविहित न होने पर भी देव प्रतीको को उसी प्रकार मान्यता दे दी जिस प्रकार बौद्ध भक्तो ने, स्वय महात्मा बुद्ध के द्वारा निषिद्ध होने पर भी बुद्ध प्रतिमा को मान्यता दी।

२. तीर्थंकर मूर्ति की उपासना मे वीतरागता की प्रधानता है, उसमे तामझाम और आडम्बर को स्थान नही जिसे कुछ भक्त विशेष रूप से पसन्द करते आये हैं। ऐसे भक्तो ने देव प्रतीको को जिनकी उपासना मे तामझाम वगैरह की काफी गुंजाइश है, जैन कला मे रूपान्तरित करने की खास पहल की।

३. कलागत प्रतिस्पर्धा की भावना ने भी अनेक देव प्रतीको को जैन कला मे स्थान दिलाया। इस प्रतिस्पर्धा का एक बहुत ही अच्छा उदाहरण है तीर्थंकर की माता की मूर्ति निर्माण।[६] शेषमयी विष्णु की और बालक बुद्ध के साथ लेटी मायादेवी की मनोहरी मूर्तियो को देखकर, ऐसी ही मुद्रा मे मूर्त्यंकन के लिए किसी जैन पात्र की खोज मे जैन भक्त बेचैन हो उठा होगा। तीर्थंकर को लेटा हुआ दिखाया नही जा सकता, कोई देव पूजा का पात्र नहीं, कोई साधु अलंकरण और परिकर के साथ अंकित नही होता और किसी राजा या महापुरुष को जैन मन्दिर मे मूर्त्यंकित नही किया जा सकता। आखिर कुछ कुशाग्रबुद्धि भक्तो ने तीर्थंकर की माता को उपर्युक्त मुद्रा मे मूर्त्यंकित करके जैन कला को वैष्णव और बौद्ध कला से पीछे न रहने दिया।

४ चमत्कार प्रियता मुख्य कारण थी। इष्ट-सिद्धि और अनिष्ट परिहार का चमत्कार दिखाने के लिए तीर्थंकर तो दौडे नही आते, उनके भक्त देव देविया ही यह कार्य कर सकते थे। अत: बहुत सी होनी–अनहोनी कथाएं और मन्त्र–तन्त्र जोडकर अनेक देव प्रतीको को जैन कला मे स्थान दिया गया।

---

५. 'वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसा।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥'
रत्नकरकण्ड श्रावकचार श्लोक २३।

६. प्रसंगवश यह मानवी मूर्ति का उदाहरण दिया गया है, देव मूर्तियों के उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। सिंह गरुड़ आदि वाहनो, अतिरिक्त मुखो और भुजाओ तथा आयुधो वाली मूर्तिया ऐसी ही हैं।

५. भट्टारक संप्रदाय की भौतिकवादी नीति ने देव प्रतीकों को सर्वाधिक सक्रिय प्रोत्साहन दिया। आठवीं शती के आसपास उदित हुआ यह सम्प्रदाय साधुसंस्था का सरलीकृत संस्करण था। भट्टारकों ने शारीरिक कष्टों से बचने और ऐहिक सुख पाने के लिए देव-देवियो की उपासना पर अधिक जोर दिया, जिनके नाम पर शासको और धनाढ्यो से दान-दक्षिणा प्राप्त करते-करते कुछ भट्टारक भौतिक सुखो मे इतने लीन हुए कि उनके ठाठ-बाठ राजाओं के समान होने लगे।[४] इस सम्प्रदाय मे कदाचित् कुछ जैनेतर व्यक्ति भी आ मिले और उन्होने अपने इष्ट देव प्रतीको का दैवीकरण किया।

६. नारी के प्रति स्वाभाविक आकर्षण मे जैन भक्त भी आये। यही कारण है कि देवो की अपेक्षा देवियो की मूर्तिया न केवल सख्या मे अधिक बनी, बल्कि आकार मे भी बड़ी बनी। उन्हे आकर्षक मुद्राओ मे अंकित करने का कारण भी यही है।

७. राजनीतिक प्रभाव ने भी गगा, जमुना आदि अधिष्ठात्री देवियो के प्रतीको को जैन कला मे भी स्थान दिया।

इन सब कारणो से, इसमे सन्देह नही रह जाता कि जैन कला मे मूलत देव प्रतीको का प्रभाव है। अब यह देखना है कि उन्हे जैनेतर कला से कब और किस रूप में अपनाया गया।

जैन कला में देव प्रतीको का विकास

भगवान् महावीर के समय यक्षो के आयतन बनते थे। उनमे यक्षों की मूर्तिया नहीं होती थीं और कदाचित तीर्थंकर मूर्तिया स्थापित की जाने लगी, इसलिए यक्षायतनो को जिनायतन कहा जाने लगा। जिनायतनो का निर्माण स्वतन्त्र रूप से भी होने लगा। कुषाण काल मे कुछ देव प्रतीकों को जिनायतनो के प्रवेश द्वार पर स्थान मिला। वे अपने विशिष्ट लक्षणो से यह सूचित करते थे कि इस जिनायतन मे अमुक तीर्थंकर की मूर्ति स्थापित है। कालान्तर मे इन प्रतीको ने जिनालय के भीतर प्रवेश किया और क्रमशः गर्भगृह के प्रवेश द्वार पर उत्कीर्ण होने लगे। गुप्तोत्तर काल मे इन्हे तीर्थंकर के सिंहासन मे नीचे स्थान दिया जाने लगा। उनका यह स्थान आज भी तीर्थंकर के नीचे है, किन्तु कलचुरि काल के आते-आते उनका आकार काफी बडा हो गया। बाद मे पूर्वोक्त कारणो से, देव प्रतीको का आकार इतना बडा होने लगा कि तीर्थंकर-मूर्ति से देवी मूर्ति बीस गुनी तक बड़ी बनाई जाने लगी। चन्देल काल तक देवी मूर्ति के समक्ष तीर्थंकर मूर्ति का महत्त्व लुप्त प्राय हो गया और अन्तत तीर्थंकर मूर्ति के बिना ही देव देवियो की मूर्तिया निर्मित होने लगी। इस समय मत्तमयूरियो, कौल-कापलिको, भट्टारको आदि के प्रभाव से देव प्रतीको का महत्त्व जैन कला मे भी इतना बढा कि जैन मन्दिर मे भीतर बाहर ऊपर नीचे, सर्वत्र देव देवियो की मूर्तिया दृष्टिगत होने लगी और उनके नाम पर स्वतन्त्र मन्दिरों का निर्माण तक हुआ। इन अद्भुत अपूर्व मूर्तियो को देखकर यह समझते देर नहीं लगती कि जैन कला देव प्रतीको का मूलतः अभाव क्यो है।

---

४. डा, विद्याधर जोहरापुरकर · भट्टारकसम्प्रदाय, प्रस्तावना पृ. ४-५. जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर, १९५८ई.।

५. मुनिश्री हजारीमल स्मृतिग्रन्थ, पृ. १८९-९१, ब्यावर, १९६५ ई.।

जैन कला में रूपान्तरित कुछ देव प्रतीक

१. धरणेन्द्र-पद्मावती पूर्व जन्म मे नाग-नागिन थे। एक वैदिक तापस द्वारा उनकी आहुति दी ही जाने वाली थी कि युवराज पार्श्वनाथ ने उन्हे मरणासन्न अवस्था मे देखकर णमोकार मन्त्र सुनाया जिसके प्रभाव से वे भवनवासी देव-देवी हुए। जब भगवान् पार्श्वनाथ पर कमठ ने उपसर्ग किया तब इन दोनों ने उनकी रक्षा की।[६] पद्मावती की मूर्तियां जैन कला मे सर्वाधिक है। कहते हैं, विद्यानुवाद पूर्व नामक आगम ग्रन्थ मे जो अब अनुपलब्ध बताया जाता है, इस देवी का वर्णन था जिसके आधार पर आठवी शती के मुनि सुकुमार सेन ने 'भैरवपद्मावती कल्प' लिखा। किन्तु विद्यानुवाद पूर्व मे पद्मावती की मूर्ति का भी विधान रहा होगा, यह विश्वसनीय नही, क्योकि मुनि सुकुमारसेन जैसे अनेक साहित्यकारों ने बात तो कही है अपनी और उस पर मुहर लगायी गौतम गणधर या भरत चक्रवर्ती या किसी प्राचीन अनुपलब्ध ग्रन्थ की। तीसरी शती के पादलिप्त सूरि की निर्वाणकालिका मे और छठी शती के आचार्य यति वृषभ की तिलोयपण्णत्ती मे पद्मावती का नाम है किन्तु उसके प्रतीक का कोई निर्देश नही। इसके अनन्तर अवश्य इस देवी के प्रतीक सम्बन्धी अनेक विस्तृत विधान मिलते हैं। पर वे सब भट्टारक परम्परा के परिणाम हैं, उनमे से एक भी ऐसा नही जो इस प्रतीक का मूल जैन कला मे होना सिद्ध कर सके।

२. अम्बिका पूर्व जन्म मे अग्निला नाम की ब्राह्मणी थी। एक बार उसने निमन्त्रित ब्राह्मणों के पहले एक जैन मुनि को भोजन करा दिया इस पर नाराज होकर उसके पति सोमशर्मा ने उसे उसके पुत्र शुभकर और प्रभकर के साथ घर से निकाल दिया। वह गिरिनगर पर्वत पर एक अमराई मे पहुंची जहा उसके पुत्रो के लिए एक आम्रवृक्ष असमय मे ही इसलिए फल गया कि उसने मुनि को भोजन कराया था। इसी समय गिरिनगर ग्राम मे आग लग गयी जिससे पूरा ग्राम भस्म हो गया। केवल शोमशर्मा का घर बच रहा। सोमशर्मा ने समझा कि इस अतिशय का कारण अग्निला ने समझा कि वह उसे और कष्ट देने आ रहा है अत वह दोनो पुत्रो के साथ पर्वत से कूद कर मर गयी। उसके वियोग से विह्वल होकर सोमशर्मा भी मर गया और सिह बन कर अग्निला के वाहन के काम आने लगा जो अब अम्बिका के नाम से बाइसवे तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षी बन चुकी थी।[७] अम्बिका की प्राचीनतम मूर्तिया मथुरा से प्राप्त हुई है। इनका निर्माण काल दूसरी से सातवी शती तक माना जाता है।[८] इन मूर्तियो का निर्माण एक आकस्मिक घटना थी क्योकि इन शताब्दियो मे मथुरा के बाहर कही इस देवी की मूर्तिया नही बनी और इसके प्रतीक का विधान भी इस समय तक के साहित्य मे नही मिलता।

३. सच्चिया माता वस्तुत महिषासुरमर्दिनी है। इसके जैनीकरण की कथा बहुत महत्त्वपूर्ण

---

६. (१) भावदेव सूरि पार्श्वनाथ चरित्र, ६, ५० ६८।
(२) आचार्य गुणभद्र · महापुराण (उत्तर पुराण), ७३, १३६,४०।

७. (१) वादिचन्द्र सूरि : अम्बिका कथा।
(२) बप्पभट्ट सूरि : चतुर्मशतिका, अम्बिका देवी कल्प। आदि।

८. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल . मथुरा म्यूजियम केटलाग, भाग ३, पृ० ३१,३२, ५५,६७।

हैं। यह देवी भैंसे के मास से तृप्त होती थी, इसलिए तेरहवी शती मे रत्नप्रभ सूरि ने जैनो को उसके मन्दिर में जाने मे रोक दिया। एक बार भूख से व्याकुल होकर वह रत्नप्रभ सूरि से भोजन की याचना करने आयी। उन्होने उसे मिष्ठान दिया जिसे अस्वीकार कर उसने भैंसे के मास की याचना की। उससे सूरि जी उसे ऐसा उपदेश दिया जिससे वह अहिसक बनकर जैन धर्म मे दीक्षित हो गयी।[९] इसके बाद उसकी अनेक मूर्तिया बनी। मारवाड मे ओसियां मे इसकी कदाचित प्रथम मूर्ति स्थापित हुई।

४. कुरुकुल्ला के जैन होने की कथा काफी दिलचस्प है। यह मूलत वज्रयानी तान्त्रिक सम्प्रदाय की बौद्ध देवी थी। एक बार उसने बारहवीं, तेरहवीं शती के देवसेन सूरि का उपदेश सुन लिया सो जैन बन गयी। उसने सूरि की सर्पों से रक्षा की, तब से यह सर्पों की देवी भी कहलायी।[१०] कदाचित इस देवी की मूर्तिया नही बनीं।

उपसंहार

प्रतीको के इस आदान से जैन कला मे विचित्र रूपता और मनोहारिता का समावेश हुआ है। अन्यथा उसमे तीर्थंकर-मूर्तियों की एक रसता ही शेष रहती है। ये प्रतीक जैन कला और साहित्य की सबल पाचन शक्ति के प्रतीक है।

●●●

तप

वर्तमान में, या अतीत में, या भविष्य में
स्वाध्याय सा तप न हुआ है, और न होगा।

—अर्हत्

---

९. उपकेशगच्छ पट्टावली समुच्चय, भाग १ पृ० १८७।

१०. कल्पसूत्र (जैकोबी), सूत्र ३ पृ० २१६ आदि।

खण्ड ४

इतिहास एवं पुरातत्व

३४

सराक (श्रावक) संस्कृति और हम

☐ बाबूलाल जैन जमादार

जैन धर्म अति प्राचीन धर्म है, इसे अब सभी मनीषी विद्वान डंके की चोट कहने लगे है। जो लोग भ० महावीर स्वामी को जैन धर्म का प्रवर्तक, प्रचारक-प्रसारक मानते थे वह भी अब अपनी भूल सुधार रहे है। भगवान पार्श्वनाथ स्वामी भ. महावीर स्वामी से पूर्व हुए है, और भगवान पार्श्वनाथ स्वामी से पूर्व भ० नेमीनाथ स्वामी हुए है। भ० ऋषभदेव स्वामी सर्वप्रथम वर्तमान चौबीसी मे हुए है। यह सब मानते है और मानन लगे है।

श्रमण संस्कृति और वैदिक संस्कृति का प्रचार-प्रसार एक साथ हुआ है ऐसा बहुत से मनीषी मानते है लिखते है लेकिन जैन धर्म मे प्रधानता श्रमण सस्कृति की ह। अध्यात्मवाद उसका मूल धन है, उसी की उपसना भक्ति उसका भक्त करता है। भौतिकवाद से जैन धर्म धर्मात्मा की रक्षा करता है। भगवान ऋषभदेव व उनके बडे पुत्र चक्रवर्ति भरत तथा कामदेव बाहुबलि के पास भौतिक पदार्थो की क्या कमी थी लेकिन उन्हे रचमात्र भी सुख न मिला और मिला सघर्ष, कलह, विद्वेष तथा अलगाव।

उस धन और धरा का क्या उसे अपनो को अपनो से विलग कर दे और अपने धर्म बन्धुओ को विस्मरण करा दे उसे यदि कोई धर्म का प्रसाद कहे तो मात्र उसे बाचयालया बावला ही कहना चाहिए। क्योंकि उसने वात्सल्य धर्म और स्थितिकरण अग को समझा ही नही, जाना ही नही। वह तो मात्र भौतिकता का पुजारी है। भौतिक पदार्थो मे आनन्द मानने वाला ससारी है।

लेकिन अध्यात्मवाद का वेत्ता, श्रमण सस्कृति का उपासक शरीर को गुलाम बनाता है। स्वय उसके आधीन नही होता, वह शरीर से आत्म रक्षा करता हुआ पर की रक्षा मे तत्पर रहता है। छहखड का धनी हो, बलभद्र हो, नारायण हो, कामदेव हो कोई भी हो वह प्रतिक्षण अपनी सुध रखता है और दूसरे की सुध रखता हुआ जीवन यापन करता है। यदि अपनी सुध भूल जावे और बाहरी दुनिया मे ही खो जावे तो उसका जीवन भी भारमय तथा कष्टमय ससारी हो जाता है। अध्यात्मवाद की शरण मे वह जल से भिन्न कमल के समान रहता है। देश रक्षा, देश निर्माण, युद्ध विजय हार आदि सभी भोगता है और सभी षट् कर्म करता है पर उसमे रचता पचता नही है, उसे खिलाडी के समान खेल कर भूल जाता है और अपनी स्वय की दशा का बोध करके उस अनन्त ससार से हटना चाहता है जहा अनन्त काल से दु.ख भोगता आया है। उस दु.ख मे आनन्द लेता वह अपनी श्रमण परम्परा को एक क्षण भी नही भूलता और उसी की रक्षा व सेवा सम्भाल मे पुरुषार्थ करता रहता है। श्रमण

परम्पराओं में ग्रहस्थ औरमुनि का मार्ग जुदा-जुदा है ।श्रमण (मुनि) समस्त अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहो (मूर्च्छाओ) से रहित होता है, उसे अपने शरीर का भी बोध न रहना कि वह किस तरह है, उसे क्या खिलाया। कब खिलाया और कब पिलाया मात्र वह तो आत्मध्यानी, संयमी, तपस्वी और चरित्रधारी आत्म चिन्तन मे लीन रहता है। वन, पर्वत, गुफा, कदरा मे नदी के तीर या तीर्थ क्षेत्रों की भूमि अथवा कुछ समय को वसतिका आदि मे आकर निवास करते है। जाडा, बरसात, धूप की पीडा सहना, उपसर्ग सहना और आत्मध्यान मे लीन स्वयं का कल्याण करना तथा पर को धर्मोपदेश देकर सद्मार्ग पर लगना यही उनका पुरुषार्थ है यही उनका कर्म है।

वीतरागी निर्ग्रंथ दिगम्बर श्रमण सर्वत्र एकल विहारी संघस्थ ध्यानस्थ भगवान ऋषभ देव स्वामी के समय से इस भूमंडल पर कर्म भूमि के प्रारम्भ से बराबर विचरण कर रहे हैं और काल के अन्त तक विचरण करते रहेगे। साथ ही इन पर उपसर्ग भी आते रहे है आते रहेगे ऐसा भी सत्य है। इतिहास इसके साक्षी हैं। पर श्रमण परम्परा कायम रहेगी।

जब श्रमण रहेंगे तो उसके मानने वाले, पूजने वाले भक्त भी रहेंगे, ग्रहस्थ भी रहेगे इसे कोई नष्ट नही कर सकता। जिन्होंने इस वर्ग को नष्ट करना चाहा वह भले ही नष्ट हो गये पर यह ज्यो के त्यों किसी न किसी रूप मे विद्यमान रहे।

घानी मे पेले गये, कड़ाहों मे छोंके गये, भट्टियो मे भोंके गये, आरे से चीरे गये, नेत्रों पर लटकाये गये, सामूहिक वध किया गया और ऐलान किया गया कि वीतराग धर्म (जैन धर्म) का उपासक उसका गुरु और उसका बीज आर्यवर्त से लोप कर दिया गया" आदि। पर अहिंसा धर्म का उपासक उसका भक्त और उसका गुरु व उसका बीज किसी न किसी रूप मे विद्यमान रहा। भले, ही उसे भूमिगत रहना पडा हो, अपना भेष बदलना पडा हो, अपना रहना सहना बदलना पडा हो. पूजा पद्धति बदलनी पडी हो, अपने इष्ट देवताओ को भूमि की गोद मे छिपा देना पड़ा हो, उसने सदेव आतताईयो के जुल्म सहे और बलिदान दिये, पर अपने धर्म को, अपनी संस्कृति को और अपने शुद्ध खान पान, आचार-विचार को उसने न छोड़ा है, न छोडेंगे। यह ठीक है कि कुछ समय के लिए जैन धर्म लोपसा दिखने लगा था, पर वह भूमिगत था प्रगट समय पाकर पुनः हुआ।

भ० महावीर स्वामी के काल मे जैन धर्म पर बडे-बडे आघात हुए यह तो सर्व विदित है लेकिन भ० महावीर के अपने अपरिग्रहवाद ने, स्यादवाद सिद्धान्त न सभी को चुप कर दिया और वीतराग धर्म की गूंज विश्व मे गुंजा दी। बडे बडे वादीभ सामने आते ही अपना अभिमान छोड बैठे और मुख से यही उच्चारण किया कि "हे नाथ हम आपकी शरण मे है। आप ही मगल है, आप ही धर्म है आप ही उत्तम है और आपकी शरण ही हमारा धर्म हैं।" उस काल के स्वयं सुखी वेत्ता केवली सर्वज्ञ जब विपुलाचल पर रचे गये समोशरण की ओर भुके तब पता चला कि सर्वज्ञ कौन है? निर्ग्रंथ धर्म क्या है? वीतराग भाव क्या है? गुरु शिष्य कौन है। धर्म का चमत्कार और उसका रूप क्या है? आदि प्रश्नो का उत्तर स्वयं पा गये। अन्दर मे महिमा जागी पर बाहर से अभिमान न छोडा जिससे भटक गये चरण और चल पडे विपरीत दिशा को। जो मार्दव धर्म मे प्रविष्ट कर गये वह जा पहुंचे समोशरण मे और बन बैठे गणधर मन पर्यय ज्ञानी, केवली और मुक्ति गामी।

उसी पावन विहार की भूमि में, उसके पडोसी बंगाल और उड़ीसा मे, कण-कण जैन धर्म की गूंज

जहां गूंजती थी उसके विपरीत नर संहार और पशु वध, वलि और क्रियाकाड की गूज भी भटके चरणों के पथिकों द्वारा गूंज रही थी। हिंसा अहिंसा का द्वन्द एक साथ चलने लगा। जैसे भ० आदि नाथ (ऋषभ देव स्वामी) के समय मे बावा और पौते के मार्ग का प्रचलन चला था।

अहिंसा पर हिंसा सदेव हावी होती रही है पर जीत अहिंसा की ही होती आई है। कुछ समय को हिंसा अपना एक क्षेत्र राज्य करती है पर अहिंसा धीरे धीरे हिंसा का सिहासन हिला देती है और स्वयं विराज जाती है।

भ० महावीर के निर्वाण होते ही और उनके गणधरों का निर्वाण होते ही इस भूमंडल पर धर्म समाज जाति के नाम पर जो कत्ले आम हुआ उसे समय के भोगी तो जानते ही थे इतिहास, कारों ने भी नही भुलाया। सम्राट अशोक का कत्लेआम मचाना, जैनियो का वध करना, वैशाली के राज प्रासादो और राजकुमारो का वध करना, नर-नारियो का वध और भावी पीडी का वध आदि ऐसे कुकृत्य हुए जिन्हे पाकर सुनकर रोगटे खडे हो जाते है। फिर शंकराचार्य के आक्रमण, मुगलो के आक्रमण, शैवों का आक्रमण, और यहूदियो के आक्रमण आदि ऐसी दुर्घटनाये यहा के श्रावको को छिन्न भिन्न कर रही। धन्य है उन श्रावको को सराको को जिन्होंने अपनी समस्त सम्पत्तिया विपत्तियो के सामने त्याग दीं अपने परिवार के लोगो को मौत के मुह मे दे दिया। अपने बाल-बच्चो को धर्म की रक्षा मे बलिदान कर दिया। सभी कुछ त्याग किया लेकिन अपना पावन जैन धर्म (श्रावक धर्म) नही छोडा। अपने देवालयो की जिन मूर्त्तिया भोहरो (तहखानों) में छिपा आये। नदी, पहाडो की तलहटी मे जा बसे पर धर्म न त्यागा।

बिहार, बगाल, उड़ीसा इन तीन प्रान्तों मे यह श्रावक (सराक) ५ लाख की सख्या मे अभी भी विद्यमान है। इनकी रहन सहन खानपान आज भी शुद्ध है। इनके आचार विचार आज भी पवित्र है। इनकी बोल चाल आज भी सही व प्रमाणिक हैं। सभी खेतीहर हैं वह भी धान्य की उपज करने वाले हैं। भगवान ऋषभ देव द्वारा जो ग्रहस्थों की षट् कर्म करने का उपदेश था उसे आज भी यह लोग अक्षरश; पालन करते है। इन तीन प्रान्तो मे घूमने पर हमे ऐसा लगा मानो हम पुनः अपने बचपन में लौट आये हो। क्योंकि जो खाते हमारी मां हमारे जीवन में घर पर ढालती थी वह सभी यहा इस काल मे इस समय मौजूद है। हमे ऐसा लगा कि असली जैन यह है हमतो दिखावे मात्र है।

प्रात उठकर ऊं अर्हं ऊं नम सिद्धेभ्य ऊं जय जय, ऊं वीतरागय नमः ऊं देवाय नमः ऊं ब्रहमेयनम आदि का घर घर मे उच्चारण है। सूर्योदय के एक घंटा बाद नाश्तापानी शुद्ध होता है। जल छान कर पीते हैं। भोजन शाला की पवित्रता पूरी पूरी रखते है। वगैर स्नान किए भोजन पानी नही, न चौके मे स्त्री वगैर शुद्ध वस्त्र पहने जावेगी।

मुनियो का आहार समय पर जल से भरे कलश लेकर और वे पुरुष द्वार पर खडे होगे और जल छोड कर माथा झुका कर अन्दर जावेगे। घर के वयोवृद्ध पुरुष को प्रथम भोजन कराया जावेगा। चन्देवा घर घर मे बन्ध होगा।

प्याज, लहसुन, अभक्ष्य पदार्थों का सेवन नहीं है जहा वह सभी भोजन भी नहीं होता। पर्व तिथियो में उपवास, एकासन, नियम आदि का प्रचलन है। सामाजिक मर्यादा ये हैं जिनमें, साथ ही बाजार का भोजन नही लेंगे। अपनी जाति के भाइयों के हाथ का भोजन करेंगे।

तीर्थ क्षेत्रो की वन्दना का अंतिम लक्ष्य-श्री सम्मेद शिखर जी की यात्रा के बाद घरेलु कार्यों से मुक्ति ले लेते है मात्र आत्म चिन्तन करते हैं।

चोरी डाकेजनी भ्रष्ट चरित्र मे फसने नही और मुकद्दमे बाजी करते नही, पंचायत की आज्ञा प्रधान है। गुरुओ की सत्संगति करते हैं। रामायण महाभारत गीता आदि ग्रन्थों को ग्रन्थ मानकर पूजते हैं। जैन गुरुओ का सतसग युगो से नही मिला और और न कोइ विद्वान १६० वर्ष से उनके पास बीच मे शीतल प्रसाद जी सेठ बंजननाथ जी सरावगी कुछ स्थानो पर गये। बौद्ध गुरु वैशणव गुरु और शैव गुरु घूमते रहते है जैन नही। फिर भी उनके सस्कार जैन धर्म के विद्यमान है।

रात्रि मे जल भी नहीं लेते और कपडे रंगने वाले बंधु दिन मे रंग नीचे रख देते हैं (सूर्य छीपने से पूर्व)। गोत्र भी जिनके ऋषभ देव, आदि देव, धर्म देव अनंतदेव शान्ति दव, वासु पुज्य, गौत्तम शाडिल्य, भारद्वाज, आदि तीर्थकर गणधर ऋषियो पर है।

काटा, फाटा मार डाला आदि शब्दो को हिकारत की दृष्टि से देखते-सुनते है। सराको मे गुरु भक्ति अधिक है। यदि कोई व्रती एक बार भोजन करने वाला पहुचे तो उसकी इतनी प्रभावना वह लोग करते है कि सारा गाव गीत नाच मे लगता है। उसका उपदेश बडी तन्मयता से सुनते है वह चरित्रधारियो के उपासक है।

मेदनीपुर और कटक के ऐलक (अलक) जाति के श्रावक हैं। इनके गुरु मात्र एक अर्द्ध लगोटी रखते है। खडे होकर आहार पानी एक ही बार लेते है। मोर पिच्छिका (पखा) रखते है और एक नारियल का कमंडुल रखते हैं शिष्यों को शुद्ध लाल वस्त्र पहने देखा जाता है। दिन के प्रमाण से भोजन होता है। कोई भी भक्त रात्रि मे भोजन तो क्या जल भी ग्रहण नही करेगा। अष्टमी, चतुर्दशी, एकादशी पचमी को हरी सब्जी नही लेगे, और न अन्न ग्रहण करेंगे। मात्रदघ या गर्म जल लेंगे। अन्यथा निर्जल उपवास करेंगे। खडगिरि उदयगिरि की यात्रा अपने गुरु के साथ साल मे एक बार अवश्य करेंगे।

अतिथि सत्कार के स्वामी हैं। और वे ममतामयी धर्म का आभूषण है। शृंगार रहित मोटा खाना, मोटा पहिनना चरित्रार्थ की पालक है। व्यापार, नौकरी, डाक्टरी, वकीली, मास्टरी आदि खेती के बाद के धन्धे है। इनमे पुलिस अधिकारी, बैरीस्टर, वकीले, डाक्टर, प्रो० फेसर, मास्टर, व्यापारी आदि सभी है। फिर भी गरीब है कृषक है। भूमि मे जगह-जगहमूर्तिया दबी पड़ी है उनकी खोज सम्भाल होना आवश्यक है।

ऐसे सराको पर हजारो श्रावक वारे जाये तो भी तो थोड़े है। भगवान महावीर स्वामी के २५०० वे निर्वाण दिवस की पुण्य बेला मे जैन समाज अपने बिछुडे भाइयो को यदि गले लगावे और २० लाख रुपया इनके हेतु खर्चे करे तो वह दिन दूर नही जब हम अपनी खोई निधि को पालेंगे। मेरी लिखी चारो पुस्तको—(१) सराक बंधुओ के बीच (२) सरावक हृदय (३) जैन संस्कृति के विस्मृत प्रतीक (४) प्राच्य जैन सराक शोध कार्य से विशेष जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

हमतो यही सोचते हैं कि श्रावक (सराक) अब भी जैन धर्म मे विद्यमान है।

● ● ●

३५

जैन साहित्य एवं संस्कृति का केन्द्र राजस्थान

□ डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

राजस्थान के नाम के साथ वीरता, शौर्य देश-भक्ति एव आत्म बलिदान की कहानियां जुडी हुई है। मध्य काल मे इस प्रदेश ने देश का नेतृत्व ही नहीं किया किन्तु अपने पीछे ऐसे सस्मरण छोडे जिन्हे भारतीय इतिहास मे सदा एव सर्वदा स्मरण किया जाता रहेगा। वास्तव मे राजस्थान उन सपूतो का देश है जिन्होने मातृभूमि की रक्षा मे अपने प्राणो की कभी परवाह नही की। यह उन देश भक्तो का प्रदेश है जिन्होने अन्याय, अत्याचार एव अमानवीय कष्टो के आगे कभी झुकना अथवा आत्म समर्पण करना नही सीखा और देश हित को सर्वोपरि माना। महाराणा सागा, हम्मीर, महाराणा प्रताप, अमरसिंह जैसे वीर देश भक्तो को जन्म देने का गौरव प्राप्त किया किन्तु राजस्थान वीरता के साथ साथ साहित्य, कला एव भारतीय मे सस्कृति को जो आश्रय मिला वह किसी भी प्रदेश के लिये स्पृहणीय हो सकेगा। यहा के वीर तोपो की गड़गडाहट एव तलवारो की चकाचौध के मध्य मे भी साहित्य एव कला के विकास मे अपना योग देते रहे और अपने अपने दरबारो मे इनकी महत्ता को कभी कम नही होने दिया।

राजस्थान मे वैदिक एवं श्रमण संस्कृतिया साथ साथ रह करके भी खूब फली फूली। दोनो ही एक दूसरे का सहयोग लेकर अपने अपने विकास क्षेत्र मे आगे बढती रही। इस प्रदेश के इतिहास मे सम्भवत ऐसी कोई बडी घटना नही घटी जब धर्म एव सस्कृति के नाम पर इनके उपासको मे झगडा हुआ हो। यद्यपि यहा के शासक कभी जैन धर्माव-लम्बी नही रहे किन्तु उन्होने श्रमण सस्कृति में जितना अधिक योग दिया वह किसी भी इसी धर्म वाले शासक कम नही है। उदयपुर, जोधपुर, बीका नेर, जयपुर, बूदी एव जैसलमेर के राज्यो मे श्रमण सस्कृति एव साहित्य का खूब प्रचार हुआ और आज भी इन मे देशो उनके विकास के उज्वल अवशेष मिलते हैं।

राजस्थान को किसी तीर्थंकर की जन्म भूमि अथवा उसके पाच कल्याणको मे से किसी एक कल्याण की भी पावन भूमि बनने का सुयोग नहीं मिला किन्तु वर्तमान मे जैन समाज की प्रमुख खण्डेलवाल जाति का उद्गम स्थान होने का सौभाग्य मिला। खण्डेलवालो की ८४ जातियो का उत्पत्ति स्थान भी इसी के खण्डेला ग्राम को है। कविवर बखतराममाह ने इस सम्बन्ध मे बड़ा ही रोचक एवं ऐतिहासिक वर्णन दिया है। इसी तरह बघेरवाल जाति का प्रारम्भ बघेरा ग्राम मे हुआ माना जाता है। बघेरा ग्राम आज भी एक सुन्दर एव सास्कृतिक स्थान है। इसके चारो ओर बघेरवाल समाज की अच्छी संख्या है। डूंगरपुर के मन्दिर

में एक बघेरवाल जाति गोत्र छंद वाली लघु कृति उपलब्ध हुई है इसमे इसके ५२ गोत्रों का नाम देकर इनके उत्पत्ति का इतिहास पर भी कुछ पंक्तियां लिखी हैं–

विद्या बलि करि बात विचार
धर्म तणा उन्नति चितधार।
चित्रकोट की करि पयाण
आये गांव बघेरइ ठाण ॥
अमृतवाणी करे उपदेश प्रति
बोधणिपुर नगर निवेशा।
वैश्य वरण वस्टूला थ्यापणि
प्रतिषोध्या समकित धर्मधारिण ॥८॥
सांचो जैन धर्म समझायो
श्रावक मरम सुगति बतायो।
श्री जिन पूजा बहु विधि धारे
श्रा गुरुसेवा परउगारे ॥९॥
नाम बघेहर ग्राम थमाया
बघेरवाल तिणि जाति कहाया।
तेहना बावन गोत्र गुणाया
सुगुत नामे ते शास्त्र सुणाया ॥१०॥

पल्लीवाल जाति का उद्‌गम राजस्थान के प्रसिद्ध औद्योगिक नगर पाली से माना जाता हैं। इसी तरह जोधपुर के ओसिया ग्राम से ओसवाल जाति एव उपदेश कच्छ का उद्‌गम स्वीकार लिया गया है। यह उद्‌गम कोई ६८ वी शताब्दी से हुआ होगा। नागपुरीय तपागच्छ का अस्तित्व नागौर से प्रकट हुआ। इनके अतिरिक्त श्वेताम्बर जैन समाज के और भी कितने ही गण एवं गच्छ हैं जिनका उद्‌भव एव विकास राजस्थान मे हुआ। नरसिंहपुरा जाति का उद्‌गम स्थान भी राजस्थान ही है।

प्रमुख आचार्य

राजस्थान मे कितने ही जैनाचार्य हुए जिन्होने भारतीय सस्कृति एव विशेषतः जैन सस्कृति एव साहित्य की खूब सेवा की। "जम्बू द्वीप प्रज्ञाप्ति" के आचार्य पद्‌मनन्दि राजस्थानी थे और बारा नगर उनकी तपोवन भूमि थी। आचार्य हरिभद्र सूरि का चित्तोड से अत्यधिक सम्बन्ध था। आचार्य श्री ने जैन धर्म एवं साहित्य की जो महती सेवा की थी वह इतिहास के स्वर्ण पृष्ठों पर अंकित रहेगी। विद्वानो का अनुमान है कि केशोरायपाटन का पूर्व नाम आश्रम पत्तन था जहा पर दि० जैनाचार्य नेमिचन्द्र ने द्रव्य संग्रह की रचना की थी। इसी तरह अन्य कितने ही आचार्यों का राजस्थान से विशेष सम्बन्ध रहा है। सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान आशाधर का माडलगढ मे जन्म हुआ था। इन्होने जीवन भर संस्कृत साहित्य की सेवा और जिनयज्ञकल्प, सागार धर्मामृत, अनगारधर्मामृत, त्रिषष्टि स्मृति शास्त्र अध्यात्म रहस्य, भरतेश्वराभ्युदय, राजमती विप्रलभ एव काव्यालकार जैसे उच्चकोटि के ग्रन्थो की रचना की।। सस्कृत साहित्य का घर–घर मे प्रचार करने वाले तथा समाज को एक नयी दिशा प्रदान करने वाले जैन सन्त भट्टारक सकलकीर्ति ने ८ वर्ष तक भट्टारक पद्‌मकीर्ति के पास नैणवा मे गहरा अध्ययन किया था और फिर राजस्थान एवं गुजरात मे स्थान-स्थान पर भ्रमण करके २५ से भी अधिक ग्रन्थो की रचना की। इन्होने साहित्य सेवा के प्रति जन साधारण एव साधु वर्ग मे इतनी जबरदस्त रूचि पैदा की जिससे इनके पीछे ३०० वर्षो तक विशाल साहित्य का निर्माण होता रहा। आज जो राजस्थान के ग्रन्थ सग्रहालयो मे इतनी अधिक संख्या में ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उसमे भट्टारक सकलकीर्ति का प्रमुख योगदान है। सकलकीर्ति के पश्चात् ब्रह्म जिनदास, आचार्य सोमकीर्ति, भट्टारक ज्ञानभूषण

भ० विजयकीर्ति, ब्रह्म बूचराज, संतकवि यशोधर भट्टारक शुभचन्द्र, सन्त शिरोमणी वीरचन्द्र, सुमतिकीर्ति, कुमुदचन्द्र एवं भ० रत्नकीर्ति के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। वास्तव मे इन सन्तों ने संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य में सैंकड़ो रचनायें लिख कर जनसाधारण में स्वाध्याय की रुचि बनाये रखी। अपभ्रंश के प्रमुख विद्वान महाकवि हरिषेण एवं धनपाल दोनों ही राजस्थानी कवि थे और इन विद्वानों ने धम्मपरिक्खा एव भविसयत्त कहा जैसी उच्चकोटि की रचनाये लिख कर अपभ्रंश साहित्य की ही सेवा नही की किन्तु भविष्य मे होने वाले साहित्य निर्माताओं के लिये भी एक नई दिशा प्रदान की। राजस्थान की वीरभूमि में होने वाले हिन्दी एव संस्कृत के विद्वानों की तो एक लम्बी सूची तैयार की जा सकती है। वास्तव मे समस्त जैन समाज मे जितने भी हिन्दी के विद्वान् हुए उनमे से आधे से अधिक विद्वानो ने राजस्थान प्रदेश को सुशोभित किया। कविवर छीहल, ठक्कुरसी, बूचराज, छीतर ठोलिया, ब्रह्म रायमल्ल, आनन्द धन, हेमराज, जोधराज गोदीका, किशनसिंह दौलतराम कासलीवाल, ऋषभदास निगोत्या, महापंडित टोडरमल, जयचन्द छाबडा, अजयराजपाटनी ब्रह्म रायमल्ल, दिलाराम, दीपचन्द कासलीवाल, सदासुख कासलीवाल आदि सभी राजस्थानी विद्वान् थे। इसके अतिरिक्त गत सौ वर्षों मे भी राजस्थान मे कितने ही विद्वानों ने जन्म लेकर मां भारती की अपूर्व सेवा की और जिनकी सेवाओं पर समूचे देश को गौरव है। इनमें श्रद्धेय पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ की साहित्यिक सेवायें महत्वपूर्ण हैं। उनका अकेला जैन दर्शनसार ही एक ऐसी कृति है जिसकी तुलना में सस्कृत भाषा का गत २०० वर्षों मे दर्शन का ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया।

राजस्थान में रचित साहित्य

अभी मैंने पहिले राजस्थान में होने वाले आचार्यों एव विद्वानों को साहित्यिक सेवाओं का उल्लेख किया था। इन आचार्यों एवं विद्वानों ने राजस्थान प्रदेश में ही रह कर जो साहित्य का नव निर्माण किया और अपनी कृतियों से ग्रंथ संग्रहालय को आप्लावित किया वह अत्यधिक प्रशंसनीय है। प्राकृत भाषा की महत्वपूर्ण कृति जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति का निर्माण संवत ८०५ में वारां नगर में हुआ। पडित राजमल्ल ने समयसार की हिन्दी टीका राजस्थान के बैराठ नगर में समाप्त की थी। इसी टीका को देखकर महाकवि बनारसी दास ने समयसार नाटक की रचना करने की ओर प्रवृत हुए। बनारसीदास ने अपने समयसार नाटक मे राजमल्ल के प्रति निम्न शब्दों में कृतज्ञता प्रकट की हैं।

"पाण्डे राजमल्ल जिन धर्मी
समयसार नाटक के मर्मी"
तिन्हि ग्रंथ की टीका कीनी
बालावोध सुगम कर दीनी।

इसी तरह नगर में ही भट्टारक सोमसेन ने संस्कृत के पद्मपुराण की रचना समाप्त की थी। भट्टारक नरेन्द्र कीर्ति के शिष्य पं. जगन्नाथ ने नक्षकगढ मे कितने ही ग्रथो का निर्माण किया। हिन्दी की तो सैंकडों रचनायें राजस्थान के विभिन्न भागों मे लिखी जाती रही। हिन्दी काव्यों के लिए १७वी शताब्दी तक बागड प्रदेश रचना भूमि रही उसके पश्चात हिन्दी रचनाओ की प्रमुख रूप से आमेर, सांगानेर, टोडाराय सिंह, बसवा, जयपुर, अजमेर, नागौर, बूंदी, उदयपुर, जालौर, सौजत आदि नगर केन्द्र बन गये और यहीं से सारे देश के लिए साहित्य सर्जना होती रही। कविवर दौलत राम एवं महापडित टोडरमल के पश्चात् तो जयपुर

ही सारे भारत का साहित्य सर्जन का केन्द्र बन गया और १०० वर्ष तक इसके समकक्ष कोई भी नगर स्थान नही ले सका। ब्रह्म रायमल्ल ने भविष्यदत्त तक को सागानेर मे, श्रीपालरास को गढ रणथम्भोर में परमहंस, चौपई को तक्षकगढ मे एवं प्रद्युम्न राम को गढ हरसोर मे निर्माण करके राजस्थान के विभिन्न नगरो मे साहित्यिक सस्थाये खोली जिनके माध्यम से साहित्य का नव निर्माण होता रहा। कविवर दौलतराम ने बसवा, उदयपुर एवं जयपुर को अपना साहित्यिक क्षेत्र बनाया। उन्होंने अपने पुन्यास्त्रव कथाकोश, आदिपुराण, पद्मपुराण, हरिवंश पुराण, अध्यात्म बारहखडी, श्रेणिक चरित, एव श्रीपाल चरित के माध्यम से देश मे एक नयी साहित्यिक क्रान्ति को जन्म दिया। जनता इनके नये-नये ग्रंथों की बाट जोहा करती थी और जैसे ही ग्रंथ समाप्त होता उस समय सैंकडो हस्तलिखित प्रतिलिपिया तैयार होकर देश के विभिन्न प्रदेशो मे भिजवा दी जाती थी। यही माग महापडित टोडरमल जी के ग्रन्थो की थी। उनका उनका 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' जयपुर नगर की नयी देन थी। जयपुर मे से ही रहते हुए उहोने इस ग्रंथाधिराज को लिखना प्रारम्भ किया था। इस ग्रंथ की लोक प्रियता इतनी बढ़ी कि उस समय छापे खाने के अभाव मे इसकी प्रतियां देश के विभिन्न शास्त्र भण्डारो मे पहुंचा दी गई। चारों ओर उसका स्वाध्याय होने लगा। इस प्रकार उनके आगे की करीब १०० वर्षों की साहित्य निर्माण की बडी तीव्र गति रही और जयपुर नगर को दीपचन्द कासलीवाल, सदासुख कासलीवाल, पन्नालाल चौधरी, पारसदास निगोत्या, केशरसिंह, जयचन्द छाबड़ा आदि जैसे विद्वानों को आश्रय देने का सौभाग्य मिला। १८ शताब्दी में कविवर नेमीचन्द ने आमेर मे हिन्दी गद्य पद्य में नेमिनाथ रास की रचना करके सारे हिन्दी जगत का नेतृत्व किया।

भट्टारकों की गादियां

१५वीं शताब्दी से लेकर १८वी शताब्दी तक भट्टारक युग का स्वर्ण काल रहा। इन वर्षों मे भट्टारको ने अपनी अपनी ज्ञान साधना एवं तपस्या के द्वारा देश मे एक नये युग का सूत्रपात किया। समाज एव देश में नये-नये सास्कृतिक कार्यक्रम स्वीकार किये गये। वास्तव मे मध्ययुग मे श्रमण सस्कृति के ये भट्टारक ही एक मात्र प्रतिनिधि थे। इन वर्षों मे भट्टारक ही आचार्य, उपाध्याय एव सर्वसाधु के रूप मे जनता द्वारा पूजित थे। ये भट्टारक प्रारम्भ मे नग्न होते थे। भट्टारक सकल कीर्ति को निर्ग्रंथराज कहा गया है। भ. सोमकीर्ति अपने आपको भट्टारक के स्थान पर आचार्य लिखना अधिक पसन्द करते थे। भ. वीरचन्द महाव्रतियों के नायक थे। उन्होने १६ वर्ष तक नीरस आहार का सेवन किया था। आवा में भट्टारक शुभचन्द्र, जिनचनन्द्र एवं प्रभाचन्द्र की जो निषेधिकाएं है वे तीनो ही नग्नावस्था की है। राजस्थान मे इन भट्टारको की कितने स्थानो मे गादिया थी। इनमे आमेर, नागौर, आमेर, डूगरपुर, सागवाडा, उदयपुर, ऋषभदेव, बोली बैराठ, फतहपुर, जयपुर, श्रीमहावीरजी आदि स्थानो मे इनकी प्रमुख गादिया थी। आमेर की गादी भ. देवेन्द्रकीर्ति ने स्थापित की और इसके पश्चात इस गादी पर कितने ही भट्टारक हुए। आमेर से इस गादी का केन्द्र जयपुर एव अन्त मे श्री महावीरजी मे स्थापित हुआ। इस गादी के अन्तिम भट्टारक का अभी ३ जून सन् १९६९ को स्वर्गवास हुआ। नागौर गादी की स्थापना सवत १५८१ में भ० रत्नकीर्ति के पट्टाभिषेक से प्रारम्भ हुआ। रत्नकीर्ति की शाखा मे कितने ही भट्टारक हुए। भ० देवेन्द्र कीर्ति नागौर गादी के अन्तिम भट्टारक हैं, जिनका अभी

कुछ समय पूर्व ही स्वर्गवास हुआ है। अजमेर की भट्टारक गादी सर्वाधिक प्राचीन है। सर्व प्रथम भ. अनन्तकीर्ति का उल्लेख आता है जो सवत १२६४ मे अजमेर पद पर बैठे थे। इनके पश्चात् वहा और भट्टारक हुए। वास्तव मे ११वी शताब्दी से १७वी शताब्दी तक अजमेर का अत्यधिक महत्व रहा और यहा पर होने वाले भट्टारको ने श्रमण सस्कृति की करने रक्षा मे अपना अपूर्व योग दिया। आज भी वहा भट्टारक गादी है। उधर डूंगरपुर, सागवाडा, गलियाकोट एवं ईडर में अनेक भट्टारक हुए। बागड प्रदेश के भट्टारको मे भट्टारक सकलकीर्ति सबसे प्रसिद्ध थे। इनके पश्चात ये भट्टारक ईडरशाखा, भानुपुर शाखा सूरत शाखा आदि विभिन्न शाखाओ मे विभाजित हो गये और राजस्थान एवं गुजरात मे साहित्य एव सस्कृति की महान् सेवाये की। भ. ज्ञान भूषण, शुभचन्द्र, कुमुदचन्द्र, रत्नकीर्ति, विजयकीर्ति, सोमकीर्ति, ज्ञानकीर्ति जैसे समर्थ भट्टारकों का जीवन निर्माण इन्ही भट्टारक गादियों में हुआ जिन्होने ग्राम नगर एवं प्रदेश विहार करके जनता को आध्यात्मिक खुराक के साथ साहित्यिक क्षेत्र में कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया। वास्तव में इन्ही भट्टारकों की कृपा एवं आशीर्वाद से ब्रह्म जिनदास, ब्र. रायमल्ल पाण्डे राजमल्ल, पं. जगन्नाथ, महाकवि रइधू, बूचराज, नेमिचन्द्र, अजयराज पाटनी, बख्तराम साह जैसे साहित्य सेवियों को तैयार कर सके।

ग्रंथ भण्डार

राजस्थान अपने ग्रन्थ भण्डारो के लिए भी प्रसिद्ध है। यहा के शासको एव सामान्य जनो ने दोनों ने ही ग्रन्थों की सुरक्षा की ओर ध्यान दिया और अपने-अपने नगरों में राज्यस्तर एवं जनस्तर पर ग्रन्थ भण्डारो की स्थापना की गई। राजस्थान में दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही समाजों ने एव उसके साधुओं ने इन ग्रन्थ संग्रहालयों की ओर विशेष ध्यान दिया। दिगम्बर समाज के भट्टारक एव श्वेताम्बर समाज के श्री पूज्य एव यतियो ने अपने-अपने केन्द्रों में ग्रन्थ भण्डारो की स्थापना की और उनमे बिना किसी भेद भाव के अपनी ज्ञान पिपासा को शान्त करने एवं जगत् को ज्ञान दान देने की दृष्टि से इन भण्डारो मे सभी विषयों के ग्रन्थों का संग्रह किया। इन्ही साधुओ एव विद्वानो की कृपा से आज राजस्थान ग्रन्थ भण्डारो से भरा पड़ा है। छोटे-छोटे गावो तक में इन भण्डारो की स्थापना की हुई है। ये ग्रन्थ भण्डार जयपुर, अजमेर, नागौर, जैसलमेर, बीकानेर, जोधपुर, भरतपुर, डीग, कामा, टोडारायसिंह, उदयपुर, डूगरपुर, ऋषभदेव, फलोदी, आहोर, मोजमाबाद, किशनगढ, कुचामन, सीकर, फतेहपुर, सवाईमाधोपुर, कोटा, बूदी, नेणवां, दबलाना आदि न जाने कितने कस्बो एव नगरो मे ये ग्रन्थ भण्डार स्थापित किये हुए हैं। मैंने अपने शोध प्रबन्ध लिखने के प्रसंग मे राजस्थान के १०० भण्डारों का अध्ययन किया, उनकी सूचिया तैयार की और अप्रकाशित एव महत्वपूर्ण ग्रन्थों के नोट्स आदि लिए। लेकिन अभी राजस्थान मे इतने ही भण्डार और होगे जिनको अभी किसी भी विद्वान द्वारा नही देखा जा सका है और हो सकता है उनमे साहित्य कितनी ही अमूल्य निधिया छिपी पडी हों। राजस्थान मे अकेले जैन ग्रन्थ सग्रहालय मे ३ लाख से कम पाडुलिपिया नही होगी।

इन भण्डारों मे ताडपत्र, कागज पर, कपड़े पर एवं लकडी के पुट्ठो पर लिखे हुए ग्रन्थ मिलते हैं। ताडपत्र पर सबसे अधिक जैसलमेर के भण्डारों में हैं तथा कागज पर सबसे अधिक ग्रन्थ नागौर के भट्टारकीय भण्डार मे है। वास्तव मे यह भण्डार ज्ञान के अपूर्व भण्डार हैं जिसमे विभिन्न विषयों पर लिखी हुई १५ हजार से भी अधिक पान्डुलिपिया सग्रहीत है।

प्राचीनता की दृष्टि से इन भण्डारों में जैसलमेर, नागौर एवं अजमेर के शास्त्र भण्डार सर्वाधिक प्राचीन हैं। जैसलमेर के वृहद् ज्ञान भण्डार की स्थापना सवत् १४९७ में जिनभद्र सूरि द्वारा की गई थी। नागौर का शास्त्र भण्डार रत्नकीर्ति द्वारा संवत् १५८१ मे स्थापित किया गया था एवं अजमेर मे यह भण्डार १३ वी शताब्दी मे ही स्थापित हो चुका था। जयपुर नगर के ग्रन्थ भण्डार पहिले आमेर एवं सांगानेर के विभिन्न मन्दिरों मे थे और जयपुर नगर की स्थापना के साथ-साथ इन ग्रन्थों का भी स्थानान्तरित हो गया। राजस्थान के इन जैन ग्रन्थ भण्डारों मे ताडपत्र पर सवत ११५७ की ओघनिर्युक्ति वृत्ति तथा कागज पर संवत १३२८ की पंचास्तिकाय की सर्वाधिक प्राचीन पान्डुलिपियां हैं। ये शास्त्र भण्डार ज्ञान के अथाह सागर हैं और इनमे जितनी अधिक डुबकिया लगायी जावेगी, उतनी ही रत्नो के रूप मे नयी-नयी कृतियां उपलब्ध होंगी।

प्राचीन एवं कलापूर्ण मन्दिर

राजस्थान साहित्यिक दृष्टि से तो अत्यधिक समृद्ध है ही किन्तु पुरातत्व, मन्दिर निर्माण कला एव मूर्तिकला की दृष्टि से भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यहा के विशाल मन्दिरो को देखकर कोई भी दर्शनार्थी मुग्ध हुए बिना नही रहेगा। यदि हम राजस्थान को मन्दिरो का प्रदेश भी कह दें तो कोई अत्युक्ति नही होगी। आबू, चित्तौड, जालौर, रणकपुर, केशरियानाथ, सागानेर, आमेर, जैसलमेर, बूंदी, जयपुर, अजमेर के जैन मन्दिर अपनी स्थापत्य कला एव शिल्पकला की दृष्टि से अद्वितीय हैं। इनमे आबू एवं रणकपुर के मन्दिर तो संसार के आश्चर्यों मे से हैं। इनमें कलाकारों ने अपनी आत्मा ही उडेल के रख दी हैं। इन मन्दिरों के विषय मे प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल जेम्स टांड ने लिखा हैं "मैं ढूंढता था वही मिल गया।" रणकपुर के वे मन्दिर में जो कला है वह तो आबू के मन्दिरों से भी उत्कृष्ट है। इसमे एक हजार से भी अधिक कला पूर्ण स्तम्भ हैं और जिनमे कला स्वयं दर्शकों के साथ बात करती है। सांगानेर संघी जी का मन्दिर १८ वी शताब्दी में निर्मित हुआ था। इसके शिखर, बाहर के चौक, दरवाजा, अन्दर की वेदी एव दक्षिण और उत्तर की ओर जो वेदिया हैं और उनमे जिस रूप मे कला पूर्ण काम हैं उससे ऐसा लगता है कि मानों यह मन्दिर कलाकार की सबसे अद्भुत एवं मनोरम कृति है। जयपुर नगर के विशाल मन्दिरों को देखकर कौन मुग्ध नही होगा। यहां के सिरमोरियां के मन्दिर की वेदी एव चौक में जिन कला के दर्शन होते हैं वह तो आजकल के कारीगरों के लिए मानो एक चुनौती है। आमेर का कीर्तिस्तम्भ, चित्तौड़ का कीर्ति-स्तम्भ एव ऋषभदेव के मन्दिर के शिखर भी अपनी कला के लिए राजस्थान भर मे प्रसिद्ध हैं। जयपुर मे खानियो का जो विशाल मन्दिर है उसके निर्माण को देखकर सभी दर्शकों को एक बार ऐसा आभास होता है कि मानो वे किसी स्वर्ग मे आ गये हों।

प्रमुख आन्दोलन

राजस्थान समाज के प्रमुख आन्दोलनो का भी केन्द्र रहा है। दिगम्बर समाज में जो तेरहपंथ आन्दोलन चला और जिसके माध्यम से सम्पूर्ण समाज मे कितने ही सुधार हुए। जिसे समाज के विद्वत् वर्ग का सर्वाधिक समर्थन मिला तथा महाकवि बनारसीदास, प० हेमराज, जोधराज गोदीका, महापण्डित टोडरमल, भाई रायमल्ल, जयचन्द छाबड़ा एवं सदासुख कासलीवाल जैसे उच्चस्तरीय विद्वानों ने जिसके प्रचार एवं प्रसार में सर्वाधिक योग दिया। वैसे यह आध्यात्मी मत के नाम से

आया। आगरा में महाकवि बनारसीदास का बड़ा प्रभाव था और यह आध्यात्मी मत के नाम से प्रसिद्ध होने लगा। वैसे इसका मुख्य स्थान कामा था। इसके पश्चात यह सांगानेर में आकर जमा और भट्टारक नरेन्द्र कीर्ति के समय में इसका अत्यधिक जोर बड़ा। महापण्डित टोडरमल के पश्चात तो इसको इतना बल मिला कि यह थोड़े से ही समय मे समस्त उत्तरी भारत मैं फैल गया।

इसी तरह श्वेतांबर समाज में जो तेरह पंथ सम्प्रदाय चला और जिसके श्री तुलसी गणि आज-कल प्रमुख आचार्य हैं उसका उद्गम स्थान भी राजस्थान ही है। सर्व प्रथम आचार्य श्री भीखण जी महाराज ने इस सम्प्रदाय की स्थापना राजस्थान में ही की थी। आचार्य श्रीभीखण जी के स्वर्गवास के पश्चात जितने भी आचार्य बने उनमें अधिकाश राजस्थान प्रदेश के ही है।

उक्त दो प्रमुख आन्दोलनों ने तो समाज को दो विचारधाराओ में ही विभक्त कर दिया और दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही समाजो में ही तेरहपंथ विचारधारा की नीव हमेशा के रख दी गयी। श्वेताम्बर समाज मे तो तेरहपंथ एक सम्प्र-दाय के रूप मे ही प्रगट हुआ जिसके अनुयायी सारे देश में फैले हुए हैं।

प्रमुख अतिशय क्षेत्र

यद्यपि राजस्थान में २४ तीर्थंकर में किसी भी तीर्थंकर का जन्म, तप, ज्ञान एव निर्वाण कल्याणक नही मनाया गया। और न किसी भी तीर्थंकर ने अपनी चरण रज से इस प्रदेश को पावन किया फिर भी यहां कितने ही अतिशय क्षेत्र है जिनकी कीर्ति प्रसिद्धि एवं लोकप्रियता सारे देश मे विख्यात है। ऐसे क्षेत्रों में दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। यह एक-ऐसा क्षेत्र है जहां प्रति-वर्ष लाखो की सख्या में यात्रीगण आते हैं। देश का धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त जहां सैकड़ो वर्षों पहिले से ही जीवन में उतारा जा रहा है। अति-शय चादखेडी का अभ्युदय सवत १७४६ में हुआ। इस समय यहा हजारो की संख्या में मूर्तियां प्रतिष्ठापित हुई थी जो आज राजस्थान के विभिन्न मन्दिरों मे विराजमान है। नदी के किनारे पर स्थित यहां का मन्दिर अत्यधिक विशाल एवं सुन्दर है। अतिशय क्षेत्र ऋषभदेव की प्रसिद्धि सारे भारत में व्याप्त है। यहा का विशाल मन्दिर शिखर एवं भगवान आदिनाथ की प्रतिमा दर्शनार्थियो को अपनी ओर आकृष्ट करती है। उक्त दोनो के अतिरिक्त दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र पद्मपुरा, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र तिजारा, अतिशय क्षेत्र चमत्कार जी नस सवाईमाधोपुर आदि और भी क्षेत्र है जिन्हे हम श्रमण संस्कृति के केन्द्र कह सकते है।

प्रमुख नगर

राजस्थान के सभी प्रमुख नगर जैन साहित्य एवं संस्कृति के केन्द्र है। जहा के रहने वाले जैनो की संख्या भी देश के अन्य नगरो की अपेक्षा अत्य-धिक है। जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर, अजमेर, बूंदी, कोटा, नागौर, लाडनू, सुजानगढ, सरदारशहर, भरतपुर, सीकर आदि कुछ ऐसे नगर हैं जिनमें बडी बडी जैन बस्तियां हैं और जिनके आधार पर राजस्थान मे इस संस्कृति की लोकप्रियता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

नर्मदा घाटी में—
जैन संस्कृति का एक अज्ञात केन्द्र

☐ प्रो० भागचन्द जैन, भागेन्दु

वर्तमान मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ सम्भाग मे भारतीय इतिहास, कला और संस्कृति की अनेक अनुपम निधिया अब भी अछूती हैं। शहडोल जिला इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। शहडोल जिले मे पर्यटन करने का अवसर मुझे मिला है और इसी सन्दर्भ मे मैने एक महत्त्वपूर्ण स्थान का पर्यवेक्षण किया।

शहडोल जिले मे, दक्षिण-पूर्वी रेलवे के अनूपपुर जंकशन से चिरमिरी जाने वाली ब्राञ्च लाइन पर कोतमा एक महत्त्वपूर्ण एवं समृद्ध व्यापारिक और राजनैतिक केन्द्र है। कोतमा रेलवे स्टेशन से पाच मील पूर्व की ओर "किवई" नामक रमणीय नदी बहती है। इस नदी के तट पर अनेक महत्त्वपूर्ण प्राचीन स्थान होने की सूचनाए मुझे स्थानीय लोगो से मिली। उनमे से एक स्थान का सर्वेक्षण मैने किया है, वह यहा प्रस्तुत है:—

कोतमा से पांच मील पूर्व मे किवई नदी के तटवर्ती प्रदेश को अब रण्डही और गडई नामो से पुकारा जाता है। 'रण्डही' अरण्य का और गडई गढ़ी का अपभ्रंश हो सकता है। कदाचित् पहले इस स्थान पर कोई गढ़ी (छोटा किला) रही होगी, जो अब ध्वस्त हो गई है। वर्तमान मे इस तटवर्ती प्रदेश को अरण्य सज्ञा सरलता से दी जा सकती है। यह स्थान निकटवर्ती ग्राम-चन्दोरी से एक मील पूर्व मे, ऊरा से एक मील उत्तर पश्चिम मे तथा कठकोना से एक मील दक्षिण-पश्चिम मे किवई नदी के पूर्वी तट पर है। इस स्थान का चारो ओर काफी दूर तक पर्यवेक्षण किया। लेखक का दृढ विश्वास है कि प्राचीन काल मे यह एक समृद्ध केन्द्र था। प्राचीन नागरिक सभ्यता के अवशेष पर्याप्त मात्रा मे अब भी यत्र-तत्र दिखाई देते है। ताबे तथा लोहे की प्राचीन वस्तुए, पकी मिट्टी के खिलौने तथा गृहोपयोगी पत्थर आदि की वस्तुए भूमि के अन्दर तथा ऊपर प्रचुरता से प्राप्त होती है। यदि इस स्थान पर उत्खनन कार्य कराया जाय तो निश्चित ही नई सामग्री उपलब्ध होगी। यहा उपलब्ध कलाकृतियाँ और पुरातात्विक अवशेषो से यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि इस प्रदेश मे शैव और जैन धर्मो का अच्छा प्रभाव था।

यद्यपि शैव धर्म से सम्बन्धित शिवलिंग ही यहा उपलब्ध होते है जबकि जैन-तीर्थंकर-मूर्ति यहा विशेष कही जा सकती है। प्रस्तुत निबन्ध मे इस प्रदेश मे विशेषरूप से प्रसिद्ध और मान्यता प्राप्त एक जैन तीर्थंकर प्रतिमा का विश्लेषण उपस्थित किया जा रहा है।

प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभनाथ की यह अत्यन्त सुन्दर और प्राचीन प्रतिमा इस प्रदेश में "ठाकुर बाबा" के नाम से विख्यात है। वर्तमान में यह

एक बेल के वृक्ष के निकट नवनिर्मित चबूतरे पर विराजमान है। यह चबूतरा सम्प्रति दो फुट तीन इंच ऊंचा, छह फुट नौ इंच लम्बा और आठ फुट तीन इंच चौडा है। इसी चबूतरे के मध्य मे कुछ पुराने मूर्तिखण्डों और अन्य शिलाखण्डों के सहारे उक्त तीर्थंकर प्रतिमा टिकी हुई है।

भगवान् ऋषभनाथ की यह प्रतिमा किंचित् हरित् वर्ण, चमकदार काले पाषाण से निर्मित है। यह पत्थर वैसा ही है जैसा कि खजुराहो की मूर्तियो के निर्माण मे प्रयुक्त हुआ है। मूर्तिफलक की ऊंचाई दो फुट तीन इंच, चौडाई एक फुट दो इंच तथा मोटाई छह इंच है। पद्मासनस्थ इस जिन प्रतिमा के छह इंच ऊंचे पादपीठ में (दोनो ओर) शार्दूलो के मध्य झूलती हुई मणिमाला के बीचो बीच तीर्थंकर का लाञ्छन वृषभ बहुत सुन्दरता से अंकित है। इसके ऊपर बाये एक श्रावक दाये एक श्राविका अपने हाथो मे फल (कदाचित् नारियल) लिए हुए भक्तिविभोर और श्रद्धावनत हो उठे है। कदाचित् ये आकृतिया मूर्ति-समर्पको या प्रतिष्ठापको की होगी। पादपीठ मे ही दाये गोमुख यक्ष तथा बायें चक्रेश्वरी यक्षी की लघु आकृतिया अंकित है।

पादपीठ पर से मुख्य मूर्ति एक फुट तीन इंच ऊंची एवं एक दो इंच चौडी है। मूर्ति मे श्रीवत्स का लघु आकार मे अंकन, कंधो तक लटकती हुई केशराशि तथा पृष्ठभाग में चक्राकार भामण्डल विशेष उल्लेनीय है। मूर्ति के शिरोभाग पर क्रमश तीन छत्र इस भव्यता और चारुता से उत्कीर्ण किये गये हैं कि उनमे गुंथा हुआ प्रत्येक मणि साकार हो उठा है। छत्रत्रय के दोनो पार्श्वो मे भगवान का मानों अभिषेक करने हेतु अपने शुंडादडों मे कलश लिए हुए, अत्यन्त सुसज्जित गजराजों का मनोरम निदर्शन दर्शकों का मन सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है।

मुख्य मूर्ति क उभय पार्श्वों में अशोकवृक्ष के नीचे तीन-तीन इंच की दो-दो (प्रत्येक ओर) तीर्थकर मूर्तिया और भी अंकित है। इन सबके पृष्ठ भागो मे प्रभामण्डल तो है ही, कंधों पर केशराशि भी दिखाई गई है।

यद्यपि इस मूर्ति पर कोई लेख नहीं है तथापि समसामयिक कला और मूर्तिगत विशिष्ट लक्षणों के आधार पर इसका निर्माण काल ईस्वी सातवी आठवी शती प्रतीत होता है। इस समय महाकोशल मे जैनधर्म एक शक्तिशाली धर्म के रूप मे समाहृत था और कलचुरि वश के शासकों ने इसे पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान किया था। विवेच्य प्रदेश कलचुरियो की राज्यसीमा मे विद्यमान था।

दुःख का विषय है कि कुछ वर्ष पूर्व किसी पागल ने इसे खण्डित कर दिया। किन्तु मूर्ति के तीनो खण्ड सुरक्षित है तथा अच्छी स्थिति में है।

यद्यपि इस मूर्ति के आसपास के ग्रामों मे अब एक भी जैन नही है। तथापि उस प्रदेश को जैनेतर जनता इसे बहुत श्रद्धा और भक्ति के साथ पूजती है। प्रत्येक मंगलकार्य के प्रारम्भ में वे बहुत आदर के साथ इसे स्मरण करते है तथा यथाशक्ति घी, दूध, नारियल, सुपाडी, फूल, फल तथा अगरबती अर्पित करते हैं। नौदुर्गा के अवसर पर एक बडे मेले का आयोजन भी यहा होता है। इस मूर्ति के महत्व के सम्बन्ध मे निकटवर्ती ग्राम कठकोना के प्रमुख, भूतपूर्व जमींदार का जबानी व्यक्तव्य सुनिए, जो अपने पूरे गाव की ओर से इस मूर्ति की उपासना करने आया था। उसी के शब्दों में प्रस्तुत है :—

"हमारा गांव झुरनू बलद काशीराम है। मोर उमर ६५ साल की है। हम ई गांव के जमींदार

आहन । ई मूरत की पूजन हमी करत हन । रोट, नरियल, दम कथा गाव वारन की तरफ से टैम-टैम से होत रहत हैं । आसपास के गावन के लोग हर सुम्मवार को इकट्ठे होकर फल, फूल, दूध, घी चढाते हैं, भक्तें गावत है । ई देवता जीव नही मागता । ए ही देव हमारे गाव का रक्षक है ।"

इस वक्तव्य के समय उसकी श्रद्धा पद पद पर टपक रही थी । गाव मे पहुचने पर अन्य लोगो से वार्ता में उक्त तथ्यों की पुष्टि पाई । इस मूर्ति से करीब एक फर्लांग दूर एक प्राचीन मन्दिर के अवशेष भी है ।

किवई नदी के तट पर ही अन्यत्र, कोतमा से करीब दो मील दूर एक शिलालेख उत्कीर्ण होने की सूचनाएं भी प्राप्त हुई हैं । यदि किवई नदी के तटवर्ती प्राचीन स्थानों का सर्वेक्षण और आवश्य-कतानुसार उत्खनन कराया जाये तो प्राचीन कौशल, विशेष रूप से छत्तीसगढ के इतिहास पर नया प्रकाश पडेगा । क्योकि किवई नदी तथा कोतमा दोनो ही अमरकटक के सन्निकट हैं । अत इस नर्मदाघाटी का सर्वेक्षण अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा ।

●●●

हिसा

हिसा बिना नही होता है धन का संग्रह,
अत अहिसक मानव त्यागे सारे परिग्रह ।

—अर्हत्

३७

दिल्ली के जैन मंदिरों संबन्धी महत्वपूर्ण विवरण

☐ अगरचन्द नाहटा

जैन धर्म का प्रचार तीर्थंकरो और आचार्यों आदि ने किया पर मुनिजनो का सब समय सब जगह पहुचना सम्भव नही होता और धर्म प्रचार का विषय ऐसा है कि थोडी-सी छूट मिल गई या लम्बा समय यो ही चला गया तो लोगों मे शिथिलता आ जाती है इसीलिये धर्म को पांगले की उपमा दी है कि वह स्वय चल नही पाता उसे चलने के लिए किसी के सहारे की जरूरत होती है। सस्कृत मे भी कहा गया कि 'न धर्मो धार्मिकै विना' अर्थात् धार्मिक जनो के बिना धर्म का स्थायीत्व और प्रचार नही हो पाता। जैनाचार्यों ने इस बात का खूब अच्छी तरह अनुभव करके निरन्तर धार्मिक प्रेरणा प्राप्त करने के लिए जैन मूर्ति व मन्दिरो की जगह-जगह प्रतिष्ठा की जिससे साधु-साध्वियों का कुछ समय तक कही पधारना नही हो तो भी जैन मूर्तियो के आलम्बन से लोग धार्मिक भावना को बनाये रखें और धर्म साधना मे उद्यत रहे। दिगम्बर मन्दिरो मे जैन ग्रन्थों का भी सग्रह रखा जाता है। जिससे नियमित दर्शन करने वाले प्रभु के दर्शन-पूजा के बाद कुछ समय स्वाध्याय कक्ष मे बैठकर शास्त्र स्वाध्याय व चर्चा करते हुये धार्मिक ज्ञान की अभिवृद्धि करें। और साथ ही धार्मिक क्रियाओ मे दत्त-चित्त होकर लगे रहे।

धार्मिक जनो के लिए दैनिक ६ कार्यों का आवश्यक बतलाया गया जिसमे पहला है देव पूजा जो पूजा नही कर सके वह कम-से-कम दर्शन तो नित्य नियमित रूप से करे—इसी विधान के कारण गाव-गांव मे जैन मन्दिर बने व मूर्तिया स्थापित हुई। महापुरुषो का जहा जन्म हुआ, दीक्षा ली, केवल्य और निर्वाण प्राप्त किया—ऐसे स्थानों को 'कल्याणक भूमि' कहा जाता है। पहले-पहले ऐसे स्थानों मे उनके स्मारक बने जो आगे चलकर तीर्थ कहलाये। क्रमश: जैन तीर्थों का विस्तार होता गया। जहा-जहा भी अच्छे पर्वत और सुन्दर प्राकृतिक स्थल थे वहा जैन मन्दिर बने उनमे से कुछ मूर्तिया बड़ी चमत्कारी मानी जाने लगी। इस तरह अतिशय क्षेत्र के रूप मे बहुत से तीर्थ क्षेत्र मान्य हुए। जनता की भक्ति-भावना के केन्द्र बनें। हजारो-लाखो यात्री एक स्थान से दूसरे स्थान के तीर्थों की यात्रा करने लगे। बीच-बीच मे तीर्थ-यात्रा के लिए सघ निकले। मध्यकाल मे जैन तीर्थ भक्ति-भावना के केन्द्र ही नही पर मनोज्ञ एव दर्शनीय कला धाम भी बने। बहुत-से स्थान तो उजड़ गये पर वे तीर्थ और मन्दिर कायम रह गये। इसलिये हजारों यात्री आज भी भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक तीर्थ यात्रा के लिये पहुचते हैं। समय-समय पर तीर्थ यात्रा करने वालो

ने तीर्थों, मन्दिरो और मूर्तियो के सम्बन्ध में कई स्तवन, भजन, गीत, तीर्थ मालाये, चैत्यपरि-पाटिये आदि की रचनाये की, जिनमे बहुत-से ऐतिहासिक तथ्य भी प्राप्त होते है।

दिल्ली भारत की राजधानी है। जैनी भी बहुत बडी संख्या मे यहा रहते आये हैं अत: श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो समाज के बहुत से जैन मन्दिरो का वहा होना स्वाभाविक ही है। अब तो जैन समाज दिल्ली की ओर से डायरेक्टरी भी प्रकाशित हो चुकी है जिसमे अन्य बहुत-सी ज्ञातव्य बातो के साथ वहा के वर्तमान जैन मन्दिरो का भी विवरण दिया है। पर राजधानी हो जाने के कारण यहा समय-समय पर बहुत से राज्य-परिवर्तन हुये और इसमे जनता मे भी उथल पुथल मची। कभी लोग यहा से प्राण बचाकर भागे और कभी फिर आकर जमे। बहुत प्राचीन मन्दिर और उपाश्रय नष्ट हो गये और नये बनाये जाते रहे। इसलिए दिल्ली के जैन समाज का इतिहास स्वतंत्र रूप से लिखा जाना आवश्यक है और उसके साधन भी यत्र तत्र बिखरे पडे है। पर उनको अभी तक एकत्रित करके उनके आधार से इतिहास लिखने का कोई प्रयत्न नही हुआ। दो चार लेख अवश्य लिखे गये हैं। पर उनसे शताब्दियो का पूरा चित्र सामने नही आ पाता।

दिल्ली के जैन मन्दिरो के सम्बन्ध में फुटकर रूप से तो कई प्रशस्तियो आदि मे उल्लेख मिलता है पर किस समय कितने जैन मन्दिर कहा-कहा थे और उनको किन-किन ने बनाया—इसकी पूरी जानकारी देने वाली कोई रचना अब तक नही मिली थी। सौभाग्य से यति नयनसुख रचित 'नयन सुख विलास' का अध्ययन करने पर उसमे 'दिल्ली की 'मन्दिर मन्जरी' व 'प्रतिष्टा मंजरी' नाम महत्वपूर्ण रचना प्राप्त हुई जिसकी मैंने अपने अभय जैन ग्रन्थालय के लिए नकल करवाली है। उसमें कवि नयनसुख ने दिल्ली के दिग. श्वे. दोनों सम्प्रदायो के प्रत्येक जैन मन्दिर के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। साथ ही उनके समय में जो नये मन्दिर की प्रतिष्ठा हुई उसका भी ऐतिहासिक विवरण दिया है। उसी के आधार से प्रस्तुत लेख में दिल्ली के जैन मन्दिरो के सम्बन्ध मे संक्षिप्त प्रकाश डाला जा रहा है। कवि ने प्रारम्भ मे जैन मन्दिरो के अतिरिक्त भी दिल्ली का सुन्दर वर्णन किया है।

कवि नयनसुख ने दिल्ली की मन्दिर मन्जरी और प्रतिष्ठा मन्जरी के प्रारम्भ मे मगलाचरण के बाद लिखा है—

श्रीम दिल्ली नगर की, कहूं प्रतिष्ठा मंजरी।
सिर धार निकट ससार जन, सेवो जिन पदक जरी॥

आगे चलकर गद्य मे जैन मन्दिरो के सम्बन्ध मे लिखा है कि "दिल्ली खास शहर के अन्दर २० चैत्यालय तो पहले प्रतिष्ठित है और एक मन्दिर अब लाला ईश्वरी प्रसादजी का नया बना है तिस्की जिन मन्दिर प्रतिष्ठा और जिन बिम्ब प्रतिष्ठा का मेला सब मन्दिरो की सोभा और पता बयान किया जाता है। ए सब २१ शहर के अन्दर दिगम्बर मन्दिर है।

तत्रादौ जुगादिदेव के पचायती मन्दिर बादशाही का बयान और श्रीमान राजेन्द्रकीर्ति की भट्टारक दिगम्बर तिके महत तिनकी गद्दी का वर्णन जो अबार प्रतिष्ठा करावेगे।

भैय्या इन्द्रप्रस्थ के अन्दर, हैं इक्कीस सिरी जिन मन्दिर।
तिनका पता बताऊ सुन्दर, जिनमें तिष्ठे देव दिगम्बर॥"

फिर कष्ठासघ, पुष्करगण, के देवेन्द्रकीर्ति पट्टधर जगतकीर्ति पट्टे ललितकीर्ति और उनके पट्टधर मुनिकीर्ति के हकदार होने का उल्लेख किया गया है। धर्मपुरे का प्रथम मन्दिर पचायती का मन्दिर है।

तदनन्तर हरसुखराय के नये मन्दिर का वर्णन करते हुए लिखा है अथ हरसुखरायजी नये मंदिरजी का बयान और पडितो की शैली का जिकर। यह मन्दिर तेरहपथ की शुद्ध आमनाय का धर्मपुरे मे है। इस मन्दिर के चार पडितो का उल्लेख महत्वपूर्ण है।—

पडित गोपालराय सहार्मा, दोतूं मथरादास है नामी।
बनारसीदास बडे गुणधामी, च्यारौ कहिये भद्र प्रणामी।।

इसके बाद शैली के (स्वाध्याय मण्डली) श्रोताओ मे लाला बलदेव सहाय, पारसदास, दिलसुखराय, धर्मदास, समनलाल, चिमनलाल राय किशोरीलाल, पिणोरीलाल लाला रगीलाल का उल्लेख है।

तीसरा मन्दिर पाथडीवाले सौदागरमल प्यारेलाल का चैत्यालय धर्मपुरे मे सम्भवनाथजी का है। नये मन्दिर मे अजितनाथ जी के मन्दिर का उल्लेख किया गया है। अब प्रत्येक मन्दिर सम्बन्धी पद्यो के पहले गद्य मे जो सक्षिप्त विवरण दिया गया है वह दिया जा रहा है—जिससे कौन मन्दिर कहा है व किसका बनाया हुआ—इसकी सूचना मिल जाती है—

४. भोदूमल के चैत्याले का जिकर जो धरमपुरे मे है।
५. सनेहीलाल रामप्रसादजी के चैत्याले का जिकर जो अनारकली की गली मे है।
६. सतधरे मे इसका लालाजी के चैत्याले का जिकर अनारकली की गली मे
७. सेठ के कूचे का पचायती मन्दर तथा इन्द्रराज जी के मन्दिर का जिकर
८. इन्द्रराज जी के चैत्याले का जिकर
९. बुलाकी बेगम के कूंचे का मन्दर लाल किले के नीचे उडदूबाजार मे
१०. दरीबा बाजार के पाश खुशानन्द के कूचे में सालग्राम मथुरादासजी खजानचीयो के चैत्याले का जिकर.
११. साहबराम द्वारकादासजी वाला चैत्याला दरीबै सुखानन्द के कूचे मे
१२ मीमामलजी का चैत्याला सुखानन्दजी के कूंचे मे
१३. दिल्ली दरवाजे का मन्दिरजी.
१४. कुतुबवाली घाटी मन्दर
१५. सैद फिरोज के बगलै शहादतखा की नहर पर मन्दिरजी का जिकर
१६ खुसहालराय के कटले मे लाला श्यामलाल चिरंजीलाल भगवानदास ईश्वरीप्रसाद की हवेली मे पुस्तैन चैत्यालय।
१७. धीरज की पहाड़ी का शिखरबन्द मन्दिर जिन और धर्मशाला का बयान सदर बाजार में
१८. धीरज की पहाडी का शिखर मन्दर जिन मन्दिर धर्मशाला का बयान सदर बाजार में
१९. जैसिहपुर का मन्दिर हरमुखरायजी वाला
२०. खडेलवालो का पचायती दूजा मन्दर जो जैसिहपुरे में है।
२१. इक्कीसवा मन्दिर प्रतिष्ठा मंजरी में वर्णन कर चुके है

२२. पडपड़गज का दिगम्बर मन्दर जमना पार

दिल्ली के ताल्लुक—

२३. शाहदरे का मन्दरजी जमना पार।

इसके बाद 'जैन स्तम्भ म जरी' में तीन श्वे-ताम्बर जैन मन्दिरों और दादाबाडी आदि का विवरण है। पहला मन्दिर मालीवाडे के पास नवघरे मे शिखरबन्द मन्दिर है। दूसरा चेलपुरि में और तीसरा चीरखाने में बच्छराज जी वाला चैत्यालय। इसके बाद कटरा खुसालराय की पोशाल का उल्लेख करके जिनहर्ष सूरि और कुशल सूरि की छत्री और दादाबाडी का उल्लेख है।

संवत १६४२ में दिल्ली के लाला भूरूलाल ने ४०० श्रावक-श्राविकाओं के साथ सम्मेद शिखर की यात्रा का संघ निकाला उसमें यति नयनानन्द भी सम्मिलित थे। उस यात्रा का कवि ने अच्छा वर्णन किया हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यात्रा-विवरणमहत्व का है।

संवत १६२६ में दिल्ली में क्षुल्लक धर्मदास जी ने चौमासा किया था और वहां से उन्होने दिल्ली के भाईयो के साथ हस्तिनापुर की यात्रा कार्तिक सुदि १५ को की थी।

●●●

भूख

भूख बड़ी ही कष्टप्रदाता
नहीं वेदना जग में कोई
बड़ी क्षुधा से !!

—अर्हत्

३८

महावीर और श्रेणिक के देहांत का समय

☐ मिलाप चन्द कटारिया

हरिवन्श पुराण में वीरनिर्वाण के समय राजा श्रेणिक मौजूद थे ऐसा उल्लेख है और हरिषेण के कथाकोष मे कथा नं० ५५ मे वीर निर्वाण के पौने चार वर्ष बाद संख्या श्रेणिक की,मृत्यु लिखी है। हमने इन्हीं उल्लेखों के आधार पर "राजा श्रेणिक का आयुष्य काल" इस शीर्षक के लेख में श्रेणिक की आयु १०७ वर्ष करीब होने की लिखी थी । वह लेख अनेकान्त पत्र मे प्रकाशित हुआ था। किन्तु बौद्धशास्त्रो से उक्त उल्लेखो का मेल नही बैठता है। बौद्ध ग्रन्थो मे श्रेणिक की मृत्यु के २५ वर्ष बाद भगवान् महावीर का निर्वाण माना है।

बौद्ध आगमो में लिखा है कि "श्रेणिक की मृत्यु होने पर उसका पुत्र अजातशत्रु राजगद्दी पर बैठा। उससे ८ वर्ष बाद बुद्ध का निर्वाण हुआ बुद्ध निर्वाण से १७ वर्ष बाद महावीर का निर्वाण हुआ। बुद्ध की कुल आयु ८० वर्ष की थी और महावीर की ७२ वर्ष की। श्रेणिक का जन्म हुआ तब बुद्ध ५ वर्ष के थे। यानी श्रेणिक से बुद्ध ५ वर्ष बड़े थे। और महावीर से श्रेणिक २० वर्ष और बुद्ध २५ वर्ष बड़े थे। कुल उम्र श्रेणिक की ६७ वर्ष की थी। बुद्ध ने अपनी २९ वर्ष की उम्र में गृह त्याग किया और छह वर्ष बाद ३५ वर्ष की उम्र मे उनको बोधिलाभ हुआ। महावीर ने ३० वर्ष की वय मे गृह त्याग किया और उन्हें ४२ वर्ष की अवस्था मे केवलज्ञान हुआ। उस वक्त बुद्ध की उम्र ६७ वर्ष की थी। दोनों ही बोधिलाभ के बाद १३ वर्ष तक प्रतिद्वंद्वी के रूप मे अपना अपना धर्म प्रचार करते रहे।"

बौद्ध शास्त्रों के इस कथन का फलितार्थ यह हुआ कि महावीर के मोक्ष पधारने से २५ वर्ष पहिले ही श्रेणिक की मृत्यु हो चुकी थी। और जब महावीर को ४२ वर्ष की उम्र में केवल ज्ञान हुआ तब श्रेणिक की उम्र ६२ वर्ष की थी। और चूंकि श्रेणिक की ६७ वर्ष की उम्र मे मृत्यु हुई अत महावीर को केवल ज्ञान हुए बाद सिर्फ ५ वर्ष तक ही जीवित रहे। श्रेणिक की आयु ६७ वर्ष की होने का हिसाब यह है—बुद्ध का जब ८० वर्ष की आयु मे निर्वाण हुआ उससे ८ वर्ष पहिले श्रेणिक के देहांत होने पर उसका पुत्र कुणिक राजगद्दी पर बैठा था। ८० मे से ८ घटाने पर ७२ वर्ष की उम्र जब बुद्ध की थी तब श्रेणिक का मरण हुआ। और उस में बुद्ध श्रेणिक से ५ वर्ष बड़े थे। इस प्रकार श्रेणिक की कुल उम्र ६७ वर्ष की होती है। जब ३५ वर्ष की अवस्था में बुद्ध को बोधिलाभ हुआ तब बौद्ध मतानुसार श्रेणिक की उम्र ३० वर्ष की थी। दि० जैन कथा को लेकर अनुमानतः

चेलना का विवाह का अगर श्रेणिक के साथ उसकी ४० वर्ष की अवस्था के लगभग हुआ माना जाये तो उस वक्त श्रेणिक का बौद्धमती होना भी सम्भव हो सकता है। इससे पहिले श्रेणिक न बौद्धधर्मी था न जैनधर्मी। उसका कोई तीसरा ही धर्म था। उसने पहिले दो प्रकार के धर्मों का परिवर्तन किया बाद मे जैन धर्म को ग्रहण किया था। ऊपर बताया गया है कि बौद्ध मतानुसार श्रेणिक की उम्र ६७ वर्ष की थी। इसकी सगति जैन कथा ग्रन्थों के अनुसार इस प्रकार बैठायी जाती है कि श्रेणिक ने करीब १६ वर्ष की अवस्था मे एक ब्राह्मण कन्या से विवाह किया था उससे अभय-कुमार नामक पुत्र हुआ। इसी अभयकुमार के प्रयत्न से श्रेणिक का चेलना के साथ विवाह हुआ था। उस वक्त अभय कुमार की आयु २४ वर्ष की मान लें तो यहा तक श्रेणिक की आयु ४३ वर्ष करीब की होती है। तथा चेलना की कूख से कुणिक का जन्म यदि चेलना के विवाह के १ वर्ष बाद भी मान लें और कुणिक को राजगद्दी उसकी २३ वर्ष की अवस्था मे मिली हो तो उक्त ४३ मे ये २४ वर्ष जोड़ने पर श्रेणिक की ६७ वर्ष की बनती है।

किन्तु यदि हम हरिवंश पुराण और हरिषेण कथा कोश के वे उल्लेख जिनमे कि वीर निर्वाण के वक्त श्रेणिक की उपस्थिति बताई है, जिनका कि जिकर हमने इस लेख के प्रारम्भ में किया है उनको छोड़ भी दे तथापि अन्य जैन कथा ग्रथो आदि में जो भगवान् महावीर और राजा श्रेणिक का वृत्तांत मिलता है उसका भी बौद्धमत के ऊपर लिखे विवरण से मेल बैठता नही है। नीचे हम यही दिखाते है—

ऊपर लिखा गया है कि चेलना से विवाह करते वक्त श्रेणिक की उम्र ४३ वर्ष की थी। उसी जगह हम ३६ वर्ष की ही मानकर चले—१८ वर्ष अभयकुमार के जन्म समय तक के और तदनन्तर १८ वर्ष चेलना के विवाह के वक्त तक के। अब इससे आगे की उम्र लाने के लिये हमे ज्येष्ठा की की जीवनी पर ध्यान देना होगा। जैन कथाओ मे लिखा है कि—ज्येष्ठा चेलना की बहन थी और चेलना के विवाह के वक्त वह भी नवयुवती थी। अभयकुमार दोनो ही को छपाकर श्रेणिक के साथ शादी करने को ले चला था। परन्तु रास्ते मे चेलना ने कपट करके कोई बहाना बनाकर ज्येष्ठा को वापस भेज दी थी। अत उसका विवाह श्रेणिक के साथ न हो सका। चेलना के इस कृत्य से ज्येष्ठा के दिल मे विरक्तता पैदा हुई और वह आर्यिका हो गई। इस ज्येष्ठा आर्यिका को एक दिन एक सात्यकि पुत्र हुआ था। जैन शास्त्रो मे इस सात्य कि को ११ वा रुद्र बताया है। और लिखा है कि इसने भगवान् महावीर के ऊपर उनके तपस्याकाल मे उपसर्ग किया था। इस रुद्र के बाबत यह भी लिखा है कि—यह पहिले जैन मुनि हुआ था। फिर वह मुनि पद से भ्रष्ट होकर अपने असयम काल मे उसने भगवान् पर उपसर्ग किया था। हरिवश पुराण के सर्ग ६७ मे लिखा है कि—

वर्षाणि सप्त कौमार्ये विंशति सयमे अष्टभि ।
एकादशस्य रुद्रस्य चतुस्त्रिंशदसयमे ।।५४५।।

अर्थ—ग्यारहवें रुद्र का कुमार काल ७ वर्ष का, सयम काल २८ वर्ष का और असयम काल ३४ वर्ष का था।

इस कथन से रुद्र का असंयमकाल उसकी ३५ वर्ष के बाद आता है। अगर उसने अपनी ३६ वर्ष की अवस्था मे भी भगवान् पर उपसर्ग किया हो और इस उपसर्ग के बाद उसी वर्ष में ही महावीर को केवल ज्ञान हुआ भी मान लिया जाये तो श्रेणिक

की उक्त ३३ वर्ष की उम्र में रुद्रका यह ३६ वर्ष का काल जोड़ने पर श्रेणिक की आयु उस वक्त तक ७२ वर्ष की होती है। अर्थात् महावीर को केवलज्ञान हुआ तब तक श्रेणिक की आयु ७२ वर्ष की थी। महावीर को केवल ज्ञान उनकी ४२ वर्ष की वय में हुआ था यह विदित ही है। इससे सिद्ध होता है कि—महावीर से श्रेणिक ३० वर्ष बड़े थे। रुद्र के इस उपसर्ग का कथन गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण में भी किया है।

अब हमको जैनशास्त्रो मे यह देखना है कि महावीर को केवलज्ञान हुए बाद श्रेणिक कितने वर्ष तक जीवित रहा।

एक समय जब भगवान् विपुलाचल पर पधारे थे तो उनसे श्रेणिक ने पूछा था कि—इस काल मे अन्तिम केवली कौन होगा ? और वह कहां होगा ? उत्तर मे भगवान् ने कहा था कि "यह जो अभी विद्युन्माली देव यहा दिख रहा है इसीका जीव तेरी इसी राजगृही नगरी मे आज के ७ वे दिन एक सेठानी के गर्भ मे आवेगा। उसका नाम जंबू होगा और वही अंतिम केवली होगा।" इसी तरह वर्णन सघदासगणिकृत "वसुदेवहिंडी" ग्रंथ मे भी पाया जाता है। इस ग्रंथ का रचना काल विक्रमकी ६ वी शताब्दी के लगभग का बताया जाता है। इस कथन से यह तो स्पष्ट होता है—कि जंबू स्वामी के गर्भकाल तक तो महावीर और श्रेणिक दोनो ही जीवित थे। और जब गौतम स्वामी केवली बनकर विपुलाचल पर आये और उनके निकट सुधर्मास्वामी से जंबूस्वामी ने दीक्षा ली तब राजगृह का राजा कुणिक था ऐसा उत्तरपुराण मे लिखा है। इससे प्रगट होता है कि जंबू स्वामी की दीक्षा के वक्त न श्रेणिक जीवित था और न महावीर जीवित थे। अगर महावीर स्वामी उस समय जीवित होते तो कथा मे जम्बू स्वामी की दीक्षा गौतम के निकट न लिखकर महावीर के निकट लिखते। और उस समय अगर श्रेणिक भी जीवित होता तो उसकी जगह कुणिक का नाम नहीं लिखते।

यह तो सब जानते ही हैं कि—जम्बूस्वामी ने यौवनारम्भ मे ही मुनि दीक्षा लेली थी। यौवनारम्भ का काल अगर १७-१८ वर्ष की उम्र में माना जाये तो कहना होगा कि—श्रेणिक और महावीर दोनो ही जम्बूस्वामी की १७-१८ वर्ष की उम्र के पहले ही गुजर चुके थे। दोनो में से महावीर के निर्वाण के विषय मे उत्तर पुराण मे ऐसा लिखा मिलता है—

विनीतो यौवनारंभे अप्यनाविष्कृत विक्रियः।
वीर पावापुरे तस्मिन् काले प्राप्स्यति निर्वृतिम्
॥३८॥ पर्व ७६

अर्थ—विनीत जंबूकुमार यौवन के प्रारम्भ में भी काम विकार से रहित होगा। उसी काल मे महावीर स्वामी पावापुर से मोक्ष पधारेगे।

इसमे महावीर का निर्वाण काल स्पष्टतः जंबूकुमार के यौवन के प्रारंभिक समय मे लिखा है। अर्थात् भगवान् की मोक्ष जंबूकुमार की १६-१७ वर्ष की उम्र के लगभग हुई थी ऐसा इस कथन से जान जाता है। इस श्लोक में आये "तस्मिन् काले" का अर्थ कोई कोई जंबू के गर्भकाल के समय में ही महावीर का निर्वाण होना कहते हैं वह ठीक नही है। कारण ऐसा मानने से गौतम केवली के निकट जंबू की दीक्षा की बात बनेगी नही। क्योंकि जैनागम मे वीर निर्वाण के १२ वर्ष बाद गौतम केवली का निर्वाण माना है। निर्वाण के पहिले ही जंबू ने गौतम के निकट दीक्षा ली तब जंबू की उम्र (गर्भकाल को छोड़कर) १० ११ वर्ष की ही हो सकती है। इस छोटी उम्र में न तो जंबू का सेठानी की पुत्रियो के साथ विवाह की

बात बन सकती है और न मुनिदीक्षा की बात ही श्रुतसागर ने भावपाहुड की ५१ वीं गाथा की टीका मे जंबूस्वामी का पूरा ही चरित्र बिल्कुल उत्तर-पुराण के सदृश ही लिखा है-पद्यो को गद्य मे रूपांतरित कर दिया है। उसमें श्रुतसागर ने लिखा है कि—

"तस्मिन् जबूस्वामि यौवनकाले श्रीवीरभट्टारक पावापुरे मुक्ति यास्यति।" जंबूस्वामी के उस यौवन काल मे भगवान् महावीर पावापुर मे मोक्ष पधारेंगे।

इस प्रकार महावीर के निर्वाण समय का तो उल्लेख मिलता है। किन्तु श्रेणिक के अन्तकाल का उल्लेख नही मिलता। हां हरिवंश पुराण और हरिषेण कथा कोश मे श्रेणिक का अन्तकाल वीर निर्वाण से उत्तरकाल मे लिखा है वह अटपटा सा मालूम पड़ता है। क्योंकि उससे श्रेणिक की आयु १०२ वर्ष से भी अधिक की होती है। वह इस तरह कि महावीर के केवलज्ञान के वक्त श्रेणिक की ७२ वर्ष की उम्र हम ऊपर बता आये हैं उसमे ३० वर्ष महावीर का केवलि काल मिलाने से वीर-निर्वाण के वक्त श्रेणिक की १०२ वर्ष की आयु बनती है। ये दोनो ही ग्रन्थ पुन्नाट सघ के है। अन्य किसी ग्रन्थ मे ऐसा उल्लेख देखने मे नही आया। फिर भी यह तो स्पष्ट ही है कि जम्बू के गर्भ मे आने के वक्त श्रेणिक जीवित था। और जम्बू की दीक्षा के वक्त वह जीवित न था जैसा कि ऊपर बताया गया है। जम्बू की १७ वर्ष की उम्र के लगभग यदि महावीर का निर्वाण माना जाये तो कहना होगा कि जम्बू के जन्म के समय महावीर को केवल ज्ञान हुए १३ वर्ष हो चुके थे। भगवान् ३० वर्ष तक केवल ज्ञानी रहे ऐसा जैन शास्त्रो का मत है। जब कि श्रेणिक जंबू के गर्भ में आने के समय में जीवित था तो महावीर के केवली काल के समय १३ वर्ष ७२ में जोड़ने से यहां तक श्रेणिक की उम्र ८५ वर्ष की होती है। क्योंकि भगवान् की केवलज्ञानोत्पत्ति के वक्त उसकी आयु ७२ वर्ष की थी ऐसा हम ऊपर बता आये हैं। यह टोटल उस वक्त तक का होता है जब हम श्रेणिक का जीवित रहना जंबू के गर्भकाल तक ही मान लेते है। अगर श्रेणिक उसके बाद भी जीवित रहा हो तो इस टोटल में वृद्धि करनी होगी। परन्तु यह ध्यान मे रखना है कि श्रेणिक के बाद उसकी राजगद्दी चेलना के पुत्र कुणिक को मिली है। उस वक्त कुणिक की उम्र यदि हम ३० वर्ष की मानले तो इसका अर्थ यह होगा कि कुणिक का जन्म श्रेणिक की ५५ वर्ष की अवस्था में हुआ था। अब यदि हम श्रेणिक की ८५ वर्ष की उम्र से और अधिक आगे बढ़ते हैं तो कुणिक का जन्म भी श्रेणिक की ५५ वर्ष की अवस्था से आगे बढ़ता है। इसलिये श्रेणिक की ८५ वर्ष मे अधिक उम्र होने की थोडी ही गुंजाइश है अर्थात् पाच चार वर्ष और अधिक मानी जा सकती है। इससे यही सिद्ध होता है कि-महावीर स्वामी के मोक्ष पधारने से अनुमानतः १५ वर्ष पहिले तक राजा श्रेणिक का अन्तकाल हुआ था। उस वक्त जम्बू कुमार शिशु अवस्था मे था।

प्रस्तुत चर्चा के आधार पर बौद्ध और जैन मत मे निम्न प्रकार मतभेद है —

(१) बौद्धमत मे महावीर से श्रेणिक २० वर्ष बडा था। जैन मत मे ३० वर्ष बडा था।

(२) बौद्धमत मे श्रेणिक की मृत्यु के २५ वर्ष बाद महावीर का निर्वाण हुआ। जैन मत मे लगभग १५ वर्ष बाद निर्वाण हुआ।

(३) बौद्धमत मे महावीर को केवलज्ञान हुआ तब श्रेणिक की उम्र ६० वर्ष की थी। जैनमत मे तब श्रेणिक की उम्र ७२ वर्ष की थी।

(४) बौद्धमत मे महावीर को केवलज्ञान हुए बाद श्रेणिक ५ वर्ष तक ही जीवित रहा। जैन मत मे लगभग १५ वर्ष तक जीवित रहा।

(५) बौद्धमत मे श्रेणिक की आयु ६७ वर्ष की बतायी है। जैन मत में ८५ या उससे भी कुछ अधिक वर्षों की होती है।

दि० जैन ग्रन्थों मे महात्मा बुद्ध का कही कोई जीवन वृतान्त देखने में नही आया है। इसलिए बुद्ध की जीवनी जैनमत के अनुसार क्या हो सकती है यह हम कह नही सकते हैं। बौद्धमत मे जो श्रेणिक की आयु ६७ वर्ष की लिखी है उससे हम को ऐसा आभास होता है कि शायद श्रेणिक अपनी ६७ वर्ष की उम्र तक ही बौद्धमती रहा हो। तदु-परान्त उसने जैन धर्म ग्रहण कर लिया हो। इस लिये बौद्धों ने उसकी उम्र ६७ वर्ष की ही बतादी हो ताकि आगे का इतिहास ही उसका न रहे।

●●●

शील

नारी के आभूषण लज्जाशील है
शोभा नही बढ़ा सकते बाहर के भूषण।

—अर्हत्

ग्वालियर के काष्ठासंघी भट्टारक

□पं० परमानन्द शास्त्री

श्रमण संस्कृति युगादिदेव (आदिनाथ) के समय से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर के परि– निर्वाण के बहुत काल तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित रही है और उनके निर्वाण के बाद अन्तिम श्रुत केवली भद्रबाहु के समय द्वादश वर्षीय भीषण दुर्भिक्ष के कारण वह दिगम्बर-श्वेताम्बर दो धाराओ मे विभक्त हो गई। उक्त दोनो धाराओ मे भी परवर्तीकालो मे अनेक अवान्तर सघ और गण-गच्छों का आविर्भाव हुआ। इसका कारण दुर्भिक्ष के समय की विकृत परिस्थिति, विचार विभिन्नता और सकीर्ण मनोवृत्ति है। सकुचित मनोवृत्ति से आत्म-परिणति मे अनुदारता रहती है। सकीर्ण दायरे मे अनेकान्त की सर्वोदयी समु– दाय भावना तिरोहित हो जाती है। इससे वह परस्पर मे सौहार्द को उत्पन्न नही होने देती, प्रत्युत कटुता को जन्म देती रहती है। दोनो पर– म्पराओ मे मत विभिन्नतादि कारणो से विभिन्न गण गच्छ उत्पन्न होते रहे है। और २४ सौ वर्ष के दीघकाल मे भी गण गच्छों की विभिन्नता मे कोई अन्तर नही आ पाया है। शिलाभेद के समान इन सघो की विभिन्नता परस्पर मे अभिन्नता मे परिणत नहीं हो सकी। यदि गण गच्छादि के सम्बन्ध मे अन्वेषण किया जाय तो एक बड़े ग्रन्थ का निर्माण किया जा सकता है।

यहा ग्वालियर के काष्ठा सघ के कुछ भट्टारको का परिचय दिया जाता है—

ग्वालियर प्राचीन काल से दि० जैन सस्कृति का केन्द्र रहा है। यहां के दिगम्बर जैन मन्दिरो मे ११ वी शताब्दी तक की धातु मूर्तिया उपलब्ध होती हैं। यहां काष्ठासघी भट्टारको की बडी गद्दी रही है जिसके द्वारा वहा आस पास के प्रदेशों मे जैन धर्म और जैन सस्कृति का प्रसार हुआ है। अनेक विद्वान और भट्टारको द्वारा ग्रन्थो की रचना हुई है। यहा मूलसघी और काष्ठासंघी भट्टारक बराबर प्रेम से रहे है। दोनो के द्वारा प्रतिष्ठापित अनेक मूर्तिया मन्दिरो मे विराजमान हैं। इन सब भट्टारको मे भट्टारक गुणकीर्ति अपने समय के विशिष्ट विद्वान, तपस्वी और प्रभावक थे। उनके निर्मल चरित्र और व्यक्तित्व का प्रभाव तोमरवंश के क्षत्रिय शासको पर अप्रतिहत रूप मे पड़ा, जिससे वे स्वय जैनधर्म के प्रति निष्ठावान हुए। उनके तपश्चरण के प्रभाव से राज्य मे संक्रान्ति और विरोध जैसे विकार पास मे भी नही फ़टक सके। राजागण अपने राज्य का संचालन स्वतन्त्रता और विवेक से करते रहे। राज्यकीय विषम समस्याओं का समाधान भी होता रहा। अपनी प्रजा का पालन करते हुए राज्य वृद्धि मे सहायक

हुए। जनता स्वतन्त्रता से अपने-अपने धर्म का पालन करती हुई सांसारिक सुख-शान्ति का उपभोग करती थी। अनेक वरिष्ठ श्रेष्ठि जन राज्य के आमात्य और कोषाध्यक्ष जैसे उच्च पदों पर प्रतिष्ठित रहते हुए निरन्तर राज्य की अभिवृद्धि और अमन में सहायक हुए। उस समय के ग्वालियर राज्य में परिस्थिति का सुन्दर वर्णन कविवर रइधू ने पार्श्वनाथ चरित्र में किया है। उससे उस समय की सुखद स्थिति का अच्छा आभास मिल जाता है।

यहाँ उन भट्टारकों का, जिन के नाम का उल्लेख कविवर रइधू के ग्रन्थों और प्रतिष्ठित मूर्ति-लेखों में उपलब्ध होता है उनका संक्षिप्त परिचय देना ही इस लेख का प्रमुख विषय है।

१. भट्टारक देवसेन :—

काष्ठा संघ, माथुरान्वय बलात्कारगण सरस्वती गच्छ के विद्वान् भट्टारक उद्धरसेन के पट्टधर एवं तपस्वी थे। वे मिथ्यात्व रूप अन्धकार के विनाशक, आगम और अर्थ के धारक तथा तप के निलय और विद्वानों के तिलक स्वरूप थे। इन्द्रिय रूपी भुजंगों के दलने वाले और गरुड़ के समान (इन्द्रियजयी) थे[1]। काष्ठा संघ की गुर्वावली में उन्हें अमित गुणों का निवास, कर्म-पाश के खण्डक, समय के ज्ञायक निर्दोष, संसार की शंका के नाशक, मदन, कदन (युद्ध) के विनाशक धर्मतीर्थ के उन्नायक नेता व देवसेन गणी जयवंत रहें,[2] ऐसा प्रकट किया है। इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत देवसेन अपने समय के बड़े विद्वान थे। इसी से उन के यश का खुला गान किया गया है। इन का समय विक्रम की १४ वीं शताब्दी सम्भव है।

दूसरे देवसेन वे हैं जिन का उल्लेख दूबकुण्ड (चडोभ) के मानस्तम्भ के नीचे दो पंक्तियों वाले लेख में पाया जाता है, उस में देवसेन की एक भग्न मूर्ति भी अंकित है :—

"संवत् ११५२ वैशाख सुदि पंचमम्याम्
श्री काष्ठासंघे श्री देवसेन पादुका युगलम् ॥"

प्रस्तुत देवसेन किसके शिष्य थे, और इन्होंने क्या क्या कार्य किये हैं यह अभी कुछ ज्ञात नहीं हो सका। इनका समय विक्रम की १२ वीं शताब्दी का मध्यकाल है। यह किसके शिष्य थे और इनकी गुरु परम्परा क्या है यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका। क्यों कि इनके साथ काष्ठा-संघ का उल्लेख है इसलिये यह जानना आवश्यक है कि वह किसके शिष्य थे।

---

१. मिच्छत्त-तिमिर हरणाई सुहायरु, आयमत्थहरु तव-णिलउ।
णामेण पयडु जणि देवसेणु मणि, संजायउ चिरू बुह-तिलउ ॥
सम्मइ जिन चरिउ प्रशस्ति

इंदिय-भुयंग णिद्दलण-वेणु—पद्मपुराण प्रशस्ति

२. विज्ञानसारी जिनयज्ञकारी, तत्त्वार्थवेदी वरसंघ भेदी।
स्वकर्मभंगी बुध यूथसंगी, चिरं क्षितौ नन्दतु देवसेनः ॥
अमितगुणनिवासःखडिता कर्मपाशः, समयविद कलंकः क्षीण संसार-शंकः।
मदन-कदनहंता धर्मतीर्थस्य नेता, जयति महतिलीन. शासने देवसेनः ॥
—काष्ठासंघ मा० गुर्वावली

विमलसेन—यह देवसेन गणि के पट्टधर एवं शिष्य थे। अनुपम गुणों के धारक, समितियों से युक्त, कर्म बन्धादि से भय-भीत तथा चन्द्र किरण के समान शीतल विमलसेन हमे सुख प्रदान करने वाले जो भव्य जनो के चित्त को आनन्द प्रदान करें विमल यति हैं। मल संग के विनाशक, अनुपम गुणमन्दिर, ऐसे ऋषि पुगव विमलसेन थे।[3] इस गुणानुवाद से ज्ञात होता है कि भट्टारक विमलसेन विद्वान्, तपस्वी, द्विविधसंग के त्यागी और प्रतिष्ठाचार्य थे। इनके द्वारा प्रतिष्ठित धातु की एक पद्मासन चौबीसी मूर्ति स० १४१४ की प्रतिष्ठित जयपुर (राजस्थान) के पाटौदी मन्दिर में विराजमान है।[4] और दूसरी प्रतिष्ठित आदिनाथ की एक मूर्ति दिल्ली के नया मन्दिर धर्मपुरा मे विद्यमान है, जो स० १४२८ मे किसी जयसवाल सज्जन के द्वारा प्रतिष्ठित कराई गई थी।[5] इनकी उपाधि मलधारी थी। इनका समय १५ वी शताब्दी का पूर्वार्ध जान पड़ता है।

धर्मसेन—भट्टारक विमलसेन के पट्टधर थे, जो वस्तुधर्म के धारक थे, जिन्होने लोक में दश-धर्मों का विस्तार किया था। व्रत, तप शील गुणों में जो श्रेष्ठ थे। बाह्याभ्यन्तर परिग्रहों के निवारक वे धर्मसेन मुनि जनता को संसार समुद्र से तारने वाले थे। वे काष्ठासघ के नायक थे और धर्मध्यान के विधान में दक्ष थे। तथा सकलसघ में शोभायमान थे।[6] यह प्रतिष्ठाचार्य भी थे। इनके द्वारा प्रतिष्ठित तीन मूर्तियां पार्श्वनाथ, अजितनाथ और वर्धमान तीर्थंकर की हिसार जिले के मिट्टि ग्राम

---

३. तास पट्टि णिरुवम गुणमन्दिरू, णिच्चु भवज्जण चित्ताणंदिरू।
विमलमई फेडिय-मल-सगमु, विमलसेणु णामें रिसिपुंगमु॥

—सम्मइ जिनचरिउ प्रशस्ति

४. स० १५१४ वैशाखसुदि १५ गुरौ श्री काष्ठा संघे माथुरान्वये भट्टारक श्री देवसेन तत्पट्टे प्रतिष्ठाचार्य श्री विमलसेनदेवा अग्रोतकान्वये गर्ग गोत्र..........साहु गोकल भार्या लिरदा पुत्र कुधरा भार्या गयसिरि पुत्र देवराज भार्या .... । पटोदी मन्दिर जयपुर

५. सवत् १४२८ वर्षे ज्येष्ठ सुदि १२ द्वादश्या सोमवासरे काष्ठासंघे माथुरान्वये भट्टारक देवसेन देवास्तत्पट्टे त्रयोदश चारित्ररत्नालंकृता सकल-विमल-मुनि-मंडली शिष्य शिखामणय. प्रतिष्ठाचार्य श्री भट्टारक विमलसेनदेवा तेषामुपदेशेन जाइसवालान्वये सा० वृहपति भार्या मदना पुत्र विजयदेव पत्नी पूजा द्वितीय पुत्र लालसिह तत्पुत्र विजयदेव तत्पुत्र समस्त दातृ धुरीण साधु श्रीभोज भार्या ईसरी पुत्र हम्मीरदेव. द्वितीय भार्या कर्मी करमा पुत्र शुभराज (सा०) कोल्हाको हम्मीर देवा भार्या धर्म श्री तत्पुत्र धर्मसिंह एतेषां स्वश्रेयार्थ शिव. तत्पुत्र आदि नाथ नेमिचन्द्राभ्यां प्रतिष्ठितम्। नयामन्दिर धर्मपुरा दिल्ली वेदी १ कटनी २

६. वत्थु सरूव धम्म-धुर धारउ, दह विह धम्मु भुवणि वित्थारउ।
वय-तव-सील गुणहिं जे सार उ, वज्झंतर संग-णिवारउ।
धम्मसेणु मुणि भवसर तारउ, — सम्मइ जिणचरिउ प्रशस्ति
काष्ठासंघ गणनायकवीर:, धर्मसाधन विधानपरीर:।
राजते सकलसंघ समेत, धर्मसेन गुणरेव चिदेतः॥

—काष्ठासंघ मा० पट्टावली

से मनिराम जाट को प्राप्त हुई थी।[७] जो अब हिसार के मन्दिर में विराजमान हैं। जो १४×१० इंच के आकार को लिये हुए हैं। तीनों मूर्तियां पहाडी मटियाले पाषाण की है। इससे भट्टारक धर्मसेन का समय विक्रम की १५ वीं शताब्दी का मध्यकाल जान पड़ता है।

भावसेन—इस नाम के अनेक विद्वान हो गए है।[८] उनमे प्रस्तुत भावसेन काष्ठासघ मायुरान्वय के आचार्य थे, वे धर्मसेन के शिष्य एवं पट्टधर थे। तथा भट्टारक सहस्रकीर्ति के गुरु थे। सिद्धात के पारगामी विद्वान थे, शीलादि व्रतो के धारक, शम दम और क्षमा से युक्त थे। वैभारादि तीर्थ में हुए प्रतिष्ठोत्सव में जिन्होंने महान योग दिया था। और जो अपने गुणों की भावना मे सदा तन्मय रहते थे।[९] इन का समय विक्रम की १५ वीं शताब्दी है।

सहस्रकीर्ति—भावसेन के पट्टधर विद्वान थे। रत्नत्रय के आकर कर्मग्रन्थों के सार विचारक व्रतादिक के अनुष्ठाता और अनेक सद्गुणो से परिपूर्ण थे। अपने समय के अच्छे विद्वान थे।[१०] इनके द्वारा प्रतिष्ठित कोई प्रतिमालेख और ग्रन्थ रचना अभी तक मेरे देखने में नहीं आई। अन्वेषण करने पर उनको प्राप्ति सभव है। इनका समय भी १५ वीं शताब्दी हैं।

---

७. संवत् १४४२ वैशाखसुदी ५ शनौ श्री काष्ठासंघे मायुरान्वये आचार्य श्री धर्मसेनदेवः इन्द्रिमी नाक अग्रोतक वशे सा० जाल्ह सहाय (भा०) जियतो।

८. जिन मे एक भावसेन काष्ठासघ लाल बागड गच्छ के आचार्य थे। गोपसेन के शिष्य और जयसेन के गुरु थे। जयसेन ने अपना धर्मरत्नाकर सन् ९९८ सं १०५५ मे करहाड मे बनाकर समाप्त किया था। अत इन का समय ११ वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध होना चाहिये।
दूसरे भावसेन मूलसघ सेनगण के विद्वान थे जिनकी उपाधि त्रैविद्यचक्रवर्ती थी त्रैविद्यचक्रवर्ती की उपाधि शब्दागम, तर्कागम और परमागम मे निपुण विद्वानो को दी जाती थी। यह जैन दर्शन के अच्छे विद्वान थे। इन की निम्न कृतिया प्रकाश मे आई है, कातंत्ररूपमाला, विश्वतत्त्व प्रकाश, भुक्ति-मुक्ति विचार, प्रमा प्रमेय, सप्त पदार्थी टीका सिद्धान्तसार आदि। कातन्त्र रूपमाला शक सं० १२८९ सन् १३६७ की है। आन्ध्र प्रदेश के अनन्तपुर जिले में अमरापुर ग्राम के निकट इनकी निषधा भी बनी हुई है।
भावसग्रह के कर्ता भावसेन भी काष्ठासंघ के विद्वान जान पडते है।

९ धर्मोद्धारविधिप्रवीणमतिकः सिद्धान्तपारंगमी।
शीलादिव्रतधारक शम-दम-शान्तिप्रभाभासुर।
वैभारादिकतीर्थराजरचित प्राज्य प्रतिष्ठोत्सव—
तत्पट्टाब्ज विकासनैकतरणि, श्रीभावसेनोगुरु॥ —काष्ठासघ मा० पट्टावली

१० कर्मग्रन्थ विचारसार सरणी रत्नत्रयस्याकरः,
श्रद्धाबन्धुरलोकलोकनलिनी नाथोपमः साम्यव्रतम्।
तत्पट्टे बल चूलिका सुतरणिः कीर्तिऽपि विश्वम्भरी,
नित्यं भाति सहस्र कीर्तियतिय क्षान्तोऽस्ति दैगम्बरः काष्ठासंघ मा० पट्टावली॥
कम्म-कलंक-पंक-सोसरणु हरणु, सहसकित्तिउव्वासिय भव-वणु सम्मइ जिन चरिउ

भट्टारक गुणकीर्ति—सहस्रकीर्ति के शिष्य एवं पट्टधर थे। १५ वीं शताब्दी के प्रतिभासम्पन्न विद्वान विशिष्ट तपस्वी और ज्ञानी थे। वे अपने समय के बड़े प्रभावक और प्रकृति से प्रशान्त एव सौम्य मूर्ति थे। इनके तप और चारित्र का प्रभाव तोमरवंश के शासकों पर अधिक पड़ा, जिसमे वे जैन धर्म के प्रति निष्ठावान हुए। उनके तपश्चरण के प्रभाव से राज्य में किसी तरह की कोई सक्रांति पर विरोध उत्पन्न नहीं हुआ। और कुछ हुआ भी तो वह किसी तरह की कोई क्षति पहुंचाने मे समर्थ नही हुआ। राजा गण राज्य कार्य का स्वतन्त्रता और विवेक से संचालन करते रहे। और अपनी प्रजा का पुत्रवत् पालन करते हुए धर्म-कर्म मे निष्ठ रहकर राज्य वैभव की वृद्धि मे सहायक हुए। कविवर रइधू और काष्ठा संघ की पट्टावली मे इनका खुला यशोगान किया गया है।[११] वे काष्ठा संघ रूप उदयाद्रि के लिये दिवाकर थे। बाह्य और आभ्यान्तर तप के आकर थे। बुधजनों में शास्त्र और अर्थ के चिन्तामणि थे। दीक्षा परीक्षा मे निपुण प्रभावयुक्त मदादि से रहित, माथुरान्वयके ललामभूत, राजाओं के द्वारा मान्य आचार्य थे। तपस्याचरण से उनका शरीर क्षीण हो गया था। सिद्धान्त के वेत्ता, पाप रहित, विद्वानो के प्रिय, माया, मान आदि पर्वतों के लिये बज्र, हेयोपादेय के विचार में अग्रणी, और कामरूप हथनियों के लिये कंठीरव (सिंह) थे। स्याद्वाद के द्वारा वादियों के विजेता, रत्नत्रय के धारक, माथुर संघरूप पुष्कर के लिये शशि थे। दम्भादि से रहित वस्तु तत्त्व के विचारक और जगत जन के कल्याण कर्त्ता थे। सं० १४६० मे वैशाखसुदि १३ के दिन खण्डेलवाल वंशी प० गणपति के पुत्र प० खेमल ने पुष्पदन्त के उत्तरपुराण की एक प्रति भ० पद्मनन्दि के आदेश से भ० गुण कीर्ति को प्रदान की थी।[१२]

---

११. तासु पट्टि उदयद्दि दिवायरु, बज्झब्भतर-तव-कय-आयरु।
बुहयण-सत्थ-अत्थ-चिंतामणि, सिरिगुणकित्ति-सूरि पायउ जाणि ॥
—सम्मइ जिन चरिउ

(क) दीक्षा परीक्षा-निपुण प्रभावक, प्रभावयुक्तोऽमदादिमुक्त।
श्रीमाथुरानूक ललामभूतो, भूनाथ मान्यो गुणकीर्तिसूरिः ॥
—समयसार प्रश० कारजा भण्डार

(ख) श्रीमान् तस्य सहस्र कीर्तियतिन पट्टे विक्रुष्टेऽभवत्।
क्षीणाग गुणकीर्ति साधुरनघा विद्वज्जनाना प्रियः।
मायामानमदादिभूधरपवीगद्धान्तवेदी गणी,
हेयादेय विचार चारुधिषण कामेभकठी रव ॥३२
यस्ते जो गुणबद्धबुद्धि मनसो मूला भवन्तो नुता ॥

१२. स० १४६० वैशाख सुदि १३ खण्डेयवाल वशे पंडित गणपति पुत्र पं० खेमलेन एसा पुस्तिका भट्टारक पद्मनन्दि देवादेशेन गुण कीर्तिये प्रदत्तं।
—उत्तरपुराण प्रशस्ति आमेर भंडार

वीरमदेव के रूप में भ० गुणकीर्ति के आदेश से पद्म नाभ कायस्थ ने यशोधर चरित्र की रचना की थी।[13] सं० १४६८ मे आषाढ वदि २ शुक्रवार के दिन ग्वालियर में उक्त वीरमदेव के राज्य काल मे काष्ठासंघ माथुरान्वय पुष्करगण के भट्टारक गुणकीर्ति की आम्नाय में साहू वीरमदेव की पुत्री देवसिरी ने 'पचास्तिकायटीका' की प्रति लिखवाई थी।[14]

सं० १४६६ मे माघसुदी ६ रविवार के दिन राजकुमार सिंह की प्रेरणा से गुणकीर्ति ने एक धातु की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी।

स० १४७३ मे भ० गुणकीर्ति द्वारा एक मूर्ति की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई। इनका समय स १४६० से १५१० तक है। राजा डूगरसिंह के राज्य काल मे जैन मूर्तियो के उत्खननका जो महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ, उस सबका श्रेय भ० गुणकीर्ति को ही है। इनके द्वारा अनेक मूर्तियो की प्रतिष्ठा और निर्माण कार्य हुआ है। इन्होने क्या-क्या ग्र थ की रचना की यह कुछ ज्ञान नही हो सका।

यश·कीर्ति

भ० गुणकीर्ति के लघु भ्राता और शिष्य थे। प्राकृत संस्कृत और अपभ्रंश भाषा के विद्वान, कवि और मूलेखक थे। जैसा पार्श्व पुराण के निम्न पद्य से स्पष्ट है:—

"सुतासु पढि भायरो वि आयमत्थ-सायरो
रिसि सुगच्छनायको जयत्तसिक्खदायको।
जसक्खुकित्ति सुन्दरो अंकपुणाय मन्दिरो॥–
पास पुराण प्रश०

तहों बंधउजसमुणि सीसुजाउ, आयरिय
पणासिय दोसुराउ।
—हरिवंश पुराण

भव्वकमल संबोह पयंगो, तहपुणु सुकाव
लवियंगो।
णिक्खोभासिय पवयण अंगो, वंदिवि
सिरिजसकित्ति असंगो॥
—सम्मइ जिन चरिउ प्र०

यश कीर्ति असंग (परिग्रह रहित) भव्य रूप कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान थे, वे यश कीर्ति वदनीय हैं। काष्ठा सघ माथुर-गच्छकी पट्टावली में भी उनकी अच्छी प्रशंसा की गई है। जिसकी गुणकीर्ति प्रसिद्ध थी। पुण्यमूर्ति और कामदेव के विनाशक अनेक शिष्यो से परिपूर्ण, निर्ग्रन्थ मुद्रा के धारक, जिनके चित्तगृह में जिन-चरण-कमल प्रतिष्ठित थे—जिनभक्त थे और स्याद्वाद के सत्प्रेक्षक थे। इनकी इस समय चार

---

१३. उपदेशेन ग्रन्थोय गुणकीर्ति. महामुनेः।
कायस्थ पद्नाभेन रचित पूर्वसूत्रत.॥
—यशोधर चरित प्रश०

१४. सवत्सरेस्मिन् विक्रमादित्य गताब्द १४६८ वर्ष आषाढ वदि २ शुक्रदिने श्री गोपाचले राजा वीरमदेव राज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्री भावसेन देवाः तत्पट्टे श्री सहस्रकीर्ति देवा. तत्पट्टे भट्टारक श्री गुणकीर्ति देवा स्तेषामाम्नाये सोचइ महाराज वधू साधु भामदेव पुत्री देवसिरि तया इद पंचास्तिकायसार ग्रन्थं लिखापितम्।
कारंजा भंडार

कृतियां उपलब्ध हैं। पाण्डव पुराण, हरिवंश पुराण, आदित्यकवार कथा और जिनरात्रि कथा।

आपके द्वारा लिखवाए हुए दो ग्रंथ विबुध श्रीधर कृत भविष्यदत्त-चरित्र और सुकमाल चरिउ सं. १४८६ में लिखे गए थे।[१५] आपने अपनेगुरु की अनुमति सेमहाकवि स्वयंभू देव के खडित एवं जीर्ण-शीर्ण दशा को प्राप्त हरिवंश पुराण का ग्वालियर के समीप कुमर नगर मे पणियार के जिन चैत्यालय मे श्रावक जनों के व्याख्यान करने के लिए उद्धार किया था।[१६] उक्त चारो कृतियों में से अन्तिम दोनो कृतियो में रचनाकाल नही दिया, जिससे यह निश्चय करना कठिन है कि ये दोनों कृतियां कब बनी? कवि ने पाण्डव पुराण को स० १४९७ की कार्तिक शुक्ला अष्टमी बुधवार के दिन नवगाम नगर में बनाकर समाप्त किया था और हरिवश पुराण को सं० १५०० मे भाद्रपद शुक्ला एकादशी गुरुवार के दिन बनाया था। यशःकीर्ति भट्टारक पद पर कब प्रतिष्ठित हुए, और कब उसका परित्याग कर अपने शिष्य मलयगिरि को उस पर प्रतिष्ठित किया, इसका कोई प्रमाणिक उल्लेख नहीं मिलता। कविवर रइधू ने भी इनके बारे मे कुछ नहीं लिखा। इनका समय सं. १४८६ से स० १५१० तक तो है ही। उसके बाद वे कब तक इस भूमण्डल को पवित्र करते रहे यह अन्वेषणीय है। आपके अनेक शिष्य थे ओर आपने अनेक देशों मे विहार करके जिन शासन को चमकाने का प्रयत्न किया था। यह प्रतिष्ठाचार्य भी थे। इनके द्वारा प्रतिष्ठित अनेक मूर्तिया होगी, किन्तु उनका मुझे अभी दर्शन नही हुआ। गवलियर के भट्टारकीय मन्दिर मे मूर्तिया और उनके द्वारा रचित अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हो सकते है। इनके समय कवि रइधू ने अनेकों ग्रन्थों की रचना की है। मलयकीर्ति-भट्टारक यश.कीर्ति के पट्टधर थे। अच्छे विद्वान और प्रतिष्ठाचार्य थे। कवि रइधू ने आपका निम्न वाक्यो से उल्लेख किया है;—

उत्तम खमवासेण अमदउ,
मलयकीति रिसवरु चिरणंदउ।

—सम्मइजिन चरिउ

काष्ठासंघ स्थित माथुरगच्छ पट्टावली मे भी दीक्षा देने मे सुदक्ष, सहृदय, सच्चरित, मुक्ति-

---

१५. स० १४८६ वर्षे आसाढ़ वदि ६ गुरु दिने गोपाचल दुर्गे राजा डूगरसी (सि) ह राज्य प्रवर्तमाने श्रीकाष्ठासघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्री सहस (स्त्र) कीतिदेवास्तत्पट्टे आचार्य गुणकीर्ति देवास्तच्छिष्य श्रीयश.कीर्ति देवास्तेन निजज्ञानावरणीकर्मक्षयार्थ इद भविस्यदत्त पचमी कथा लिखापितम्।

— जैन नया मन्दिर धर्मपुरा, दिल्ली

स० १४८६ वर्षे आश्वणि वदि १३ सोम दिने गोपाचलदुर्गे राजा डूगरेन्द्रसिह

१६. तं जसकित्ति-मुणिह उद्धरियउ, णिएविसुत्तु हरिव सच्छ चरियउ।
णिय गुरु सिरि-गुणकीति-पसाएं, किउपरि पुण्णु पराहो अणुराएं।
सरह सणेद १ सेठि आएसे, कुसर-णयरि आविउ सविसेसे।
गोवग्गिरिहे समीवे विसालए, पणियारेह जिणवर-चेयालए।
सावय जणहो पुरउ वक्खाणिउ, दिठुमिच्छत्तु मोहु अवमाणिउ॥

—हरिवंश पुराण प्रशस्ति

मार्गी, लोभ, क्रोध और माया रूप मेघों को उड़ाने के लिए मारुति (वायु)देव थे। वे मलयकीर्ति जयवंत हो।[१७]

यह मयलकीर्ति वही जान पड़ते है जिन्होंने सं० १४९४ मे मूलाचार की प्रशस्ति लिखी थी। यह प्रतिष्ठाचार्य भी थे, इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तिया अनेक मन्दिरो मे मिलेंगी, किन्तु मुझे तो केवल दो मूर्ति लेख ही प्राप्त हो सके है।[१८] अन्वेषण करने पर और भी मिल सकते है। इनकी रचनाए अभी तक प्राप्त नही हुई। जिनका अन्वेषण करना आवश्यक है। यह कोई भिन्न मलयकीर्ति हैं।

भट्टारक गुणभद्र—भ० मलयकीर्ति के पट्टधर एव शिष्य थे। अपभ्रंश भाषा के विद्वान कवि तथा प्रतिष्ठाचार्य थे। आपने अपने जीवन को आत्म-साधना के साथ धर्म और समाज-सेवा मे लागाया था। आपके द्वारा रची गई १५ कथाए खजूर मस्जिद देहली के पचायती मन्दिर के एक गुच्छक में उपलब्ध है जिन्हे उन्होंने ग्वालियर मे रहकर भक्त श्रावकों की प्रेरणा से रचा था। उनके नाम इस प्रकार है—१ सवणवारसि कहा २ पक्खवइ कहा ३ आयास पचमी कहा ४ चदायणवय कहा ५ चंदण छट्ठी कहा ६ दुद्धारस कथा ७ णिद्दुह सप्तमी कहा ८ मउडसत्तमी कहा ९ पुष्पांजलि कहा १० रयणत्तय कहा ११ दहलक्खणवय कहा १२ अणंतवय कहा १३ लद्धविहाण कहा १४ सोलह कारण कहा १५ सुयंध दहमी कहा।[१९]

कवि ने इन कथाओं में व्रत का स्वरूप, उनके आचरण की विधि और फल का प्रतिपादन करते हुए व्रत की महत्ता पर अच्छा प्रकाश डाला है। इनमें से सवणवारसि कहा और लब्धि विधान कहा, इन दो कथाओं को ग्वालियर के उद्धरण के जिन मन्दिर मे बैठकर सारगदेव के पुत्र देवदास की प्रेरणा से रचा गया है। पुष्पांजलि, दहलक्खणवय कहा और रत्नत्रय कहा इन तीनो को जयसवाल वंशी लक्ष्मणसिंह चौधरी के पुत्र पंडित भीमसेन के अनुरोध से रचा है और नरक उतारी दुद्धारस कहा, ग्वालियर निवासी साहुवीधा के पुत्र सहणपाल के अनुरोध से रची गयी है। भ० गुणभद्र नाम के अनेक विद्वान हो गये हैं, परन्तु उनमें प्रस्तुत गुणभद्र सबसे भिन्न जान पड़ते है। इनका

---

१७ दीक्षादाने मुदक्षोवगतगुरु शिष्यत्वा क्षेत्रनाथ,
ध्यायतन्त्रं श्रान्तं शिष्टं चरित सहृदयो मुक्तिमार्गे।
यो लोभक्रोधमायाजलद विलयने मारुती माधुरेशः,
काष्ठासघे गरिष्ठो जयति स मलयाद्यस्तत कीर्तिसूरि ॥
—काष्ठासघ मा० प०

१८. सं० १५०२ वर्षे कातिक सुदी ५ भौम दिने श्री काष्ठा संघे श्री गुण कीर्तिदेवाः तत्पट्टे श्रीयशकीर्तिदेवाः तत्पट्टे मलयकीर्तिदेवान्वये साहु नरदेव तस्य भार्याजैनी।
सं० १५१० माघसुदि १३ सोमे श्री काष्ठासंघे आचार्य मलयकीर्ति देवा; तैः प्रतिस्ठितम् ॥
गुणागणमणिभूषो वीतकामादि शेषः कृत जिनमत तोपस्ततोष स्तत्पदेशान्त वेय.।
धनचरण विशेषः सत्यघोष विरोषो,
जयति च गुणभद्रःसूरिरानन्दसूरिः ॥ काष्ठासघ मो० पं०

१९. देखो, जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा० २ पृ० ११२

समय विक्रम की १६वी शताब्दी है। इनके समय मे अनेक ग्रन्थों की प्रतिलिपि की गई और मूर्तियो की प्रतिष्ठा भी हुई है। उनमे से दो मूर्ति लेख यहा दिये जाते है।

१-सं० १५२६ वैशाख सुदि ७ बुधे श्री काष्ठा संघे भ० श्री मलयकीर्ति भ० गुणभद्राम्नाये अग्रोत्कान्वये मित्तल गोत्रे आदि लेख है। यह धातु की मूर्ति भ० आदिनाथ की यक्षयक्षिणी सहित हैं।

२-सं० १५३१ फाल्गुण सुदि ५ शुक्रे काष्ठा-सघे भ० गुणभद्राम्नाये जैसवाल सा० काल्हाभार्या [जयश्री] आदि। यह मूर्ति १८ इच धातु की है।

इस सब विवेचन से पाठक भट्टारक गुणभद्र के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय प्राप्त कर सकते है।

भानुकीर्ति—भट्टारक गुणभद्र के पट्टधर थे। अपने समय के अच्छे विद्वान्, उपदेशक और प्रतिष्ठाचार्य थे। शब्द शास्त्र. तर्क, काव्य अलकार एवं छन्दो में निष्णात थे।[२०] इनके द्वारा लिखी हुई एक रविव्रत कथा मेरे अवलोकन मे आई है। परन्तु ग्रन्थ रचनाओ का अभी तक पता नही चला। इनका समय विक्रम की १६वी और १७वीं शताब्दी है।

कमलकीर्ति—हेमकीर्ति के पट्टधर थे। यह सं० १५०६ मे पट्टधर थे। उस समय चन्द्र वाड मे राजा रामचन्द्रदेव और उनके पुत्र युवराज प्रतापचन्द्र के समय कविवर रइधू ने शान्तिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की थी। तब हेमकीर्ति के पट्टधर कमलकीर्ति प्रतिष्ठित थे।[२१] इनका समय भी विक्रम की १६वी शताब्दी है।

इनके दो शिष्य थे, शुभचन्द्र और कुमारसेन। उनमे शुभचन्द्र कमलकीर्ति के पट्ट पर सोनागिर मे प्रतिष्ठित हुए थे।[२२] और कुमारसेन भानुकीर्ति के पट्ट पर आसीन हुए थे। कुमारसेन के शिष्य

---

२०. यो जानाति सुशब्द शास्त्रमनघ काव्यनि, तर्कादिद
सालंकार गुणैर्यु तानि नियतं जानाति छन्दासि च।
यो विज्ञानयुतो दयाशमगुणैर्भातीह नित्योदय,
जीयाच्छ्री गुणभद्रसूरि ···श्री भानुकीर्ति गुरु.॥

२१. देखो, जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह भाग २, पृ० १११ की टिप्पणी।

२२. सिरिकंज कित्ति-पट्टवरेसु, तच्चत्थ-सत्थभासण दिणेसु।
उदइय मिच्छत्त तमोहणासु, सुहचन्द भडारउ सुजसवासु॥
....
कमलकीर्ति उत्तम खमधारउ, भव्वह भव-अम्मोणिहितारउ।
तासु पट्ट कणयट्टि परिट्ठिउ, सिरि सुहचद सु- तव उक्कंट्ठिउ॥

—हरिवश प्रशस्ति

तत्पट्टमुच्चमुदयाद्रि मिवानुभानुः, श्री भानुकीर्ति रिह् भातिहताधकार।
उद्योतयन्निखिल सूक्ष्म पदार्थ सार्थान् भट्टारको भुवन पालक पद्मबन्धु॥६२

हेमकीर्ति दिल्ली के भट्टारक प्रभाचन्द्र के प्रशिष्य और शुभचन्द्र के शिष्य थे। ये वही हेमकीर्ति ज्ञात होते हैं जिनका उल्लेख स० १४६५ के बिजोलिया मे उत्कीर्ण शिलालेख मे हुआ है। इससे इनका समय विक्रम की १५वी शताब्दी है।

—जम्बूस्वामी चरित पृ० ८

हेमचन्द्र थे, और हेमचन्द्र के शिष्य पद्मनन्दि। पद्मनन्दि के शिष्य यशकीर्ति थे, जिन्होने स० १५७२ मे केशरियाजी में सभा मण्डप बनवाया था। इन यशःकीर्ति के दो शिष्य थे। गुणचन्द्र और क्षेमकीर्ति। गुणचन्द्र का सम्बन्ध दिल्ली पट्ट परम्परा से है।

माथुरगच्छ के एक अन्य कमलकीर्ति का उल्लेख मिलता है, जिन्होने देवसेन के तत्त्वसार की एक सस्कृत टीका बनाई है। वे अमलकीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने उस टीका की प्रशस्ति मे अपनी गुरु परम्परा निम्न प्रकार बतलाई है। क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति, सयमकीर्ति, अमलकीर्ति और कमलकीर्ति हो सकता है कि ये दोनो कमलकीर्ति एक हो। कारण कि स० १५२५ के मूर्ति लेख मे जो कविवर रइधू द्वारा प्रतिष्ठित है उसमे भ० अमलकीर्ति और उनके बाद शुभचन्द का उल्लेख है।[२३] और यह भी हो सकता है कि दोनों कमलकीर्ति भिन्न ही हों, क्योंकि दोनो के गुरू भिन्न-भिन्न हैं, और यह भी सम्भव है कि एक विद्वान के दीक्षा और शिक्षा गुरु के भेद से दो विद्वान गुरु रहे हों। कुछ भी हो, इस सम्बन्ध मे अन्वेषण करना अत्यन्त आवश्यक है। कुमारसेन[२४] भानुकीर्ति के शिष्य थे। स्याद्वाद रूप निर्दोष विद्या के द्वारा वादी रूपी गजो के कुम्भस्थल के विदारक थे। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के धारक थे। कामदेव के जीतने वाले तथा महाव्रतो का आचरण करने वाले थे। अच्छे विद्वान तपस्वी और जनकल्याण करने मे सदा तत्पर रहते थे। इसी से पाण्डे राजमल जी ने उनकी विजय कामना की है।

जीते क्रोध क्षमा से साधक
और मान को मार्दव से
माया को आर्जव से जीते
और लोभ सतोष से।

—अर्हत्

२३. शिष्योऽथ शुभचन्द्रस्य हेमकीर्ति महासुधी।

—देखो, अनेकान्त वर्ष ११ कि० पृ० ३६

२४. तत्पट्टमब्धिमभिवर्द्धन हेतुरिन्द्रः, सौम्य सदोदयमयोलसदंशु जालैं।
ब्रह्म व्रताचरण निर्जित मारिसेनो, भट्टारको विजयतेऽथ कुमारसेन ॥

—जंबूस्वामी चरित्त ६३ पृ० ८

ऊपरगांव के जैन मन्दिर का अप्रकाशित शिलालेख

□ श्री रामवल्लभ सोमाणी

ऊपर गाव डूंगरपुर के समीप स्थित है। यहा के दिगम्बर जैन मन्दिर मे वि. स १४६१ का शिलालेख लग रहा है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। मन्दिर अब ध्वस्त हो गया है और मूलनायक प्रतिमा डूगरपुर के मन्दिर मे रखवा दी गई है। शिलालेख बहुत लम्बा और ३६ पक्तियों का सुन्दर खुदा हुआ है। इसे भी अब डूगरपुर मे सुरक्षित रखवा दिया गया है।

बागड दीर्घकाल से जैन धर्म का केन्द्र रहा है। प्रसिद्ध तीर्थ केसरियाजी इसी क्षेत्र की सीमा के पास है। वि स ११६६ का शिलालेख अर्थूणा से मिला है। इस लेख मे वर्णित है कि जब परमार राजा विजयराज वहां राज्य करता था तब नागर वशी जैन भूषण ने आदिनाथ भगवान का मन्दिर बनवाया। इसमें छत्रसेन नामक माथुरसघ के आचार्य का उल्लेख हैं। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भी यहा जैन धर्म का विकास बहुत ही पहले हो गया था।

ऊपर गाव वाले लेख मे प्रारम्भ के ८ श्लोकों मे सुन्दर मंगलाचरण है। आगे राज पद्धति वर्णित है जो श्लोक सं. ६ से २० तक है। इसके बाद काष्ठासंघ नन्दितट गच्छ के आचार्यों के नाम हैं जिनके सबके आगे प्राय: सेन या कीर्ति लिखा हुआ है। यह वर्णन श्लोक सं. २८ तक है। श्लोक सं० २६ से श्रेष्ठि वंश वर्णन है। अन्त मे कुछ गद्य है।

इस लेख का सबसे महत्वपूर्ण भाग इसका राजपद्धति वाला है क्योकि डूंगरपुर के राजाओ की प्रथम विस्तृत शुद्ध वंशावली है। श्लोक सं० ६ मे भगवान एकलिंग की स्तुति की गई है और आगे के श्लोक मे उनके प्रसाद से बप्परावल को राज्य मिलना वर्णित है। आगे बप्पा के उत्तराधिकारियो का वर्णन है। जिसका सार इस प्रकार है" गुहिल वंश मे बाघा का पुत्र खुम्माण हुआ। इस के वंश मे बैरड बैरिसिंह पद्मसिंह आदि शासक हुए जैत्रसिंह ने पृथ्वी को विजित किया और सीहड के द्वारा यह राजान्वती हुई। इसमे प्रथम बार सीहड का सम्बन्ध मेवाड के महाराजा जैत्रसिंह से किया गया है। डूंगरपुर के पश्चात् कालीन शिलालेख उदाहरणार्थ जिनेश्वर मन्दिर का वि. सं. १६१७ का लेख, महारावल आशकर्ण की प्रशस्ति और गोवर्धन नाथ के मन्दिर वि स. १६७६ की प्रशस्ति आदि में सीहड को सामंतसिंह का उत्तराधिकारी बतलाया गया है। अपने-अपने विस्तृत लेख" बागड़ मे गुहिल राज्य की स्थापना और Foundation Guhila Puri in Bagada मे इसको विस्तार से वर्णित किया है। इसमें ओझाजी प्रभृति विद्वानों की इस मान्यता का मैंने इस ऊपर गांव के जैन शिलालेख

के आधार पर खण्डन किया था कि सीहड़ जिसे डूंगरपुर का मौजूदा राजवंश चला था सामन्तसिंह का पौत्र नहीं था बल्कि मेवाड के महारावल जैत्रसिंह का पुत्र था।

आगे के श्लोक में सीहड़ के पुत्र जैसल का वर्णन है। ओझाजी ने इसका नाम विजयसिंह माना है। इसके २ शिलालेख अब तक मिले हैं (१) वि.स. १३०६ फाल्गुण सुदि का जगत गाव का और झाडोल का वि. स. १३०८ का। इन दोनों मे इसे जयसिंह पढ़ा है। ओझाजी की मान्यता थी कि झाडोल के शिलालेख मे "विजयनाथ मन्दिर" के निर्माण का उल्लेख है अतएव राजा का नाम विजयसिंह होना चाहिए। किन्तु यह केवल कल्पना है। मुझे अभी डूंगरपुर मे इस शिलालेख की मूल छाप देखने का भी अवसर मिला। इसमे मूल शब्द "वयजनाथ देव" है जिसका स्पष्ट अर्थ वैद्यनाथ होता है। ऊपर गाव की इस प्रशस्ति का वर्णन ही अधिक उपयुक्त लगता है कि उसका नाम जैसल या जयसिंह होगा। एकलिंग मन्दिर के समीप स्थित। चीखागाव के वि. स. १३३० के विस्तृत शिलालेख मे प्रसगवंश अर्थूणा के युद्ध मे जैसल के लिए मेवाड की सेनाओ का तलारक्ष मदन की अध्यक्षता मे लड़ना वर्णित है। ओझाजी ने इस जैसल शब्द को मेवाड के शासक जैत्रसिंह का नाम माना है और वागड के शासक का नाम विजयसिंह माना है जो दोनो ही स्पष्टत. गलत है ऊपर गाव के इस लेखके अनुसार यह जैसल शब्द वागड के शासक के लिए ही प्रयुक्त हुआ था। इसका उत्तराधिकारी देवपाल हुआ था। अन्य वशावलियो में सीहड़ के बाद सीधा देवपाल का नाम दिया गया है। उनमे जैसल का नाम छूटा हुआ है। इसका समाधान इस प्रशस्ति मे स्पष्ट रूप से दिया गया है कि सीहड़ के २ पुत्र थे एक जैसल और (२) देवपाल। अतएव इसकी यह सूचना भी महत्वपूर्ण है। वशावली मे इसमे सिधुर नाम के एक शासक का नाम और जोड़ा गया है जो अन्य प्रशस्तियो मे नहीं है। इसके लिए यह भी लिखा है कि इसने अमरसिंह नामक एक शत्रु को हराया था। इस सम्बन्ध में और शोध की आवश्यकता है।

इस प्रकार राजवश वर्णन की दृष्टि से यह प्रशस्ति बड़ी महत्वपूर्ण है। साधुओ के जो नाम आये हैं वे ये है गर्गसेन, नागसेन, नोपसेन रामसेन यश.कीर्ति कनकसेन शुभकर सेन, अनन्त-कीर्ति, मारसेन केशवसेन देवकीर्ति नयकीर्ति राज-कीर्ति पद्मकीर्ति पद्मसेन भावसेन और रत्नकीर्ति। आगे श्रेष्ठि भाहड़ का वर्णन है जो नरसिंहपुरा जाति का था। अन्त मे सवत् का कुछ अश इस प्रकार है —

"संवत १४६१ वर्षे वैशाख सुदि ५ पचम्याम् शुक्रवारे राउल श्री प्रतापसिंह विजय राज्ये

ऊपर गामनाम्नि ग्रामे श्री काष्ठासघ नदि तटगच्छे श्री रत्नकीर्ति स्यादेशात् नारसिंह ज्ञातीय खरनहर गोत्रे "आदि"

इस क्षेत्र में और भी कई मन्दिर है जिनमें शिलालेख लगे हुए है। मेवाड और बागड़ क्षेत्र के विस्तृत Survey की पूर्ण आवश्यकता है।

●●●

राजस्थान के प्रमुख जैन तीर्थ

□ पं० अनूपचन्द न्यायतीर्थ

राजस्थान प्रारम्भ से ही भारतीय सस्कृति एव कला का केन्द्र रहा है। यहा के राजाओ ने सस्कृति एव कला के उत्थान मे अपना पूर्ण योग दिया है एक ओर जहा राजस्थान ने अपनी आन बान पर मर मिटने वाले वीर पुत्रो को जन्म दिया है दूसरी ओर उसने समाज और संस्कृति की रक्षा करने वाले अनेक साहित्यकार एव कलाकारो को अपनी गोदी में पाल पोष कर बडा किया है। राजस्थान अपनी वीरता के क्षेत्र मे जहा सबसे आगे रहा और रणथभौर, चित्तौडगढ, हल्दीघाटी, माडलगढ आदि वीर भूमिया आज भी उसका यशोगान करती है उसी प्रकार वह अपनी संस्कृति एवं कला के क्षेत्र मे किसी से पीछे न रहा और रणकपुर, आबू, ऋषभदेव, पुष्कर, आदि धर्म स्थान उसके युगो से यशोगान करते आ रहे है। इन सभी धर्म स्थानो मे जनता एव शासन के सौहार्द पूर्ण सहयोग से ही सस्कृति एव कला जीवित रह सकी है।

भारत एक धर्म प्राण देश है। यहां धर्म के नाम पर अनेक तीर्थों की स्थापना हुई है। जिस स्थान मे मनुष्य को अपने तथा पर के कल्याण करने की प्रेरणा मिलती है वह तीर्थ कहलाता है। अथवा जहा से मनुष्य के हृदय मे तीर्थकर (परमात्मा) बनने की प्रेरणा उठे वह तीर्थ कहलाता है। उन पवित्र या पुण्य स्थानो को जहा धर्म भाव से श्रद्धा सहित लोग पूजा या अर्चना के लिये जाते हैं तीर्थ क्षेत्र कहते है। जैन मान्यतानुसार ऐसे क्षेत्र तीन प्रकार के होते है—तीर्थ क्षेत्र, निर्वाण क्षेत्र और अतिशय क्षेत्र।

तीर्थ क्षेत्र—जिस स्थान पर किसी भी तीर्थकर का गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण कल्याण को मे से कोई भी एक तथा पाचो कल्याण हुए हो—यथा कैलाश, चम्पापुर पावापुर, सम्मेदशिखर गिरनार शत्रुंजय कुण्डलपुर अयोध्या बनारस हस्तिनापुर आदि।

निर्वाण क्षेत्र—वह स्थान जहां से तीर्थकर अथवा अन्य तपस्वियों ने तपस्या कर निर्वाण प्राप्त किया हो यथा कैलाश, चम्पापुर, पावापुर, गिरनार समेद शिखर, मांगीतुंगी, सिद्धवरकूट, द्रोणागिरि, नैनागिरि सोनागिरि आदि।

अतिशय क्षेत्र—जो स्थान किन्ही विशेषताओ के कारण, किन्ही कुतूहल प्रिय घटनाओ अथवा चमत्कारो के कारण या आश्चर्यकारी उपलब्धियो के कारण पूज्य अथवा आदरणीय माने जाते हैं। यथा—

जैनविद्री, मूडविद्री, कारकल, चन्देरी, श्री महावीरजी, पद्मपुरा, चमत्कारजी, चांदखेडी, तिजारा,

रणकपुर, आबू, मक्षीपार्श्वनाथ, अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ आदि ।

उपरोक्त प्रकार के तीर्थ प्राय भारत के सभी भागो में फैले हुए हैं। तीर्थ स्थानो पर जाकर मनुष्य अपने आपको धर्म एव अपनी संस्कृति से अनुप्राणित पाता है और स्वय मे एक गौरव अनुभव करता है। तीर्थ स्थान धर्म स्थान होने के कारण शान्ति के स्थान माने जाते है। यदि तीर्थ स्थान पर भी मनुष्य को शान्ति नही मिलती तो उसका वहा जाना वृथा होता है। प्राय सभी प्राचीन तीर्थ ऐसे स्थानो पर थे जहा पहिले कठिनाई से पहुचा जाता था, बिजली पानी की सुविधाए नही थी, तथा नागरिक कोलाहलपूर्ण जीवन की अशान्ति से दूर थे। वहा जाकर मनुष्य असुविधाओ के होते हुए भी अपने को पूर्ण सुखी एव कृतकृत्य मानता था। आज सभी क्षेत्रो पर पूर्ण सुविधाए है लोग आसानी से पहुच सकते है यद्यपि आधुनिक सुविधाओ के कारण वहा का वातावरण भी शहरी जैसा ही अशात बन गया है किन्तु साधन और सुविधा के कारण यात्रियो की सख्या अधिक बढी है—

राजस्थान मे भी अनेक जैन तीर्थ है जिनमे प्रमुख-प्रमुख तीर्थों (अतिशय क्षेत्रो) का परिचय प्रस्तुत लेख मे दिया जा रहा है। ये सभी क्षेत्र सस्कृति एव कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है एव राजस्थान के गौरव स्वरूप है। उक्त तीर्थों की स्थापना, रक्षा तथा सवृद्धि मे जैन समाज ने तो अपना तन-मन-धन न्योछावर किया ही है किन्तु तत्कालीन राजा महाराजाओ का भी पूर्ण सहयोग रहा है और उसी के फल स्वरूप संस्कृति एव कला के जीते जागते ये तीर्थ मस्तक उन्नत किये लाखो दर्शनार्थियो को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं तथा उन्हें सद्बुद्धि प्राप्त होने की प्रेरणा देते हैं—

राजस्थान में प्रायः अतिशय क्षेत्र ही हैं और उनमे से कतिपय क्षेत्रो का वर्णन नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

१ आबू (अर्बु दाचल) दिलवाडा

आबू राजस्थान का शिमला कहा जाता है। यह देहली, अहमदाबाद लाइन पर स्थित है। आबू रोड स्टेशन से १४ मील की चढाई पर यह स्थान है। यहा गर्मी के थपेडो से घबरा कर शीतलता की शरण पाने को अनेक पर्यटक आते हैं। बादल पहाडों को छूते नजर आते हैं। पहाड की चढाई विकट है। आबू रोड मे माउन्ट आबू पहुंचने के लिये यातायात की तथा यहा ठहरने की पर्याप्त व्यवस्था है। यहा ग्रीष्म ऋतु मे पहिले वाइसराय दफ्तर तथा मिलिट्री का कैम्प रहता था आजकल भी राजस्थान राज्यपाल का वहां गर्मी मे निवास रहता है तथा अनेक कार्यालय भी रहते है। पहाड पर जाने का १) एक रुपया प्रति यात्री सरकार द्वारा कर लिया जाता है। आबू विशेषकर जैन मन्दिरों के लिये विश्व विख्यात है। यहा के जैन मन्दिर देखने के लिए ही अधिकाश यात्री आते हैं और उनकी कारीगरी देख अपने आपको धन्य मानते है।

आबू अर्बुदाचल तथा दिलवाडा के नाम से भी प्रसिद्ध है। यहा दो श्वेताम्बर तथा दो दिगम्बर जैन मन्दिर है। दोनो ही श्वेताम्बर मन्दिर मनोज्ञ कला पूर्ण एवं दर्शनीय है। वास्तुकला की दृष्टि से ये मन्दिर बेजोड़ है। पत्थर की कुराइ का इतना सुन्दर कार्य कहीं देखने को नही मिलता। शिल्प-कार ने अपनी टांची से इन प्राणहीन प्रस्तरों को सजीव सा बना दिया है। यहा जैसा कि ऊपर कहा गया है दो मन्दिर हैं। एक 'विमल वसही' जिसे राजा भीमदेव के सेनापति विमलशाह ने संवत १०८८ तदनुसार सन् १०३१ मे १८,५३,००,००० अठारह कोड तरेपन लाख रुपये की लागत से बन-

वाया तथा दूसरा 'लवण बसही' जिसे वीरधवल राजा के मन्त्री वस्तुपाल तेजपाल ने स० १२८७ तदनुसार सन १२३१ मे १२,५३,००,००० रुपये के लागत से बनवाया .

सभा भवन, गुंबज, तारेणद्वार खभो तथा तिबारों की छतों की कारीगरी देखकर दर्शक दातों तले अंगुली दबा लेता है। एक खंभे तथा छत मे जो कार्य उत्कीर्ण है वह दूसरे मे नही मिलेगा। कहते हैं जितना दिनभर मे शिल्पकार पत्थर मे कुराई का कार्य करता था उतने खड्डे मे जितना स्वर्ण भर जाय उतना उसे दे दिया करते थे। निज मन्दिर के बाहर सभा मण्डप मे देवरानी जिठानी के द्वारा बनवाई गई दो वेदिया अत्यधिक महत्वपूर्ण है। बेलबूंटे, फूल की पखुडिया, पत्तिया पत्थर को तराश कर इस प्रकार बनाई गई है कि सब आश्चर्य चकित रह जाते है। ये भारतीय प्राचीन सस्कृति एवं कला के उत्कृष्ट नमूने है जिन्हे सब प्रकार के आतंको से सुरक्षित रखा गया है। इतने ऊंचे पहाडो एव घने जगलो के बीच इतनी सामग्री पहुंचाई जाकर किस प्रकार ये देवालय खड़े किये गये है और वे भी उस युग मे जब कि कोई आज कल जैसे यातायात के साधन उपलब्ध नही थे कम आश्चर्य की बात नही है। इन मन्दिरो मे विशाल एव मनोज्ञ जिन प्रतिमाएं है। मन्दिर के सामने हस्तिशाला है जिसमें वस्तुपाल तेजपाल घोड़े पर सवार हैं। इन्ही दोनो मन्दिरों के बीच से जाकर आगे कुंथनाथ स्वामी का दिगम्बर जैन मन्दिर है जिसमे ११ वी शताब्दी की मनोज्ञ पाषाण प्रतिमा भी है। इसमे २२ प्रतिमाए और हैं। दोनों उक्त मन्दिरो के सामने की ओर एक और दिगम्बर जैन मन्दिर है। इसमे भी ११ वी शताब्दी की पाषाण की विशाल मूल नायक प्रतिमा है तथा १८ प्रतिमाएं और है। यात्रियो के ठहरने के लिये धर्मशाला भी है।

दिलवाडा पर कई धर्मशालाएं हैं तथा यात्रियों के ठहरने की पूर्ण व्यवस्था है।

यहा राजा महाराजाओं की अनेक कोठिया है मिलिट्री ट्रेनिंग स्कूल है। दर्शनीय स्थानो मे जैन मन्दिर नकीझील, सूर्यास्त स्थल (Sun Set point) आदि प्रमुख है। यहा से ५ मील दूर अचलगढ स्थान है जहा धातु की विशाल जैन मूर्तिया है— कहते है ये सोने की मूर्तिया है और इनका प्रत्येक का वजन करीब एक सौ मन है।

रणकपुर—

रणकपुर राजस्थान में प्रसिद्ध श्वेताम्बर तीर्थ है। यहां अजमेर से अहमदाबाद जाने वाले पश्चिमी रेल्वे के फालना स्टेशन से पहुचा जा सकता है। रणकपुर क्षेत्र पर सडक मार्ग से उदयपुर कांकरोली चार भुजा आदि होते हुए पर्वतीय प्रदेशो मे घने जंगल एवं घाटियां पार करके देसुरी की नाल से पहुचना होता है। यह क्षेत्र पहाडो की गोद में बसा हुआ है। पास मे नदी बहती है। यहा का मंदिर वास्तु कला की दृष्टि से ससार मे प्रसिद्ध है। दिलवाडा के जैन मंदिरों की तरह यहा भी पत्थर की कुराई का काम दर्शनीय है। इस मंदिर की कलात्मक विशेषताओ से विदेशी पर्यटक अत्यधिक प्रभावित हुए है। रणकपुर राजस्थान की जैन कला और धार्मिक भावना का सजीव चित्र है। भारतीय स्थापत्य कला का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक यह मंदिर अरावली की सुरम्य घाटियो में स्थित है।

मंदिर के एक शिलालेख से पता चलता है कि यह मंदिर पौरवाड जाति मे धारणाक धन्ना नामक महान जैन भक्त के द्वारा निर्माण कराया गया था। इस लेख मे धारणाक के परिवार की पूरी प्रशस्ति दी गई है। इस मंदिर के निर्माण मे सभी परिवार वालों ने सहायता दी थी। इसका नाम राणपुर भी दिया गया है जो राणा कुम्भकर्ण के नाम पर पड़ा प्रतीत होता है। यह मंदिर त्रैलोक्यदीपक के

नाम से भी प्रसिद्ध है। मंदिर के निर्माताओं मे राज्य का भी काफी हाथ था। इस मंदिर के निर्माताओं मे राणा कुंभा का नाम विशेषतौर से लिया जाता है। मंदिर के क्षेत्र का नाम भी उन्ही के नाम से है और कहते हैं मंदिर की जमीन भी इसी शर्त पर दी गई थी कि इसका नाम राणा के नाम पर रखा जावे। चित्तौड़ का कीर्तिस्तंभ रणकपुर का मंदिर तथा आबू का कुंभाश्याम राणा कुंभा की कलाप्रियता के प्रतीक हैं। इस क्षेत्र का नाम राणा कुंभा के नाम पर 'राणा' और पौरवाड़ जाति के श्रावक के नाम से 'पुर' इस तरह 'राणपुर' पड़ा। इसे राणकपुर भी कहने लगे है। इतिहासकार 'टॉड' के अनुसार इसकी नीव सन् १४३८ (वि० सं० १४९५) मे पड़ी और सन् १४३९ (वि स १४९६) मे मंदिर की प्रतिष्ठा हुई। किन्तु यह ठीक प्रतीत नही होता। एक वर्ष मे मंदिर का निर्माण हो जाना असभव है। सं. १४९६ का लेख देखिये-श्री चतुर्मुख जिनयुगादिश्वराय नम वि० सं० १४९६ संख्या वर्षे श्री मेदपारधिरज·······"

उक्त शिला लेख से प्रकट होता है कि इसकी प्रतिष्ठा स० १४९६ मे हुई थी।

एक अन्य मूर्ति जो सं. १४७५ की है मे प्रतीत होता है कि इस मूर्ति के यहा आने के पश्चात् इस मंदिर की प्रतिष्ठा हुई हो। इसमे करीव २० वर्ष का अन्तर है। यह कुछ ठीक प्रतीत होता है। इस तरह निर्माण काल सं. १४७५-७६ हो सकता है।

इस मंदिर के बीच मे निजवेदी है। चारो ओर ४ सभा मडप है वेदियो मे चतुर्मुखी प्रतिमाएं विराजमान हैं। मंदिर मे चारों ओर वेदिया (देहरियाँ) बनी हुई है। उनमे सभी मे प्राचीन जैन मूर्तियां विराजमान है।

चारों सभा मंडप कला पूर्ण हैं तथा दुमंजिले हैं। कला सभी मंडपो मे भिन्न २ हैं। सभी सभा मंडप ४० फीट ऊँचे खंभो पर टिके हुए हैं। सभी खंभे कलापूर्ण है। इस मंदिर मे कुल १४४४ खभे हैं जिन पर मंदिर के चारों ओर के गुबज गये हुये हैं। इनमे सबसे बड़ी विशेषता खंभो की "सीमेट्री" है। किसी भी जगह खडे होकर देखिये उस तरफ के सारे खँभे एक ही कतार मे दिखाई देगे। इसके अतिरिक्त एक विशेषता और है कि किसी भी देहरी के सामने ये खभे नही आते जिससे कि दर्शनो में आड पड़ सके। सभा मडप तथा खंभों की कुराई छतों के झाड आदि के कार्य बहुत ही उच्च कोटि का है। संपूर्ण मंदिर इतना कलापूर्ण है कि दर्शक देखते २ नही अघाता। एक बड़े शिलाखड पर पार्श्वनाथ की सहस्रफणी मूर्ति बडी मनोज्ञ है।

क्षेत्र पर सब तरह की सुन्दर व्यवस्था है। यात्रियो के लिये ठहरने तथा ओढ़ने बिछौने की की भी पूर्ण व्यवस्था है। काफी विदेशी पर्यटक आते हैं। मंदिर के ऊपर के शिखर दूर से ही यात्रियो को अपनी ओर बुलाते हैं।

ऋषभदेव (केशरियाजी)

यह स्थान मेवाड़ मे उदयपुर से ४० मील दूर दक्षिण की ओर पहाडियो मे है। उदयपुर से डूंगरपुर जाने वाले मार्ग पर यह स्थान मुख्य सड़क से करीव १।। मील दूर रहता है। अब यहा मोटर से तथा रेल से जाने के दोनो ही साधन हो गये है। उदयपुर से डुंगरपुर जाने वाली तथा डूंगरपुर से उदयपुर आने वाली प्रत्येक बस ऋषभदेव ठहर कर आती हैं। बसे प्रति एक घंटे के फासले से चलती हैं। यह स्थान ऋषभ देव, केशरिया तीर्थ, तथा धूलेव के नाम से भी प्रसिद्ध है।

यहा दि० जैनो के करीब १०० घर हैं तथा ६-७ मन्दिर चैत्यालय हैं। जैन विद्यालय तथा छात्रावास हैं। मेवाड़ प्रांत के प्रसिद्ध भट्टारक यश:कीर्ति जी महाराज भी यहा कभी कभी विरा-

जते हैं उनका यहां एक चैत्यालय है तथा एक ग्रंथ भण्डार भी है जिसमें अच्छी संख्या में हस्तलिखित प्राचीन एवं महत्वपूर्ण ग्रंथ विराजमान हैं। यह भण्डार प्रतिष्ठाचार्य प० रामचन्द्र जी तथा प० चंदनमलजी की देखरेख मे है। यहा ऋषभदेव के मन्दिर के चारो ओर परकोटा है। परकोटे मे कई धर्मशालाए हैं। इस क्षेत्र का प्रबन्ध देवस्थान विभाग राजस्थान सरकार की देखरेख मे है मंदिर बहुत विशाल एव प्राचीन है। मन्दिर के बाहरी द्वार पर पत्थर के दो विशाल हाथी है। सीढ़िया चढ़कर अन्दर घुसने पर सभा मण्डप है, चौकी है इसमे से निजमन्दिर मे प्रवेश किया जाता है।

निजमन्दिर मे ऋषभदेव भगवान की श्यामवर्ण की ३½ फीट ऊंची पद्मासन प्रतिमा है। प्रतिमा अत्यन्त प्राचीन एवं मनोज्ञ है। इस पर केशर बहुत चढ़ाई जाती है इसलिये इसे केशरियानाथ जी के नाम से भी पुकारते है। भील लोग इसे काले पत्थर की होने के कारण कालाजी धूलेव ग्राम मे होने के कारण 'धूलेवा धणी' भी पुकारते हैं। प्रतिमा पर किसी प्रकार का लेख या सवत नही है किन्तु फिर भी यह निश्चित है कि प्रतिमा अति प्राचीन है। इस प्रतिमा के सम्बन्ध मे कुछ किवदन्तियां निम्न प्रकार हैं—

१. कहते हैं इस प्रतिमा को रामचन्द्रजी लंका विजय करके वहां से साथ लाये थे और उज्जैन मे विराजमान थी। और बाद मे यहा लायी गई।

२. इस मन्दिर से २० मील दूर किसी मन्दिर मे बादशाह अलाउद्दीन ने इस मूर्ति को तोडना चाहा था किन्तु उसकी फौजें अंधी हो गयी और न तोड़ सका – पुजारी को स्वप्न हुआ उसी अनुसार कावड़ में रख कर यहा लाया गया और मन्दिर बना।

३. चादनपुर के महावीर की तरह गाय का दूध झरने की जगह से खोद निकालना। यहा से कुछ दूरी पर पगल्याजी हैं वहा निकलने का स्थान है।

४. धूलिया भीलके स्वप्न के अनुसार जमीन में से निकलने के कारण धूलिया ग्राम नाम पड़ा।

उक्त किवदन्तियों मे प्रामाणिक क्या है यह तो पाठक स्वयं सोचें किंतु इतना अवश्य ज्ञात होता है कि मूर्ति किसी दूसरी जगह निकली है और यहां लाकर विराजमान की गई है।

मूर्ति बहुत चमत्कारपूर्ण है। अनेको के कार्य सिद्ध होते है अत. अधिक मान्यता है।

भारत का यह प्रसिद्ध एक ऐसा मन्दिर है जहा दिगम्बर श्वेताम्बर जैन, वैष्णव, शैव, भील एव सभी जाति वाले समान रूप से मूर्ति को पूजते हैं, प्रातः ६ बजे तक प्रक्षालन के पश्चात् आंगी आदि चढाई जाती है। मूर्ति के चारों ओर परिकर में नग्न खड्गासन मूर्तियों से ज्ञात होता है कि यह मूर्ति दिगम्बर है। चारो ओर भी अनेक मूर्तियाँ है जिन पर दिगम्बर आम्नाय के लेख हैं। खेलमण्डप में लगे विक्रम स. १४३१ का लेख काष्ठा संघी भट्टारक धर्मकीर्ति का है। उनके उपदेश से इसका जीर्णोद्धार हुआ। यह मन्दिर १२, १३ वीं शताब्दी का प्रतीत होता है। इसके ४८ भव्य शिखर अति मानोज्ञ हैं। उनमे जैन मूर्तियो के अतिरिक्त सभी धर्मों के देवीदेवताओं की मूर्तिया भी हैं।

मन्दिर मे कई जगह दिगम्बर लेख एव मूर्तिया हैं।

चमत्कार क्षेत्र

यह क्षेत्र राजस्थान में जयपुर राज्यान्तर्गत जिला सवाईमाधोपुर मे है। सवाई माधोपुर दिल्ली से बम्बई जाने वाली बड़ीलाइन पर रेल्वे जंक्शन

है। यहा से जयपुर को छोटी लाइन जाती है। रेल्वे स्टेशन से सवाई माधोपुर शहर में जाने वाली सड़क पर स्टेशन से करीब १-१।। मील की दूरी पर चमत्कार क्षेत्र स्थित है। इस स्थान का नाय पहिले ग्रालनपुर था। भादवा बुदी २ सं० १८८९ को यहा एक बिल्लोर की जैन मूर्ति प्रकट हुई। सवाई माधोपुर के जैनो ने एक महोत्सव करके उसे यहा स्थापित की। इस मूर्ति की महिमा चारो ग्रोर फैली—जिन शासन के प्रभाव से कुछ ऐसा भी हुआ कि केशर की वर्षा होने लगी—सभी के कार्य सिद्ध होने लगे। हजारो यात्री ग्राने लगे। सभव है ऐसी महिमा (चमत्कार) के नाम पर क्षेत्र का नाम चमत्कार पडा। ढूढाहर देश मे ऐतिहासिक गढ रणथम्भौर (रणतभँवर) विश्वभर में प्रसिद्ध है। उसमे जाने वाले एक रास्ते का नाम 'भैरूदरा' है। ढूढाहर (जयपुर) के महाराजा माधोसिंह ने भैरवदेरे के बीच मे एक नगर बसाया जो सवाई माधोपुर के नाम से प्रसिद्ध है। सवाई माधोपुर मे ग्रनेक जैन मन्दिर हैं जिनमे सैकडो मूर्तिया विराजमान है। यहा स० १८२६ मे एक वृहद् प्रतिष्ठा समारोह हुआ था।

ग्रालणपुर स्थित चमत्कार क्षेत्र एक परकोटे मे स्थित है। मन्दिर के चारो ग्रोर यात्रियो के ठहरने के लिए स्थान है। ग्राजकल तो यह स्थान जाति भूषण श्री सेठ शातिप्रसाद जी साहु के सहयोग से अत्यन्त मनोरम बन गया है। मन्दिर बहुत सुन्दर एव स्वच्छ है। क्षेत्र सबधी परिचय एक पूजा मे निम्न प्रकार है—

देस ढुढाहड कैविषे रणतभवर गढसार
ताका शुभ भैरूदरो बाह्य ग्रालणपुर ज्हार
+ +

भादवबुदि दोयजभली ग्रष्टादस सतसार
ग्राठनवति समत विषै प्रकट भये सुखकार ।।

माधवनृप ढुढाहड के सवाई माधोपुर थान
भैरवदर के मध्य इक नगर बसायौ महान्
तामैं जैनी बहुत बसैं मन्दिर महा जिनराय
बंदैं पूजैं पुन्यफल पावत महा सुखदाय
सब भविजन इकठ्ठे भये महान् उछाहकराय।
ग्रालणपुर मन्दिर विषै थापे श्री जिनराय ।।
दसूंदिस मे परगह भये वरदायक जिनराय
ताकेवदन जातरी आवत निजशुभ काज ।।
× ×

जिन प्रभाव ऐसो भयौ वरस्यो केसरनीर
देवा सदा सेवा करैं जिनवर प्रछन गहीर ।।
दरसण पूजन करत ही हिय उपज्यो उल्हास।
जिनवर पूजन यह रची सरूप जिनेन्द्र प्रभाव ।।
चमत्कार जिन बंदस्या।

ग्राजकल चमत्कार क्षेत्र पर इतने अधिक यात्री नही ग्राते जितने पहिले ग्राते थे इसमें मूल कारण लोगो को कोई चमत्कार न दिखाई देना ही ग्राता है। फिर भी क्षेत्र पर यात्री ग्राते ही रहते है।

चांदखेड़ी

राजस्थान मे चाँदखेडी ग्रतिशय क्षेत्र अपना विशेष स्थान रखता है। यह कोटा डिस्ट्रिक्ट मेखानपुर निजामत का ग्राम है यहा जैनो के करीब ३० घर है गाव से करीब पाव मील दूरी पर चादखेडी नाम की वस्ती है। यहाँ नदी के किनारे एक विशाल मन्दिर है। मन्दिर का कुछ भाग जमीन मे दबा हुआ है। यहा भगवान ग्रादिनाथ की श्वेत पाषाण की ४½ फीट ऊंची पद्मासन विशाल मनोज्ञ एव अतिशय पूर्ण प्रतिमा है। यह प्रतिमा नीचे बहरे में विराजमान है तथा इसके दोनो ग्रोर शान्तिनाथ की दो विशाल प्रतिमाएं ग्रौर विराजमान है। यह इतती आकर्षक है कि घण्टो सामने बैठे रहने पर उठने को मन नही करता इस मन्दिर मे कुल मिला कर करीब ५८० मूर्तिया है।

एक कीर्तिस्तंभ है। चौक के बीच मे एक चबूतरा है जो मण्डल विधानादि के लिए सुरक्षित है। यहां सं० १७४६ मे एक विशाल प्रतिष्ठा समारोह हुआ था जिसमे हजारो मूर्तिया प्रतिष्ठित हुई थी और आज भी जगह-जगह वहां की प्रतिष्ठित मूर्तिया मिलती है। यह प्रतिष्ठा महोत्सव भट्टारक जगत्कीर्ति की देखरेख मे बूदी निवासी सघी कृष्णदास (किशनदास) बघेरवाल ने करवाया था।

मूर्ति के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि यह मूर्ति पहिले बारापाटी के जंगलों मे विराजमान थी। कहते हैं किसी को स्वप्न आया था वह मूर्ति को ले जावे तथा जहा मूर्ति ठहर जावे वही मन्दिर बनवा देना।

तदनुसार मूर्ति लाई गई और वह नदी के बीच ही स्थित रह गई और नदी मे ही मन्दिर बनाना पडा। सवत १७४२ मे मूर्ति वहा अटल हुई तथा संवत १७४६ मे मन्दिर तैयार होकर उसकी प्रतिष्ठा हो गई। इस प्रतिष्ठा महोत्सव मे कोटा राज्य की ओर से पूर्ण सहायता दी गयी थी। प्रतिष्ठा महोत्सव में सोमकीर्ति विजयकीर्ति यश कीर्ति मगलकीर्ति भुवन कीर्ति धर्मकीर्ति वृजेन्द्रकीर्ति महेन्द्रकीर्ति एवं सुमतिकीर्ति भट्टारक सम्मिलित हुये थे।

मन्दिर के बाहर मानस्तम्भ है। बगीचा आदि लगा है। नीचे नदी बहती है। स्थान बड़ा रमणीक हैं। यहां प्रतिवर्ष चैत्र मास की नवमी को मेला भरता है।

केशोराय पाटन

यह भी राजस्थान का प्रसिद्ध क्षेत्र है। यह कोटा से ८-९ माइल चम्बल नदी के किनारे बसा है। बूंदी रोड रल्वे स्टेशन से भी यहां पहुंचा जा सकता है। यहा एक प्रसिद्ध केशवराय का वैष्णव मन्दिर है जिसके नाम से इस ग्राम का नाम केशोराय पाटन है। पाटन शब्द नगर का ही द्योतक है। पुराने समय में अच्छे कस्वो को पट्टन तथा पाटन ही कहा करते थे यथा झालरा पाटन, अन्हलवाड पट्टन आदि।

यहा एक विशाल एव प्राचीन जैन मन्दिर ठीक चम्बल के किनारे पर है। इसमे बहरे मे नीचे जाकर श्याम वर्ण की पाषाण की मनोज्ञ एवं प्राचीन भगवान मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमा है। यह मूर्ति तीन फीट ऊंची है तथा ३¾ फीट चौडी एवं ३ फीट ऊचे शिला पट्ट पर खुदी हुई है। पाषाण बहुत घिसा हुआ एवं मुलायम है। मूर्ति मे जगह जगह टाचे हो रही है। दाहिने पैर का अंगूठा नहीं है तथा गले के पास एक खड्डा भी है। शिलापट्ट पर भामण्डल है मस्तक पर तीन छत्र हैं। किन्नर देवो की भी शिलापट्ट पर मूर्तियां है हाथो मे वाद्य यत्र हैं—हाथ मे अंकुश लिये हाथी पर कोई बैठा हुआ है। शिलाखण्ड एक ओर से कुछ टूटा हुआ है। मूर्ति पर कोई लेख नही है किन्तु मूर्ति के प्राचीन होने मे कोई सदेह भी नही है। बहरे में ही बाहर की वेदी मे सवत १३२७ तथा १३५० की मूर्तियां विराजमान है। ये मूर्तिया भी अतिमनोज्ञ हैं।

बहरे में जाने का मूल दरवाजा २७ इंच चौडा तथा ५४ इंच ऊचा है। दर्शनार्थी को झुककर अन्दर जाना पडता है। ऊपर भी मन्दिर मे कई मूर्तियां विराजमान है।

मन्दिर कितना पुराना है यह प्रमाणिकरूप से नही कहा जा सकता किन्तु फिर भी मन्दिर को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह क्षेत्र कम से कम ३००—३५० वर्ष पुराना है। मन्दिर के जीर्णोद्धार की आवश्यकता है।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

भारत प्रसिद्ध अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी राजस्थान का लोकप्रिय क्षेत्र है। यह दिल्ली से बम्बई जाने वाली रेल्वे की बड़ी लाइन पर स्थित है। स्टेशन से ४ मील दूरी पर गंभीर नदी के किनारे पर एक रमणीय स्थान है। जयपुर तथा दिल्ली आगरा से सड़क मार्ग से भी सबद्ध है। भारत मे श्री महावीरजी ही एक ऐसा क्षेत्र है जहा बिना किसी जातीय भेदभाव के मानवमात्र भगवान महावीर के मन्दिर मे जाकर दर्शन कर अपने आप को कृत कृत्य समझता है। यहा १०-१२ धर्मशा-शालाएं है तथा नल, बिजली, तार, टेलीफोन आदि की पूर्ण व्यवस्था है। तीन उन्नत शिखरो वाला मन्दिर दूर से ही यात्रियो को अहिंसा का पाठ पढाता है। कटले मे विशाल एव कलापूर्ण मदिर हे जहा लाल वर्ण की पाषाण की पद्मासन २ फीट ऊची भगवान महावीर की प्राचीन एव मनोज्ञ मूर्ति विराजमान है। मूर्ति इतनी मनोज्ञ है कि घंटो सामने से हटने को जी नही चाहता। मीना, गूजर जाट चमार एव और अनेक यात्री दूर दूर से दडवत करते अपनी मनौतिया मनाते आते है।

यह मूर्ति करीब ३००-३५० वर्ष पूर्व नदी के किनारे टीले मे से निकली थी। एक चमार की गाय का दूध टीले पर स्वतः झरता देख उसे खोदा गया तो यह मूर्ति निकली, आसपास के जैन इसे ले जाना चाहते थे किंतु काफी कोशिश करने पर भी नही ले जाई जा सकी। चर्मकार की झोपड़ी ही पवित्र करती रही; कुछ दिन बाद अमरचन्द बिलाला ने यहा का मन्दिर बनवाया और उसमे इसे विराजमान किया। निकलने के स्थान पर चरण छत्री बनाई गई।। यह स्थान नौरगाबाद कहलाता था और जयपुर राज्य की हिन्डौन निजामत मे था। यहां प्रारम्भ से जैनों के गुरु भट्टारक जी की गादी विराजमान है और उसके अंतिम भट्टारक चन्द्रकीर्तिजी महाराज का अभी ३ जून १९६६ को स्वर्गवास हुआ है।

इस मन्दिर की सेवा पूजा के लिये जयपुर राज्य की ओर से जागीर मे गाव मिले हुए थे। पहिले यहा किन्ही कारणो से कोर्ट आफ वार्डस द्वारा प्रबन्ध किया जाता रहा किंतु सन् १९३० मे यह क्षेत्र जयपुर दि० जैन समाज को संभला दिया गया और उसकी ओर से एक प्रबन्धकारिणी कमेटी नियुक्त की गई जिस के सर्व प्रथम मन्त्री स्व० रामचन्द्रजी खिन्दूका चुने गये। उन्होने इस क्षेत्र की बीस वर्ष से भी अधिक सेवा की और क्षेत्र की चहुंमुखी उन्नति हुई, सर्वांगीण विकास हुआ जहा धीरे धीरे नयी धर्मशालाओं का निर्माण, सडक निर्माण, नल बिजली की व्यवस्था एव मन्दिर के जीर्णोद्धार का कार्य हुआ वहा समाज के योग्य एव होनहार असमर्थ छात्रों को छात्र वृत्ति तथा प्राचीन साहित्य की खोज एवं शोध के लिये साहित्य शोध विभाग की स्थापना की गयी। साहित्यशोध विभाग की ओर से प्राचीन साहित्य की खोज एव सूची निर्माण का जो कार्य हुआ वह सभी दृष्टियो मे प्रशसनीय है।

शिक्षा साहित्य प्रचार एवं छात्र वृत्ति जैसे उपयोगी कार्य अन्य किसी भी क्षेत्र द्वारा संपादित नही होते। व्यवस्था प्रबन्ध एवं सफाई आदि के विषय में भी यह कहना अत्युक्त नही होगा कि अन्य कोई क्षेत्र इसकी तुलना मे नही ठहरते।

मन्दिर का जीर्णोद्धार कराकर कितने ही मक-राने के भाव पूर्ण चित्र लगाये गये है। मान स्तभ, चरण छत्री एव पानी की टंकी आदि दर्शनीय स्थान है। यहां औषधालय डिसपैसरी एवं विद्या-लय क्षेत्र की ओर से चलते हैं। प्रतिवर्ष करीब १५००० हजार रुपए की छात्रवृत्ति दी जाती है। साहित्य शोध विभाग द्वारा प्राचीन साहित्य की

खोज का कार्य चालू है। अबतक यहां से २० पुस्तकों का प्रकाशन हो गया है–जिनमे राज. के जैन ग्रंथ भण्डारों की सूची ५ भाग, प्रशस्ति सग्रह, प्रद्युम्न चरित, जिणदत्त चरित, डा. कासलीवाल का शोध प्रबन्ध Jain granth Bhandars in Raj. जैन शोध एव समीक्षा, पद संग्रह आदि उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त राजस्थान के ५ शेष भंडारों की सूचिया बनाने का कार्य भी चालू है। साहित्य शोध विभाग के प्रकाशनो से जो प्राचीन तथ्य सामने आये उनसे जैन धर्म एवं इतिहास के सम्बन्ध में बडे २ विद्वानो को अपने मत बदलने पडे हैं। विदेशो मे जैन धर्म एव साहित्य का प्रचार हुआ हैं। मूर्ति एव यत्र लेखो का भी संग्रह किया गया है। साहित्य शोध विभाग स्व पूज्य पंडित चैनसुखदास जी की प्रेरणा का ही फल है।

आजकल यहा के मन्त्री स्व रामचन्द्रजी खिन्दूका के पुत्र श्रीज्ञानचन्द्रजीखिन्दूका हैं, वे उत्साही नवयुवक हैं एव बडी तत्परता से लगन के साथ सेवा कार्य कर रहे है।

यहा प्रतिवर्ष महावीर जयती के अवसर पर चैत्र शुक्ल १० से बैशाख कृ० १ तक विशाल मेला होता है जिसमे मीने गूजर आदि सभी नाचते हुए आते हैं। सरकार की ओर से मेलेका पूरा प्रबन्ध होता है—बैशाख कृष्णा एकम को रथ यात्रा होती है जिसमें भगवान का रथ नदी तक मीनें साथ ले जाते हैं तथा वहा अभिषेक होकर मोहरों मे माला की बोली होती है। रथ के माथ वापसी मे गूजर आते हैं। कभी कभी मेले मे १ लाख से भी अधिक दर्शनार्थी हो जाते हैं।

नदी पर पुल एवं बड़ी टकी दर्शनीय है।

पद्मपुरा

यह क्षेत्र राजस्थान का नवोदित दिगम्बर जैन तीर्थ है। इसका प्रादुर्भाव वि. सं. २००० में हुआ। यहां भगवान पद्मप्रभु की श्वेत पाषाण की मनोज्ञ एव प्राचीन प्रतिमा एक मकान की नींव खोदते समय मूला जाट के हाथ से जमीन में से निकली। प्रतिमा एक पेड़ के नीचे जहां आजकल चरण छत्री है विराजमान करदी गई। चारो ओर मूर्ति निकलने की खबर फैली आसपास के जैनी आये। मूर्ति के दर्शन से लोगो के कई दु ख दर्द दूर होने लगे। भूत पिशाच डाकिनिशाकिनि भागने लगे। भूतप्रेत के असर वाले लोग कई ठीक हुए। श्रद्धालु भक्त जनों की मनोकामनाएं पूर्ण होने लगी—भारत के कौने-कौने से यात्री आने लगे। जयपुर से सवाई माधोपुर जाने वाले रेल मार्ग पर शिवदासपुरा स्टेशन से ४ मील दूर यह क्षेत्र चाकसू तहसील के अन्तर्गत स्थित है। जयपुर से बस मे जाने के पर्याप्त साधन है पहिले यहा कच्ची धर्मशाला थी बाद मे पक्की बन गई है।

सर सेठ भागचंद जी सोनी के कर कमलो द्वारा मन्दिर की नीव लगी—वास्तुकला विशारद स्व. मिर्जा इस्माइल साहब द्वारा इस मन्दिर का मॉडल पास किया गया–उसी के अनुसार मन्दिर का निर्माण कार्य आज बीस वर्ष से चालू है—मॉडल के अनुसार पूर्ण होना अभी निकट भविष्य मे असभव सा लगता है किन्तु जितना बन चुका है उतना भी अभूतपूर्व है। यह मन्दिर भारत के दर्शनीय स्थानो मे से एक है। मन्दिर का गुंबद मीलों दूर से दिखाई देता है। इसके ऊपर शिखर चढ़ने के बाद तो इसकी ऊचाई काफी पहुच जावेगी। मन्दिर बहुत ही मनोज्ञ एवं कलापूर्ण है। भगवान पद्मप्रभु की सातिशय प्रतिमा कलापूर्ण वेदी मे विराजमान है।

वि. सं, २०२५ के फागुण मास (फरवरी ६९) में यहां एक विशाल प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ जो

व्यवस्था एवं सुविधा की दृष्टि से अपनी सानी का एक ही था। इस प्रतिष्ठा में केवल बड़ी मूर्तियां ही प्रतिष्ठा हेतु ली गई थी।

यहां की प्रबन्धक समिति का अपना रजिस्टर्ड विधान है जिसके मन्त्री श्री भंवरलालजी न्याय-तीर्थ हैं। ये लगातार कई वर्षों से क्षेत्र की तन-मन से सेवा कर रहे हैऔर यह उन्ही के सत्प्रयत्नो का फल है कि मन्दिर का इतना सुन्दर निर्माण कार्य हो सका है। क्षेत्र पर नल, बिजली, तार, टेलीफन पोस्ट आफिस औषधालय आदि की व्यवस्था है। अर्थाभाव के कारण मन्दिर के निर्माण कार्य मेअड़चने आवश्यक है। आशा है सभी के सहयोग से शीघ्र पूर्ण हो जागया।

यहा इनके अतिरिक्त अलवर मे तिजारा एवं जयपुर मे चूलगिरि भी क्षेत्रों की गणना में लिये जा सकते हैं किन्तु ये अभी अपनी शैशवावस्था मे है।

●●●

समाजवाद

कष्ट न हो औरों को
ऐसे लिए
जीवन-रस बाटे सबको
खुद पिए।
अर्जित धन को बाटता
जो न पुनः समार को
उसकी मुक्ति नही होती।
वह असंविभागी समाज कोढ है।

—अर्हत्

दशभक्तयादि महाशास्त्र

एक अप्रकाशित ग्रंथ का ऐतिहासिक परिचय

□ पं० के० भुजबलिजी शास्त्री

इस ग्रन्थ का नाम दशभक्त्यादि महाशास्त्र है। इसके रचयिता वर्धमान मुनीन्द्र हैं। यह नंदिसघान्तर्गत बलात्कार गण के विद्यानन्द मुनीश्वर के शिष्य जो देवेन्द्रकीर्ति थे, उनके शिष्य एव द्वितीय विद्यानन्द के सधर्मा हैं। इनकी गुरु परम्परा इस कृति मे निम्न प्रकार दी गयी है। (पृ०२४६–३०५) दशपूर्व के धारी विशाखाचार्य के द्वारा पूजित दशपूर्वधारी भद्रबाहु। इसी परम्परा मे तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता उमास्वाति। पश्चात् कुन्दकुन्दान्वय के नन्दिसंघ मे समंतभद्र के देवागम स्तोत्र पर टीका रचने वाले अकलक। पश्चात् आत्ममीमांसा को ममलंकृत कर श्लोकवार्तिकालंकार को रचने वाले स्वामी विद्यानन्द। पश्चात् माणिक्यनन्दि और प्रभाचन्द्र। पश्चात् जैनेन्द्रन्यास, पाणिनीय सूत्रो पर शब्दावतार न्यास, वैद्यशास्त्र एवं तत्त्वार्थ सूत्रों पर टीका रचने वाले पूज्यपाद।

पश्चात् जिनदत्तराय के द्वारा वंदित सिद्धान्तकीर्ति। होयसल के द्वारा व्याघ्र को वश मे करने वाले वर्धमान मुनीन्द्र वासुपूज्य, बल्लालराय के द्वारा वंदित श्रीपाल, पात्रकेसरी, त्रिलोकसार आदि शास्त्रों के रचयिता तथा चामुण्डराय के द्वारा पूजित सैद्धान्तिक सार्वभौम नेमिचन्द्र, उनके शिष्य माघवचन्द्र, अभयचन्द्र, जयकीर्ति, जिनचन्द्र इन्द्रनन्दि, वनदेश (बनवासि) वासी वसंतकीर्ति, विशालकीर्ति, शुभकीर्ति, पद्मनन्दि, माघनन्दि, जटासिंहनंदि पद्मप्रभ, वसुनन्दि, मेघचन्द्र, वीरनन्दि, धनजय वादिराज। पश्चात् वर्धमान मुनीन्द्र, के शिष्य एव राजाधिराज परमेश्वर देवराय भूपाल के द्वारा अर्थात विजय नगर के प्रथम प्रताप देवराय के द्वारा (ई. सन्. १४०६–१४२२) अथवा द्वितीय प्रौढ देवराय के द्वारा (ई, सन् १४२२–१४४६) पूजित धर्मभूषण।

विद्यानन्द के शिष्य सिंहकीर्ति, मेरुनन्दि, वर्धमान, प्रभाचन्द्र, अमरकीर्ति, विशालकीर्ति एव नेमिचन्द्र। इनमे से सिंहकीर्ति ने 'बंगाल्यदेशावृत' दिल्ली नगर के मुहम्मद सुरीत्राण के अर्थात् बंगाल के सुलतान नसिरुद्दीन माहमूद शाह के (ई. सन् १४४२–१४५९) आस्थान मे बौद्धादि वादियो को जीता था। विशालकीर्ति सिकन्दर सुरित्राण अर्थात् प्राय सिकन्दर लोदी के द्वारा (ई० सन् १४८८–१५१७) सम्मानित हुए, विजयनगर के विरूपाक्ष राय (ई० सन् १४६५–१४८६) की सभा मे वादियो को जीतकर जयपत्र प्राप्त किया, आरग के देवप्प दंडनायक के नगर मे जैनधर्म की प्रभावना की एवं बलात्कार गण के स्वामी रहे। पश्चात् उक्त विशालकीर्ति के शिष्य और साल्व मल्लिराय के द्वारा अर्चित विद्यानन्द स्वामी, उनके शिष्य विजयनगर के कृष्णराय (ई० सन् १५०९–

१५२६) के छोटे भाई अच्युतराय के द्वारा (ई० सन् १५२६–१५४० पूजित भारती भाललोचन देवेन्द्र-कीर्ति ।

देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य विद्यानन्द—आपने श्री रंगपट्टण मे श्री वीरपृथ्वीपति के आस्थान में सांख्य कापिल, कापालिक, यौग, वैशेषिक, चार्वाक, बौद्ध और भाट्टों को जीता, सालुव देवराय नरेश के भाजा और पद्मांबा के पुत्र सालुव कृष्णदेवराय के द्वारा पूजित हुए एवं विजयनगर के कृष्णराय के आस्थान मे विद्वानो को परास्त किया। इन विद्यानन्द के सधर्मा नेमिचन्द्र ने हुम्बुच मे पार्श्वनाथ का त्रिभूमिका युक्त एक जिन मन्दिर बनवाया। विद्यानन्द के शिष्य सर्वशास्त्रावतार विशालकीर्ति उनके सधर्मा अमरकीर्ति । भैरवेन्द्रवंश के पाण्ड्य के राजा के द्वारा अर्थात् कलश-कारकल के शासक वीरभैररस ओडेय के भाजा वीर-पाण्ड्यप्प ओडेय द्वारा अर्चित देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य एव विद्यानन्द के सतीर्थ वर्धमान मुनीन्द्र इस ग्रन्थ के रचयिता है। इसलिए इस ग्रन्थ के प्रत्येक प्रकरण के अन्त मे इन्होने 'वर्धमान मुनीन्द्रेण विद्यानन्दार्य बधुबुना' यों कहा है। एक बात है कि इस गुरु परम्परा को कहने वाले ये ही पद्य नगर के न. ४६ वे शिलालेख मे यथावत् उत्कीर्ण मिलते हैं।

अस्तु इस ग्रन्थ मे सामयिक पूर्वक (१) सिद्ध भक्ति, (२) श्रुतभक्ति, (३) चारित्र भक्ति, (४) योगभक्ति, (५) आचार्य भक्ति, (६) निर्वाण, भक्ति, (७) नन्दीश्वर भक्ति, (८) चैत्यभक्ति, (९) शांति भक्ति और समाधि भक्ति नामक इन दश भक्तियो के साथ-साथ (१) पंच-गुरुभक्ति, (२) मंगलस्तोत्र, (३) सुप्रभास्तव, (४) सिद्धार्थ-प्रियकारिण्याः स्तव, (५) निश्चलात्म स्वरूप स्तवन, (६) वृषभ स्तुति, (७) विद्यानन्द महाचार्य पादपूजास्तवन, (८) विशालकीर्ति श्रीपादपूजास्तवन, (९) अतीतकालोत्पन्न चतुर्विशति-तीर्थंकर पूजा प्रस्तावना पुष्पांजलि, (१०) वर्तमान काल चतुर्विशति तीर्थंकर पूजा प्रस्तावना पुष्पाजलि, (११) भाविकाल चतुर्विशति तीर्थंकर पूजा प्रस्तावना पुष्पाजलि, (१२) द्वासप्ततिजिनेन्द्र मगलस्तवन, (१३) पच कल्याण माला, (१४) देवेन्द्रकीर्ति गुरु सतति, (१५) विद्यानन्द स्तोत्र, (१६) नन्दिसघ सेनगण मुनियो का स्तवन, १७ जिनदर्शन शुद्ध्यादि यंत्र पूजा-विधि, (१८) क्षात्यादिदश धर्मोद्यत्र पूजा विधि, (१९) नदीश्वर नगेन्द्र श्रीजिन पूजा विधि, (२०) देशीगण जैन मुनीस्तवन, (२१) अकलक योगीन्द्रचन्द्र प्रभ गुरुस्तुति, (२२) काणूर्ग मुनीन्द्र स्वतन, (२३) नन्दिसघ मुनीन्द्र स्तवन, (२४) चंदनषष्ठी मे श्री चन्द्रनाथार्हणाक्रम, (२५) जीवदयाष्टमी पूजा-विधि, (२६) सिद्धस्तोत्र, (२७) दानपूजा गुणाढ्य श्रावक-स्तोत्र, (२८) वेणुपुर अर्थात मूडुबिदिरे के श्रवको की स्तुति नामक ये विविध विषय शामिल है। इसलिए इसका नाम दशभक्त्यादि महाशास्त्र जो रखा गया है, वह ठीक ही है। क्योंकि आदि शब्द से दशभक्तियो के अतिरिक्त अन्यान्य अनेक विषय शामिल किये जा सकते है।

यह ग्रन्थ सस्कृत मे रचा गया है। इसका बंध रोचक है। किन्तु आदि मे जहाँ तहा थोडा प्राकृत भी है। बीच एव अंत मे कन्नड कंदपद्य, और वृत्त भी है। साथ-साथ शुद्ध कन्नड 'अंबु' शब्द (पृष्ठ ७७) और सस्कृत चन्द्र और 'खाद्य' शब्दों के कन्नड तद्भव 'चदिर' (पृष्ठ--२४६, २७१), तथा 'खज्जाय' (पृष्ठ १५५) शब्द भी इसमे संस्कृत में उपयोग किये गये हैं। संस्कृत वृत्त होने पर भी संस्कृत मे अनुपलब्ध खासकर कन्नड मे ही उपलब्ध उत्पलमाला वृत्तो मे (पृष्ठ ६५, पद्य १४; पृष्ठ १११, पद्य १०-१२; पृष्ठ २६५ पद्य १३; पृष्ठ ५०६ पद्य ४८) कवि ने संस्कृत पद्यो को रचा है। इसी प्रकार कन्नड में ही अनिवार्य रूप मे उपयोग किये

जाने वाले द्वितीयाक्षर प्रास को इन्होंने संस्कृत पद्यों में भी (पृष्ठ १४६-१६७, पद्य ११-१२, १४-१८; पृष्ठ १६६, पद्य २२, पृष्ठ २६७, पद्य १०४-१०५ उपयोग किया है। इन कारणों से इस ग्रन्थ के रचयिता वर्धमान जी संस्कृत के ही नहीं, कन्नड के भी विशिष्ट ज्ञाता और उच्च कन्नड कवि मालूम होते है। पर संस्कृत मे या कन्नड मे अभी तक इनकी और कोई रचना प्राप्त नही हुई है।

इस ग्रंथ के विद्यानंद मुनि स्तुतिपरक अनेक संस्कृत एवं कन्नड पद्य (पृष्ठ २४६-३०५) मैसूर राज्य के शिवमोग्गा जिला के, नगर तालुक के हुम्बुच्च में अवस्थित पद्मावती मदिर के प्राकार में वर्तमान शिलालेख मे भी है। (नगर न. ४६) यद्यपि महाकवि अभिनव पंप या नागचन्द्र के मल्लि नाथ पुराण एवं 'रामचन्द्र चरितपुराण के कतिपय पद्य श्रवण बेलगोल के शिलालेखो मे (नं० ६४, १२७; १४०) है अवश्य। फिर भी ये पद्य समग्र शासन के रूप मे नहीं है। परन्तु दशभक्त्यादि महाशास्त्र के ये पद्य आद्यंत नगर न० ४६ वें शिलालेख के रूप मे विद्यमान है। शिलालेख मे कन्नड पद्य प्रारंभ मे और संस्कृत पद्य बाद मे हैं। हा, यहा पर ऐसा नही है। इतना ही अन्तर है।

मालूम होता है कि यह ग्रन्थ एक ही बार नहीं रचा गया है। प्रथम मे दशभक्तिया रची गई होगी। बाद इसमे पूर्व या पश्चात् अन्यान्य समयों मे रचे गये। विद्यानद पादपूजास्तव, विशाल कीर्तिपाद पूजास्तवन, पचकल्याणमाला, देवेन्द्रकीर्ति गुरु संतति, विद्यानन्दस्तोत्र, यंत्रपूजाविधि, नदीसंघ-सेन-गण-कानूर्गण जैन मुनिस्तवन, वेणपुरश्रावकस्तुति आदि विषयो को वर्धमान जी ने पीछे से जोडा होगा। हा, ग्रंथ मे पुनरुक्तिया भी (उदा: पृष्ठ ४२३-४३३; ४४३-४४५) हैं। खैर, कवि दूसरी जगह के जिनमन्दिर एवं श्रावकों की विशेष प्रशसा न करके तुलुदेश (पृष्ठ ५७७, पद्य २) मूडुबिदिरे में स्थित (पृष्ठ ५७७, पद्य २) श्रीचन्द्रनाथ जिनालय (त्रिभुवन तिलक चूडामणि) (पृष्ठ ५८३-५८५, पद्य १२-१५), पार्श्वनाथ जिनालय (पृष्ठ ५८५, पद्य १६) और वहां के श्रावको (पृष्ठ ५७७-५८२, पद्य ३-७) की अत्यधिक प्रशसा किये जाने के कारण वर्धमान जी जन्मत: तुलुदेश के रहने वाले मालूम होते है। अगर वहा के रहने वाले नही हो, वे यदा-कदा वहा पर अवश्य आते-जाते रहे होगे। और साथ ही साथ वहा के जिनालय एव श्रावको से अत्यन्त मुग्ध रहे होगे।

कवि ने इसमें कतिपय देशो की स्त्रियो का वर्णन (पृष्ठ ५०७-५२२, पद्य ४६-५०) भी किया है। उसमे वर्णित तुलुदेश, केरल और होय्मल देश की स्त्रियो का वर्णन ठीक ही है। पर साथ-साथ इसमे सिहल एवं सुमात्रा देश की स्त्रियो का भी वर्णन है। पर प्रश्न उठता है कि वर्धमानजी ने उन स्त्रियो को कहां देखा था? क्या वे सिहल और सुमात्रा देशो मे गये थे? यहा पर सहसा यह भी प्रश्न उठता है कि इस दशभक्तयादि महाशास्त्र मे इन स्त्रियो के वर्णन की क्या आवश्यकता थी? अर्थात् दशभक्त्यादि महाशास्त्र एव इन विविध देशीय स्त्रियो के वर्णन से क्या सम्बन्ध है? इसी प्रकार इस ग्रन्थ के 'नागसेनार्यवर्यम् (पद्य ५७) आदि इस कन्नड कदपद्य मे प्रतिपादित पेंगु द्वीप कौनसा है? वह कहा पर है? क्या वह बर्मा (Burma) देश का पैंगु (Pagu) हो सकता है? तब क्या वर्धमानजी के द्वारा स्तुत वह नागसेन वहा पर गये थे? इसमे इस प्रकार के कतिपय प्रश्न सहसा उठ खडे होते हैं।

इस ग्रंथ की आचार्य भक्ति मे हर एक तीर्थं कर के गणधरों की संख्या दी गई है। पर यहा पर एक बात है कि इस आचार्य-भक्ति के अन्त

में 'आचार्य-भक्तिः कथिता जिनसेनार्यसम्मता' यों लिखा हुआ है। इसका तात्पर्य क्या यह भक्ति जिनसेनाचार्य की कृति के आधार पर रची गई है? निर्वाणभक्ति के अत मे इस ग्रथ मे श्री रामचन्द्र सम्मेदशिखर से मुक्ति पाने का (पृष्ठ ५३ पद्य १२) उल्लेख पाया जाता है। यद्यपि यह उल्लेख गुणभद्राचार्य के उत्तर पुराण (पर्व ६६, पद्य ७१६) के अनुकूल है। परन्तु निर्वाणकाण्ड के प्रतिकूल है। क्योंकि उसमे कहा गया है कि रामचद्र तुगीगिरि से मुक्त हुए है। इसकी चैत्यभक्ति मे पंचमदरादि, तीस कुलाद्रि, गोप्पाचल, वक्षारशैल और नदीश्वर द्वीप आदि के अकृत्रिम जिनालयो का वर्णन करते हुए गेरुसोप्पे (भल्लातकीपुर) का श्री पार्श्वनाथ, हाडुहल्ली (सगीतपुर) का श्री चन्द्रप्रभ, भट्कल का श्रीपार्श्वनाथ, वसुपुर (बसरूर) का श्रीआदिनाथ, वरागका श्री—नेमिनाथ, कारकल का बाहुबली या गोम्मटेश्वर, कनकाचल (मलेयूर) का श्री पार्श्वनाथ कोपण का सागरदत्तपूजित श्री चन्द्रप्रभ आदि कृत्रिम जिन मन्दिरो का भी वर्धमानजी ने उल्लेख किया है।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे जहा-तहा भद्रबाहु, कुडकुन्द, समतभद्र, अकलंक, विद्यानंदि, माणिक्यनदि, प्रभाचन्द्र, पूज्यपाद, सिद्धातकीर्ति, वर्धमान, वासुपुज्य, श्रीपाल, पात्रकेसरी, नेमिचद्र, माधवचन्द्र, अभयचन्द्र, जयकीर्ति, जिनचन्द्र, इन्द्रनंदि, वसतकीर्ति, विशालकीर्ति, शुभकीर्ति, पद्मनदि, माधनंदि, जटासिहनदि, पद्मप्रभ, वसुनदि, मेघचद्र, वीरनदि, धनजय, वादिराज, धर्मभूषण, सिहकीर्ति, मेरुनदि, वर्धमान, प्रभाचद्र, अमरकीति और विशालकीर्ति नामक जैन यतियो को, नंदिसंघ के आचार्यों मे से धरसेन, समंतभद्र, आर्यसेन, अजितसेन, वीरसेन, जिनसेन वादिराज, गुणभद्र, लोकसेन, आशाधर, कमलभद्र, नरेन्द्रसेन, धर्मसेन, रविषेण, कनकसेन, दयापाल, रामसेन, माधवसेन, लक्ष्मीसेन, जयसेन, नागसेन, मतिसागर, रामसेन, और सोमसेन आदि आचार्यों को,

संगीतपुर को भट्टाकलंक की परंपरा मे कुडकुद. चारुकीर्ति, विजयकीर्ति, श्रुतकीर्ति, विजयकीर्ति, अकलंक, चन्द्रप्रभ, नेमिचन्द्र, भट्टाकलंक, विजयकीर्ति, पाल्यकीर्ति, चन्द्रमत्यार्यिका आदि व्यक्तियो को, कविभाललोचन निरुदाकित कन्नड कवि जनार्दन या जन्न के द्वारा स्तुत[1] का पूर्गण के मुनियों मे से जयसिहनदि, गुणचन्द्र, माधवचन्द्र, कनकचन्द्र, रामचन्द्र, जावलिगे मुनिचन्द्र, सकलचन्द्र, माधवचन्द्र, बालचन्द्र इनको; इसी परम्परा मे मुनिचन्द्र, सकलकीर्ति, देवकीर्ति, अनंतकीर्ति, कल्याणकीर्ति, चन्द्रकीर्ति इनको; नंदिसघ के बलात्कारगण की गुर्वावली मे वर्धमान, पद्मनदि श्रीधरराय, देवचन्द्र, कनकचन्द्र, नयकीर्ति, रविचन्द्र श्रुतकीर्ति, वीरनदि, जिनचन्द्र, वर्धमान, श्रीधर, वासुपूज्य, उदयचन्द्र, कुमुदचन्द्र, माघनदि, वर्धमान माणिक्यनदि, गुणकीर्ति, गुणचन्द्र, अभयनदि, सकलचन्द्र, वर्धमान, गण्डविमुक्त, त्रिभुवनचन्द्र, चन्द्रकीर्ति, श्रुतकीर्ति, वर्धमान, त्रैविद्य वासुपूज्य, कुमुदचन्द्र, नेमिचन्द्र, भुवनचन्द्र, बालचन्द्र इनको; विद्वत्स्तोत्र मे कई विद्वानो को दानपूजागुणाढ्य श्रावक स्तुति मे तुलुदेश और कर्णाटक के अनेक श्रेष्ठियो को वर्धमानजी ने उल्लेख किया है।

इनमे निम्नलिखित कतिपय गुर्वावलिया इस प्रकार है।

१, जन्न का कन्नड अनतनाथपुराण (आश्वास १, पद्य १८-३२)

(१) संगीतपुर या हाडुहल्लि के देशीगण पुस्तकगच्छ की जैन गुर्वावली (पृष्ठ ४२३-४३७ और ४४१-४५५)[T]

इनमे से अकलंक शालि. श. १४५७ जय स. । आश्वीज कृष्ण (बुधवार ई. सन्. १५३४ सितम्बर, ३० बुधवार के दिन स्वर्गवासी हुए । (पृष्ठ ४६३, पद्य २२), और चन्द्रप्रभ शालि. श. १४५५ नन्दन सं० । मार्गशिर कृष्ण ७ बुधवार ई. सन् १५३२ दिसम्बर २८ बुधवार के दिन दिवगत हुए । (पृष्ठ ४५२, पद्य २६)
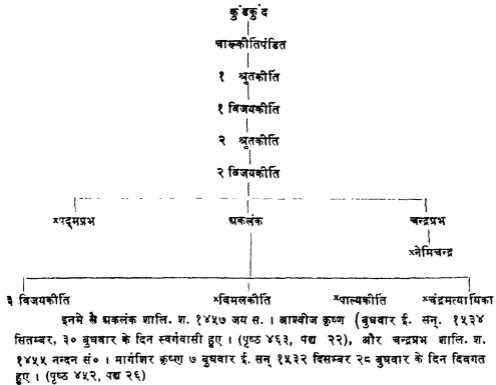
(२) कवि जन्न के द्वारा स्तुत काणूर्गणकी गुर्वावली* (पृष्ठ ४५५-४६६)
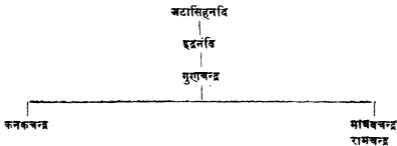
[T]'राष्ट्रबंधु युगादिय काणिके', १९२९ (पृष्ठ ४४-४५)

×इस चिह्नांकित नाम सिर्फ इस ग्रंथ में मिलते हैं बिलिगि के शासनों में नहीं मिलते हैं ।

*कन्नड कवि जन्न का 'अनंतनाथपुराण' आश्वास १, पद्य १७-३२)

यह रामचन्द्र जन्न के गुरु हैं।
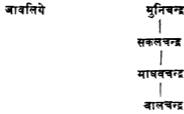
लचन्द्र[१] जन्न की पत्नी लकुमादेवी के गुरु हैं। बालचन्द्र की परम्परा में—

इस ग्रंथ मे उक्त संगीतपुर या हाडूहल्लि के राजाओ की वंशावलि इस प्रकार है—

[१]आगे की परम्परा जन्न के ग्रंथ में नहीं है।

विजयनगर के राजाओं में संगमवंश की वंशावली इस प्रकार है—

५. २ देवराय (ई. सन् १४०६-१४२२)
|
६. ६ विजय (ई. सन् १४२२)
|
७. २ देवराय (ई. सन् १४२२-१४४६)

८. मल्लिकार्जुन (ई. सन् १४४६-१४६५)
९ विरूपाक्ष (ई. सन् १४६५-१४८६)

अनंतर के तुलुवश के राजाओं की वंशावली इस प्रकार है—

१. नरसनायक (ई सन् १५०५)

वीरनरसिंह (ई. सन् १५०६-१५०९) — रामराज
३ कृष्णराय (ई सन् १५०९-१५२९) — (सुपुत्री) तिरुमलाम्बा
४ अच्युतराय (ई. सन् १५२९-१५४२) — ५ वेंकटाद्रि (ई. सन् १५४२)
रंगराय — ६ सदाशिवराय (१५४२-१५७०)

इस रामराज ने सदाशिवराय को विजयनगर के सिंहासन पर बैठाया। पृष्ठ ६०९-६११, पद्य २३-२७)

इस ग्रंथ मे मुनि वर्धमान जी ने विद्यानंद की जो स्तुति की है, उन स्तुतिरूप कन्नड कंद-पद्यो का अर्थ निम्न प्रकार है—

(१) विद्यानन्दजी ने नंजराय नगर के राजा नजदेव के आस्था मे मल्लिभट्ट को वाद मे जीता। (पद्य ४) यह नजदेव नंजराय नगर मे ई सन् १५०२ से १५३३ तक राज्य करने वाला चगाल्व वंश का राजा है। पता नही है कि मल्लिभट्ट कौन है।

(२) विद्यानन्दजी ने श्रीरंग नगर की विद्वत् सभा मे पेरंगि मत अर्थात् ईसाई धर्म को परास्त कर, देवी शारदा को वश मे कर लिया था। (पद्य ५)। उस समय जेस्वित (Jeswits) दक्षिण भारत मे जहां-तहा ईसाई धर्म का प्रचार करते रहे। साथ ही साथ कतिपय राजसभाओं मे भी वे जाया करते थे।

(३) विद्यानंदजी ने केसरिविक्रम सालुवेन्द्र राजा के आस्थान में साहित्य रचना की है (पद्य ६)। यह सालुवेन्द्र राजा, प्राय: उपर्युक्त संगीतपुर के साल्व राजाओं की वंशावलि मे प्रतिपादित मल्लिराय का छोटा भाई एवं देवराय का बडा भाई है। इस राजा के आस्थान मे विद्यानन्द के द्वारा रचित साहित्य का पता नही लगता है।

(४) विद्यानन्दजी ने साल्व मल्लिराय की सभा मे शासनाधिकारियो के अतिरिक्त व्यक्तियो का मुह बद कर दिया था (पद्य ७)। यह साल्व मल्लिराय पूर्वोक्त सालुवेन्द्र का बडा भाई है।

(५) विद्यानन्दजी न साल्व देवराय के आस्थान मे समस्त वादियो को परास्त किया था (पद्य ८)। यह साल्व देवराय उपर्युक्त मल्लिराय का छोटा भाई है।

(६) विद्यानन्दजी ने गुरुनृपाल के आस्थान मे कन्नड काव्य को रचकर यशस्वी हुए (पद्य ९)। यह गुरुनृपाल कौन है, मालूम नही होता है। साथ ही साथ विद्यानन्दजी का उस कन्नड काव्य का भी पता नही लगता।

(७) विद्यानन्दजी ने नगरी या नगिरे राज्य की राजसभाओ मे अपने वचन रूपी अमृत को वहा के विद्वानो को पिलाया (पद्य १०)। यहा पर वहा के राजाओं के नाम नही दिये गये है। पर शालि. श. १४४२, ई. सन् १५२० मे इम्मडि देवरस और शालि श १४५२ से १४७० तक ई. सन् १५३० १५४८ तक इम्मडि कृष्णदेवरस नगिरे राज्य में शासन करते रहे।[x]

(८) विद्यानन्दजी ने बिलगि नरसिंह भूपाल के आस्थान मे जैन दर्शन को प्रकाशित किया (पद्य ११)। यह नरसिंह भूपाल बिलगि तिम्मरस ओडेय या तिम्भ भूपाल को अनुज एवं वीरेन्द्र या वीरप्पोडेय का पिता नरम अथवा नरसिंह भूपाल है।[s]

(९) विद्यानन्दजी ने कारकल के भैरव भूपाल के आस्थान मे जैन धर्म का उपदेश दिया (पद्य १२)। यह भैरव भूपाल ई. सन् १५१६ से १५३० तक शासन करने वाला कलस-कारकल का राजा इम्मडि भैरर स ओडेय है।

(१०) विद्यानन्दजी ने बिदिरे अर्थात् मूडुबिदिरे के भव्यजनो की सभा मे 'पदसिद्धातितमत' को प्रकट किया (पद्य १३)।[*]

(११) विद्यानन्दजी ने नरसिंह के सुपुत्र कृष्णराय की सभा मे परमत के वादि समूह को अपने वाग्बल से परास्त किया (पद्य १४)। मालूम होता है कि यह नरसिह का सुपुत्र कृष्णराय, बिजयनगर के नरसनायक का पुत्र कृष्णराय है।

(१२) विद्यानन्दजी ने कोपण आदि जैन तीर्थ क्षेत्रो मे अपवर्ग के सुख के लिये अपरिमित द्रव्य व्यय किया (पद्य १४)।

(१३) विद्यानन्दजी ने श्रवणबेलगोल के गोम्मटेश्वर के चरणमूल मे जैन संघ को वस्त्र, आभूषण और सुवर्ण आदि की वृष्टि की (पद्य१६)।

---

x Annual Report on Kannada Research in Bombay Province for 1939–40 (p. 41).

s मंगलूर का 'राष्ट्रबंधु युगादि कारिके' ई. सन् १९२९ (पृष्ठ ४२ और ४५)

* नगर नं ४६ के शासन में।

(१४) विद्यानन्दजी नेरुसोप्पे मे योगागम में आसक्त मुनिवृन्द की गणाग्रणी गुरु की तरह पालन करने के कार्य में तत्पर हुए (पद्य १७)।

उपर्युक्त महत्वपूर्ण कार्यो को सपन्न करके विद्यानन्दजी (पृष्ठ ३१६, पद्य २२) शालि. श. १४५३ शार्वरी संवत्सर, अर्थात् ई. सन् १५४० मे दिवंगत हुए।

इस ग्रंथ के अन्त मे दिये गये (पृ.६११, पद्य३६) शार्दूलविक्रीडित वृत्त से यह ग्रंथ शालि. श. १४६४, प्लव स.। (प्रभात) श्रावण कृष्ण अष्टमी (अर्थात् पूर्णिमांत भाद्रपद कृष्ण अष्टमी) प्रभाकर अर्थात् आदित्यवार, ई. सन् १५४२, जुलाई १४ में रचित सिद्ध होता है। परन्तु इसके पूर्व (पृष्ठ ६०६, पद्य २१) विजयनगर के कृष्णराय का भाजा रामराज ने सदाशिवराय को विजयनगर के सिंहासन पर बैठाने का उल्लेख इसमे किया गया है। सदाशिवराय ई. सन् १५४२-४३ मे सिंहासन पर आरुढ होने के कारण यह उल्लेख इस ग्रंथ रचना के द्वारा ग्रंथ रचने के बाद किया गया होगा। इससे मालूम होता है कि यह ग्रंथ एक ही बार नही रचा गया है। इस बात को मैं ऊपर भी उल्लेख कर चुका हूं। यह ग्रंथ अवश्य प्रकाशनीय है। प्रकाशको को इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये।

●●●

साधक

जीते क्रोध क्षमा से साधक
और मान को मार्दव से
माया को आर्जव से जीते
और लोभ को सन्तोष से।

अर्हत्

४३

पं० चैनसुखदास और 'भावना विवेक'

□ पं० मिलापचन्द शास्त्री

श्रद्धेय प. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ का जीवन बाधाओ से परिपूर्ण था। शरीर से अपग बचपन मे ही माता पिता का वियोग, भाइयो की असमायिक मृत्यु तथा आर्थिक परिस्थिति के विषम होते हुए भी उन्होने इन अभाव अभियोगो का डट कर मुकाबला किया। वे जीवन पथपर हंसते हुए बढते रहे और जिस कार्य को भी उन्होने हाथ मे लिया उससे कभी पीछे नही हटे। कभी-कभी तो उन्हे प्रबल शक्तियों से भी जूझना पडता था। पर कर्त्तव्य के प्रति समर्पित होना सीख था व्यक्ति के प्रति नही। वास्तव मे महान आत्माए परिस्थितियो के प्रवाह मे न बह कर नवीन मार्ग का निर्माण किया करती है। जैसा कि एक डाक्टर ने कहा है —

है समय नदी की बाढ,
कि जिसमे सब बह जाया करते है,

लेकिन कुछ ऐसे होते हैं,
जो इतिहास बनाया करते है।

कविवर पं. चैनसुखदास उच्चकोटि के के साहित्यकार थे। उन्होने मौलिक संस्कृत साहित्य का निर्माण करके भारतीय साहित्य को पल्लवित और पुष्पित किया है। उनका प्राकृत तथा हिन्दी भाषा के साथ सस्कृत भाषा पर भी पूर्ण अधिकार था। सरल एव सुबोध सस्कृत में कविता बनाने मे आप बड़े कुशल और सिद्ध हस्त थे। उन्होने संस्कृत मे "जैनदर्शनसार, भावना विवेक, पावन प्रवाह एवं निक्षेप चक्र जैसे ग्रन्थो का निर्माण कर अपनी अद्भुत विद्वता का परिचय दिया है। इनमे से "जैनदर्शनसार" तो जैन दर्शन सम्बन्धी उच्चकोटि का ग्रंथ है। "पावन प्रवाह" भी उनकी एक अद्भुत आध्यात्मिक कृति है। कविवर की तीसरी स्वतन्त्र रचना "भावना विवेक" की समीक्षा पाठको के समक्ष प्रस्तुत है।

"भावना विवेक" दर्शन विशुद्ध्यादि सोलह कारण भावनाओ पर एक पद्यमय आध्यात्मिक रचना है। जैन धर्म मे इन भावनाओं का अत्यधिक महत्व है, क्योकि इनको भाए बिना कभी कोई तीर्थंकर नही बन सकता। सोलह कारण भावनाओं पर जैसा सर्वांगीण विशद विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ में हुआ हैं वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। इन भावनाओ पर रइधू कवि की अपभ्रंश जयमाला अवश्य है और उसी जयमाला का विस्तृत स्पष्टी-

करण रत्नकरंड श्रावकाचार की हिन्दी टीका में प. चैनसुखदासजी ने किया है, फिर भी उसमे विषय का सर्वांगीण वर्णन नही हो सका। उसमे तो मुख्यतः इन भावनाओ की प्रशसा की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे विषय को विशद रूप से समझाने का प्रयास किया गया है और ग्रन्थकार किसी सीमा तक इसमें काफी सफल हुआ है।

जैनागम मे तीर्थंकर प्रकृति के कारण स्वरूप भावनाओ के अधिक से अधिक सोलह प्रकार सम्मत होने से प्रस्तुत पुस्तक सोलह अधिकारों मे विभक्त है। कुल श्लोक संख्या ३१० है।

प्रथम अधिकार मे ग्रन्थकार ने दर्शन विशुद्धि भावना को इतना खोलकर समझाया हैं कि वह पूर्ण पुस्तक का करीबन आधा कलेवर हो गया है, इसमे १३२ श्लोक हैं। सर्व प्रथम किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार न कर रत्नत्रय रूप शुद्ध भावो को ही नमस्कार का विषय बनाया है; क्योंकि जीव की स्वतन्त्रता और परतन्त्रता के, बन्ध और मोक्ष के, सुख और दु ख के कारण उसके भाव ही है। "भावना भव नाशिनी" एव भावना भव वर्धिनी कहकर जैन धर्म ने परिणामो का वर्गीकरण किया है। मिथ्या दर्शन, ज्ञान चारित्र मे वह परतन्त्र और दु ख का पात्र बनता है तो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप शुद्ध भावो से वह स्वतन्त्र एवं सुखी होता है। वस्तुत जीव भावमय ही है तथा तीर्थंकर प्रकृति के कारण भूत सोलह भावनाएं भी आत्म भावो को छोड़कर और कुछ नही है। उस तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध ससार के प्राणियो के उद्धार करने रूप उपाय विचय नामक धर्म ध्यान से होना है और ऐसे भावो का चूंकि केवली एव श्रुत केवली के पादमूल मे ही होना सम्भव है अतः उन्ही के सानिध्य में मात्र कर्मभूमि वाला मनुष्य ही इस प्रकृति के बन्ध का प्रारम्भ करता है। वह बन्ध क्षायिक, क्षायोपशमिक तथा पक्षयिक तीनो सम्यक्त्वों मे से किसी भी सम्यक्त्व में हो सकता हैं। इन सोलह भावनाओं मे दर्शन विशुद्धि महान् है—वही सब भावनाओं का आधार हैं। आठ अग सहित एव पच्चीस दोष रहित सम्यग्दर्शन को दर्शनविशुद्ध कहा है। चूंकि सम्यक्त्व आत्मगुण है, वह बन्ध का कारण नही हो सकता, अतः सम्यक्त्व के साथ रहने वाला शुभोपयोग ही तीर्थंकर प्रकृति का कारण है। वह बन्ध चौथे गुण स्थान से लेकर आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक होता है।

सम्यग्दृष्टि की परिभाषा बतलाते हुए कवि ने कहा है कि जिसकी दृष्टि संसार प्रसिद्ध स्याद्वाद नामक श्रेष्ठ अजन से निर्मल हो गई है वही सम्यग् दृष्टि है। ससार के संपूर्ण पदार्थ अनेकान्तत्मक है। उनमें एक साथ परस्पर विरोधी अनेक धर्म उपलब्ध होते है। उन धर्मो का आपेक्षिक प्रतिपादन करना ही स्याद्वाद है। यह जैन दर्शन की अपनी विशेषता है। वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय अशान्ति का एकमात्र कारण आग्रह होता है। स्याद्वाद विशाल एवं उदार दृष्टि वाला है; अत विश्वशान्ति का यही एकमात्र कारण है।

आगे कविवर ने सम्यक्त्व के आठ अंग तथा सात भयो का विस्तृत स्वरूप समझाते हुए बतलाया है कि भय रहित होने से वास्तव मे सम्यग्दृष्टि ही सुखी है :—

सद्दृष्टेस्तु विना भीति, यत्सुख शान्त चेतस.
मिथ्यादृष्टेस्तु तत्सौख्यं, न कदापि भवेदिह।

अर्थात् सम्यग्दृष्टि दरिद्र भी हो तो वह अनन्त सम्पत्ति के स्वामी मिथ्या दृष्टि की अपेक्षा महा सुखी हैं। वह सम्यग्दर्शन सराग, वीतराग भेद से दो प्रकार का, वेदक-क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का तथा आज्ञा मार्ग वगैरह

भेद से दश प्रकार का है। इन सबका विशद वर्णन ग्रन्थकार ने किया है।

उस सम्यक्त्व को आठ अंग सहित तथा २५ दोष रहित धारण करना चाहिए। सम्यक्त्व के २५ दोष आठ अंगों के उल्टे आठ दोष तथा ८ मद, तीन मूढ़ता और ६ अनायतन हैं। आत्मा मे धर्म का अंकुर सम्यक्त्व से ही उगता है; अतः सम्यग्दर्शन आत्मा का सबसे अधिक हितकारी है और मिथ्यात्व उसका बड़ा शत्रु है। अत मिथ्यात्व को त्याग कर निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करने का प्रयत्न दर्शन विशुद्धि भावना है।

२- विनय सम्पन्नता भावना

विनय शब्द का निरुक्ति सिद्ध अर्थ करते हुए दो तरह से अर्थ किया है। विनयतीति-अपनयनीति विनय अर्थात् जो बुरे कर्मों को दूर करता है उसे विनय कहते है। और दूसरा विनयत्ति-विशेषेण नयतीति-विनय अर्थात् जो विशेष रूप से स्वर्ग मोक्षादि अभ्युदयो को प्राप्त करावे वह विनय है। विनय नम्रता को कहते है—उससे मुक्त जीव विनय सम्पन्न कहलाता है और उसके भाव को विनय सम्पन्नता कहते है। विनय की आराधना क्यो की जाय, बतलाते हुए कवि ने कहा है —

विनयो मदमाहन्ति विनयेनाप्त भवन्ति सर्वगुणा।

विनय. शिक्षासार तत समाराध्य इह विनयः।

अर्थात् विनय के द्वारा अभिमान का नशा चूर-चूर हो जाता है तथा विनय के द्वारा ही संपूर्ण गुण प्राप्त हो सकते है एवं विनय के द्वारा ही शिक्षा की शोभा और प्रशंसा है। विनय हीन को दी गई शिक्षा मंगलमय नही होती। विनय हीन तो जिनलिंग भी धारण करले तो वह मात्र आत्म विडम्बना का ही कारण होता है।

दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्र विनय तथा उपचार विनय के भेद से वह विनय चार प्रकार का है। सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाने के प्रयत्न को दर्शन विनय कहते है। सम्यग्ज्ञान को अष्ट अंग सहित धारण करने के प्रयत्न को ज्ञान विनय कहा जाता है। वे अंग कालाचार, विनयाचार, उपधानाचार, बहुमानाचार, अनिह्नवाचार, व्यजनाचार अर्थाचार तथा उभयाचार है। चारित्र को निर्मल बनाने का प्रयत्न करना चारित्राचार है और वह अपनी प्रवृत्ति को सुधारने से ही सम्भव है। विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। पूज्य पुरुषो गुरुजनो का साक्षात्कार होने पर खड़ा होना, ऊंचा आसन देना, पीछे पीछे गमन करना नमस्कारादि करना-प्रत्यक्ष उपचार विनय है, गुरुजनों के परोक्ष होते हुए गुण स्तवन, जयघोष गुणचिंतन तथा नमस्कारादि करना परोक्ष उपचार विनय है। किन्ही-किन्हीं ग्रथो मे तप विनय को पाचवा भेद माना हैं। तपस्वियो की सेवा करना यथोचित सत्कार करना तप विनय है।

३. शीलव्रतेष्वनतिचार भावना

प्रायः करके इस भावना का अर्थ ब्रह्मचर्य व्रत को अतीचार रहित पालन करना किया है। पर इस ग्रंथ मे ग्रथकार ने अलग दृष्टि अपनाई हैं। उन्होने तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतो को शील माना है तथा व्रतेषु शब्द से अहिंसादि पाच व्रतों को ग्रहण कर बारह व्रतों को निरतिचार पालन करना इस भावना का अर्थ किया है।

४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना

निरन्तर ज्ञान प्राप्ति के लिए मनोयोग को प्रवृत्त करना अभीक्षण ज्ञानोपयोग है। ज्ञान आत्मा

का स्वभाव है और उसे प्राप्त कर ही आत्मा अपना उत्थान कर सकता है। ज्ञान के द्वारा ही वह हेया-हेय, कर्तव्याकर्त्तव्य तथा सत् असत् का निर्णय कर सकता है। ज्ञान के द्वारा ही उसे अपनी पहचान होती है। ज्ञान की अपार महिमा का दिग्दर्शन कराते हुए कवि ने क्या ही अच्छा कहा है —

ज्ञानादृते निवृत्तिरस्तिनैव
न लौकिकोत्थानमिद विनास्यात्
निरन्तराभ्यास वशात् ततोऽयम्,
ज्ञानोपयोगः खलु वर्द्धनीयः

अर्थात् इह लौकिक तथा पारलौकिक उत्थान का यदि एक मात्र कोई साधन है तो वह ज्ञान ही है; क्योंकि सासारिक जितने पद हैं वे सब ज्ञान के द्वारा अनायास प्राप्त हो जाते हैं, तथा मोक्ष प्राप्ति जो भेदज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होती है। वह भेद-अर्थात् स्वपर की पहिचान ज्ञान द्वारा ही सभव होती है : अत कल्याण चाहने वालो को निरन्तर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करते रहना चाहिए।

५. संवेग भावना

संसार दु;खों का घर है। वे दु:ख शारीरिक और मानसिक दो कोटि मे विभाजित किए जा सकते हैं। इन दोनो प्रकार के दु खो से नित्य डरते रहना संवेग कहलाता है। जब प्राणी दु:खो से भयभीत होगा। तो उन दु.खो को उत्पन्न करने वाले विचारो तथा कार्यो से बचेगा और आत्मोत्थान की और प्रवृत्त हो सकेगा। ग्र थकार ने दु खो से डरते रहने की प्रशसा करते हुए कहा है —

वियोग सयोग परंपराश्र
ददाति दुःखं बहुशोकजेभ्यः
किञ्चिन्न नित्य खलु विद्यतेऽत्र
अस्माद्धि भीरुत्वमतः प्रशस्तम्

संसार मे सयोग और वियोग की परम्परा अनादि काल से चली आई है। यह प्राणी मोहमत्त होकर संयोग और वियोग मे सुख दु ख की कल्पना कर दुखी होता है। वास्तव मे तत्त्वज्ञानी तो न संयोग मे आनन्द मनाता है और न वियोग मे दु ख क्योंकि वह जानता है कि ये दोनो ही नश्वर है। साधारण प्राणी यह नही सोच पाता और इसीलिए निरन्तर दु.खी रहता है। समझदार लोगो का कर्त्तव्य है कि इन सासारिक दुखों से डरकर ससार मे पतन कराने वाले पाप और विषयो से मुक्त होकर आत्मोत्थान मे प्रवृत्त होवे।

६ शक्तितस्त्याग भावना

अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार पदार्थों को छोडने का अभ्यास करना शक्तितस्त्याग भावना है। शक्ति का अर्थ है न तो सामर्थ्य को छिपाकर और न शक्ति का अतिक्रमण करके। प्राय. लोग दान के सम्बन्ध में अपनी शक्ति का खयाल नही करते।

उस दान के आहार दान, औषधिदान, अभय दान और ज्ञानदान इस तरह चार भेद किए है। कोई कोई आचार्य आहार दान और औषधि दान को एक मानकर तीन भेद भी करते हैं। यों तो चारो दानो की ही अपनी जगह प्रमुखता हैं पर जितना महत्त्व ज्ञानदान को दिया जा सकता है उतना औरो को नही। शेष तीनों दान कुछ समय के लिए शारीरिक बाधा शान्त करने वाले है वहा ज्ञानदान सदा के लिए जीव को निर्भय और आत्म स्थित करता है—आत्मा का सर्वतोमुखी विकास करता है। ज्ञान की अपूर्व महिमा बतलाते हुए कहा है।

ज्ञानेन सर्वंह्युपभोग योग्यम्,
संप्राप्यते वस्तु बिना श्रमेण

ज्ञानेन संसार सुखापवर्गो,
ज्ञान परं मगलमस्ति लोके ।

अर्थात् अज्ञानी को जो पदार्थ बहुत परिश्रम द्वारा भी प्राप्त नही होते वे ज्ञानी को बिना परिश्रम के प्राप्त हो जाते हैं। ज्ञान के द्वारा जहाँ सासारिक सुख सुलभ हैं वहा अविनाशी मोक्ष सुख भी। ज्ञान की सामर्थ्य से नही समझ मे आनेवाली बात भी सहज समझ मे आजाती है और जो चीजे अदृश्य है वे सब ज्ञान चक्षु के द्वारा हेय हो जाती है। आत्म दर्शन ज्ञान के द्वारा ही सभव है।

७ शक्तितस्तप भावना

तप का विश्लेषण करते हुए ग्रन्थकार ने दो लक्षण प्रतिपादित किए है। कर्मों का नाश करने के लिए जो कसकर साधना की जाती है वह तप है, अथवा वाछा पिशाचिनी का विरोध करना-मन वचन काय पर पूर्ण नियंत्रण करना तप है। मूल तप के दो भेद किए है—बाह्य तथा अन्तरग। अनशन वगैरह बाह्य तप यदि आत्मा के उत्थान मे सहायक हो तभी वे तप कहलाने के अधिकारी हैं। उनके द्वारा चित्तवृत्तियो पर अंकुश लगना चाहिए, ध्यान की स्थिरता मे वे सहायक बने—तभी उनकी सार्थकता बतलाते हुए ग्रन्थाकार ने कहा है—

तपो ति तपनादुक्त मानसेन्द्रिययो स्तथा,
चित्त शुद्धि बिना योक्तं, मुधा सर्व तपो यत।

अर्थात् मन और इन्द्रियो को तपाने से तप होता है। जब चित्तवृत्ति शुद्ध नही हुई तब तप का क्या प्रयोजन। अतः जो आत्मा को ध्यान की ओर अग्रसर करे वही बाह्य तप है।

८ साधु समाधि भावना

साधु किसे कहा जाय बतलाते हुए कवि ने कहा है :—

साध्नोतियः स्वस्य परस्य कार्यं

लोकोत्तरं त्त खलु वच्मि साधुन् अर्थात् जो अपने तथा परके आत्मा के उत्थान का कार्य सम्पादन करता है वही साधु कहलाने का अधिकारी है समाधि का अर्थ है-समर्थन करना अर्थात् उनका अपने कार्य मे संलग्न रखना। चूंकि योगियों के द्वारा ही संसार का कल्याण होता है अतः उन योगियो के तपस्या मे विघ्न उपस्थित हो जाने पर उसे यथोचित उपायो से दूर करना साधु समाधि है। जिस तरह जिस मकान मे कीमती वस्तुएं रखी होती हैं उसकी सर्व प्रथम रक्षा करना दायित्व होता है उसी प्रकार साधु भी रत्नत्रय का धारी होता है, अतः उसको उपसर्गों से बचाया जाना अत्यावश्यक है।

साधु की महिमा अपरम्पार है। परोपकार ही उसका धन है। वे नि.स्वार्थ जगत के जीवो के हित की कामना करते है। वे राजा तथा रंक को समान दृष्टि से देखते है। सच्चे साधु की उपस्थिति में न तो कोई उपद्रव होता है और न अराजकता। सारे ऐहिक तथा पारलौकिक सुख साधु समागम से अनायास प्राप्त हो जाते है। साधु की वाणी में वह जादू होता है कि वह पतित तथा पथभ्रष्ट लोगो को क्षण मे सन्मार्ग पर लगा देता है। सैकडो वर्षों के मनमुटाव तथा झगडे उनकी वाणी मे शान्त हो जाते हैं। भव्य जीव उनका संसर्ग पाकर किस तरह पवित्र हो जाते है कवि ने कहा है :—

अभ्यन्तर यस्य महापवित्रं,
बाह्यं तथा पूततमं महर्षेः
संयोगतस्तस्य कथं न लोकाः,
स्वय पवित्रा हि भवन्ति भव्याः।

अर्थात् जो साधु भीतर बाहर एक हैं, जिनकी कथनी करनी में कोई अन्तर नहीं है। उनकी सगति से भव्य जीवों का उद्धार तो हो जाता है। वे अपना भी आध्यात्मिक उत्थान करते है तो ससर्ग में आने वालो का भी। वे जगत मे एक अलौकिक प्रकाश फैलाते हैं। ऐसे निज पर का उद्धार भी कामना करने वाले साधुओं पर आए हुए उपसर्गों को दूर करना साधु समाधि है।

६. वैयावृत्य भावना

वैयावृत्य का अर्थ प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थ कार ने कहा है कि व्यपनोद, व्यावृत्ति तथा वैयावृत्ति ये सब पर्यायवाची शब्द हैं— जिनका अर्थ है दूर करना हटाना अर्थात् दु खो को दूर करना। साधु तथा श्रावकादि के शारीरिक रोग तथा अन्य प्रकार दु:ख आजाने पर उनको उचित अहिंसक उपायो से दूर करना वैयावृत्य कहलाता है। धर्मात्मा लोगो की सेवा टहल बन्दगी करके ही धर्म की रक्षा की जा सकती है क्योकि "न धर्मो धार्मिकै बिना"। विपत्ति आने पर महान से महान व्यक्ति धर्म से चलायमान होने लगता है। उस समय यदि सेवा करने वाला हो तो परिणामों के बिगडने मे देर नही लगती। अत. आपत्ति आने पर दु खी जीवो की सेवा सुश्रुषा करना परमावश्यक है जिसकी भावना साधुओ की सेवा करने की होती है उसे ही साधुओ का समागम होता है तथा उनकी सेवा का अवसर प्राप्त होना तो महान् पुण्य से ही सभव है।

श्रावक ही साधु का वैयावृत्य करें—यह नियम नही साधु भी परस्पर एक दूसरे की सेवा करते है और तभी संघ की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती है। साधु सेवा से महान् लाभ होता है। लोक मे भी कहावत है "करोगे सेवा पावोगे फल मेवा" कवि साधु सेवा का फल बतलाते हुए कहता है:—

संचारो हि गुणाना, वैयावृत्यादशसयं भवति।

अर्थात् साधुओ की सेवा से मनुष्य मे साधु के गुणो का संचार हुए बिना नही रहता। गुणों की प्राप्ति करना प्रत्येक मनुष्य का ध्येय होता है और वह जब साधु सेवा से सुलभ हो तो क्यो नही हम अपने नाशमान् शरीर द्वारा साधुओ की सेवा कर गुणो की प्राप्ति से लाभान्वित हो।

१०. अर्हंद् भक्ति भावना

जो चार घातियां कर्मों के नाश कर देने केकारण पूजनीय है—ऐसे तेरहवें तथा चौदहवे गुणस्थान वर्ती जीव को अर्हन्त कहा जाता है। वे ही द्वादशाग के प्रवर्तक होते हैं ऐसे वे अर्हन्त भगवान संसार मे अधिक से अधिक कुछ कम एक करोड पूर्व तक रहते है।

वैसे आठ कर्मो का नाश करने के कारण सिद्ध अर्हन्तो से उत्कृष्ट है, अत. नमस्कार मन्त्र मे पहले उन्हे नमस्कार किया जाना चाहिए था, परन्तु अर्हन्त ही धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करते है—अत वे सर्वप्रथम पूजनीय है। वे अर्हन्त सात प्रकार के है— पाच कल्याणधारी, तीन कल्याणधारी, दो कल्याण धारी, सातिशय केवली, सामान्य केवली, उपसर्ग केवली तथा अन्त.कृत केवली। जिन्होंने पहले जन्म मे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया हो वे पच कल्याणधारी तीर्थंकर होते हैं। जिन्होंने उसी भव मे गृहस्थ अवस्था में बन्ध किया हो वे तीन कल्याण धारी तथा मुनि दीक्षा के पश्चात् बन्ध किया हो तो दो कल्याणधारी तीर्थंकर होते हैं। तीन तथा दो कल्याणधारी विदेह क्षेत्र मे ही होते हैं। अर्हन्तो के जो ४६ गुण बतलाये हैं वे पंच कल्याणधारी के

ही होते है । तीन तथा दो कल्याण वालो के जन्म से १० अतिशय नही होने से ३६ ही होते है ।

सातों प्रकार के अर्हन्तो की जो भक्ति की जाती है वह अर्हद् भक्ति कहलाती है । भक्ति क्यो की जाय उसका स्वरूप क्या हो—वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

पूज्याना गुण वृन्देष्वनुरागो भक्तिरूच्यते,
गुणलब्ध्यर्थमेवेय, क्रियते नान्यहेतुत ।

अर्थात् पूज्य महापुरुषो के गुणो में अनुराग करना भक्ति है और वह उन गुणो की प्राप्ति के लिए ही की जाती है । गुणो के प्राप्त करने का प्रयत्न करना ही भक्ति है । पूज्य पुरुषो के मात्र शरीर का दर्शन या पूजन कर लेना भक्ति नही कहला सकती । भक्ति तभी सार्थक होती है जब पूज्य पुरुषो के समान पूजक बनता है ।

जीवन मे आए नही सत्य और ईमान
तब आया किस काम मे, ईश्वर का गुणगान ।

भगवान को जो पतितोद्धारक, तारण तरण, अधम उद्धारक कहा जाता है वह उपचार से है—वास्तव मे नही, क्योकि जिनेन्द्र भगवान वीतराग होते है । वे दूसरो के उद्धार की चिन्ता क्यो करेगे । उन्हे ससार के जीवो से क्या लेना देना है, अत भक्ति को जो ससार के सपूर्ण सुखो का कारण बतलाया है—वह इसी अर्थ मे है कि भगवान की निष्कपट भक्ति करने से प्राणी के विचार शुभ बनते हैं और उन शुभ भावो से पुण्य का आश्रय होता है और उससे स्वत सासारिक विभूतिया प्राप्त हो जाती है । भक्ति का साफल्य तभी है जब उपासना से आत्मा पवित्र बने और एक दिन वह नर से नारायण हो जाय ।

११ आचार्य भक्ति भावना

सर्वप्रथम कवि ने आचार्य का लक्षण बतलाते हुए कहा है:—

पंचाचारान् महोत्कृष्टानाचरन्तो मनीषिण:
आचारयन्त सघस्थान् आचार्या इह विश्रुता

जैन सिद्धान्त मे आचार पांच माने गए हैं—दर्शनाचार ज्ञानाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार । जीवादि तत्वो की दृढ श्रद्धान परिणति दर्शनाचार है-इन्ही जीवो की ज्ञान रूप प्रवृत्ति ज्ञानाचार है । पापो के अभाव रूप प्रवृत्ति चरित्राचार है । अन्तरग तथा बाह्य तपों मे प्रवृत्ति तपाचार है तो आत्मोत्थान के कार्यों मे अपनी शक्ति को न छिपाने रूप प्रवृत्ति वीर्याचार है । इन पांच उत्कृष्ट आचारो का जो स्वयं आचरण करते है तथा संघस्थ साधुओ को आचरण कराते हैं वे आचार्य कहलाते है । 'परोपदेश पाडित्य" सब के लिए आसान है पर स्वयं को आचारवान् बनाना बडा कठिन होता है ।

यद्यपि आचार्यों के १२ तप १० धर्म, छ आवश्यक, पचाचार ३ गुप्ति ये ३६ गुण माने गये है; पर यह उनका लक्षण नही बन सकता; क्योकि वे गुण अन्य साधुओ मे भी पाए जाते है । आचार्यत्व की परिभाषा करते हुए कवि ने कहा है।—

नराधीशा यथा लोके, प्रजाना शासका. मता:
सयताना तथाचार्या., दण्डादिविधिशासने ।

उनके आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान् प्रकर्त्ता अपायोपय विदर्शी, अवपीड़क, अपरिभाषी और निर्यापक ये आठ गुण हैं । इन गुणों के द्वारा सघ की व्यवस्था सुचारू रूप से चलती है । ऐसे आचार्यों के गुणो मे अनुराग करना आचार्य भक्ति हैं ।

१२ बहुश्रुत भक्ति भावना

बहुश्रुत शब्द उपाध्यायो के लिए रूढ हैं। वैसे आचार्य एवं साधु भी बहुश्रुत होते या हो सकते हैं पर समभिरूढ नय की अपेक्षा बहुश्रुत नाम से उपाध्यायो का ही ग्रहण होता है। वे व्हादशांग वाणी के ज्ञाता होने से या अधिक ज्ञानी होने के कारण बहुश्रुत कहलाते है। वे ११ अग तथा १४ पूर्वों का स्वयं पाठ करते हैं एवं संघस्थ मुनियो को पढाते हैं; अतः उन्हें पाठक भी कहा जाता है। उपाध्याय शब्द का निरुक्तिसिद्ध अर्थ "उपेत्याधीयते यस्मात् सोंपाध्यायो गुरूर्मतः" अर्थात् जिसके पास बैठकर पढा जाय वह उपाध्याय कहा जाता है और वह सघस्थ साधुओं का विद्यागुरू होता है। आचार्य और उपाध्याय मे से आचार्य आदेश और उपदेश दोनो के अधिकारी है वहां उपाध्याय मात्र उपदेश देने के। संघ की शासन व्यवस्था आचार्यों के जिसे होती है तो पठन पाठन की व्यवस्था उपाध्याय के।

आचार्य, उपाध्याय एव साधु ये तीनो ही पद करणानुयोग एवं चरणानुयोग दोनो की अपेक्षा से माने गए है। पर करणानुयोग की अपेक्षा कौन द्रव्य लिंगी है और कौन भाव लिंगी यह छद्मस्थ नही जान सकता। वह तो बाह्य चारित्र को देखकर ही पात्रापात्र की पहिचान करता है। बाह्य मे जिनका आचरण शुद्ध है ऐसे उपाध्यायो की भक्ति पूजास्तुति आदि करना बहुश्रुत भक्ति कहलाती है जो कि स्वर्ग मोक्ष प्रदान करने वाली कही जाती है। कहावत प्रसिद्ध है कि "गुरूबिन कौन बतावे बात" और बिनामार्ग जाने मोक्ष नही अतः ऐसे गुरूओ की भक्ति करना परमावश्यक है।

१३ प्रवचन भक्ति भावना

सर्वोत्कृष्ट वचन को प्रवचन कहा जाता है और वह जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा हुआ वचन ही हो सकता है। ग्रन्थाकार ने इसके दो कारण प्रस्तुत किए हैं। पहला यह कि:—

तीर्थत्वात्तद वचः प्रोक्तं; प्रकृष्टं हि गणाधिपै।
भवाम्भोनिधितोभव्यान्, तारयत्याशु तज्जनान्।

अर्थात् गणधरो ने जिनेन्द्र भगवान की वाणी को प्रकृष्ट इसीलिए कहा है कि वह तीर्थ रूप हैं। वह भव्य जीवो को ससार सागर से पार उतार देने वाला है क्योंकि वह एक श्रेष्ठ और सत्य मार्ग है—वहा असत्य का प्रवेश नही।

१४ आवश्यकापरिहाणि भावना

जो क्रियाएं प्रतिदिन करने की है उनको कभी न छोडना निरन्तर करते रहना आवश्यका परिहाणि भावना है। वे क्रियाए मुनि और श्रावक के भेद से दो प्रकार की है। आचार्यों ने साधु तथा श्रावक के छह छह आवश्यक प्ररूपित किए है। सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये साधु के छह आवश्यक है। सासारिक सभी पाप सामग्रियो से विरक्त होना सामायिक है। तीर्थकर भगवान के गुणो का वर्णन करना स्तवन है। त्रिशुद्धि, दो आसन, चार शिरोनति तथा बारह आवर्त जिसमे किए जाय वह वन्दना है। भूतकाल मे किए गए पापों की निंदा करना प्रतिक्रमण हैं। भविष्यत् काल मे लगने वाले दोषो का त्याग करना प्रत्याख्यान है। नियमित समय तक शरीर से महत्त्व न रखना कायोत्सर्ग कहलाता है। कुछ आचार्यों ने इस के स्थान पर स्वाध्याय को छटा आवश्यक माना है। श्रावक के छह आवश्यक देवपूजा, गुरूसेवा, स्वाध्याय, संयम तप और त्याग बतलाए गए हैं। भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करना—देवपूजा है। निग्रन्थ गुरू की सेवा करना गुरूसेवा है। आत्मोत्थान करने वाले शास्त्रों का पढना-स्वाध्याय है। इन्द्रिय और मन

को वश में रखना तथा छह काय के जीवों की रक्षा करना संयम है। इच्छाओं पर नियंत्रण करना तप है एवं शक्ति के अनुसार चार प्रकार का दान देना–दान कहलाता है मुनि और श्रावक को अपने अपने कर्तव्यो का प्रतिदिन पालन करना चाहिए अन्यथा वे मुनि और श्रावक कहलाने के पात्र नही।

१५ मार्ग प्रभावना भावना

प्रभावना का विश्लेषण करते हुए कवि ने कहा है:—

मिथ्यामार्ग तिरस्कार, क्षमया विद्यया तथा
सद्धर्मद्योतन मार्ग, प्रभावनमिहोच्यते।

समीचीन धर्म का प्रकाश पाखंड का खंडन करने से होता है अत· सम्यग्ज्ञान के प्रकाश के द्वारा सत्य धर्म को प्रकट करना प्रभावना है। जो गन्तव्य स्थान मोक्ष को प्राप्त करावे वह मार्ग कहा जाता है और वह मार्ग जैन धर्म ही हो सकता है; क्योंकि वह इह लोक और परलोक दोनों का कल्याणकारी है। प्रभावना कहां से चालू हो बतलाते हुए कवि ने कहा है

निजात्मा सर्वत पूर्व, रत्नत्रयतेजसा
प्रभावनीयो लोकस्तु तपोज्ञानार्चनादिभि·।

आगे कवि ने यह बताया है कि यह प्रभावना देश काल के अनुसार होनी चाहिए। कहां किस समय किस कार्य के करने से धर्म की प्रभावना होगी यह धर्म प्रभावक को अवश्य देखना चाहिए और तदनुकूल ही प्रवृत्ति करना चाहिए। यदि वह परम्परा से जकडा रहा–रूढियो से ग्रस्त रहा तो वह कभी भी धर्म की प्रभावना नही कर सकता।

१६ प्रवचन वत्सलत्व भावना

प्रवचन वत्सलत्व भावना का लक्षण करते हुए कवि ने कहा है :—

स्यात्सधर्मी प्रवचन:, वात्सल्य तत्र यद्भवेत्
धेनोर्वत्सेव तत्प्रोक्तं, वात्सल्य परमं खलु।

जिस प्रकार गाय अपने बच्चे से नि.स्वार्थ प्रेम करती है–उसकी रक्षा के लिए वह शेर का भी मुकाबला करने पर कटिबद्ध हो जाती है उसी प्रकार समान धर्म के मानने वाले साधर्मी मनुष्यो से निष्कपट-बिना प्रति फल की वाछा के प्रेम करना प्रवचन वात्सल्य है। आचार्यों ने पन्द्रहवी भावना में बताया कि ससार को जैन धर्म का सन्देश सुनाओ, अर्थात् ससार को जैनी बनाओ, पर यदि हमने उनके साथ वात्सल्य, महानुभूति, प्रेम का व्यवहार नही किया तो क्या यह सम्भव है कि वे जैन बने रहें। वात्सल्य ही एक ऐसा गुण हैं कि जो उन्हे धर्म पर टिकाए रख सकता है। कवि ने वात्सल्य की महिमा कर गुणानुवाद करते हुए कहा है —

वत्सलत्वेन चैतेन, धर्मवृद्धि प्रजायते,
मिथ स्नेहाभिवृद्धिश्च, सधर्मजनतासुच।

अर्थात् धार्मिक जनो मे परस्पर प्रेम सचार से धर्म की वृद्धि होती है। आपस मे स्नेह सहानुभूति बढती है। उससे सगठन बढता है। ससार में सगठन के द्वारा ही असंभव कार्य भी सभव हो जाते है। प्रवचन वत्सलत्व के द्वारा वह सगठन अनायास सुदृढ होता है अत. प्रवचन वात्सल्य को अपनाना महान् कार्यकारी है।

इस तरह ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ मे सरल एवं सुबोध सस्कृत मे सोलह कारण भावनाओं का सागोपांग एवं सविस्तृत वर्णन कर एक बहुत बड़ी कमी की पूर्ति की है। ग्रन्थ की प्रस्तुत समीक्षा मात्र बानगी है। पूरा आनन्द तो ग्रन्थ के आद्योपान्त स्वाध्याय से ही प्राप्त होना सभव है। यह ग्रन्थ पवित्र भावनाओं से ओतप्रोत है इसे एकाग्रचित्त होकर पढने से आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त होता है।

हिन्दी जैन काव्य में दार्शनिक शब्दावली

□ कु० अरुणलता जैन, एम ए शोध छात्रा (कायमगंज)

किसी भी काव्य की विशिष्टता जानने के लिए उसके मूल में निहित उस भावना का अवलोकन करना आवश्यक है जिससे प्रेरित होकर काव्य लिखा जाता है इसीलिये हिन्दी जैन काव्य मे दार्शनिक शब्दो का महत्व जानने से पूर्व हमें जैन दर्शन को समझना होगा जिससे अनुप्राणित हो काव्य रचना की जाती रही।

वस्तुतः, दर्शन का क्षेत्र सत्य की खोज है। इसकी खोज में मानव मस्तिष्क चिरकाल से लगा रहा है। वास्तविक सत्य की खोज में दो प्रमुख विचार हैं। एक विचारधारा के अनुसार सत्य आत्मा है जो परम है। 'प्रवचन सार' मे वृन्दावन लाल ने आत्मा का स्वरूप इस प्रकार दर्शाया है।

"जामे मोह क्षोभ नही व्यापत,
चिद्विलास दुति वृन्द गहै।
सो परिनाम सहित आतम को
शान नाम अभिराम अहै।

दूसरी विचार धारा के अनुसार वास्तविक सत्य पदार्थ हैं जो इन्द्रिय जन्य है और जिसका विभिन्न दृष्टिगोचर रूप सृष्टि है। जैन दर्शन में इन्हें निश्चयनय तथा व्यवहार नय के रूप में सम्बोधित किया है। बनारसीदास जी ने लिखा है

"निहचे मे एक रूप, विवहार मे अनेक।
याही के विरोध मे जगत भरमायो है।।"

मानव जीवन और दर्शन का घनिष्ट सम्बन्ध है। दर्शन जीवन को गति देता है। उसकी धारा और प्रवाह को निश्चित करता है। मानव उसी को अपना जीवन आधार बना कर अपनी जीवन क्रिया सम्पन्न करता है। मानव जीवन मे उसके दर्शन का अनुमान कर सकते है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने 'स्व' के विकास के साथ साथ उसके जीवन के प्रति एक विचार धारा बन जाती है वही उसका दर्शन है। उसके विचारों, उसकी रचनाओ तथा प्रतिक्रियाओ मे उसका दर्शन झलकता हैं। साहित्य प्रेमियों को किसी भी साहित्य विशेष पढ़ने से उसके रचयिता के जीवन-दर्शन की झलक मिल जाती है।

साहित्य अपनी सीमाओं के भीतर अध्यात्म के जिस रूप को विकसित करता है वह अध्यात्म का भाव पक्ष है। इस भावात्मक रूप की उपलब्धि के लिए व्यक्ति को अन्तर्मुखी होना पड़ता है। और व्यक्ति जब अन्तर्मुखी होता है तो वह अपनी प्रतिभा और प्रकृति के अनुरूप या तो श्रद्धा के माध्यम से आत्मा को पाता है या विवेक से। इस प्रकार अध्यात्म के दो रूप हो जाते हैं—भक्ति का

दूसरा ज्ञान का। श्रद्धा भक्ति मानव के विकास मार्ग की पहली मंजिल है ज्ञान दूसरी और विवेक पूर्ण आचरण की तीसरी मन्जिल है। श्रद्धा, ज्ञान, आचरण के सम्यक समन्वय का ही नाम मोक्ष है। भैया भगवतीदास ने द्रव्य सग्रह मे लिखा है—

"सम्यक् दरस प्रमाण, ज्ञान पुनि सम्यक् सोहै।
अरु सम्यक् चारित्र त्रिविधि कारण शिव जोहे ।।

जैन काव्य पर दृष्टिपात करने से विदित हो जाता है कि वह धर्म तथा अध्यात्म प्रधान है। जैन कवियो पर जैन दर्शन का पूर्ण प्रभाव पडा और उन्होने शान्त रस में आप्लावित हो जिस काव्य की रचना की तथा जैन दर्शन के जिन गहन तत्वों का विश्लेषण किया वह उनके जैन सिद्धात विषयक गभीर ज्ञान का स्पष्टीकरण है। जैन कवियो की रचनाएं किसी न किसी रूप मे अध्यात्म विषयों से ओत-प्रोत है। ऐसा लगता है मानो आत्मा परमात्मा के गुण गान मे कवि ऐसे सने हुए हे कि उसका प्रत्येक शब्द अध्यात्म की छाया लेकर निकलता है।

"ऐसा योगी क्यो न अभय पद पावै।"

जैन साहित्य मे अध्यात्म का भक्ति मूलक भाव-पक्ष आदि काल से लेकर अब तक जिन रूपो में हुआ है वे है—स्तोत्र, रासा, स्तवन, स्तुति पद भजन आदि। हिन्दी जैन कवियो के जो मधुरपद अब तक प्रकाशित हुए है उनमे भक्ति तथा ससार की नश्वरता का बडा सुन्दर चित्र उपस्थित हुआ है। इनमे भक्ति का जो रूप उभरा है उनमे आत्म निवेदन, विनीत भाव से किया गया है जिसका लक्ष्य अष्टकर्मों को क्षय कर आवागमन के बन्धनो से मुक्ति पाना है। 'जैन रामायण' ग्रन्थ मे प. कस्तूरचन्द्र नायक ने लिखा है—

"जैन दिगम्बर मुनि यथा, करके निर्मल ध्यान।
अष्टकर्म को छेद कर,पाते हैं निर्वाण ।।"

जैन दार्शनिको ने मानवीय जीव के आध्यात्मिक और लौकिक या निवृत्ति तथा प्रवृत्ति दो पक्ष खडे किए है। लौकिक पक्ष का लक्ष्य अभ्युदय और आध्यात्मिक पक्ष का निश्रेयस है। जहाँ इनका जन्म होता है वही धर्म है तथा लोक कल्याण हैं। इसी आशय को सम्मुख रख कर धर्म सर्वस्व की परिभाषा यह की गई है कि जो अपने को बुरा लगता है वह आचरण दूसरे के साथ न करे। भ० महावीर की वाणी थी "जियो और जीने दो" जिसका आधार अहिसा है। यह संदेश जैन साहि- मे सर्वत्र बिखरा पडा है।

जैन दर्शन जीव अजीव तत्व को स्वीकार करता है—यथा—

"जैसे-जल कर्दम कुतक फल भिन्न करै।
वैसे जीव अजीव विलछन करतु हैं।"

जिसके आधार तत्व अध्यात्म भावना, अहिंसा, अनेकान्त, तप, ज्ञान, कर्म तप, संयम आदि पर विशेष बल दिया गया है। वैदिक काल तक भारतीय भोजन मे मास चलता था। यज्ञो मे पशु बाधने के लिए यूपो की चर्चा मिलती है। यज्ञ शेष का भक्षण आदि का उल्लेख मिलता है जिससे स्पष्ट है कि वैदिक काल से स्मृति काल तक मानव मास भक्षी था किन्तु जैन की धार्मिक क्राति का वैदिक धर्म पर भी प्रभाव पड़ा और भारतीय धार्मिक आचार्यों ने जैन धर्म का सबसे महत्वपूर्ण दार्शनिक शब्द अहिसा मे अध्यात्मिकता का पूर्ण समर्थन पा उसे अपने धर्म का अविभाज्य अंग बना लिया। जैन दर्शन मे अहिसा के दो पक्ष हैं-विचार की अहिसा और आचार की अहिसा। प्रथम विचारों का क्षेत्र स्पष्ट और स्वच्छ होना

चाहिये तभी आचार विशुद्ध हो सकेगा। विचारों मे तो कूड़ाकरकट भरा हो और जीवन व्यवहार मे निस्तेज अहिंसा का दिखावा करें तो यह अहिंसा का विशुद्ध रूप न होगा। जैन धर्म में तो प्राणी-मात्र का अस्तित्व, महत्व स्वीकारा है। जैन धर्म ने अहिंसा का इतना संकुचित अर्थ नहीं लिया जितना लोक मे समझा जाता है। इसका व्यापार भीतर और बाहर दोनों है। बाहर से किसी भी छोटे बड़े जीव को अपने मन, वचन, काय से किसी प्रकार की भी हानि या पीड़ा न पहुचाना तथा उसका दिल न दुखाना अहिंसा है और अन्तरंग में रागद्वेष परिणामो से निवृत होकर साम्य भाव मे स्थित होना अहिंसा है।

वास्तव में अन्तरंग मे आशिक साम्यता आये बिना अहिंसा सम्भव नही। इस प्रकार इसके अतिव्यापक रूप में सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य सभी सद्गुण आ जाते हैं। इसलिए अहिंसा को "परम-धर्म" कहा गया गया है। जलथल आदि मे सर्वत्र ही क्षुद्र जीवों का सद्भाव होने के कारण यद्यपि बाह्य मे पूर्ण अहिंसा पालन असम्भव है। किन्तु यदि अन्तरंग मे साम्यता और बाह्य मे पूरा-पूरा यत्नाचार रखने मे प्रमाद न किया जावे तो बाध्य जीवों के मरने पर भी अहिंसा ही रहेगी। जैन काव्य में सर्वत्र ही सभी जैन कवियो ने अपनी रचनाओ मे अहिंसा का महत्व प्रतिपादित किया है—

"सब धर्मों में श्रेष्ठ है, परम अहिंसा धर्म।
हिंसा के पीछे लगे, पाप भरे सब कर्म।।"

अनेकान्त विचारो को प्रकाशमान बनाता है। आचरण की अहिंसा से पूर्व विचार के क्षेत्र में अनेकान्त का होना आवश्यक है। जो वस्तु एक दृष्टि से अनित्य प्रतीत होती है वह किसी अन्य दृष्टि से अनित्य प्रतीत हो सकतीहै। कोई विरोधी वस्तु अपेक्षा की दृष्टि से अविरोध भी बन सकती है। एक वस्तु मे वस्तुत्व को उपजाने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त एक दृष्टि है और इस दृष्टि को जिस भाषा पद्धति द्वारा अभिव्यक्ति मिलती है वही स्याद्वाद है। भारतीय दर्शनों में अनेकान्तवाद जैन दर्शन की एक अपूर्व देन है। इसके द्वारा सामाजिक, पारवारिक, राजनीतिक, धार्मिक सभी विवादो को दूर किया जा सकता है। सभी जैन कवियों ने अनेकान्त दृष्टि का निरूपण किया है। निम्न लिखित दोहे मे इस भाव की पूर्ण रूप से पुष्टि मिलती है यथा—

"याही भाति प्ररूपता सिद्ध दशा के मांह।
उत्पत व्यय ध्रुव, सधत है अनेकान्त की छाह।।

□ □

"जाके विवाद नाशिवे को जिन आगम है।
जामें स्याद्वाद नाम लक्षण सुहाए है।।"

अहिंसा और अपरिग्रह जैन धर्म का आधार है। आज के भौतिक युग मे इनकी बडी आवश्यकता है। अहिंसा, प्रेम, बधुत्व का भाव ग्रहण कराती है और अपरिग्रह अनासक्ति की ओर ले जाती है। समाज की विषम समस्याओ को अहिंसा और अपरिग्रह से ही सुलझाया जा सकता है। जीवात्मा ससारिक वस्तुओं के प्रति जितना अना-सक्त होता है उतना अपरिग्रह के निकट पहुंचता हैं जो उसके मुक्ति का द्वार खोलता है। आज जीवन मे जो खींचा तान पड़ी हुई है वह इसी कारण है कि व्यक्ति भौतिकवादी हो गया है और आवश्यकता से अधिक वस्तुओं मे उसकी आसक्ति है। ऐसी जटिल परिस्थितियों मे जैन दर्शन को महत्वपूर्ण तत्व अप-रिग्रह की महती आवश्यकता है। हमारे कवि मनी-षियों ने इस समस्या का अनुभव किया और अपनी भाव-लहरी द्वारा इस महत्ता का प्रतिपादन किया। जैन काव्य मे उनके ये भाव मोती की भाति झिल-मिलाते दृष्टिगोचर होते हैं—

"भोग संजोग, संग्रह मोह
विलास करे जहां ऐसे ।
पूछत शिष्य आचारज को यह
सम्यकवंत निराश्रव कैसे ।।"

□

सात पैड चल हरि को दीने,
नन्दनवन कल्याणक कीन्हे ।
लुंच केश प्रभु परिग्रह छोरे,
भक्त नृपति हु दीक्षा धारैं ।।"

हिंसा अनृत तसकरी अब्रह्म परिग्रह पाप ।
दस अलव सब त्यागिवो धर्म दोय विधि थाप ।।"

जैन धर्म आचार-प्रधान है । अहिंसा तथा सदाचार को बडा महत्व दिया गया है । जैन मुनि छोटे से छोटा पाप कर्म भी महान अपराध बतलाते है। इस दृष्टि से अचौर्य का विशेष महत्व है । स्वेच्छा से न दी गई वस्तु के प्रति अग्रहण भाव होना चाहिए । यदि ऐसा नहीं तो उक्त दोष का प्रायश्चित अनेक जन्मो मे करना पडता है। इस प्रकार कर्म-विपाक ही पुर्नजन्म का एक मात्र कारण है । जैन दर्शन की मान्यता है कि जीव इस संसार मे कर्म से प्रेरित हो चार कषाय, क्रोध, मान, माया लोभ मे आसक्त एव मिथ्या संयम के वशीभूत होकर अनेक जन्म धारण करके संसार मे विचरता है। ये वासना रूप होते हैं व्यक्त रूप नहीं । जहां पर पदार्थों के प्रति 'स्व' 'पर' की वासना जीव मे पाई जाती है वहां पर अनन्तानुबन्धी कषाय है क्योकि वह जीव का अनन्त ससार से बन्ध कराती है ।

"चेतन परिणाम सो कर्म जिते बाँधियत ।
ताको नाव भाव बन्ध ऐसो भेद कहिए ।।"

फिर जीव को मुक्ति कहा ?" त्रेपन क्रियाकोश में श्रावक की त्रेपन क्रियायो का बड़ा सुन्दर निरूपण किया गया है ताकि जीव वैसा ही आचार विचार कर अशुभ कर्मों के बन्ध से मुक्त हो सके । इन चारों कषायो की जैन कवियों ने खूब भर्त्सना की है—

"क्रोध मान माया लोभ,
चारों मिलकर किया क्षोभ ।"

जैनागम में पंचास्ति काय का निजी महत्व है । जीव, अजीव पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश, काल ये छः द्रव्य स्वीकार किए गए हैं । इनमें काल द्रव्य कायवान नहीं है । जीव चेतन अथा अजीव अचेतन पुद्गल का आकार है । इसलिए वह मूर्त रूप है शेष अमूर्त है । जीव आत्मा का ही स्वरूप है जो अनन्त दर्शन आदि गुणों से सम्पन्न है ।

"यह परमातम यह मम आतम,
भेद बुद्धि न रहाय रे ।"

पुद्गल परमाणुओ का पुंजीभूत है जिसकी प्रकृति बदल जाती है जिसके परिणामस्वरूप वह विभिन्न प्रकार के शरीर धारण कर संसार मे भ्रमण करता है—

'मूल अनादि थकी जग भटकत
लै पुद्गल जामा ।"

जीव और पुद्गल चिरकाल से साथ साथ है। पुद्गल द्वारा ही जीव का बंध होता है। मिथ्या दर्शन, ज्ञान तदनुसार आचरण कर जीवात्मा सत्पथ से भटक जाता है ।

"जीव पुद्गल मे विराजे दोउ परजाय ।
विभाव तथा सुभाव जीव जैसो लहै है ।।"

जैन दर्शन में आठ प्रकार के कर्म बताए हैं यथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम एव गोत्र । इनमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय कर्म जीव का घात

करने के कारण घाति कर्म कहलाते हैं। वेदनीय आयु, नाम, गोत्र द्वारा कर्मों का नाश सम्भव नही है। अतः इन्हें अघाति कर्म कहते है। जैन काव्यो में घातियां तथा अघातियां कर्मों की भलीभाति अभिव्यक्ति मिलती है।—

"जो चउ घातिया कर्म महामल,
घोई अनन्त चतुष्टय पाई।
धर्म दुधात्तम के करता प्रभु
तीरथ रूप त्रिलोक के राई।।"

\+ \+ \+

"देश घाति की छब्बीस, बाकी एक सौ
अघाती।
तीनो घाती कर्म घात, आप शुद्ध जानिए।।"

ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञान विकास मे बाधक बनते है। जीवात्मा अशुद्ध कर्म का क्षय तथा ज्ञान का प्रकाश अपने जीवन मे पाना चाहता है। जैन कवियो ने सम्यग्ज्ञान का महत्व इन शब्दो मे दिया है—

'ज्ञान दरश, चारित्र, तप वीरज परम
पुनीत।
ये ही पापाचार मे विचरहि श्रमण
सभीत।।"

\+ \+ \+

"पच भेद जाके प्रगट, ज्ञेय प्रकाशन मान।
मोह तपन हर चन्द्रमा सोई सम्यक् ज्ञान।।"

दर्शनावरणी कर्म आत्मा के दर्शन गुण मे बाधक होते हैं। आत्मा के स्वरूप के दर्शन जीव इस कर्म के प्रभाव मे नही कर पाता। जैन आम्नाय मे सम्यक् दर्शन को प्रधानता दी गई है। सम्यक् दर्शन करके ही जीवात्मा सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सकता है और जब तत्निर्देश नियमो का आचरण करता है तभी सम्यक् ज्ञान अपने में मुखरित होता है। इन तीनो के सम्मिलित रूप को जैन दर्शन में 'रत्नत्रय' कहा गया है। रत्नत्रय मोक्ष मार्ग का प्रथम सोपान है। जैन काव्य में रत्नत्रय का प्रतिपादन इस प्रकार मिलता है।

"रत्नत्रय की प्रापति लीन्हे,
दुर्लभ, सफल मनुज सब कीन्है।"

\+ \+ \+

"सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान,
सम्यग्चारित्र परम महान।

\+ \+ \+

चहुगति फणि विष हरण मणि,
दुख पावक जलधार।
शिव सुख सुधा सरोवरी
सम्यक्त्रयीनिहार।।"

कर्म बन्धन तथा अनेक कारणो का अभाव होकर परिपूर्ण आत्मिक विकास ही निर्वाण है निर्वाण साधन मे निम्न तत्त्वों का समागम होना है—

'जीव, आश्रव, बध, सवर, निर्जरा मोक्ष'

कर्म पुद्गल की जीव द्रव्य के सयुक्त होने की अवस्था आश्रव कहलाती है। जीव के द्वारा प्रतिक्षण मन से, वचन से काम से. जो कुछ अशुभ या शुभ प्रवृत्ति होती है वही जीव का आश्रव है। सर्व साधारण जनो को कषायवश होने के कारण ये आश्रव आगामी बन्ध का कारण बनता है। हिंसा, चौर्य, असत्य, परिग्रह कुशील ये आश्रव के पाच द्वार हैं।

आश्रव के कारण जीव का बन्ध होता है। जब जीव अपने अनन्त अनादि जैसे स्वाभाविक गुणो के स्मरण द्वारा कर्म बन्धन से मुक्त होने की चेष्टा करता है। तभी कर्म के आश्रव मे बाधा पडती है।

"कर्मन के आश्रव निरोधिवे के भाव भए।
तेहि परिणाम भाव सवर कहीजिए।।"

आश्रव का निरोध ही संवर है। सवर आश्रव के द्वार बन्द कर देता है नवीन कर्मों का आगम रुक जाता है। सवर के आश्रम मे गुप्ति, समिति अनुप्रेक्षा, परीषह, व्रत, चारित्र आते है। इनके पुंजीभूत रूप संवर है जिसके द्वारा आत्मा पुद्गल से अपनी रक्षा करता है। सवर के द्वारा नवीन कर्मों का आस्रव रुकता है तथा सचित कर्मो का क्षय होता है। कर्मों का क्षय होना ही निर्जरा है। निर्जरा की प्राप्ति तप, संयम से होती है। तप निर्जरा से जीवात्मा निर्मल हो जाती है और अपनी साधना द्वारा मोक्ष को प्राप्त करती है जो चिर-सत्य है और जिसे प्राप्त करने को मानव चिरकाल से प्रयत्नशील है।

●●●

मुनि श्रमण

सच्चा श्रमण वही है जिसका
नही किसी से द्वेष हो।
सारे जीव जिसे प्यारे हो।
समदर्शी परिवेश हो।।

—अर्हत्

Place of Jaina Acaryas and Poets in the history of Kannada Language, Literature and Culture

Dr. A. N. Upadhye, Kolhapur

I have been, in my own humble way, associated with the Bharatiya Jnanapitha ever since its inception, a quarter of a century ago. when it was suggested that I should say a few words on the contributions of Jaina Poets and Acaryas to the enrichment of Kannada Language, literature and Culture. I thought it was indeed my duty to do so. Sahu Jain Charitable Society has established a Chair of Jainology in the University of Mysore, and there could be no better occasion than this to make an honourable mention of these contri-butions in general.

History exists only for those who care to know it. Any society which is unmindful of the achievements of its ancestors may be in danger of losing its individuality in the dismal abyss of time; and a creditable future cannot be built up except on the foundations of the past and without worthy efforts in the present Karnatak has its own past, and its future could not be anything but promising. It is on the whole a territory of rich black soil, as its very name indicates, watered by rivers like the Krishna and the Kaveri. it is but natural that it proved a fertile bed for the growth of prosperous Kingdoms and great cultural centres. Jaina saints have been associted with this area right from the days of Chandragupta Maurya who, as tradition tells us, abandoned his Kingdon and accompained Bhadrabahu to Kalbappu, the present site of Shravan Belgol.

Wherever the Jaina saints went, they used the language of the local people and enriched it for effective expression. For them language has been only a means to an end They never invested any language with sentimental importance, much less did they cultivate in isolation. They wanted people to learn lessons in good behaviour for so-

cial stability; and they expected their energy in building up such literature as would inculcate ethical standards and moral values in the society.

Lord Mahavira was the first one to preach in the popular dialect of Magadha, and Buddha too adopted the same method. This example is followed by great men who had the interest of the common man uppermost in their minds Asoka and Kharavel recorded their inscriptions in Prakrit; and through our history, our Teachers, who wanted to good to the masses, always preferred the popular languanges. we have glaring examples of Basavesvara, Jnanesvara, Tulasidasa, Vidyapati and others.

The example of Mahavira has been followed by subseqent Jaina teachers and authors; and they have enriched the language of the locality wherever they lived. This is true of Tamilnadu, Karnatak, Rajasthan, Gujarat and other parts of India.

The earliest known prose works in Kannada, the Vaddaradhane and Cavumdarayaurna (978 A. D.), are by Jaina authors. The former (to be assigned to c. 900) is a remarkable piece of literature both from the points of view of language and contents. The classical style developed in Kannada Kavyas we owe to three great Jaina poets, commonly known as ratna-traya, viz., Pampa (942 A. D.), Ponna (950 A. D.) and Ranna (993 A. D.). They were well acquainted with classical Sanskrit models. They cultivated Kannada language so effectively that in their expression is seen a classical perfection, a matter of envy among the contemporaries. They were not working in isolation but were just expressing the spirit of the golden age that was inaugurated during the Rashtrakuta period, in which Virasena and Jinasena (837 A D.) wrote their great commenteries, Dhavala, Jayadhavla and Mahadhavala, remarkable achievements in the history of Indian literature. what they did for Jaina Siddhanta in the Rashtrakuta kingdom, Sayanacarya subsequently achieved for the Vedas under the great Vijayanagar rule. The efforts of Jaina authors inenriching kannada language went side by side with what some of them were doing in Sanskrit and Prakrit. The kavirajamarga (850 A. D.) attributed to the Rashtrakuta king Nrpatuiga clearly show that rich Kannada literature was already available in his times. In addition to there three great poets mentioned above, authors like Nagacandra (c. 1100 A. D.), Nayasena (1112 A. D.), Aggala (1189 A. D.) and others developed a catching style, and they were imitated by subseuent poets. Andayya's (c. 1235 A. D) style and vocabulary strike a new note

in the devel*pment of Kannada, and its full linguistic implications are a matter of investigation. In fact, he can be looked upon as 'one of the earliest of the purists.

Bhattakalanka (1604 A. D.) once raised a question whether Kannada could be considered dignified enough to be used for the Sastras and right answered it by pointing out to greet Kannada works of the past. Nemicandra, a contemporary of Camundaraya (978 A. D.), wrote Gommatasara and other works in Prakrit; and Kesavavarni (1359 A. D.) composed learned commentaries on them in Kannada. It is an event in literary history that one Nemicandra, resident of Chittor (in Rajasthan came to Karntak, studied these Kannada commentaries under Visalakirti during the reign of Saluva Malliraya (beginning of 16th century A. D.), and rendered them into Sanskrit. It is this commentary and its Hindi translation by Pt. Todaramallaji of Jaipur that are studied even today, At present we are only talking of culturai integration, but our ancestors Just practised it as a part of their dignified intellectual living. It is no exaggeration to say that Kannada would not have developed it as rich vocabulary and chaste style but for the pioneer efforts of Jaina poets and authors.

The literary aptituds of Jaina authors were broad-based and covered subjects even outside their religion. They could thus receive approbation of the intellectuals of their times. Apart from the Kavyas, the Jaina authors like Kesiraja (1260 A. D.) and Bhattakalanka (1604 A. D.) wrote on grammar, Nagavarma (c. 990 A. D.) on metrics, Rajaditya (c. 1190 A. D.) on methematics and Manaraja (1380 A. D.) on medicine. Eminent logicians like Akalanka, Vidyananda and Vadiraja who have to their credit Jaina Nyaya works in Sanskrit belong to this very area. Karnatak is rich in inscriptions as one can easily see from the volumes of the Epigraphia Carnatica. The number of these in Srvana Belgol is very large, and some of them are fine specimens of literature. The great poet Ranna has left his autograph Kavi Ratna on aboulder in Belgol, If this Ranna was the poet of the princes, Ratnakera (1530 A. D.) was the poet of people. Ratnakara's verses are sung by boys and girls in South Kanara, old ladies recite them on the grinding wheel, and elderly people make them a part of their daily study. Ratnakaras Bharatesa Vaibhava is a poetic prism in which manifold aspects of life duly reflected.

A fertile territory is often characterised by stable kingdoms which in turn

give rise to a number of cultural activities. Though sudraka has dig at the Karnatak quarrel, the people of Karnatak have been, generally speaking, quite hospitable and peace-loving. The Jain saint by his detachment and pious life has won respect from the entire society. Acarya Simhanandi blessed the Ganga King Madhava, and what he has preached to him constitutes eternal moral guidance for any society. That famous verse runs thus :

नुडिदुद नारो ऊं नुडिदु तप्पिदोडं जिनशासन क्कोड
वडदोड मन्य नारि गेरेददहदोड मधुमास सेवेगे
ग्दो3म कुली नरप्प वर कोट कोडेयदौ डम थिगर्थम
फुड दोड माह वागण दोलो डिदोड फिडुगुं
कुलव्रत ॥

This passage can be freely rendered thus: If you fail to keep your promise, if you reject the Jaina ethos, if you desire others' wife, if you eat flesh or drink, if you breed familiarity with the unworthy, if you refuse help to the needy, if you desist the battle-field, you will-bring disgrace to your family.

Jinasena was respected by Amoghavarsha, and Ajitasena was revered by Camundaraya. A forlorn author from the North like Puspadanta (965 A.D.) came to Manyakheta (mod. Malakhed), the then capital of the Rashtrakutas, enjoyed patronage there and wrote his monumental works in Apabhramsa. This is a typical example of how the Karnatak rulers extended patronage to poetic talents wherever they were found. Jaina saints preached fourfold dana or gifts: ahara (food), abhaya (shelter), ausadha (medicine) and sastra (Knowledge); and these bestowed tremendous benefit on society In fact this is one of the important aspects of Jainism as its emphasis on social service, and this made it easily acceptable to any peeple. The parctice of this religion was not merely a formality or social conformity; but it went deeper. The Ganga ruler Marsimha (974 A. D.) and the Rashtrakuta king Indra IV (982 A.D.) relinquished their soveriegnty and practised the Jaina vow of Sellekhana on the eve of their life: the former died at Bankapur and the latter at Sravana Belgol. Temples of Jaina were built everywhere, and many of them are remarkable for their exquisite beauty and architectural skill It is from here that Gujarat took inspiration, and what was cut in black stone in Karnatak came to be chiselled in marble in Gujarat, Great rulars, generals, merchants and eminent ladies had a warm sympathy for Jaina institutions. The monolithic image of Gommatesveara at Sravana Belgolgot carved by Gamundaray, who combined in himself an author in Kannda and Sanakrit and a general with great military feats to his credit, is a national monnment of universal interest. Gommatesvara is standing on the peak of a hill facing the North. His benign fact with subdued smile quietly conveys the message that fraternal feuds cannot be settled on the battle field. The free-standing pillars (manastambha) in front

of the Jaina temles, especialy in Karnataka, are a specimen of fine art. The collections of Mss in some of the Jaina Mathas and temples are part of our natinol wealth. who does not know the name of that great lady, Attimabbe, the daughter of general Mallappa, under the western Chalukya ruler Tailapa (997 A. D.) She wos a great lady of ideal piety. She was so pure and noble that a poet had compared her with the Ganges and a heap of snow-white cotton. She got prepared 1000 copies of Ponna's Santipurana and distributed them all over the country. Perhaps, Smt Ramaji here is emulating the great example of Attimabbe, and the Bharatiya Jnanapitha under her presidenntship is printing 1000 coipes of rara works. The Jaina have thus contributed a great deal to the culture of Karnatak as much as they have done to some other part our country

I must also mention that Jains and their institutions have suffered a good bit in the socio-poltical upheavals in the history of the South; but the historians have recognised it to their credit that even when they enjoyed political patronage or weilded political power, there was not a singie instance of religious persecution in the annals of Jaina history. Like the true sons of the soil they have been constantly loyal to their land, fostering meximum amity and tolerance with all those with whom they were destined to live. A poet rightly speaks of the beautiful Karnatak which has been the veritable home of Jainism.

जिनधर्मावासमादन्त मल विनय-
दागार मादन्तु पद्मा-
सन निर्यासद्मादन्त तिवि
भदयशोधाम मादन्त्त विद्या-
धन जन्म स्थान मादन्त समतरल
गम्भीर सदेहमाद-
त्तें निय सत्कुं तुल्ल नाना महिमे
योले सेगु चारू कर्णाटदेशं ।

To render it freely, this charming Karnatak, the abode of Jainism, the home of pure modesty, is the favourite haunt of the Brhman. This land shines in its many spelndoured glory; it is the fountainhead of all (the wealth of) Knowledge and it preserves its own solemn dignity.

* This lecture was deliverd by Dr. A. N. Upadhye in Delhi.

४६

हरिवंश-कार जिनसेन की गुरु-परम्परा

□प्रेमचन्द जैन

आचार्य जिनसेन ने अनेक परम्पराओ का उल्लेख किया है। भार्गव ऋषि की शिष्य परम्परा के सम्बन्ध मे बताया गया है कि भार्गव का प्रथम शिष्य आत्रेय था उसका शिष्य कोथुमि-पुत्र, कौथुमि का अमरावर्त, अमरावर्त का सित, सित का वामदेव, वामदेव का कपिमूल, कपिमूल का जगत्स्थामा, जगत्स्थामा का सरवट, सरवट का शरासन, शरासन का रावण और रावण का विद्रावण और विद्रावण का पुत्र द्रोणाचार्य था। यह परम्परा इस रूप अन्यत्र देखने को नही मिलती।

हरिवश पुराण के ६६ वे सर्ग मे महावीर भगवान से लेकर लोहाचार्य तक की आचार्य परम्परा दी गई है। वहा बताया गया है कि भगवान महावीर के निर्वाण के बाद ६२ वर्ष मे क्रम से गौतम, सुधर्म और जम्बूस्वामी ये तीन केवली हुए। उनके बाद सौ वर्ष मे समस्त पूर्वो को जानने वाले नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाच श्रुत केवली हुए। उसके बाद १८३ वर्ष मे विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म ये ग्यारह मुनि १० पूर्व के धारक हुए। तदनन्तर २२० वर्ष में नक्षत्र, जयमाल, पाण्डु ध्रुवसेन और कसार्य ये पाच मुनि ग्यारह अंग के धारी हुए। उनके बाद ११८ वर्ष में सुभद्रगुरु, जयभद्र, यशोबाहु और महापूज्य लोहार्य गुरु ये चार मुनि प्रसिद्ध आचाराग के धारी हुए।

इनके बाद महातपस्वी विनयधर, गुप्त श्रुति, गुप्तऋषि, मुनीश्वर, शिवगुप्त, अर्हद्बलि, मन्दरार्य मित्रवीरवि, बलदेव, मित्रक बढ़ते हुए पुण्य से सहित रत्नत्रय के धारक एव ज्ञान लक्ष्मी से युक्त सिंहबल, वीरवित, गुणरूपी कमलो के समूह को धारण करने वाले पद्मसेन, गुणों से श्रेष्ठ व्याघ्रहस्त, नागहस्ती, जितदण्ड, नन्दिषेण, स्वामी दीपसेन, तपोधन, श्रीधरसेन, सुधर्मसेन, सिंहसेन, सुनन्दिषेण, ईश्वर सेन, सुनन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन जिनसेन और शांतिसेन आचार्य हुए।

इनके बाद जो अखण्ड मर्यादा के धारक होकर परिपूर्ण षट्खण्डो (१-जीवस्थान, २-क्षुद्रबन्ध-३ बन्धस्वामी, ४-वेदनाखण्ड, ५-वर्गणाखण्ड और ६-महाबन्ध) से युक्त समस्त सिद्धान्त को अर्थ रूप से धारण करते थे अर्थात् षट्खंडो के ज्ञाता थे, कर्म प्रकृति रूप श्रुति के धारक थे और इन्द्रियो की वृत्ति को जीतने वाले थे, ऐसे जयसेन नामक गुरु हुए। उनके शिष्य अमितसेन गुरु हुए जो प्रसिद्ध वैयाकरण, प्रभावशाली और समस्त सिद्धान्त रूपी सागर के पारगामी थे। ये पवित्र पुन्नाट गण के

अग्रणी-अग्रेसर आचार्य थे । जिनेन्द्र शासन के स्नेही, परम तपस्वी, सौ वर्ष की आयु के धारक एव दाताओं मे मुख्य इन अमितसेन ने शास्त्र दान के द्वारा पृथ्वी पर अपनी वदान्यता-दानशीलता प्रकट की थी । इन्ही अमितसेन के अग्रज धर्मबन्धु कीर्तिषेण नामक मुनि थे जो बहुत ही शान्त थे पूर्ण बुद्धिमान थे, शरीरधारी धर्म के समान जान पड़ते थे और जो अपनी तपोमयी कीर्ति को समस्त दिशाओं में प्रसारित कर रहे थे उनके प्रथम शिष्य आचार्य जिनसेन हुए जो इस महान् ग्रन्थ के रचयिता हैं ।

उपर्युक्त वर्णित आचार्यों मे से प्रारम्भ के चार तो वही मालूम होते है जिन्हे इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार मे अगपूर्ण के एक दश को धारण करने वाले आरातीय मुनि कहा है और जिनके नाम विनयधर, श्रीधर, शिवदत्त और अर्हद्दत्त हैं । विनयन्धर और विनयधर मे तो कोई फर्क नही है । शिवदत्त और शिवगुप्त भी एक हो सकते है । प्राकृत रूप 'गुप्त' भ्रमवश दत्त भी हो सकता है । बीच के दो नाम शकास्पद है । ,महातपोभृद् विनयधर श्रुतामृषिश्रूति गुप्तपदादिका दधत्' इस चरण का ठीक अर्थ नही बठता, [२] शायद कुछ अशुद्ध है । श्रुतिगुप्त और ऋषिगुप्त की जगह गुप्तऋषि और गुप्तश्रुति नाम भी शायद हो । यहा यह भी खयाल रखना चाहिए कि अक्सर एक ही मुनि के दो नाम भी होते है जैसे कि लोहार्य का दूसरा नाम सुधर्मा भी है ।

इसमे शिवगुप्त का दूसरा नाम अर्हद्‌बलि है और ग्रन्थान्तरो मे शायद इन्ही अर्हद्‌बलि को सघो का प्रारम्भ कर्ता बताया है अर्थात् इनके बाद ही मुनिसंघ जुदा-जुदा नामों से अभिहित होने लगे ।

वीर निर्वाण की वर्तमान कालगणना के अनुसार वि. सवत् २१३ तक लोहार्य का अस्तित्व समय है और उसके बाद जिनसेन का समय वि. संवत् ८४० हैं । अर्थात् दोनों के बीच मे यह जो ६२७ वर्ष का अन्तर है जिनसेन ने उसी बीच के उपर्युक्त २९-३० आचार्य बतलाये है । यदि प्रत्येक आचार्य का समय इक्कीस बाईस वर्ष गिना जाय तो अन्तर लगभग ठीक बैठ जाता है ।

वीर निर्वाण से लोहार्य तक अट्ठाईस आचार्य बतलाये गये हैं और उन सबका संयुक्त काल ६८३ वर्ष अर्थात् प्रत्येक आचार्य की औसत २४ वर्ष के लगभग पड़ती है और इस तरह दोनो कालो की औसत भी लगभग समान बैठ जाती है ।

इस उपर्युक्त विवरण से हम इस नतीजे पर पहुंचते है कि वीर निर्वाण के बाद से विक्रम संवत् ८४० तक की एक अविच्छिन्न-अखण्ड गुरु परम्परा इस ग्रन्थ मे सुरक्षित है, जो किसी अन्य ग्रन्थ मे नही देखी गई और इस दृष्टि से ग्रन्थ बहुत ही महत्व का है ।

१. देखिये-जैन हरिवंश पुराण-४५-४५-४७

२. इस चरण का अर्थ प. गजाधरलाल शास्त्री ने 'नयधर ऋषि, गुप्तऋषि' इतना ही किया है और पुराने वचनिकाकार प दौलतराम जी ने 'नयन्धर ऋषि श्रुति ऋषि गुप्ति' किया है ।